प्र वा सी

की

आत्म-कथा

लेखक

स्वामी भवानीदयाल संन्यासी

भूमिका-लेखक

डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद

प्रधान विक्रेता

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
राजहंस प्रकाशन,
दिल्ली।

मूल्य आठ रुपये
प्रथम संस्करण
१९४७

मुद्रक
अमरचन्द्र
राजहंस प्रेस,
दिल्ली, ३२–४७।

भूमिका

स्वामी भवानीदयाल संन्यासी हिन्दी-जगत्में विख्यात हैं। इसलिए उनकी आत्म-कथा बहुत चावसे पढ़ी जायगी। इस आत्म-कथामें उन्होंने एक प्रकारसे दक्षिण-अफ्रिकामें प्रवासी भारतीयोंके उन प्रयत्नोंका, जो उन्होंने पिछले पचास बरसोंमें मनुष्योचित स्वत्वों और व्यवहारको प्राप्त करनेके लिए किये हैं, सारा इतिहास ही लिख डाला है! इस इतिहासके लिखनेका उनको पूरा अधिकार भी है, क्योंकि उन्होंने इसके बनानेमें भाग लिया है और वह स्वयं उन प्रवासी भारतीयोंमेंसे हैं। साथ-ही-साथ उन्होंने भारतके स्वराज्य-प्राप्तिके प्रयत्नोंका भी इतिहास लिख डाला है। इसमें भी उन्होंने सक्रिय भाग लिया है और बहुत-कुछ अपनी निजी जानकारी और अनुभवोंके आधारपर ही लिखा है। साथ ही हमारे सामाजिक जीवनका, उसकी त्रुटियों और खूबियोंका भी इस ग्रन्थमें चित्रण है। स्वामीजीकी शैली, जैसा कि हिन्दी-संसार अच्छी तरह जानता है, बहुत ही सुन्दर, मनोग्राही और भावपूर्ण है। इस तरह इस आत्म-कथामें अपनी आत्माके विकासके चित्रणके साथ-साथ स्वामीजीने दक्षिण अफ्रिकामें प्रवासी भारतीयोंके प्रयत्नोंका, भारतवर्षके आन्दोलनका और प्रचलित समाजका पूरा और विशद वर्णन कर डाला है। इस ग्रन्थसे उन लोगोंको, जो इस इतिहासकी जानकारी हासिल करना चाहते हैं, ऐसा मसाला मिलेगा जो शायद कहीं अन्यत्र—विशेष करके हिन्दी में—नहीं मिलेगा। प्रायः सभी बड़े-बड़े भारतीय नेताओंके साथ स्वामीजीका निकटका सम्बन्ध रहा है और उनके

बारेमें भी स्वामीजीने खुल करके लिखा है। उनके प्रति स्वामीजीकी सद्भावना वाक्य-वाक्यसे टपकती है, पर जहां उन्होंने उचित समझा है आलोचना करनेसे भी वे बाज नहीं आये हैं। पूज्य महात्मा गान्धीजी तो स्वामीजीके मानो आराध्य देव ही हैं। इस ग्रन्थका बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इतिहास और आत्म-कथा होनेके साथ-साथ यह एक सुन्दर साहित्यिक कृति भी है, जिससे साहित्यिक मर्मज्ञ भी रसास्वादन कर सकेंगे।

नई दिल्ली
१७–१०–४७

—राजेन्द्रप्रसाद

ग्रन्थ की गाथा

इस आत्म-कथाकी भी अपनी एक राम-कहानी है। उसे कहकर आगेकी कथा कहना उपयुक्त होगा। सन् १९२६ में दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंपर ऐसी विपदा आ पड़ी कि उनके अस्तित्वपर ही ग्रहण लग गया! यूनियन-सरकारने एक ऐसी पृथक्करण योजना (Segregation Scheme) तैयार की कि जिसके कार्यान्वित होनेपर नेटालमें हिन्दुस्थानियोंको अछूतोंकी तरह अलग बस्ती बसानेपर बाध्य होना पड़ता। इस विपत्तिकी वेलामें मुझे दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंका एक-मात्र प्रतिनिधि बनकर हिन्दुस्थान आना पड़ा था—सरकारके दरबारमें गुहार मचाने और जनताकी पंचायतमें प्रवासियोंकी दुःख-भरी कहानी सुनानेके लिए।

बम्बईमें मैं मालाबार-पहाड़ीपर श्री इब्राहिम हसन मामूजी (बाबू सेठ) के मकानपर ठहरा था। वहाँ अंग्रेजी और गुजराती-पत्रकारोंकी भीड़ लगी रहती और उनके प्रश्नोंसे मैं परेशान भी हो जाया करता था, पर उनको असंतुष्ट करनेकी हिम्मत न होती थी; क्योंकि उनकी ही सहायतासे मैं अपने आन्दोलनको देश-व्यापी बना सकता था। वहीं बंधुवर ठाकुर राजबहादुरसिंहसे भी मुलाकात हुई। वे एक लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्य-सेवी और पत्रकार हैं और हिन्दीमें लगभग तीन दर्जन पुस्तकोंके प्रणेता—यह बात तो मैं जानता था, लेकिन इससे पहले उनको देखा नहीं था और यदि देखा भी होगा तो परिचय नहीं हुआ था। इस बार उनको केवल देखा ही नहीं, उनसे प्रगाढ़ परिचय भी हो गया और वह घनिष्ठताके रूपमें परिणत होता गया।

एक दिन बातचीतके सिलसिलेमें ठाकुर राजबहादुरसिंहने कहा—"हिन्दीमें आपका एक जीवन-चरित निकल जाता तो बड़ी अच्छी बात होती। मेरा मतलब यह नहीं है कि आत्म-विज्ञप्तिके विचारसे आप इस काममें हाथ लगावें, पर मेरी धारणा है कि प्रवासी भारतीयोंकी ओर देशवासियोंका ध्यान आकर्षित करनेके लिए आप जो उद्योग कर रहे हैं उसमें आपकी जीविनीसे अवश्य कुछ सहायता पहुँचेगी।" मैं इस बातसे बड़े असमंजसमें पड़ गया। सोचा, मैं क्या ? मेरी आत्म-कथा क्या, और उससे जनताको लाभ ही क्या ? पर जिस कामसे प्रवासी भारतीयोंका हित होता हो वह मेरे लिए चाहे कितना ही अप्रिय क्यों न हो, उसको करनेमें मुझे संकोच नहीं हो सकता। यदि ठाकुर साहबके कथनानुसार मेरी जीवनीसे प्रवासियोंके प्रश्नपर कुछ भी प्रकाश पड़ सकता हो तो श्री प्रेमनारायण अग्रवाल, एम० ए० ने इस कार्यको पूरा कर ही दिया है। मैंने ठाकुर साहबसे निवेदन किया कि "श्री प्रेमनारायण अग्रवालने मेरी एक जीवनी अंग्रेजीमें लिख डाली है जो शीघ्र ही 'इंडियन कलोनियल एसोसियेशन'की तरफसे प्रकाशित होगी। यदि उससे कुछ लाभ समझा गया तो उसीका हिन्दी-अनुवाद हो जायगा।" *

---

* BHAWANI DAYAL SANNYASI (A public worker of South Africa): By Prem Narain Agarawal, M. A., Published by the Indian Colonial Association, Ajitmal, (Etawah), U. P.

यह पुस्तक सन् १९३९ में प्रकाशित हो गई थी। देश और विदेशोंमें उसका पर्याप्त प्रचार भी हुआ, लेकिन अन्तमें उसपर भारत-सरकारकी कोप-दृष्टि पड़ गई। अजमेरमें फाइन आर्ट प्रिन्टिङ्ग प्रेसके सिवा मुद्रक श्री मथुराप्रसाद शिवहरेके घरकी और अजीतमल (इटावा) में इंडियन कलोनियल एसोसियेशनके दफ्तरकी तलाशी ली गई और जितनी प्रतियाँ मिल सकीं, जब्त कर ली गईं।

अतएव मैंने ठाकुर साहबसे कह दिया कि यह काम मुझसे नहीं हो सकेगा। परन्तु उनका हठ तो 'हमीर-हठ' बन गया। वे मेरी बातसे जरा भी हताश नहीं हुए और अपने प्रस्तावकी भिन्न-भिन्न रूपमें पुनरावृत्ति करते रहे। आखिर उनसे किसी तरह पिण्ड छुड़ानेके खयालसे मैंने लाचार होकर कह दिया कि यदि समय मिल सका और पुरानी स्मृतियाँ जाग्रत हो सकीं तो उनके प्रस्तावकी पूर्तिके लिए प्रयत्न करूँगा।

फिर मैं इस बातको भूल ही गया। प्रवासियोंके कामके सामने मुझे और कुछ सोचनेका न अवकाश था और न आवश्यकता ही थी। दक्षिण अफ्रिकाकी स्थिति दिन-पर-दिन भयावह होती जा रही थी। ट्रांसवाल इंडियन कांग्रेसका राष्ट्रीय दल हतोत्साह होकर सत्याग्रह शुरू करनेका संकल्प कर चुका था। इसलिए मेरी चिन्ता बहुत बढ़ गई थी, पर ठाकुर साहबके पत्र आते रहे और उनमें आत्म-कथा लिखनेकी चर्चा अवश्य रहा करती थी।

दिल्ली और आगराका दौरा समाप्त करके मैं कुछ विश्राम कर लेनेके विचारसे अजमेर आ गया। पर आगराके जिन मलेरिया-ज्वर-धारी मच्छरोंने अपने डङ्क-वेधसे मुझे वहाँसे मार भगाया था उनका विष-वमन व्यर्थ नहीं गया। अजमेरमें मुझे विश्रामके बदले व्याधि मिली। यद्यपि मित्रवर मथुराप्रसाद शिवहरे, उनके पुत्र धर्मेन्द्रवीर और दामाद डाक्टर उमाशंकरने मेरी बड़ी सेवा-शुश्रूषाकी थी, तथापि आखिरमें मुझे विक्टोरिया अस्पतालकी शरण लेनी ही पड़ी।

अस्पतालमें दाखिल होनेपर मैंने सोचा कि अपनी बीमारीकी खबर दक्षिण अफ्रिका भेजकर लोगोंको चिन्तामें डालना उचित न होगा। अस्पतालसे अच्छा होकर निकलनेपर एक तार दे दूँगा जिसमें बीमारीके साथ ही उससे छुटकारा पानेकी भी सूचना रहेगी। पर दाईसे पेट छिपाना और इस युगमें 'राइटर' और 'रेडियो' से किसी सार्वजनिक कार्यकर्ताको अपनी बात छिपा रखना कठिन ही नहीं, प्रत्युत असंभव भी है। जिस

दिन मैं अस्पतालमें प्रविष्ट हुआ, उसी दिन दक्षिण अफ्रिकाके ब्राडकास्टिङ्ग-स्टेशनसे मेरी बीमारीकी खबर कुछ बढ़ा-चढ़ाकर प्रवासियोंके घर-घरमें पहुँचा दी गई। अखबारोंमें 'राइटर'का तार भी छप गया, जिससे मेरे मित्रों और विशेषतः मेरे बच्चोंमें बड़ी घबराहट फैली और तारमें सैकड़ों रुपये व्यर्थ ही बरबाद हुए।

बड़ौदामें मैं आर्य कन्या महाविद्यालयमें ठहरा और पं० आनन्दप्रियका अतिथि बना। बम्बईमें मैंने राजा नारायणलालजी पित्तीको अभिवचन दिया था कि यदि अवकाश निकाल सका तो मैं बड़ौदा पहुँचकर विद्यालय अवश्य देखूँगा। इस प्रकार उस वचनका अनायास ही पालन भी हो गया। वास्तवमें जालन्धर और बड़ौदाके कन्या विद्यालयोंको आधुनिक नारी-जागरणका बहुत कुछ श्रेय प्राप्त है। दोनों संस्थाएँ वैदिक धर्म और आर्य-संस्कृतिके साँचेमें नारी-जीवनको ढालती हैं और कन्याओंको जहाँ परम्परागत अन्ध-विश्वास और रूढ़िवादके चंगुलसे छुड़ाती हैं वहाँ पश्चिमीय सभ्यताके आडम्बर और अभिशापसे भी उनको बचाती हैं।

बड़ौदाके आर्य कन्या महाविद्यालयके सर्वस्व हैं—पं० आनन्दप्रियजी। वे बड़े साहसी और कर्मठ कार्यकर्ता हैं। उनके पिता स्वर्गीय पं० आत्मारामजी अमृतसरी आर्य-जगत्‌के उच्चकोटिके महापुरुषोंमें एक थे। उनकी माता श्रीमती यशोदादेवी और बहन पंडिता सुशीला कुमारी विद्यालयकी स्तम्भ हैं। इस विद्यालयमें प्रवासी कन्याओंकी भी संख्या यथेष्ट है, जो अफ्रिकाके भिन्न-भिन्न भागोंसे यहाँ शिक्षा पानेको आई हुई हैं। अफ्रिकाके प्रवासियोंके दानसे विद्यालयमें एक शानदार मकान भी बन गया है, उसका नाम भी अफ्रिकाकी स्मृतिमें रखा गया है। कन्याओंके मानसिक विकासके लिए जहाँ शिक्षाकी सुन्दर व्यवस्था है, वहाँ उनकी शारीरिक शक्तिकी अभिवृद्धिके लिए व्यायामकी भी। लगभग चार सौ कन्याएँ उन दिनों सरस्वतीकी आराधना कर रही थीं। उनके खान-पान, रहन-सहन और पठन-पाठनका प्रबंध सुन्दर, स्वाभाविक और

स्तुत्य है। संगीत-कलामें भी कन्याओंने काफी उन्नति कर ली है। उनका मधुर संगीत सुनकर और विकट व्यायाम देखकर यही प्रतीत होता है कि यहाँ मानो ललित-कला और वीर-रसका अद्भुत संयोग हो गया है।

बड़ौदाका वह एकान्त स्थान और वहाँका शान्त वातावरण मुझे विश्राम और साहित्यिक काम दोनोंके लिए उपयुक्त जँचा। जब अजमेरके अस्पतालमें मेरी अवस्था अत्यन्त भयावह और चिन्ताजनक होगई थी तब ठाकुर राजबहादुरसिंहकी वह बातें, जो उन्होंने आत्म-कथाके सम्बन्धमें कही थीं और अपनी चिट्ठियोंमें वे जिसकी पुनरावृत्ति करते-ही जारहे थे, मेरे दिमागमें चक्कर काटती रहीं। सोचा कि उनका कथन सार-युक्त है। इस क्षण-भंगुर शरीरका क्या भरोसा !

"धराका स्वभाव यही तुलसी—
जो फरा सो झरा जो बरा सो बुताना।"

यदि मैं मलेरियाके इस भीषण आक्रमणसे चल बसा होता तो बहुत-सी ऐसी बातें विलुप्त हो जातीं, जिनको संसारके सामने रख देना ही श्रेयस्कर है। अच्छा होगा कि मैं अपनी कथा कह जाऊँ। मेरी अपनी तो कोई कथा है नहीं, वह तो प्रवासियोंकी ही गाथा होगी।

उसी समय मैंने अस्पतालसे ही भाई राजबहादुरसिंहको एक पत्र लिखा कि जहाँ मैं अवकाश खोजता था वहाँ व्याधिकी उपाधिसे अनायास ही मुझे प्राप्त हो गया है। अस्पतालसे निकलनेपर निर्बलता दूर करनेके लिए कहीं कुछ काल विश्राम करना अनिवार्यतः आवश्यक हो गया है और इसके लिए मैंने बड़ौदाको पसंद किया है। यदि आपको अवकाश मिल सके और आप वहाँ आ सकें तो—

"हृदय कह रहा तेरे सन्मुख सब गाथा गा जाऊँ।
अन्तस्तलमें छिपी वेदना जो है उसे सुनाऊँ॥
किन्तु हाय ! प्रवास-सर्गकी है यह दुखद कहानी।
रो पड़ते हैं नयन और रुक जाती है यह वाणी॥"

अस्पतालसे निकलकर उनको तार भी दे दिया। जवाब मिला कि वे बड़ौदा अवश्य आयंगे और जबतक काम पूरा न हो जायगा तबतक मेरे साथ ठहरेंगे। निदान मेरे बड़ौदा पहुँचनेपर वे भी अपनी पुत्री इंदिराके साथ वहाँ पहुँच गए। मैंने अपनी कथा कहना शुरू किया और ठाकुर साहबने उसको लिखना। सबेरेसे शाम तक यह सिलसिला चलता। इस प्रकार सात दिनमें मैंने संक्षेपमें अपनी कहानी उसको सुना दी।

वर्षोंसे जिन स्मृतियोंको सूमको सम्पत्तिकी भाँति छिपा रखा था, उन्हें ठाकुर साहबने बलपूर्वक छीन ही लिया। मेरी गाथाएँ सुनकर जो कुछ आवश्यक बातें लिख ली थीं, उनके ही आधारपर 'प्रवासीकी कहानी'-की सृष्टि हुई। यह पुस्तक जितनी उतावलीमें लिखी गई थी, उतनी ही जल्दीमें छपी और खप भी गई। तत्कालीन राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र-प्रसादजीकी भूमिकासे पुस्तककी शोभा और प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई। कलकत्ता-पुस्तक-भंडारके संचालक श्री शंभूप्रसाद वर्मा और बाल-साहित्य-प्रकाशक-समितिके व्यवस्थापक श्री कामता प्रसाद वर्माने 'प्रवासी-की कहानी' को बड़ी सजधजसे प्रकाशित किया था; उसका आकार-प्रकार ऐसा आकर्षक, रङ्ग-रूप ऐसा नेत्र-रंजक और छपाई-सफाई ऐसी अच्छी हुई थी कि प्रकाशककी सुरुचिकी प्रशंसा करनी ही पड़ती थी।

'प्रवासीकी कहानी' तो प्रकाशित हो गई, पर उससे मुझे संतोष न हुआ। एक तो कहानी इतनी संक्षिप्त हो गई थी कि अनेक महत्त्वक घटनाएँ या तो छूट गईं अथवा उनका उल्लेख-मात्र ही हो पाया। इसका कारण यह हुआ कि ठाकुर साहब उसे डेढ़-दो सौ पृष्ठोंमें ही पूरा करना चाहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ मेरी कथा अधूरी रह गई, वहाँ उनकी मनोकामना भी पूरी न होने पाई—पुस्तक लगभग ३०० पृष्ठ की हो गई। उतावलीके कारण उसमें और भी अनेक त्रुटियाँ रह गई थीं। खैर, अब उसके गुण-दोषका विवेचन व्यर्थ है।

"जो होना था हुआ अब आगेकी सोच।
जो वक्त गया वो फिर हाथ आता नहीं॥"

ठाकुर साहबकी यही राय और सलाह थी कि मुझे स्वयं अपनी आत्म-कथा लिखनी चाहिए। मैंने भी सोचा कि जब कहानी छप ही चुकी तो उसे इस बार सर्वाङ्गपूर्ण बना देना चाहिए। सन् १६४५ में जब मैं दमा और निमोनियाके प्रचंड प्रकोपसे किसी तरह मृत्युके मुँहसे बच निकला तो मेरी पुत्र-वधू प्रकाशवतीने भी यही आग्रह आरंभ किया कि मुझे अपनी आत्म-कथा तो लिख ही देनी चाहिए।

उसी साल मईमें मैंने इस आत्म-कथाको लिखना आरंभ कर दिया था, पर आज दो सालके बाद समाप्त कर पाया हूँ। जब कभी यह संकल्प करके लिखने बैठता था कि इसको पूरा करके ही दम लूँगा तब-तब प्रवासी भारतीयोंका कोई-न-कोई ऐसा काम आ पड़ता था कि महीनों फिर लिखनेका अवसर न मिलता था। अभी शायद साल-भर और लग जाता; किन्तु ठाकुर साहबने लिखित अंश दिल्लीके प्रसिद्ध 'राजहंस प्रकाशन'के हवाले करके मुझे इसको पूरा करनेके लिए बाध्य कर दिया। इस बार जिस रूपमें मैंने इस पुस्तकको तैयार किया है, वह 'प्रवासीकी कहानी'-से नितान्त भिन्न है यह एक नई चीज बन गई है, इसलिए इसका नाम भी बदलकर 'प्रवासीकी आत्म-कथा' रख दिया गया है।

वास्तवमें 'प्रवासीकी आत्म-कथा' प्रवासी भारतीयोंकी दुर्गतिकी गाथा है। प्रवासियोंकी कथा इतनी करुणा-पूर्ण है कि कहनेमें वाणी थर्राती है—लिखनेमें लेखनी काँपती है। समुद्रकी लहरोंको चीरकर उनकी आहें जब यहाँ पहुँचती हैं और मेरे कानोंमें पड़ती हैं तो हृदय व्यथासे भर आता है-सिर धुनकर रह जाता हूँ। व्यथित हृदयको जरा-सा धक्का भी असह्य होता है, पर यहाँ तो चोट-पर-चोटें लग रही हैं। यदि हृदय चीरा जा सकता तो उसे चीरकर दिखा देता कि वह व्यथाका भंडार बन गया है। इस आत्म-कथामें उसी व्यथाकी अभिव्यक्ति है। कथा कहने बैठा हूँ, पर—

"यही नहीं कि हाथ काँपते, हिय भी कँपता आज।
आत्म-कथाका पूरण कैसे होगा गुरुतर काज॥

बड़े यतनसे हिम्मत करके कहने चला कहानी।
पर अव्यक्त हृदय-भावोंको कैसे कहें जबानी॥"

मैं अपनी अयोग्यता और अल्पज्ञताका अनुभव न करता होऊं सो बात नहीं है। क्या मैं इतना अबोध हूँ? क्या मैं यह भी नहीं जानता कि मेरे पास गांधीकी आत्मा नहीं है, स्वर्गीय एण्डूरूजका हृदय नहीं है, स्वर्गीय शास्त्रीका ज्ञान नहीं है, सरोजिनीकी वाणी नहीं है! सब कुछ जानता हूँ, इसलिए अपनी आत्म-कथा लिखनेमें हिचकता था, पर ठाकुर साहबने आखिर मुझसे लिखवाकर ही छोड़ा।

अतएव यदि इससे पाठकोंका कुछ भी मनोरंजन हो सके तो उसका श्रेय ठाकुर राजबहादुरसिंहको मिलना चाहिए; क्योंकि यह आत्म-कथा उन्हींके प्रयत्न, प्रोत्साहन और प्रेरणाका फल है और यदि यह नीरस और निरर्थक जँचे तो उसका सारा दोष मुझपर है।

—भवानीदयाल संन्यासी

प्रवासी-भवन,
आदर्शनगर, अजमेर।

समर्पण

प्रिय पुत्री प्रकाशवती !

सन् १९४२ के आरम्भमें तुम्हारे दक्षिण अफ्रिकासे हिन्दुस्तान पहुँचते ही जब मैं दमा, ज्वर और निमोनियाके प्रचंड प्रकोपसे अपने जीवनसे सर्वथा निराश हो चुका था तब तुमने माताकी भाँति मेरी सेवा-शुश्रूषा करके मुझे मौतके मुँहसे बचा लिया और तभीसे मैंने तुमको 'माँ' कहकर पुकारना शुरू किया। इस प्रकार तुम अपनी सहायता और स्नेहशीलताकी बदौलत मेरी पुत्र-वधूसे पुत्री, और पुत्रीसे माँ के पदपर पहुँच गई। रुग्ण-शय्यासे उठते ही भाई राजबहादुरसिंहके अनुरोधसे तुमने ही मुझे इस आत्म-कथाके प्रणयन-कार्यमें लगाया। पिछले दो सालके अन्दर बीच-बीचमें अक्सर कोई आवश्यक कार्य आ पड़ने अथवा मेरी तबियत ऊब जानेपर इसका लेखन-कार्य रुक जाता रहा है, पर जिस प्रकार बच्चेको पुचकार-पुचकार कर माता अभीष्ट काम करा लेती है उसी प्रकार प्रोत्साहन देकर तुम भी मुझे इस काममें लगाये बिना चैन न लेती थीं। यद्यपि इस ग्रंथकी रचना भाई राजबहादुरसिंहकी प्रेरणासे हुई है तथापि उस प्रेरणाको कार्यान्वित करानेका श्रेय तुम्हींको है। अतएव भाई राजबहादुरकी सम्मतिसे अपनी यह कृति तुमको ही अर्पित करता हूँ और आशा करता हूँ कि तुम अपने इस व्याधि-ग्रस्त वृद्ध पिता-का यह प्रेमोपहार स्वीकार करोगी।

भवानी दयाल संन्यासी

प्रवासी-भवन
आदर्शनगर, अजमेर।

क्रम



स्वामी भवानी दयाल संन्यासी
(जुलाई १९२६)

प्रवासीकी आत्म-कथा

: १ :

प्राक्कथन

सन् सत्रह सौ सत्तावनमें भारतका भाग्याकाश तिमिराच्छन्न हो उठा। स्वाधीनताका सूर्य डूब गया, पराधीनताकी कुहू-यामिनी छा गई। देशद्रोही मीर जाफरके विश्वास-घातसे पलासीके रणांगनमें सिराजुद्दौला-की पराजय क्या हुई मानो भारतके पैरोंमें विदेशियोंकी दासता और परवशताकी विकट बेड़ी पड़ गई। जिस दिन बंगालके नवाब सिराजुद्दौलाने राज-पाट गँवाकर फकीरके वेशमें मुर्शिदाबाद छोड़ा, उसी दिन क्लाइवकी कूटनीतिसे हिन्दुस्थानमें बृटिश साम्राज्यकी बुनियाद पड़ गई और जब मीर जाफर, अमीर बेग़ाँ, नवकृष्ण, रामचन्द्र आदिके सहयोग-से क्लाइवने अपने अंग्रेज सरदारों और सिपाहियोंके साथ मुर्शिदाबाद-का राज-खजाना लूटा तभीसे इस अभागे देशकी अपार सम्पत्तिका शोषण शुरू हो गया।

देशद्रोहके पुरस्कारमें मीर जाफरको नवाबकी गद्दी मिली थी, इस-लिए वह क्लाइवके हाथकी कठपुतली बना रहा। वह अपनी आँखोंसे देशवासियोंकी दुर्गति देखता; पर चूँ तक नहीं करता—मौन साधे रहता। ईस्ट इंडिया कम्पनीके अमलदारोंके इशारेपर नाचा करता और उनकी खुशामदमें लगा रहता। वह जानता था कि कम्पनीकी कृपापर उसकी नवाबी निर्भर है, इसलिए उसके प्रतिनिधियोंको प्रसन्न रखनेमें कोई बात उठा नहीं रखता। इसका परिणाम यह हुआ कि कम्पनीके कर्मचारियोंके

दुर्व्यवहार और अत्याचारसे देश-भरमें हाहाकार मच गया।

हिन्दुस्थानकी कारीगरी और दस्तकारी मिट्टीमें मिल गई, उद्योग-धन्धा चौपट हो चला, रोजगार-व्यापारका संहार हो गया। कोरी और जुलाहोंके अंगूठे तक काटे गए; चरखों और करघोंकी होली जलाई गई। इस प्रकार यहाँके वस्त्र-व्यापारकी समाधिपर लंकाशायर और मैन-चेस्टरके कल-कारखानोंकी नींव पड़ी। शिल्पकारोंका सर्वनाश हो गया; किसान कंगाल होगए। देश दुःख, दारिद्र्य और दासत्वके दलदलमें धँस गया; उसकी छातीपर क्रूरता और नृशंसताका नंगा नाच होने लगा।

इसीमें भारतकी अधोगतिका अन्त नहीं हुआ; उसे अपमानका कड़वे-से-कड़वा घूँट पीना पड़ा। जब अठारहवीं सदीके दूसरे चरणमें संसारसे गुलामीकी प्रथा उठ गई तो इस अभागे देशमें मियादी गुलामी-का जन्म हुआ। विधिकी कैसी विडम्बना ? बनैले और असभ्य हब्शी तो दासताके बन्धनसे मुक्त हुए—उनको स्वतंत्रतापूर्वक जीवन-यापन-का अधिकार मिला; किन्तु उनकी जगह हिन्दुस्थानकी सभ्य सन्तान, राम और कृष्णके वंशज, अकबर और शेरशाहकी औलाद मियादी गुलामके रूपमें विदेशोंके बाजारमें बेची गई। शायद ही किसी अन्य देशके मनुष्योंको परतंत्रताका ऐसा कटु फल चखना पड़ा हो। ईस्ट-इंडिया कम्पनीकी ओरसे भारतके सभी मुख्य-मुख्य नगरोंमें गुलाम भर्ती करनेके लिए डिपो खुल गए, भोले-भाले भारतीयोंको बहकाने और फँसानेके लिए आरकाटियोंकी नियुक्ति हुई। कलकत्ता और मद्रासके बन्दरगाहोंसे, इन अभागे नर-नारियोंसे लदे हुए, जहाज-पर-जहाज खुलने लगे। गुलामीके इस व्यापारसे संसारमें भारतका बड़ा अपकार हुआ।

गुलाम हब्शियोंकी आजादीसे उपनिवेशके अंग्रेज किसानोंकी बर-बादी होने लगी। उनकी दृष्टि पराधीन भारतपर पड़ी। उन्होंने भारत-की अंग्रेज-कम्पनी-सरकारसे सहायताकी याचना की। उनकी माँग अका-

-रय कैसे जाती ? यहाँकी सरकार अपने देश-बंधुओंको विपद्‌से उबारनेके लिए तैयार हो गई। पर गुलामी तो दुनियासे उठ चुकी थी, भारतमें उसकी पुनरावृत्ति करना कम्पनी-सरकारके बूतेसे बाहरकी बात थी। इसलिए एक नई प्रथा प्रचलित हुई, जो शर्तबन्दी प्रथा (Indentured System) के नामसे मशहूर है। गुलामीके युगमें जहाँ हब्शी जीवन-भरके लिए बिक जाते थे वहाँ शर्तबन्दी प्रथाके अनुसार हिन्दुस्थानी पाँच सालके लिए बिकने लगे, दोनोंकी दासतामें बस यही अन्तर था। सन् १८३३ में इंग्लैंडने दास-व्यवसायका दाग धो बहाया, परन्तु उसके अगले ही साल भारतमें अंग्रेज सरकारने परिवर्तित रूपमें उसी गुलामी-का घृणित पेशा अपनाया। अतएव सन् १८३४ में मारिशस, सन् १८३८ में डमरारा, सन् १८४५ में ट्रिनीडाड, सन् १८४७ में जमैका आदि उपनिवेशोंके लिए भारतसे शर्तबन्द गुलाम भेजे जाने लगे। वहाँ अंग्रेजों-के खेतों और बगीचोंमें उनको कड़े-से-कड़ा काम करना पड़ता, किसी काममें कुछ सुस्ती करने अथवा कोई भूल-चूक हो जानेपर हंटरकी मार खानी पड़ती। उनपर पाशविक अत्याचार किया जाता, बातका जवाब लातसे दिया जाता। वहाँ उनकी खोज-खबर कौन लेता—उनकी शिका-यत कौन सुनता ? वे अपनी किस्मतको कोसते और सर्द आहें भरते ! कितने तो उस गुलामीके जीवनसे ऊबकर नदीमें डूब मरे, कितने फाँसी की डोरीपर झूल पड़े और कितने ही विष-पान कर अपमानसे छुटकारा पा गए। वास्तवमें उन अभागे भारतीयोंकी करुण-कथा इतनी विस्तृत हृदय-द्रावक और मर्म-स्पर्शी है कि यदि पृथ्वीको पत्र और समुद्रको स्याही बनाकर लिखने बैठें तो भी उसे यथावत् अंकित कर सकना असंभव है। दासताके उस दारुण दृश्यका चित्राङ्कन करनेके लिए वाल्मीकि, व्यास और कालिदासकी कलमकी आवश्यकता है। मेरी तो बिसात ही क्या है ?

इस दास-व्यापारके कारण संसारमें भारतका घोर तिरस्कार हो रहा था, पर उसका प्रतिकार करे तो कौन ? यहाँके लोगोंकी आँखोंपर

पराधीनताकी पट्टी पड़ गई थी, उनपर गुलामीका गाढ़ा रंग चढ़ रहा था। उनमें इतना भी आत्म-सम्मान नहीं रह गया था कि वे अपनेको विदेशी विजेताओंका गुलाम माननेमें किसी प्रकारका अपमान समझें। वे हिन्दुस्थानमें अंग्रेजी शासनको भगवान्‌का वरदान मानने लगे और राज-सेवक बननेमें अपना परम सम्मान। परन्तु उस समय भी कुछ ऐसे व्यक्ति थे, जो विदेशी सत्ताके सामने सिर झुकानेकी अपेक्षा मर जाना अच्छा समझते थे। वे अपने देशकी खोई हुई स्वतंत्रता प्राप्त करने और भारतके भालसे दासताका दाग मिटानेके लिए अपना सर्वस्व निछावर करनेको तैयार थे। देश और विदेशोंमें हिन्दुस्थानियोंकी जो दुर्गति और अपकीर्ति हो रही थी वह उनके लिए असह्य हो उठी। यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं थी तो भी उनके दिलमें देशकी दासतापर वेदना थी और थी स्वाधीनताकी वेदीपर भारी-से-भारी बलिदान चढ़ानेकी कामना।

पलासी-युद्धकी पहली शताब्दीपर सन् अठारह सौ सत्तावनमें उन्हीं आजादीके दीवानोंने रण-भेरी बजाई और राज्य-क्रान्तिकी आग लगाई, जिसकी चिनगारियाँ देश-भरमें छिटक गईं। यह प्रलयङ्कर क्रान्ति विदेशी सत्ताके संहार एवं देशके उद्धारके लिए युगधर्मकी ललकार थी। पद-दलित और प्रपीड़ित प्रजा सहसा उत्तेजित और जागरित हो उठी; उनके असंतोष और रोषकी बारूदमें यह क्रान्ति-कूजन दियासलाईका काम कर गया। चारों ओर क्रान्तिकी ज्वाला फूट पड़ी। रण-चण्डीका तांडव नृत्य होने लगा। हिन्दुस्थानियोंकी हिंसा और अंग्रेजोंकी प्रतिहिंसासे लहूकी नदियाँ बह चलीं। शस्य-श्यामलता-सम्पन्न भारत-भूमि नर-संहारके विचारसे श्मशान-भूमि बन गई। पर पारतंत्र्य-पाशसे मुक्त होनेके लिए भारतकी आत्माकी यह तड़प वृथा गई; हिन्दुस्थानियोंमें परस्पर वैर-विरोधके कारण विप्लव विफल हो गया।

भारतके रंगमंचपर क्रान्तिके कर्णधार अपना-अपना अभिनय दिखाकर अदृश्य हो गये और संसारके स्वातंत्र्य-संग्रामके इतिहासमें एक अध्याय

और जोड़ गए। नाना साहब और अमरसिंह हिमालयकी घाटियोंमें विलीन हो गए। रानी लक्ष्मीबाई लड़ाईके मैदानमें अपनी तलवारकी शान दिखाकर वीर-गति पा गईं। ताँतिया टोपी विश्वास-घातका शिकार होकर फाँसीके तख्तेपर उसी प्रकार झूल पड़े, जैसे बच्चे पलनेपर प्रेमसे झूला करते हैं। वयोवृद्ध कुँवरसिंहने विषैली गोली लगी हुई अपनी एक बाँह काटकर गंगाकी धारामें बहाई और अपने प्राण-पुष्पों-की माला गूँथकर मातृभूमिकी बलिवेदीपर चढ़ा दी। अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाहकी जैसी अधोगति और दुर्गति हुई वह क्रान्तिके इतिहासमें एक कलुषित काण्ड है। उस अभागे बादशाहके तीनों शाहजादे—मिर्जा खादिर सुलतान, मिर्जा मुगल और मिर्जा अबू बकर—जहाँ तैमूर-वंशकी शान और वतनके मानपर मरकर शहीदोंकी सूचीमें अपने नाम लिखा जाते वहाँ उन्होंने कायरता दिखाकर अपने कुलमें कलंक लगाया। उनके लिए मानकी अपेक्षा प्राणका मूल्य अधिक था, इसलिए वे अपनी जान बचानेके विचारसे अंग्रेजोंकी शरणमें गये। पर सेनापति हडसनने इन शरणार्थियोंकी हत्या कर—कुत्तेकी मौत मारकर अपनी प्रचंड प्रतिहिंसाका परिचय दे डाला। दिल्लीके चाँदनी-चौकमें उनकी लाशोंकी कई दिनों तक प्रदर्शिनी की गई—गिद्ध और कौवे उनपर मँडराते तथा मांस नोच-नोच कर खाते रहे।

यदि राज्य-क्रान्ति सफल हुई होती तो वह भारतकी आजादीकी लड़ाईके नामसे याद की जाती और उसके सूत्रधार मेजिनी, गैरीबाल्डी केसूथ, वाशिङ्गटन, सनयात सेन, लेनिन प्रभृति नर-पुंगवोंकी पंक्तिमें बैठाये जाते, पर चूँकि वह निष्फल हो गई, इसलिए अंग्रेज विजेताओंने उसे सिपाही-विद्रोहके नामसे पुकारा और क्रान्तिकारियोंको हत्यारे, बागी और राजद्रोहीके नामसे। हिन्दुस्थानी रजवाड़ों, रईसों, खुशामदियों और सिपाहियोंके ही सहयोग और सहायतासे इस देशको गुलाम बनाने वाले नील, हावेल, निकोलसन, हडसन, आयर, आउट्राम, ग्रिथेड, केम्पबल आदि अंग्रेज सेनापतियोंकी प्रशंसामें इतिहासके पन्ने रँगे गए

और उनको योद्धा, वीर, साहसी, पराक्रमी और प्रतापीकी पदवियोंसे पुरस्कृत किया गया। विश्वमें विजेताओंका बोल-बाला होता ही है, पर विस्मय और विषादकी बात तो यह है कि कुछ हिन्दुस्थानियोंने भी इस विषयके विवेचनमें अपने अंग्रेज प्रभुओंका ही अनुकरण किया है; उन्हींका चश्मा चढ़ाकर क्रान्तिके कारण और कार्योंको देखा है और क्रान्तिकारियोंको कलंकित करनेमें कोई कोर-कसर नहीं रखी है। दास-मनोवृत्तिकी इससे बढ़िया बानगी और कहाँ मिलेगी ?

खैर, इस क्रान्तिका फल यह हुआ कि विलायतके कुछ व्यापारियोंकी एक मंडली—ईस्ट इंडिया कम्पनी—के निरंकुश एवं अत्याचार-मूलक शासन-तंत्रसे भारतीयोंको छुटकारा मिल गया और उसकी जगह विलायतकी प्रजा पंचायत—ब्रिटिश पार्लमेण्टने यहाँका शासन-सूत्र ग्रहण किया। अन्तर यही पड़ा कि विलायतके व्यापारियोंके हाथसे निकलकर भारतका शासन-सूत्र विलायतकी प्रजाके हाथमें चला गया। यहाँकी प्रजा वहाँकी प्रजाके अधीन हुई।

सन् १८५८में ब्रिटिश पार्लमेण्टकी अनुमतिसे महारानी विक्टोरियाने एक घोषणा-पत्र निकालकर इस देशकी प्रजाको विश्वास दिलाया कि भारतीयोंकी भलाईके लिए भारतका शासन किया जायगा और प्रजाका कल्याण एवं उत्थान ही शासनका विधान होगा। पर इस घोषणा-पत्रकी स्याही अभी सूखने भी नहीं पाई थी कि शर्तबन्दी गुलामीकी प्रथा पुनः प्रचलित हो गई। नेटालके अंग्रेज किसानोंकी याचना और ब्रूटिश सरकारकी प्रेरणासे यहाँके सत्ताधिकारियोंने दक्षिण अफ्रिकाको आबाद करनेके लिए शर्तबन्द मजदूर भेजने आरम्भ कर दिये। सन् १८६०में भारतीय मजदूरोंका पहला जहाज नेटाल पहुँचा और सन् १९११ तक, पूरे पचास साल, यह सिलसिला जारी रहा। इसी युगके एक प्रवासीकी यह आत्म-कथा है।

: २ :

माता-पिताकी गुलामी

मेरी माताका नाम था—मोहिनी देवी। जैसा मधुर उनका नाम था वैसा ही सुन्दर उनका स्वरूप भी। अवध प्रदेशके फैजाबाद जिलेमें उनका जन्म हुआ था। वे एक क्षत्रिय जमींदारकी कन्या थीं। उनके बाल्य-कालके हाल-चाल अज्ञात हैं। उनकी बुद्धि बड़ी तेज थी और वाणी बड़ी ही मीठी। वे प्यारके पलनेमें पली थीं। बचपनमें ही उनका विवाह हो गया, माँ-बापकी साध पूरी हो गई। पर जिस समय यौवनकी उठान-के साथ मनमें अरमानोंकी सृष्टि हो रही थी; संसार-सागरकी लहरोंकी थपकियाँ खाती और हवाके झोंकेसे लहराती हुई जीवन-नौका आगे बढ़ रही थी, ठीक उसी समय एक तूफान आ गया कि उसकी चपेटसे किस्मतकी किश्ती मँझधारमें डूब गई। अभी गौना भी नहीं होने पाया था कि वैधव्यका वज्र टूट पड़ा, सोहागमें आग लग गई। हाथकी चूड़ियाँ तोड़ दी गईं, माँगका सिंदूर धो दिया गया। वे वास्तवमें विधवा हो गईं, वह भी उस विशिष्ट वर्णकी हिन्दू विधवा, जिसे न हँसने-का हक़ है और न रोनेकी रजाइस। पर सौभाग्यवश उनके माता-पिता कुछ समझदार और उदार थे, इसलिए वे अपनी विधवा बेटीपर कठोर शासन न करके उसके सुख-सम्मानका पूरा ध्यान रखते थे।

आरकाटीके हथकंडे

अयोध्यामें सरयू-स्नानका मेला लगा। गाँवके एक गिरोहके साथ

माताजी भी तीर्थाटनके लिए घरसे निकल पड़ीं। अयोध्यामें यात्रियोंकी ऐसी भीड़ उमड़ रही थी कि उसको चीरकर आगे बढ़ जाना कोई सहज काम नहीं था। उस धक्कम-धक्केमें बड़े-बड़े जवानोंके छक्के छूट जाते थे, फिर स्त्री-बच्चोंको कितना हैरान होना पड़ता होगा, इसका अनुमान कर लेना बहुत आसान है। उसी भीड़में माताजीके गाँवका गुट किसी तरह चींटीकी चालसे आगे बढ़ रहा था कि पीछेसे एक ऐसा रेला आया जिसकी ठेलम-ठेलसे सबके पाँव उखड़ गए। गाँवके साथी तितर-बितर हो गए, एक-दूसरेसे अलग-बिलग। माताजी अकेली पड़ गईं, साथियोंसे बिछुड़ गईं। इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई, यात्रियोंमें ढूँढ़कर हार गईं, पर उस महान् मानव-मेदिनीमें किसीका पता न चला। हताश होकर वे राहमें एक किनारे बैठ गईं। उस समय उनकी वही दयनीय दशा थी जो जलसे बिछुड़नेपर मछलीकी होती है। वे ऐसी अधीर हो उठीं कि मानो पैरके नीचेसे धरती खिसक गई हो, सिरपर आसमान टूट पड़ा हो और आँखोंसे गङ्गाकी धारा फूट पड़ी हो। वे अब कहाँ जायं और किससे सहायता माँगें? परदेने उनको परावलम्बनका ही पाठ पढ़ाया था और उन दिनों भारतमें न सेवा-समिति थी और न कोई ऐसी संस्था ही, जो मेले-ठेलेमें यात्रियोंकी सेवा-सहायता करे, दुखियोंको ढाढ़स बँधाये, भूले-भटकेको राह बताये, बिछुड़ेको साथियोंसे मिलाये और निराश्रित नारियोंको उनके घर पहुँचा दे। पुलिसके हाथमें इन्तजामकी लगाम होती थी और हिन्दुस्थानकी पुलिस इस काममें काफी नाम कमा चुकी है। किसी निरवलंब नवयुवतीका पुलिसके पास मदद माँगने जाना मानो जान-बूझकर साँपके बिलमें हाथ घुसाना था। ऐसी स्थितिमें उच्च-कुलकी हिन्दू स्त्री पुलिसकी शरणमें जानेकी अपेक्षा आत्म-घात कर लेना अधिक पसन्द करेगी।

माताजीको आपद-संकुल अवस्थामें देखकर एक त्रिपुंडधारी पंडित उनके पास पहुँच गए और वे बड़ी शिष्टता एवं नम्रतासे बोले, "बेटी, रोती क्यों हो? क्या स्वजनोंका साथ छूट गया है अथवा राह भूल

गई हो ? डरनेकी कोई बात नहीं। मैं एक कुलीन ब्राह्मण हूँ और तुम्हारी सहायता करनेको तैयार हूँ।"

माताजीको ऐसा भासित हुआ कि मानो स्वयं दयानिधान भगवान् उनके सामने विराजमान हैं और उनकी दुःख-भरी पुकारपर विपद्से उद्धार करनेको तैयार हैं। उन्होंने बड़े प्रेमसे पंडितजीकी पद-रज शीशपर चढ़ाई और क्रंदन करते हुए अपनी करुण-कथा कह सुनाई। जब पंडितजीको पता चला कि माताजी स्वजनोंसे बिछुड़ गई हैं और आफत में फँस गई हैं तब उनकी बाछें खिल गईं। जिस प्रकार चूहेपर चोट करनेसे पहले बिल्ली शरीर सिकोड़कर अपना संकल्प छिपाती है उसी प्रकार पंडितने अपना मनोभाव छिपाते हुए बाहरसे ऐसी समवेदना दिखलाई मानो उन्हींकी बेटी-बहनपर विपदा आ पड़ी हो। वे धीरज बँधाते और ममता दिखाते हुए बोले, "खैर, जो होनी थी, सो हो चुकी। अब चिन्ताकी कोई बात नहीं रही। मैं अभी सवारी मँगाता हूँ और तुम्हें घर पहुँचाये देता हूँ।"

'रोगिया भावे सो वैद्य बतावे'—माताजीकी जो इच्छा थी उसीकी पूर्तिके लिए पंडितजी प्रस्तुत थे। उस अधेड़ ब्राह्मणकी बातोंपर उनको पूर्ण विश्वास हो गया और वे उसके साथ घर लौटनेको राजी हो गईं। कविने सच कहा है—

"राम न जाते हिरन सँग, सीय न रावण साथ।
जो 'रहीम' भावी कतहुँ, होति आपने हाथ॥"

पंडितके इशारेसे एक दढ़ियल इक्का लेकर वहाँ पहुँच गया, जो वास्तवमें उसीका इन्तजार कर रहा था। उसपर माताजीको बैठाकर वह मेलेसे रफू-चक्कर हो गया। पर जहाँ उसने घर पहुँचानेकी प्रतिज्ञा की थी वहाँ डिपो (Depot) में पहुँचाकर दम लिया। माताजीको जब यह मालूम हुआ कि वह छद्मवेशधारी ब्राह्मण नहीं, कुली भर्ती करनेवाला आरकाटी है तो उनके सन्तापकी सीमा नहीं रही। वह

डिपो* असलमें एक ऐसा जेलखाना था जिसमें एक बार दाखिल हो जानेपर फिर बाहर निकल आनेकी कोई संभावना नहीं थी। वहाँ और भी अनेक अभागे बैठे हुए अपनी किस्मतको कोस रहे थे और अपने अनिश्चित भविष्यकी आशंकासे हृदय मसोस रहे थे। दूसरे ही दिन विदेशोंमें गुलामी करनेका गिरमिट लिखाने और मजिस्टरके सामने उसकी रजिस्टरी करानेके बाद उन सबको रेलपर चढ़ाकर कलकत्ता भेजा गया जिनमें मेरी माताजी भी थीं। कलकत्ता पहुँचनेपर वहाँके डिपोकी हालत देखकर मेरी माताजीका शरीर निस्पन्द-निश्चेष्ट होगया; उनका हृदय चिन्ता, उद्विग्नता और व्यथासे भर आया। पर जिस तरह कसाईके खूँटेमें बँधी हुई गाय रँभाने-चिल्लानेके सिवा उसकी छुरीसे छुटकारा नहीं पा सकती उसी तरह उस डिपो-रूपी जल्लादखानेसे बच निकलना माताजीके लिए अनहोनी बात थी।

× × ×

मेरे पिताजीका नाम था—बाबू जयरामसिंह। बिहारमें उनका जन्म हुआ था। बचपनमें ही माता-पिता इस लोकसे चल बसे थे—वे अनाथ

* In too many instances the subordinate recruiting agents resort to criminal means inducing these victims by misrepresentation or by threats to accompany them to a contractor's depot or railway station where they are spirited away before their absence has been noticed by their friends or relatives. The records of the criminal courts teem with instances of fraud, abduction of married women and young persons, wrongful confinement, intimidation and actual violence—in fact a tale of crime and outrage which would arouse a storm of public indignation in any civilised country. In India the facts are left to be recorded without notice by a few officials and missionaries. (The late Sir Henry Cotton)

हो गए थे। उनके एक काका थे अवश्य, पर वे ऐसे बौरहा (पागल) थे कि न तो भतीजेका पालन कर सकते थे और न घर-गृहस्थीका सम्यक् संचालन ही। इसलिए मेरे पिताजीको निर्वाहके निमित्त गाँवके जमींदारके यहाँ पहले चरवाही करनी पड़ी और फिर कुछ बड़े हो जानेपर बनिहारी। बिहारमें, खासकर आरा जिलेमें, खेत-मजदूरको 'बनिहार' कहते हैं। वहाँका यह आम रिवाज है कि जब खरीफ या रबीकी फसलकी कटनी होती है तो काटनेवाले बनिहारको सोलह बोझेमें एक बोझा बनि मिलती है। बनिहार अक्सर अपनी बनिके बोझे औसतसे अधिक वजनदार बाँध लिया करते हैं। एक दिन मेरे पिताकी बनिके बोझके सम्बन्धमें भी जमींदारको कुछ सन्देह हो गया और वह व्यंग भावसे बोल बैठा—"क्षत्रिय होकर यह क्षुद्रता।" पिताजीके पास पैसे नहीं थे, पर स्वाभिमान तो था। जमींदारकी बोली उनके दिलपर गोली-सी लगी। तलवारका घाव भर जाता है—बातका घाव नहीं भरता। कविने ठीक ही कहा है—

"छुरीका, तीरका, तलवारका तो घाव भरा।
लगा जो जख्म जुबाँका रहा हमेशा हरा॥"

वास्तवमें वह बनिका बोझा भाग्यका लेखा बन गया और जमींदारका व्यंग जीवन-यात्राका तुरंग। उस हृदय-हीन जमींदारकी बेहूदगीका बदला चुकाना पिताजीके बूतेसे बाहरकी बात थी, इसलिए उन्होंने हिजरत करने—गाँव छोड़ देने—का संकल्प कर लिया। वे नौकरीकी तलाशमें गाँवसे चुपचाप निकल पड़े और पचीस कोस पैदल चलकर काशी पहुँचे। अभी शहरमें प्रवेश भी नहीं कर पाये थे कि एक धूर्त आरकाटीकी गृद्ध-दृष्टि उनपर पड़ गई। पिताजीकी मुखाकृतिसे ही उनकी अंतर्वृत्तिका पता लगाकर वह आरकाटी उनपर उसी तरह झपटा, जिस तरह शिकारी श्वान संकटापन्न सावरपर झपटता है।* इधर-उधरकी

* The recruiter or arkati lies in wait for wives who

कुछ बातें करके आखिर पूछ बैठा, "कहो भाई, क्या नौकरी करोगे ?"

"कैसी नौकरी है, भाई ! और क्या मिलेगी तनखाह ?" पिताजीने बड़ी आतुरतासे पूछा।

"अजी साहब, नौकरी क्या है," जालमें फँसाने के खयालसे आरकाटी बोला, "सच पूछो तो भाग्यका वह विधान है जो इन्सानको सुखी और धनवान बना देता है। जगन्नाथपुरीके समीप समुद्र-तटपर एक सुरम्य विशाल प्रदेश है, उसका नाम है—'नेटाल'। वहाँ एक साहब बहादुर रहते हैं। उन्हीं के घर-द्वार और खेती-बाड़ीकी रखवाली करनेका काम है। पहननेको सिपाहियाना वर्दी, खानेको अमीराना रसद और रहनेको सोफियाना कोठरी मिलेगी। काम दिनमें सिर्फ बारह घण्टे और वह भी तलवार-बन्दूकसे लैस होकर पहरा देनेका। ऐसी नौकरी और कहाँ मिल सकती है ? वहाँ बैठकर चैनकी बंसी बजाना है और ऊपरसे साढ़े सात रुपये मासिक मेहनताना भी पाना है। इससे अधिक और चाहिए क्या ?"

पिताजीके मनमें क्षत्रियत्वका गौरव और गर्व था। सब प्रकारके सुख-सुभीतेके साथ जब उन्होंने कमरमें तलवार लटकाने और कन्धेपर बंदूक धारण करनेकी बात सुनी तो नस-नसमें वीर-रस भर आया। वे फूले नहीं समाये। सोचने लगे कि आज भाग्य जाग उठा, भले दिन आ गए। जहाँ तन तपाने वाली गर्मी और हाड़ हिलाने वाली सर्दीमें खेत-खलिहानके काममें रात-दिन व्यस्त रहना पड़ता था वहाँ अब जर्कबर्क वर्दी पहने, हथियारोंसे लैस होकर, चहलकदमी करते हुए पहरा देना होगा। अब हाथमें हलकी मूठकी जगह तलवारकी मूठ रहेगी। इससे बढ़कर और चाहिए भी क्या ? उनकी आँखोंके आगे धरतीका नया

have quarrelled with their husbands, young people who have left their homes in search of adventure, and insolvent peasants escaping from their creditors.—(The late Sir Henry Cotton)

नक्शा था और आकाशका नया रंग। वे शेखचिल्लीकी तरह एक नई दुनिया और नई जिन्दगीकी कल्पना कर रहे थे। अब और कुछ कहना-सुनना बेकार ही था। अतएव आरकाटीका आभार मानते हुए उन्होंने नौकर बनकर नेटाल जाना स्वीकार कर लिया।

आरकाटी उनको भूखा-प्यासा जानकर पहले हलवाईकी दुकान-पर ले गया और मानके साथ भर-पेट पूरी-मिष्टान्न खिलाया। वहाँसे इक्केकी सवारीके साथ ही सुखमय भविष्यका सूत्रपात हो गया। पर जब वे डिपोमें पहुँचे तो वहाँकी हालत देखकर उनके मनका महल मसान बन गया, आशाओंकी अरथी निकल गई, मनसूबे मिट्टीमें मिल गए।

वहाँ आरकाटीके फन्देमें फँसे हुए आदमियोंका अच्छा जमघट लगा था। वे अपनी भूलपर पछता रहे थे, दुर्भाग्यवश आँसू बहा रहे थे। उनमें दो-चार ऐसे भी आदमी थे, जो किसी-न-किसी टापूकी सैर कर आए थे। स्वदेश-प्रेम उनको यहाँ खींच तो लाया पर जातके जानवरोंने उनपर दुलत्ती झाड़कर गाँवसे मार भगाया। इसलिए वे किसी उप-निवेशमें जानेके विचारसे भर्ती हो गए थे। उन्होंने जब उपनिवेशोंकी सच्ची कहानी सुनाई, नौकरीकी असली हकीकत बतलाई तो मेरे पिताजी के होश-हवास उड़ गए। वे पिंजरेमें बंद पखेरूकी तरह छटपटाने लगे। वे सोचने लगे कि समुद्र-पारके किसी देशमें जाना होगा, वहाँ अंग्रेजोंके खेतपर एड़ीसे चोटीतक पसीना बहाना होगा और ऊपरसे साहब तथा सरदारके नलदार जूतोंके प्रहारपर गम खाना होगा। कुछ भी कहनेकी हिम्मत करनेपर जेल जाना होगा। इससे तो बहुत बेहतर थी गाँवकी मेरी गरीबी और जमींदारकी घुड़की या झिड़की। कहाँ आ फँसे ? उनका तन तिलमिला उठा, आत्मा अचेत हो गई। वे आरकाटीके निकट जाकर बड़ी नम्रतासे बोले, "मैं देश छोड़कर समुद्र-पार—विदेश जाना नहीं चाहता। बाज आया ऐसी नौकरीसे ! आप इतनी दया कीजिये कि मुझे यहाँसे बाहर निकल जाने दीजिये।"

यद्यपि आरकाटीका स्वरूप तो वही था, पर उसका स्वभाव बदल गया था। वह आँखें तरेरकर गर्ज उठा, "तुम कैसे आदमी हो जी ? तुम्हारी अक्ल ठिकाने है या नहीं ? क्या तुम्हारे बापका मैंने कर्ज खाया था जिसके बदलेमें तुम्हें पूरी-पकवान खिलाया और इक्केपर बैठाकर यहाँ लाया ? यदि नौकरीसे इन्कार करते हो तो तुम्हें खिलाने-पिलाने तथा इक्केपर बैठाकर लानेमें मेरे जो पाँच रुपये खर्च हुए हैं वह पहले अदा कर दो, फिर तुम जहाँ चाहो खुशीसे जा सकते हो।"

पिताजीके पास तो कानी कौड़ी भी नहीं थी, वे आरकाटीसे पिण्ड छुड़ानेके लिए पाँच रुपये कहाँसे लाते ? उनकी तो वही अवस्था हो रही थी जो डालसे चूके बंदरकी होती है। उनको वहाँसे बाहर जानेका कोई मार्ग नहीं सूझ पड़ा, आँखोंके सामने भादोंकी अमावस्याकी भाँति अँधियारी छा गई।

डिपोके नरकमें

आखिर एक दिन वे मजिस्टरके इजलासमें हाजिर किये गए। मजिस्टरने केवल एक ही सवाल पूछा और वह यह कि "तुम्हें नेटालमें नौकरी करना कबूल है ?"†

"हाँ, कबूल है साहब।" पिताजीने आरकाटीकी इच्छानुसार जवाब दे दिया।

बस, पाँच सालके लिए उनके भाग्यका फैसला हो गया—पैरोंमें गुलामीकी बेड़ी पड़ गई। काशीसे कड़े पहरेमें उनको कलकत्ता पहुँचाया गया और मटियाबुर्जके मशहूर डिपोमें ठहराया गया। वहाँ सैकड़ों अभागे जहाजका इन्तजार कर रहे थे। उनमें औरत, मर्द और बच्चे

†It is perfectly true that terms of the contract do not explain to the coolie the fact that if he does not carry out his contract or for other offences (like refusing to go to hospital when ill, breach of discipline etc.) he is to incur imprisonment or fine,—(Hon, Clerk)

भी थे। लगभग सभीके दिलमें दर्द, चेहरेपर चिन्ता और आँखोंमें आँसू थे। कोई अपने सगे-सम्बन्धियोंकी स्मृतिमें सिसकता, कोई माँ-बापके बिछोहपर बिलखता और कोई गाँव-घरके गममें हाथ मलता तथा सिर धुनता था। स्त्रियाँ अपने नैहर और ससुरालकी बातें याद कर-करके उसी तरह तड़पतीं और रोती थीं जिस तरह गायसे बलात् अलग कर देनेपर उसकी बछड़ी। वास्तवमें वह मनहूस डिपो पृथ्वीपर नरकका नजारा दिखा रहा था।

डिपोमें प्रविष्ट होनेपर पिताजीको ओढ़ने-बिछानेके लिए दो रोवेंदार कम्बल मिले, खाना खानेके लिए जस्तेकी थाली और पानी पीनेके लिए जस्तेका ही तामलोट। झंखते हुए दिन बीता। जब साँझ हुई तो जीमनेके लिए सबको एक ही पाँतिमें बैठाया गया, जहाँ ब्राह्मणसे लेकर भंगी तक एक दूसरेसे सटकर बैठे हुए थे। सबके सामने वही टीनकी थाली और वही टीनकी लुटिया। एक बंगाली बाबू बूट चढ़ाये हुए चौकेमें चक्कर लगा रहे थे और भोजनार्थियोंको खान-पानकी फिलॉसफी-पर लेक्चर सुना रहे थे। किसीको कोई एतराज न था, सभी दाल-भातके कौर बेधड़क गलेके नीचे उतार रहे थे; पर पिताजीके हृदयमें तो आचार-विचारकी आँधी चल रही थी। वे एक सनातनी हिन्दू थे और ऐसे सनातनी, जो चूल्हे-चौकेमें धर्मकी महत्ता मानते थे और दाल-भातमें जातकी सत्ता। वहाँकी हालतपर वे हैरान थे और सोच रहे थे कि—'प्रथमग्रासे मक्षिका पातः'। नौकरीका यह अच्छा श्रीगणेश है, पहले ही धर्म डूब रहा है, जाति जा रही है; पर हे मन, अभीसे तू रोता है क्या, आगे चलकर देख तो होता है क्या ?

पिताजी कुछ देर दुविधामें बैठे रहे, खानेकी हिम्मत नहीं पड़ी, इसलिए पाँतसे उठ गए। उनके इस भोलेपनपर सभीको दया और हँसी आई। बंगाली बाबू नये रँगरूटको समझाते हुए बोले—"अरे बाबा, यह तो जगन्नाथ धाम है। यहां छूत-छातका खयाल कैसा ? तुमने तो नेटाल टापूमें जानेका गिरमिट लिखाया है। वहाँ चमार-डोम तो क्या

हब्शीके हाथका भी खाना पड़ेगा।''†

उस रात पिताजीने उपास किया। सवेरे उन्होंने सोचा कि इस काजलकी कोठरीसे बेदाग बच निकलना असंभव है। अब तो धर्म-भ्रष्ट होना ही पड़ेगा, पर जनेऊकी पवित्रता नष्ट करना उचित न होगा। इसलिए उन्होंने कन्धेसे यज्ञोपवीत उतारकर भगवती भागीरथीकी धारामें प्रवाहित करते हुए कहा—"माता गङ्गे! अपने इस अभागे पुत्रकी यह धरोहर अपने पास धरो। यदि जीवित रहा और वहाँसे लौट सका तो अपने पापोंका प्रायश्चित्त करके इसे तुमसे ले लूँगा।''

जनेऊका भार उतर जानेपर उनका मन कुछ हल्का हो गया। खान-पानका बन्धन टूट गया; आचारकी आँखें फूट गईं। डिपोमें बड़ा अन्धेर मचा हुआ था। स्त्री और पुरुष पशुओंकी भाँति एक ही बाड़ेमें ठूँस दिये गए थे, न परदेका इन्तजाम था और न इज्जत-आबरूका ध्यान। मानवीय मर्यादाकी मिट्टी-पलीद हो रही थी। दुराचारका बाजार लगा हुआ था। स्त्रियों और पुरुषोंको परस्पर 'जोड़े' लिखानेके लिए मजबूर किया जाता था। डिपोकी जमातमें एजेन्ट और आरकाटी उसी प्रकार स्त्री-पुरुषका 'जोड़' मिलाते थे जिस प्रकार हिन्दू समाजमें वधू-वरका ब्राह्मण और नाई। आरकाटी किसी मर्दको बेशर्मीका सबक सिखाकर किसी औरतके पास भेजता जो उसके निकट जाकर प्रस्ताव करता, 'मेरे साथ जोड़ा करोगी?' पहले तो बेचारी स्त्रियाँ 'जोड़े-जोड़ी'का मर्म ही नहीं समझीं और समझ लेनेपर कोई 'हाँ' कह देती और कोई 'नहीं'।

---

† All caste restrictions are ignored as soon as an immigrant enters the depot. For the poor unfortunate who happen to have some pride of birth, there is a bitter but unavailing struggle to retain their self-respect whic' generally ends in a fatalistic acquiescence to all the norality and obscenity of the coolie lines. The imm grants are allowed to herd together with no privacy or isolation for married people.-(Richard Piper).

इस तरह जोड़े मिलाकर एजेन्ट और आरकाटी दुनियाको धोखा देना चाहते थे कि गिरमिट लिखाकर विदेश जानेवालोंमें इतने फी सदी विवाहित-गृहस्थ भी गये हैं। इसलिए जो स्त्रियाँ एजेन्टकी इच्छानुसार 'जोड़ा' बननेसे इन्कार कर देतीं उनको एजेन्टका कोप-भाजन बनना पड़ता। वह गर्म होकर बोलता, "यह बडमाश औरट अभी बाट नेईं सुनटा। जोड़ा बनना नेईं चाहटा लेकिन हम टुमको हुकुम डेटा है कि जहाजपर इसका पानी उटार लेना।" वे बेचारी अपनी बेबसीपर वैसे ही रोतीं-बिलखतीं, जैसे जल्लादकी चमचमाती हुई कटारी देखकर कुर्बानीकी गऊ।‡

मेरी माँकी दशा बड़ी दयनीय थी। वे विचार-सागरमें गोते खारही थीं। डिपोमें स्त्रियोंकी दुर्गति देखकर उनको अपने भविष्यके लिए गहरी चिन्ता व्याप रही थी। न भूख-प्यास लगती, न नींद आती। उनको यह मालूम हो चुका था कि पालके जहाजपर बैठकर नेटाल जाना पड़ेगा और वहाँ गन्नेकी कोठी या चायके बगान (बगीचे) में पाँच साल कठोर काम करना पड़ेगा। इस स्थितिमें किसी आबरूदार स्त्रीके लिए अकेली रहना खतरेसे खाली नहीं है। अतएव उन्होंने यही निश्चय किया कि इस जीवन-यात्रा-में अपनी इच्छासे किसीको साथी चुन लेना ही श्रेयस्कर है। पिताजी-से उनका परिचय हो चुका था। एक जात—क्षत्रिय—होनेके कारण दोनों प्राणी विवाह-सूत्रमें बँध गये, विवाहकी विधिवत् रजिस्ट्री होगई; उनके जीवन-इतिहासका एक नया अध्याय आरंभ होगया।

जहाजकी जहमत

आखिर देश छोड़नेका समय आ पहुँचा। डिपोसे विदा होकर

‡ These (who are all chaste and honourable women) become mixed up almost from the first with the other class, which is more easily recruited. How many of them remain chaste, even upto the voyage, it would be impossible to say.--(The late Sadhu C. F. Andrews.)

जहाजपर सवार हुए। जहाजपर ऐसी भीड़ लगी कि कहीं पैर धरनेकी जगह नहीं। न लाज, न लिहाज! न विचार, न संस्कार! न मान, न अभिमान! सब कुछ दासताकी भट्टीमें भस्मीभूत। जब जहाज खुला तो यात्रियोंके हृदयमें हूक-सी उठी, मुँहसे चीख निकल पड़ी। सभीने आँसूका गङ्गा-जल मातृ-भूमिके चरणोंपर ढुलकाया और छातीपर पत्थर रखकर कूचका डंका बजाया। जब जहाज गङ्गासागर और बङ्गालकी खाड़ी पार करके खुले समुद्रमें पहुँचा तो प्रवासियोंकी यंत्रणाओंकी हद नहीं रही। उस समय मजदूरोंको नेटाल आदि टापुओंमें पहुँचानेके लिए पाल-वाले जहाज काममें लाये जाते थे, जिनकी चाल हवाके रुख-पर निर्भर होती थी। जिस तरह प्रवासी मजदूरोंकी तकदीर उनको एक अज्ञात दिशाकी तरफ खींचे लिये जारही थी, उसी तरह हवाके झोंके उन पाल-वाले जहाजोंको कभी-कभी डाँवाडोल हालतमें पहुँचा देते और किधर-से-किधर बहा ले जाते थे। अतएव कलकत्तेसे नेटाल पहुँ-चनेमें इन जहाजोंको करीब तीन-चार महीने लग जाते थे।

मेरे माता-पिता जिस जहाजपर यात्रा कर रहे थे, वह समुद्रकी लहरोंकी चपत खाकर ऐसा डगमगाता कि बेचारे यात्री फुटबॉलकी भाँति इधर-से-उधर लुढ़कते फिरते थे। चक्करसे आँखें नहीं उघरती थीं, उल्टी-से आँतें बाहर आने लगती थीं। हर एक आदमीको नाप-जोखकर जो जगह मिली थी, वह गन्दगीसे भर गई, नाक फटने लगी, सिर घूमने लगा। हाय दैया—हाय मैयाकी करुण कराहसे काया काँप उठती थी। कितने इस विपदको को बरदाश्त नहीं कर सके, अतएव वे समुद्रमें कूद-कर कष्टोंसे छुट्टी पा गये।‡

‡ The conditions under which the labourers live when on board the ship are not good. There is not sufficient care for the modesty of women, and all caste and religious rules are being broken and it is no wonder that many commit suicide or else throw themselves into the sea. - Pandit Madan Mohan Malaviya.)

कई दिनों तक यात्री बहुत बेहाल रहे, इसके बाद हालत कुछ ठीक हुई। एक तो यों ही फाके-पर-फाका करनेके कारण लोगोंकी अंतड़ियाँ सूख गई थीं, तिसपर खानेको मिलती थी ऐसी निराली खिचड़ी जिसको सूँघकर कुत्ता भी छोड़ देता। जब समुद्रमें तूफान आ जाता और खिचड़ी पकानेका इन्तजाम नहीं हो पाता तो यात्रियोंको 'डॉग-बिस्कुट'-से पेटकी आग बुझानी पड़ती। वास्तवमें उन अर्द्ध गुलामोंकी अवस्था अमीरोंके कुत्तोंसे भी अधम थी।

कभी वे डेकके ऊपर पड़े रहते, कभी फलकेके नीचे। वर्षामें भीगते, सर्दीमें ठिठुरते, धूपमें झुलसा करते। ऊपर नीला नभ निरखते, नीचे नीला नीर। जब अंधड़से समुद्र प्रक्षुब्ध हो उठता और लहरोंकी चोटसे जहाज ऐसा डगमगाने लगता कि मानो डूब ही जायगा तो यात्रियोंमें हाहाकार मच जाता और सभी एक साथ भगवान्‌को पुकार उठते—

"वार बराबर बारि है, तापर बही बयार।
हमरी ओर निहारिके, नाथ लगावहु पार॥"‡

खैर, दिन टिकता नहीं, किसी तरह कट ही जाता है—चाहे सुखसे चाहे दुःखसे। उन अभागे प्रवासियोंकी समुद्र-यात्राके तीन महीने भी बीत गये, जहाज नेटालके बंदरगाहपर जा लगा। संकट-संकुल समुद्र-यात्राके बाद नेटाल प्रदेशकी हरियाली देखकर प्रवासियोंके मुरझाये हुए चेहरे कुछ खिल उठे। डरबन शहरमें ब्लफ और बिरियाकी पहाड़ियाँ बहुत अच्छी और अनोखी मालूम होती थीं। जहाँ अमीरोंकी ऊँची-

‡ Before we had been out at sea for two days, in the stormy weather, one of the poor coolies was missing. He did not commit suicide, but for six days he remained in a wretched condition, stowed away in the hold, at last was dragged out almost more dead than alive. —(The late Sadhu Andrews.)

ऊँची अट्टालिकाएँ थीं, वहाँ गरीबोंकी घास-फूँसकी झोंपड़ियाँ भी। सड़कें चौड़ी और साफ-सुथरी थीं। दुकानें अंग्रेजी ढंगसे सजी हुई थीं। हब्शियोंकी काली सूरत देखकर प्रवासी भारतीयोंको यह निश्चय हो गया कि वे दैत्य-दानवोंके देशमें आ पहुँचे हैं।

: ३ :

दासताके दिन

मेरे माता-पिता अन्य दास-दासियोंके साथ जहाजसे डरबनके डिपो-में पहुँचाये गए। पहले उनकी डॉक्टरी जाँच हुई, फिर उनके बदन और वस्त्र फिनाइलसे धोये गए। इसके बाद उनकी बिक्री शुरू हो गई। अंग्रेज प्लान्टरोंकी भीड़ जुटने लगी। वे अपने कामके योग्य दास-दासी चुनने लगे। एक गिरमिटिया गुलामका दाम बीस पौण्ड था। इसी तरह अमेरिकामें निग्रो-गुलाम खुले बाजारमें नीलाम किये जाते थे। निग्रो-गुलाम जीवन-भरके लिए बिक जाते थे, गिरमिटिया-भारतीय पाँच वर्षके लिए बिके। सभ्यताकी डींग हाँकनेवाले अंग्रेजोंकी यह बर्बरता ? गिरमिटिया भारतीयोंके नये चालानकी सूचना पाकर अंग्रेज किसान आपसमें होड़ लगाकर गुलाम खरीदनेके लिए डिपोपर वैसे ही टूट पड़ते थे जैसे भोजन-भट्ट ब्राह्मण पूरी-पकवानके जेवनारपर।

गिरमिटकी गर्दिश

मेरे माँ-बापको 'बिन्स-कोठी'के अंग्रेज प्लान्टरने खरीदा और वह उनको भेड़की भाँति हाँककर अपनी कोठीपर ले गया। उनके रहनेके लिए जो झोंपड़ा मिला, उसके बारेमें यह निश्चय करना कठिन था कि वह मनुष्यके रहनेका कमरा है अथवा मुर्गोंके रहनेका दरबा। नरकट-की दीवारें और घासके छप्पर। सात फीट लम्बाई और उतनी ही चौड़ाई भी। झोंपड़ेमें मिट्टीका गच—गीला और सीला। सातवें

दिन रसद-वितरण—चावल, दाल, मकईका आटा, नमक और तेल। कामका ठेका पूरा कर सकनेपर दस शिलिङ्ग मासिक वेतन।

अंग्रेज स्वामी और सरदार इन गिरमिटिया गुलामोंको दिन-भरके लिए कामका ठेका देकर निश्चिन्त हो जाया करते थे। यदि कोई कमजोर आदमी अपना ठेका पूरा न कर पाता तो उसपर घूसों, लातों और डंडोंकी ऐसी मार पड़ती कि हड्डी-पसली टूट जाती और मरहम-पट्टी करानेकी नौबत आती।‡ वह बेचारा कर ही क्या सकता था? न कोई दाद देनेवाला था और न कोई फरियाद सुननेवाला। वह अपने भाग्यको कोसता और लहूका घूँट पीकर रह जाता।

मेरे पिता स्वदेशमें बनिहारी कर चुके थे, इसलिए विदेशकी मजदूरी उनको अधिक अखरी नहीं। वे बड़े सबेरे कामपर जाते और तीसरे पहर तक ठेका पूरा करके घर लौट आते। शामको वे घड़ी-दो-घड़ी श्रीरामावतार भाईसे हिन्दी लिखना-पढ़ना सीखते थे। उनके दिन अच्छी तरह कट रहे थे, किन्तु जिनका शरीर स्वदेशमें सुखसे पला था और जो आरकाटीके वाग्जालमें फँसकर अच्छी नौकरी करने तथा गुलछर्रे उड़ानेके खयालसे नेटाल पहुँच गए थे उनपर तो मानो विपद्का वज्र टूट पड़ा; उनकी कष्ट-कथा लिखते हुए लेखनी काँपती है। कुदाल चलाना और गन्ना काटना उनके लिए बड़ा ही कठोर काम था। वे घरसे नौकरी करनेकी गरजसे निकले थे पर यहाँ तो गले

‡ A coolie comes out of the mill with his face cut and bleeding and some of his teeth knocked in. His blue dungaree clothes are very heavily stained with blood. It looks like an accident caused by the machinery. It is not though. He is employed shovelling lime into a grinder, and he has been careless enough to spoil some. This fell upon an Englishman below, who came up in anger, and with a piece of wood did this.
—(G. W. Burton.)

पड़ी—गिरमिटकी गुलामी। इस कठोर कर्मसे उनके शरीर सूखकर काँटे हो जाते, छातीकी हड्डियाँ उभर आतीं, आँखें धँसकर कोटर बन जातीं, छाले पड़ जाते, राहमें पैर डगमगाते। इस दशामें भी उनपर दया कौन करता है ? ठेकेका काम पूरा कर सकनेपर उनपर हंटरकी मार पड़ती, खाल उधेड़ ली जाती।* इससे उनको ऐसी आत्म-ग्लानि होती कि सहकर्मियोंके सामने मुँह दिखाना मुश्किल हो जाता और वे या तो नदीमें डूब मरते अथवा पेड़में फाँसी लगाकर झूल पड़ते।‡

---

*The life on the plantations to an ordinary indentured coolie is not of a very inviting character. The difference between the state he now finds himself in, and absolute slavery is merely in the name and terms of years. The chances are that as a slave he would be both better housed and better fed than he is to-day. The coolies themselves, for the most part, frankly call it nurak (hell). Not only are the wages low, the tasks hard, and food scant, but it is an entirely different life from that to which they have been accustomed, and they chafe especially at first, at the bondage.—(The late Sadhu C. F. Andrews.)

‡One of the most significant phenomena associated with the system is the enormously high suicide-rate among the indentured labourers. We never find the suicide-rate among indentured Indians in Natal to be less than fourteen times what it is for the whole of India, in any one year, whilst normally, it is at least twice and somtimes even five times as high as amongst the free Indians of the Colony. Most of the Indians brought under indenture to Natal come from the Presidency of Madras, camparatively few from the

श्वेताङ्गोंकी शैतानी

इस सभ्यताके युगमें भी श्वेताङ्गोंकी जघन्य क्रूरता और नृशंसतासे हिन्दुस्थानके अगणित नौजवान उपनिवेशोंमें मौतके शिकार बन गए और सगे-सनेही जीवन-भर उनके लौटनेके इन्तजारमें बैठे रह गए। दुनियामें गुलामी सबसे बुरी बला है, इससे बढ़कर और कोई पाप नहीं है। यदि हिन्दुस्थान विदेशियोंका गुलाम न होता तो क्या उसकी संतानका यह अपमान होने पाता, ऐसी अधोगति और दुर्गति हो सकती? क्या संसारके इतिहासमें अफ्रिकाके दृश्योंके सिवा और कहीं दासताका ऐसा दारुण दृष्टान्त मिल सकता है? भेड़-बकरियोंकी जानसे गुलाम हिन्दुस्थानियों के प्राणका दाम कुछ अधिक नहीं था। जिस तरह पहचानके लिए दक्षिण अफ्रिकामें गड़रिये भेड़के कानका एक भाग काटकर निशान बनाते हैं उसी तरह एक भारतीय गुलामका कान काट लेना अंग्रेज मालिक कोई अपराध नहीं वरन् अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझता था।*

प्रवासी भारतीयोंके प्राण-हरण अपमान और आत्म-घातके विवरण

Calcutta side. The average suicide-rate per million for the three years, 1904 to 1906, in Madras, is 45, and, in Bengal 58. Contrast this with 551 per million, the average for the last five years, amongst the indentured Indians of Natal, and we find that it is more than twelve times the suicide-rate in Madras, and nearly ten times that in Bengal.—(Hy. S. L. Polak.)

*A white-man was charged for cutting the ear of an indentured Indian with a sharp knife and when he was asked by the Court to explain his attitude, he unhesitatingly declared that "the Government allows the cutting of the sheep's ear and the complainant is no better than a sheep."—(The Times of Natal.)

उन दिनों अखबारोंमें नहीं छपते थे, यदि वे छप पाते और उनपर अखबारोंमें टीका-टिप्पणियाँ होतीं तो उस भीषण नर-मेधका कुछ निषेध किया जा सकता। गोरोंके पाशविक कृत्योंकी यदि कथा कहने लगें तो उससे एक पृथक् ही शोक-पर्व तैयार हो जायगा।

नेटालमें भारतकी बड़ी बेइज्जती और बदनामी हो रही थी, वह निरा कुली-कबाड़ियोंका देश समझा जाता था। भारतीयोंको पग-पगपर तिरस्कारकी ठोकरें खानी पड़ती थीं और उनको घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता था। फिर भी भारतमें किसीके कानपर जूँ तक नहीं रेंगती थी। भारतकी आत्मा अचेत पड़ी थी, विदेशी सरकारको कोई फिक्र और परवाह थी ही नहीं। प्रवासी भारतीयोंका इतिहास संकट-क्लेश, ग्लानि-लज्जा और निन्दा-निरादरकी रोमांचकारी घटनाओंसे भरा पड़ा है, लेकिन ये दुर्घटनाएँ भारतसे करीब छः हजार मीलकी दूरीपर उस समय घट रही थीं जिस समय देश गुलामी और गरीबीकी वेदनासे बेहोश पड़ा था। इसलिए गोरोंकी यह गर्हित गाथाएँ प्रकाशमें नहीं आने पाईं और शनैः-शनैः विस्मृतिके अन्धकारमें विलीन होती गईं।

ट्रांसवालमें प्रवास

मेरे माता-पिताके पाँच साल दुःख-सुखसे बीत गए, गिरमिटके बंधन कट गए और वे स्वतन्त्र हो गए। जिस दिन उनको स्वतन्त्रताके वातावरणमें साँस लेनेका अवसर मिला, उस दिन उनकी आँखोंके सामने एक नया ही संसार था। "सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्"—इस जादू-भरे अमर मंत्रका उनको प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा था। आजादीकी उषाकी लाली कितनी मनोहारी होती है ? सच पूछो तो स्वाधीनता ही जीवनकी ज्योति है और पराधीनता है मृत्युकी मुद्रा। महाकवि तुलसीदासने भी यह कहकर इसी सत्यकी पुनरावृत्ति की है—"पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।" इसीलिए तो पराधीनताकी बेड़ियाँ काटनेके लिए विश्वमें बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ हुईं, खूनकी नदियाँ बहीं, अगणित

आदमियोंको अपने शीश की बलि चढ़ानी पड़ी। स्वाधीनतासे बढ़कर सुख कहाँ ?

मेरे माँ-बापने गिरमिटके दरम्यानमें रूखा-सूखा खाकर और सादा जीवन बिताकर कुछ पैसे जमा कर लिये थे। उनको मालूम था कि स्वाधीन जीवन बितानेके लिए धनकी जरूरत पड़ेगी। यदि पासमें पैसा नहीं रहा तो फिर गुलामी करनेपर मजबूर होना पड़ेगा। इसलिए उन्होंने कौड़ी-कौड़ी जोड़कर कुछ पूँजी बना ली थी। गिरमिटसे छुटकारा पाने-पर उनको यह पता लगा कि नेटालके पड़ोसमें 'ट्रांसवाल' नामक एक प्रदेश है, जिसका भविष्य उज्ज्वल और उन्नायक है। वहाँ जोहान्सबर्ग नगरके आस-पासके भूगर्भमें सोनेके शिलापट मिले हैं और खुदाईका काम भी शुरू हो गया है। वहाँ स्वतंत्र भारतीयोंका प्रवेश वर्जित भी नहीं है। इसलिए उन्होंने नेटाल छोड़कर ट्रांसवाल जानेका दृढ़ निश्चय कर लिया।

उन दिनों डरबनसे जोहान्सबर्ग तक रेलगाड़ी नहीं चलती थी, यद्यपि आज बिजलीकी गाड़ी दौड़ रही है। इसलिए मेरे माता-पिताको घोड़ा-गाड़ीपर यात्रा करनी पड़ी। वहाँ वे पहुँच तो गये, पर उनकी पूँजी खतम हो गई। इसलिए पिताजीने फूल-फल एवं शाक-भाजीकी फेरी करना आरम्भ किया और जब कुछ पैसे जमा हो गये तो उन्होंने घर बनानेके लिए एक भूखण्ड पट्टेपर ले लिया। उनके वहाँ पहुँचनेसे साल-भर पहले सन् १८८८में ट्रांसवालके बोअर प्रजातंत्रने 'गोल्ड लॉ' नामक एक कानून पास कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि ट्रांसवाल प्रदेशमें भारतीय जमीन खरीदनेके अधिकारसे वंचित हो गए। तत्का-लीन राष्ट्रपति पवल क्रूगरकी आज्ञासे जोहान्सबर्गमें बसनेके लिए थोड़ी-सी जमीन हिन्दुस्थानियोंको ९९ वर्षके पट्टेपर मिल गई थी। भारतीयोंकी यह बस्ती "इंडियन लोकेशन"के नामसे मशहूर हुई। इसी लोकेशनमें पिताजीने जमीन ली, मकान बनवाये और कार-बारका श्रीगणेश किया।

पिताजीके धन्धेमें अच्छी बरक्कत हुई। लोकेशनके दो भूखंडोंमें मकान बन गए, किरायेसे काफी आमदनी होने लगी। उनके भले दिन आ गए, पैसेके साथ प्रतिष्ठा भी बढ़ गई। उन्होंने रोजगार-धन्धा भी छोड़ दिया, भाड़ेकी आयसे ही निर्वाह करने लगे। उनकी गणना ट्रांसवालके भारतीय रईसोंमें होने लगी।

सार्वजनिक कार्योंमें भी वे दिलचस्पी लेने लगे। संयोगवश उन्हीं दिनों जोहान्सबर्गमें महात्मा गांधीसे पिताजीकी मुलाकात और जान-पहचान हो गई और धीरे-धीरे परस्पर अगाढ़ प्रेम हो गया। पिताजी गांधीजीको 'गांधी भाई' कहते और महात्माजी उनको 'जयरामसिंह भाई।' गांधीजीके सत्संगसे पिताजीके हृदयमें प्रवासी भारतीयोंकी सेवा-सहायता करनेकी एक नई उमंग उठी, नया उत्साह उत्पन्न हुआ, नई लगन लगी। वे प्रवासी भारतीयोंकी सामयिक समस्याओंका विशेष अध्ययन और अनुशीलन करने लगे और उनका सारा समय सार्वजनिक कार्योंमें व्यतीत होने लगा। महात्मा गांधीने अपनी "आत्म-कथा"में स्पष्ट स्वीकार किया है कि उनको उत्तरीय और दक्षिणी भारत-के प्रवासी भाइयोंके सम्पर्कमें लानेका पिताजीको बहुत-कुछ श्रेय प्राप्त है।*

*The clients always surrounded me. Most of them were originally indentured labourers from Bihar and its neighbourhood and from South India. For the redress of their peculiar grievances they had formed an association of their own, separate from that of the free Indian merchants and traders. Some of them were open-hearted, liberal men of high character. Their leaders were Shri Jairam Singh, the president, and Shri Badri, who was as good as the president. Both of them are now no more. They weree exceedingly helpful to me. Through these and other friends, I

कुलीसे क़ौमी नेता

पिताजीको ट्रांसवालके हिन्दुस्थानी पहले 'बाबूजी'के नामसे पुकारते थे लेकिन जब 'ट्रांसवाल इंडियन एसोसियेशन'की स्थापना हुई और वे सर्वानुमतिसे उसके सभापति चुने गए, तब उनकी यह पदवी भी बदल गई और वे ट्रांसवालके प्रवासी भारतीयोंमें 'चेयरमैन'के नामसे प्रसिद्ध हुए। यद्यपि उनको शिक्षा नहीं मिली थी, नेटाल-प्रवासके पश्चात् ही उन्होंने परिश्रम करके अक्षर-ज्ञान प्राप्त किया था, हिन्दी पढ़ लेते थे और कैथी लिपिमें लिख भी लेते थे, तथापि वे अपनी सचाई, सरलता, सेवा और ईमानदारीके प्रतापसे ट्रांसवालके प्रवासी भारतीयोंके नेता बन गए। उस समय उनकी आयु ३५ सालसे अधिक नहीं थी। उसकी आकृतिमें ऐसा आकर्षण था और उनकी वाणीमें ऐसा ओज, जो लोगोंको बलात् उनकी ओर खींच लेता था। सचाई और सेवा-वृत्ति ही उनकी सर्वोपरि विशेषता थी। साहस और उत्साह ही उनकी महत्ताके द्योतक थे। गांधीजीपर उनका अटल अनुराग था और उनके नेतृत्वमें पूर्ण विश्वास।

उन दिनों जोहान्सबर्ग शहरपर राष्ट्रपति पवल क्रूगरकी बड़ी कोप-दृष्टि थी। उनकी धारणा थी कि जोहान्सबर्गकी सोनेकी खानें ही ट्रांसवालके बोअर-प्रजातन्त्रके विनाशका कारण बनेंगी। इसलिए जोहान्सबर्गकी विदेशी जनताके प्रति उनका व्यवहार बड़ा कठोर था। ट्रांसवालमें विदेशियोंके आगमन और अभिवृद्धिको वे प्रजातंत्रके लिए अभिशाप समझते थे। अंग्रेज तो उनकी दृष्टिमें स्वाभाविक शत्रु थे

came in intimate contact with numerous Indian settlers of North and South India. I became more their brother than a mere legal adviser, and shared in all their private and public sorrows and hardships.—(The Story of My Experiments With Truth by Mahatma Gandhi.)

और स्वर्ण-भूमिमें उनको अपना कार-बार बढ़ाते और अधिकार जमाते देखकर बूअर बहुत चिन्तित हो रहे थे। ब्रिटिश प्रजा होनेके कारण भारतीयोंके साथ भी दुर्व्यवहार होने लगा। जब तक प्रवासी भारतीय नेटालमें अंग्रेजोंकी गुलामी करते थे तब तक उनको अपने अपमानका अनुभव नहीं होता था। पर ट्रांसवालमें उनकी आँखें खुल गई थीं, भिन्न-भिन्न देशों के मनुष्योंके सम्पर्कसे उनको अपनी अवस्थाका ज्ञान हो गया था और अपमान अखरने लगा था। उन्होंने अपनी स्थिति सुधारनेके लिए व्यवस्थित आन्दोलन करना उचित समझा। उस समय उनको एक निःस्पृह नेताकी आवश्यकता पड़ी और पिताजीके साहस, उत्साह, त्याग और सेवा-भावके सामने उनके सिर झुक गए। इस प्रकार एक बनिहारा और गिरमिटिया मजदूरने अपने अध्यवसाय, सत्य-निष्ठा और कर्म-परायणतासे प्रवासी भाइयोंमें वह स्थान प्राप्त कर लिया, जो बड़े-बड़े विद्वानों और धनवानोंके लिए भी दुर्लभ होता है।

: ४ :

जन्म और बचपन

दक्षिण अफ्रिकाके स्वर्ण-नगर जोहान्सबर्गमें १० सितम्बर सन् १८९२में मेरा जन्म हुआ था। इसी शहरमें मेरे जीवनका मङ्गल-प्रभात हुआ था। यहीं मैंने पहले-पहल सुनहले सूरजका प्रकाश और रुपहले चाँदकी ज्योत्स्ना देखी थी, पृथ्वीके पलंगपर सोया और आकाशके रंगपर रोया था। इसी भूमिपर मैंने बाल-सुलभ क्रीड़ाएँ की थीं। यहींके वातावरणमें मेरा बाल्य-काल बीता था।

मेरी जन्म-भूमि

उस समय जोहान्सबर्ग बस रहा था, अधिकांश मकान टीन-लकड़ीके बने हुए थे, जन-संख्या एक लाखसे भी कम थी। आज उसका रूप-रंग बिलकुल बदल गया है, आबादी पाँच लाखसे अधिक हो गई है; बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ आकाशका आलिंगन कर रही हैं। अफ्रिका महादेशमें यह नगर अपने ढंगका एक ही है, इसके भूगर्भमें विपुल वैभव भरा पड़ा है, इसलिए यह विश्वमें विख्यात् हो गया है। शहरके इर्द-गिर्द सोनेकी अनेक बड़ी-बड़ी खानें हैं, लाखों मजदूर और कारीगर इनमें काम करते हैं; संसारमें सबसे अधिक परिमाणमें सोना इन्हीं खानोंसे निकलता है। अतएव इस नगरका नाम ही स्वर्ण-पुरी (Golden City) पड़ गया है। विदेशी दर्शक इसकी बनावट, सजावट और सुंदरताकी तुलना प्रायः यूरोप, अमेरिका और एशिया के बड़े-बड़े नगरोंसे किया करते हैं।

जिस समय मेरा जन्म हुआ था उस समय ट्रांसवालमें ऐसी कड़ी सर्दी पड़ती थी कि प्रवासियोंको छटीका दूध याद आ जाता था। शाम-को बाल्टीमें पानी रख देनेपर सवेरे तक वह बर्फका ढोंका बन जाता था। नल तकमें जल जम जाता था, इसलिए सवेरे लोगोंको चूल्हेपर बर्फ गलाकर चायके लिए पानी बनाना पड़ता था। यदि हवा चल पड़ती तो वह ऐसी ठंडी होती कि मानो शरीरमें सुइयाँ चुभ रही हों। अब तो आबादी बढ़ जानेसे वैसी सर्दी नहीं रही।

स्वास्थ्यके विचारसे जोहान्सबर्गका जल-वायु अत्युत्तम है। शहर-की शोभा देखते हुए आँखें नहीं अघाती हैं। गौराङ्गोंके रहनेके लिए सुन्दर-से-सुन्दर बँगले बने हुए हैं जिनको देखकर पुराणोंमें वर्णित इन्द्र-पुरीका दृश्य सामने आ जाता है। एक-एक फूलके पौधेके लिए एकसे दो अशरफी (पौण्ड) तक मूल्य चुकाये हैं। ट्रांसवालके गुलाब केप प्रदेशके गुलाबसे अधिक सरस, सुगन्धित और सौन्दर्यपूर्ण होते हैं। मकानोंके आँगनमें जो दूब की क्यारियाँ—लॉन (Lawn)—लगाई गई हैं वे लंदन की टेम्स-नदीके किनारे लगी हुई क्यारियों—लॉनका मुकाबला कर सकती हैं।

यह तो हुआ गोरोंकी बस्तीका हाल। अब जरा 'इंडियन लोकेशन'-का हवाल सुनिये। उस समय जोहान्सबर्गमें भारतीय लोकेशनकी स्थिति ठीक वैसी ही थी जैसी भारतमें अछूतोंकी बस्तीकी होती है। ऊँची-नीची, ऊबड़-खाबड़, तंग-मैली, धूलसे भरी और कीचड़से सनी हुई सड़कें भारतीयोंके भाग्यपर रो रही थीं। मकानोंका बयान क्या करें? उनको मनुष्योंका बासा कहें वा पशुओंका बाड़ा? मोरचा लगे हुए पुराने टीनके झोंपड़े मानो ट्रांसवालके सर्वोपरि नगरके कपालपर कलंकका टीका लगा रहे थे। इस लोकेशनकी सफाईकी ओर जोहान्स-बर्ग-म्युनिसिपैलिटीका बिलकुल ध्यान नहीं था, उसकी लापरवाहीसे प्रवासी भारतीयोंको बहुत परेशान होना पड़ता था। जब कूड़े-करकट-के ढेर लग जाते, नरदाकी सड़ाइंदसे वायु-मंडल दूषित हो जाता और

मल-मूत्रकी दुर्गन्धसे भारतीयोंकी घ्राणेन्द्रिय तृप्त हो जाती, तब कहीं म्युनिसिपैलिटीकी दृष्टि इधर फिरती। सप्ताहमें एक बार उसके आदमी गाड़ियाँ लेकर आते और मल-मूत्र एवं कूड़ा-कचरा उठा ले जाते। फिर सप्ताह-भर वही ढाकके तीन पात।

ऐसी ही शोभा-हीन, श्री-विहीन, दीन, मलिन और मनहूस बस्तीमें मेरा जन्म हुआ था और बचपन भी वहीं बीता। मुझे इस बातका अभिमान है कि जो जोहान्सबर्ग मेरा जन्म-स्थान है वही उस विश्व-विश्रुत सत्याग्रहका उद्गम-स्थान भी है, जो आज हिन्दुस्थानमें स्वतन्त्रता-संग्रामका सर्वोपरि हथियार बन गया है। इसी नगरमें महात्मा गांधीने पाशविक-शक्तिके विरुद्ध सत्याग्रहकी लड़ाई चलाई थी जिसमें वेलिअम्मा जैसी युवती और नारायण सामी तथा नागाप्पन-जैसे युवकोंने शरीक होकर भारतीय मर्यादाकी रक्षाके लिए अपने जीवनकी बलि चढ़ा दी थी। प्रवासी भारतीयोंके इतिहासमें जोहान्सबर्गका एक खास स्थान है।

शिक्षाका श्रीगणेश

मेरे माता-पिताकी आर्थिक अवस्था अच्छी थी, इसलिए मेरा बचपन आमोद-प्रमोदमें बीता। पाँच वर्षकी आयुमें मुझे पढ़नेको बैठाया गया। उन दिनों पं० आत्माराम नरशीराम व्यास नामक एक गुजराती ब्राह्मणने पाठशाला खोल रखी थी जिसमें लोकेशनके कुछ बच्चे हिन्दी पढ़ते थे। इसी पाठशालामें मुझे भी दाखिल कराया गया।

वह दिन मुझे अभी तक याद है जिस दिन मैं पहले-पहल पढ़नेके लिए गया था। उस दिन एक ऐसी घटना घटी कि जिससे मेरे बचपनका नकशा बदल गया। मैं बड़े लाड़-प्यार और दुलारमें पला था, इसलिए पाठशाला मेरे लिए कैदखाना बन गई। वहाँ घड़ी-दो-घड़ी बैठनेपर मेरी तबियत ऊब गई और बंधनसे छुटकारा पानेकी कामना बलवती हो उठी। मैं पेशाब करनेके बहाने बाहर निकला और हृदय थामकर ऐसा भागा कि घर पहुँचकर ही दम लिया। जब माँके पूछनेपर मैंने हाँफते हुए अपने पलायनका वृत्तान्त कह सुनाया तो उस दया-

शील देवीकी देहमें क्रोधका संचार हो आया, आँखें लाल हो आईं, त्यौरी बदल गई। उनका उग्ररूप देखकर मैं प्रकम्पित हो उठा। केवल डाँट-डपटसे ही मेरा पिण्ड नहीं छूटा, प्रत्युत पीठपर छड़ीकी ऐसी मार पड़ी कि कई दिनोंतक हल्दी-प्याजकी पुलटिश बाँधी जाती रही। उसी दम मुझे पीटते हुए माताजी पाठशाला पहुँचा आईं और व्यासजीको सख्त-ताकीद कर आईं कि वे आइन्दा मुझपर कड़ी निगाह रखें।

उस दिन मुझे यह ज्ञान हो गया कि यदि पाठशालामें पढ़ने-लिखने-में ध्यान न दिया तो गुरूजी बेंतसे पीटेंगे और वहाँसे भागकर घर जाने-पर माताजी मरम्मत किये बिना न छोड़ेंगी। इधर गिरूँ तो कुआँ, उधर गिरूँ तो खाई। अतएव ध्यान लगाकर पढ़नेमें ही मैंने कल्याण समझा।

माताकी ताड़नासे मेरी सोई हुई चेतना जाग पड़ी। इस घटनाका मेरे कोमल हृदयपर ऐसा गहरा प्रभाव हुआ कि मैं सवेरेसे आधी रात तक, केवल खेलने-कूदनेके लिए दो-ढाई घण्टे निकालकर, पढ़ने-लिखनेमें मस्त और व्यस्त रहने लगा। माता-पिता और गुरुको फिर कभी शिका-यत करने अथवा नाराज होनेका मौका नहीं मिला। यही नहीं बल्कि माताजीके दंडका बदला मैंने ब्याज-सहित चुका दिया।

जिस समय असाध्य व्याधिकी उपाधिसे माताजीने शय्याकी शरण ली; उनका फूल-सा खिला हुआ मुखड़ा मुरझा गया, शरीर सूख-कर काँटा बन गया, आँखें धँस गईं, गाल पिचक गये, हाथ-पैर पेड़की पतली टहनियों-जैसे होगये। क्षयरोगका ऐसा प्रबल प्रहार था कि आशा-की कोई झिलमिलाती किरण भी नहीं दिखाई देती थी और माताजीके कमरेमें श्मशानके सन्नाटेकी भाँति निस्तब्धता छाई रहती थी, उस समय भी मैं उसी कमरेमें बैठकर अर्द्धरात्रितक पढ़ा-लिखा करता, उनके सुख-सुभीते और विश्रामका कोई खयाल नहीं रखता। जब वे बहुत घिघि-यातीं, 'भैया-बाबू' कहकर पुचकारतीं और सो जानेके लिए खुशामद करतीं तब कहीं मेरा आसन डोलता; मेरी समाधि टूटती।

माताकी महायात्रा

सन् १८९९में अंग्रेज-बोअर-युद्धकी घोषणासे केवल दो मास पहले जोहान्सबर्गमें ही मेरी जन्मदात्री जननीका देहांत हो गया। उस समय मेरी आयु केवल छः सालकी थी। मुझसे बड़ी एक बहन थी—राजदेवी और एक छोटे भाई थे–देवीदयाल। जिस दिन माताजी इस लोकसे विदा हुईं, वह दिन मुझे सदा स्मरण रहेगा। सवेरे ही उनके जीवनकी ज्योति क्षीण हो चली थी, साँस लेनेमें कष्ट होने लगा था, बोलनेमें जीभ लड़खड़ाने लगी थी; फिर भी मैं हठ करके पाठशाला गया ही—रोकनेपर भी नहीं रुका। जब छुट्टी मिलनेपर तीन बजे घर लौटा तो यह देखकर सन्न रह गया कि माताजी मौतसे बातें कर रही हैं और यद्यपि मैं उनकी बीमारीको बिसारकर स्कूल चला गया था पर वे मानो मेरे ही इन्तजारमें ठहरी हुई हैं। मेरा परम सौभाग्य था कि अन्त समयमें उनके चरणकी धूल सिरपर चढ़ा सका, आँसुओंका अर्घ अर्पण कर सका और उनके अंतिम आशीषका अधिकारी बन सका। इसके बाद ही उनका जीवन-प्रदीप बुझ गया, मेरा भविष्य घोर अन्धकारमें डूब गया। यद्यपि माताजी पढ़ी-लिखी नहीं थीं तो भी उनकी बुद्धिमत्ता, वात्सल्यता, योग्यता, विनयशीलता और अनुपम सुन्दरतापर लोग मुग्ध थे। ट्रांसवालके गोरे इस बातपर आश्चर्य करते थे कि हिन्दुस्थानमें भी उनकी जैसी गौर-वदना रूपवती स्त्रियाँ हो सकती हैं।

मेरी पढ़ाईसे पिताजी परम प्रसन्न थे। अतएव मुझे मिठाई खानेके लिए वे प्रतिदिन एक-दो शिलिङ्ग दिया करते थे। पर मिठाईकी अपेक्षा पुस्तकपर मेरा प्रेम अधिक था, इसलिए उस पैसेसे मैं अच्छी-अच्छी पुस्तकें खरीदता। उनको प्रेमसे पढ़ता, आदरसे आलमारीमें सजाता और उनकी संख्या बढ़ानेकी कोशिशमें लगा रहता। इस प्रकार अल्पकालमें मैंने अपना एक पुस्तकालय बना लिया। यह पुस्तकालय मेरे लिए प्राण-तुल्य प्रिय था, पर जब अंग्रेज-बोअर-युद्ध छिड़ा, हमें ट्रांसवाल छोड़कर नेटाल भागना पड़ा तो मेरा यह साहित्यिक सर्वस्व भी

खुट गया। उस समय युद्धके आतङ्कसे लोगोंको प्राणोंके लाले पड़ रहे थे, 'जान बची, लाखों पाये' की लोकोक्ति चरितार्थ हो रही थी; लोग अपने घर-बार, माल-मिल्कियत और धन-दौलत छोड़कर हबड़-धबड़में इधर-उधर भाग रहे थे, फिर मेरी छोटी-सी लाइब्रेरीकी बात और बिसात ही क्या? पर मेरी तो दशा वैसी ही हो रही थी, जैसी किसी लखपतिकी कङ्गाल हो जानेपर होती है।

अंग्रेज-बोअर-युद्ध

सन् १८९९ के अन्तमें अंग्रेजों और बोअरोंमें लड़ाई छिड़ गई। हमें नेटाल प्रदेशके डरबन नगरमें तीन साल बिताने पड़े। यद्यपि उस समय मैं अबोध बालक ही था तथापि लड़ाईकी चर्चामें बड़ी रुचि रखता था। जब अपने पिताके मुंहसे जूबर्ट, डीवेट, क्रौंजे, बोथा, डीवाल प्रभृति बोअर सेनापतियोंकी वीरताका बखान सुनता तो मेरी नस-नाड़ियाँ फड़क उठतीं और मनमें यह तरंग पैदा होती कि यदि मैं भी जवान होता और मुझे भी अपने प्यारे हिन्दुस्थानके लिए लड़नेका मौका मिलता तो मैं भी बोअर-वीरोंकी तरह जंगके मैदानमें अपना जौहर दिखाकर आलमको दंग कर देता। मैंने डरबनके एक स्कूलमें अंग्रेजी पढ़ना आरंभ कर दिया था।

इस संग्राममें मुट्ठी-भर बोअरोंने अपने बल-विक्रम एवं रण-कौशल-का ऐसा परिचय दिया कि अंग्रेजोंके छक्के छूट गये और विश्व विस्मय-वारिधिमें डूब गया। स्वाधीनताके संग्राममें बोअरोंने जो संकट झेले हैं, वह इस सदीकी एक चिरस्मरणीय घटना है। लड़ाई छिड़ते ही वीर बोअरोंने ऐसा जबर्दस्त धावा किया कि आँधीकी तरह लेडीस्मिथ पहुँच गये और शहरपर घेरा डाल दिया। वहाँ घिरी हुई अंग्रेज सेनाकी बड़ी दुर्गति हुई, भूखों मरनेकी नौबत आ गई; उन्हें घोड़े, गधे और कुत्तेका मांस तक खानेपर मजबूर होना पड़ा।

प्रभुसिंहकी वीरता

लेडीस्मिथमें अंग्रेज सेनाके साथ बिहारके आरा जिलेके प्रभुसिंह

नामक एक गिरमिटिया हिन्दुस्थानी भी थे जिन्होंने अपनी धीरता और वीरताका परिचय देकर सभीको चकित कर दिया। असल बात यह है कि उस समय जनरल जूबर्टकी बीस हजार सेना लेडीस्मिथको घेरे हुए घोर घमासान मचा रही थी। वहाँसे केवल ११६ मीलकी दूरी पर थी—नेटालकी राजधानी पीटर मेरित्सबर्ग। सैनिक दृष्टिसे स्थिति अत्यन्त गम्भीर होगई थी। सर जॉर्ज ह्वाइट अपनी पलटनके साथ लेडीस्मिथमें घिरे पड़े थे। बोअर जनरलने 'अम्बुलवाना' पहाड़ीपर तोप-खाना जमाया था। वहाँ जो तोपें लगाई गई थीं उनका नाम था—'लॉङ्ग-टॉम' और उनसे जो गोले दगते थे उनका वजन होता था ४८ सेर अर्थात् ९६ पौण्ड। इन तोपोंके गोलोंसे अंग्रेजी फौजमें हड़कम्प मच जाता था।

बोरोंमें मिट्टी और बालू भरकर तथा उनको ऊपर-नीचे रखकर एक जगह किलेबंदी कर ली गई थी—लॉङ्ग-टॉमके गोलेसे छिपकर जान बचानेके लिए। अब यह सवाल उठा कि कौन अपनी जानपर खेलकर उन बोरोंके ढेरपर खड़ा रह सकेगा और जब लॉङ्ग-टॉमसे गोला दगनेपर चिनगारी निकले तो अंग्रेज पलटनको रक्षित स्थानमें छिप जानेके लिए संकेतसे सावधान कर सकेगा? किसी अंग्रेज बहादुरकी हिम्मत न पड़ी कि इस तरह अपनी जान जोखिममें डालनेको तैयार हो जावे। आखिर प्रभुसिंहको खम ठोककर मैदानमें आना पड़ा और अपने प्राणकी बाजी लगाकर अंग्रेजोंको गोलेकी मारसे बचाना पड़ा।

वे बोरोंके ढेरके शिखरपर अंग्रेजी झंडा 'यूनियन जेक' लेकर खड़े रहते, अम्बुलवाना-पहाड़ीपर उनकी टकटकी लगी रहती। जब लॉङ्ग-टॉम तोपमें पलीता लगता तो वे झंडा हिलाते और 'बसोप-बसोप' चिल्लाते। उनकी आवाजमें बड़ी कड़क थी। उधर जब लॉङ्ग-टॉम गरजता तो इधर प्रभुसिंह भी गरज उठते, बस अंग्रेज, हिन्दुस्थानी और हब्शी झटपट आड़में जा छिपते। कभी-कभी प्रभुसिंहके पास ही गोले फट पड़ते, जिसके टुकड़े आफतके परकाले होते और चारों ओर यमदूतकी भाँति उड़ते और छिटकते, परन्तु चार मासके घेरेमें उस

महाप्रभुके अनुग्रहसे इस मानव-प्रभुका एक बाल भी बाँका नहीं होने पाया ।

आखिर जनरल बूलरने नई, ताजी और बड़ी फौजके साथ लेडी-स्मिथ पहुँचकर बोअरोंके घेरेसे अंग्रेजोंको छुड़ाया । सेनापति सर जॉर्ज ह्वाइट तो प्रभुसिंहको धन्यवाद देकर विलायत चले गये । एक हिन्दुस्थानी गुलामका सम्मान कौन करता है ? यदि वे श्वेताङ्ग होते तो उनके यशोगानमें इतिहासके पन्ने रँगे जाते, उनके साहस और त्यागसे कवियोंको प्रेरणा मिलती, उनकी वीरताके बखानमें अखबारोंके कलेवर भरे जाते, पर प्रभुसिंहको न पदवी मिली और न पेन्शन, न तमगा मिला और न सिपाहियाना सम्मान ही । बस उनके गिरमिटकी शेष अवधि बख्श दी गई, स्वदेश लौटनेके लिए जहाजका टिकट मिला और चंदा करके चंद रुपयेकी एक थैली भेंट की गई । डरबनके टाउनहॉलमें एक सभा भी हुई थी जिसमें प्रभुसिंहकी कुछ प्रशंसा कर दी गई थी । उनकी बहादुरीकी बात सुनकर भारतकी तत्कालीन वाइसरानी लेडी कर्जनने एक चोगा भेजा था, वह भी इसी सभामें प्रभुसिंहको प्रदान किया गया था । महात्मा गांधी भी इस सभामें शरीक हुए थे ।

खेद है कि अंग्रेज-लेखकोंने अंग्रेज-बोअर-युद्धके इतिहासमें इस कुली-कबाड़ीकी चर्चा करना उचित नहीं समझा, इससे उनकी कलम कदाचित् कलुषित हो जाती । इस ऐतिहासिक घटनाके लगभग तीस वर्ष बाद बिहारमें प्रभुसिंहसे मेरी मुलाकात हुई थी । वे मुझसे मिलनेके लिए मेरे प्रवासी-भवनपर पधारे थे । उनकी दशा देखकर मेरा दिल दहल उठा था । बोअर-युद्धका वह वीर दाने-दानेके लिए तरस रहा था । उनके पास न खानेके लिए अन्न था और न पहननेके लिए वस्त्र । उस साल शीत ऋतुमें प्रभुसिंहने उसी कर्जनी-चोगेको ओढ़कर सर्दीसे अपने वृद्ध-शरीरकी रक्षा की थी । यदि प्रभुसिंह हिन्दुस्थानी गुलामके बदले आजाद अंग्रेज होते तो इस बुढ़ापेमें बैठकर पेन्शनके पैसेसे गुलछर्रे उड़ाते और ब्रिटिश-साम्राज्यका विस्तार करनेवाले बहादुरोंकी पंक्तिमें बैठाये जाते ।

पर एक हिन्दुस्थानी दासकी बिसात ही क्या ? चाहे वह बृटिश-साम्राज्य-का कितना ही बड़ा भक्त क्यों न हो और चाहे विदेशी-प्रभुओंके लिए उसने कैसा ही त्याग क्यों न किया हो, आखिर प्रभुसिंहकी भाँति उसे अपने देशकी दासतापर पश्चात्ताप करनेके लिए छोड़ दिया जाता है।

बोअर-प्रजातंत्रका अन्त

संसारके इतिहासमें यह एक अनोखी बात थी कि इस युद्धमें एक ओर मुट्ठी-भर बोअर थे, दूसरी ओर बृटिश-साम्राज्यके प्रायः सभी देशोंके सिपाही। एक ओर देशकी स्वतन्त्रताके लिए बलिदानकी भावना थी, दूसरी ओर साम्राज्य-विस्तारकी स्वार्थ-पूर्ण कामना। एक तरफ ट्रांसवाल प्रजातंत्रकी रक्षा करनेके लिए देशभक्त बोअरोंकी कठिन प्रतिज्ञा थी, दूसरी ओर अंग्रेज सेनापतियोंको स्वर्णभूमि ट्रांसवाल हड़प लेनेकी महाराणी विक्टोरियाकी विशेष आज्ञा। तीन सालके विकट समरके पश्चात् बोअर प्रजातंत्रका अन्त हो गया और ट्रांसवाल तथा ऑरेंज फ्री स्टेट भी बृटिश-साम्राज्यका एक भाग बन गया। सैनिक दृष्टिसे पराजय होनेपर भी नैतिक दृष्टिसे बोअरोंकी ही विजय हुई।

महात्मा गांधी भी प्रवासी भारतीयोंका एक दल लेकर इस समरमें शरीक हुए थे, किसीकी हिंसा करनेकी दुर्भावनासे नहीं प्रत्युत घायलों-की सेवा-शुश्रूषा करनेकी शुभ कामनासे। लड़ाईके मोर्चेपर तोपोंकी गड़गड़ाहट और गोलियोंकी बौछारके बीच आहतोंको सँभालकर उठाना और खटोलेपर सुलाकर कई मीलोंके फासलेपर अस्पताल लेजाना वास्तव-में अत्यन्त साहसपूर्ण और श्रम-साध्य काम था। अंग्रेज सेनापतियोंने गांधीजी और भारतीय स्वयं-सेवक दलकी सेवा, सहिष्णुता और कर्त्तव्य-परायणताकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी; किन्तु इस सहायताके बदलेमें ट्रांसवाल-विजयके बाद अंग्रेज सरकारकी ओरसे प्रवासी भारतीयोंको जो उपहार मिला वह उनकी दासता और परवशतापर ऐसा कठोर प्रहार था कि उसने शान्तिके उपासक गांधीजीको सदाके लिए क्रान्तिकारी बना दिया और उनसे ट्रांसवालमें सत्याग्रहका सूत्रपात कराया।

नेटालमें तीन साल

हमारे युद्धके तीन साल नेटालके मुख्य नगर डरबनमें बीते थे। कुछ दिन हम शहरमें रहे और कुछ दिन चिक-कोठीमें, कुछ दिन बटरी-प्लेसमें कटे और कुछ दिन केटो-मेनरमें। प्रारंभमें पिताजीने पैसेकी कोई परवाह नहीं की और जोहान्सबर्गकी तरह यहाँ भी घरेलू खर्च जारी रखा। नतीजा यह हुआ कि उनकी माली-हालत बहुत खराब हो गई। उनकी धारणा थी कि लड़ाई साल भरके अन्दर समाप्त हो जायगी क्योंकि कहाँ प्रतापशाली बृटिश-साम्राज्य, जिसमें कभी सूर्यास्त होता ही नहीं और कहाँ साधन-हीन बोअर प्रजातंत्र, जिसके पास प्रजाकी देशभक्तिके सिवा और कोई शक्ति नहीं है? बाघ और बकरीकी यह लड़ाई कब तक चल सकेगी? पर जब डेढ़-दो साल बीत गये और युद्धाग्नि शान्त नहीं हुई तब पिताजी बहुत चिन्तित हो उठे। उनके पासकी पूँजी खतम हो चुकी थी, कर्ज मिलनेमें भी कठिनाई होने लगी। इसी दरम्यान बहन राज-देवीकी शादी भी श्री कुंजबिहारीसिंहके साथ हो गई, जिसमें पिताजी-को काफी खर्च करना पड़ा। आमदनीकी कोई सूरत नहीं थी, खर्च होता ही गया, जिससे पिताजीकी आर्थिक अवस्था असंभाव्य हो गई। आखिर उनको केटो-मेनरमें कुछ जमीन पट्टेपर लेकर खेती करनेपर मजबूर होना पड़ा।

उन दिनों हमारी स्थिति बड़ी शोचनीय थी। माताका मरण हो चुका था और बहनका विवाह। रह गया था, केवल तीन प्राणियोंका परिवार—पिताजी, मैं और मेरा छोटा भाई। यद्यपि मेरी आयु सिर्फ नौ सालकी थी तो भी मैंने घरकी देख-भाल और ६ वर्षके अनुजकी सँभालका भारी जंजाल उठा लिया, जिससे पिताजीकी बहुत कुछ चिंता दूर हो गई। वे सबेरे तीन-चार बजे खेतका सामान लेकर गुदड़ी-बाजार (इंडियन मार्केट)के लिए पयान कर देते और वहाँका काम समाप्तकर करीब नौ-दस बजेतक घर लौटते। इस दरम्यानमें मैं घरमें झाड़ू लगाता, बरतन माँजता, चूल्हा जलाता, चाय बनाकर पीता और छोटे भाईको

पिलाता, दाल, भात और कोई एक शाक भी पका लेता। मुझे अपने काममें 'लखिया' नामकी एक बूढ़ी ग्वालिनसे थोड़ी-बहुत मदद मिला करती थी। यह ग्वालिन मेरी माताकी सहेली थी और नातेमें मौसी होती थी; पर हम उसे 'अहिरिनिया' ही कहकर पुकारा करते थे। युद्धके जमानेमें जहाँ-जहाँ हम रहे, यह ग्वालिन भी अपने पति 'अयोध्या'के साथ पड़ोसमें रही और यथाशक्ति हमारी सेवा-सहायता करती रही।

उस छोटी उम्रमें ही मुझे काम और श्रमका महत्त्व मालूम हो गया। मैं घरेलू कामके सिवा खेतके काममें भी पिताजीका हाथ बँटाता। खेत-का कोई कड़ा काम करना तो मेरे बूतेसे बाहरकी बात थी पर सेम या मटरकी छीमी, टमाटर, मिर्च आदि तोड़कर टोकरियोंमें सजाना मेरे लिए बायें हाथका खेल हो गया। काममें मेरा मन रमा करता और मेहनतमें वह मजा आता जैसा कभी पढ़ने-लिखने अथवा खेलने-कूदनेमें भी नहीं आया था। वास्तवमें कर्म ही जीवन-द्वारकी कुंजी है।

पर हमारी यह हालत टिकाऊ नहीं हो सकी। सन् १९०२के द्वितीय चरणमें युद्ध समाप्त हो गया। इसी दिनकी प्रतीक्षामें हम बैठे थे। अब नेटालमें कौन टिकता है? खेत तो पट्टे पर था पर खेतमें लगी हुई फसल मिट्टीके मोल बेचकर हम लोग जोहान्सबर्गको प्रस्थान कर गये।

: ५ :

ट्रांसवालसे बिदाई

जोहान्सबर्ग पहुँचकर हमने देखा कि ट्रांसवालका रूप बदल गया है। पहले जहाँ प्रजातंत्रकी पताका फहराती थी वहाँ उसकी क़ब्रपर शान से 'यूनियन जैक' उड़ रहा था। प्रजातंत्रके पतनपर प्रवासी भारतीयोंको परिताप तो क्या होता ? प्रसन्नता अवश्य थी। उनका खयाल था कि बृटिश प्रजा होनेके नाते बृटिश राज्योंमें अब उनके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार होगा और भविष्यमें उनको रंग-द्वेषका शिकार न होना पड़ेगा। क्योंकि युद्धके जमानेमें जोसफ चेम्बरलेन लार्ड सेलबोर्न, लार्ड लेन्स-डाउन* प्रभृति उच्च अंग्रेज सत्ताधिकारियोंने संसारके सामने स्पष्ट घोषणा की थी कि जिन कारणोंसे ट्रांसवाल-प्रजातंत्रके विरुद्ध बृटिश

---

* Among the many misdeeds of the South African Republic I do not know that any fills me with more indignation than its treatment of the Indians. And the harm is not confined to sufferers on the spot: for what do you imagine would be the effect produced in India when these poor people return to their country to repeat to their friends that the Government of Empress, so mighty and irresistable in India, with its population of 300,000,000, is powerless to secure redress at the hands of a small African state.—(Lord Lansdowne.)

सरकारको हथियार उठाना पड़ा है उनमें प्रवासी भारतीयोंके प्रति दुर्व्यवहार किया जाना ही मुख्य है। बोअर-प्रजातंत्रको बदनाम करनेका यह अच्छा बहाना था। ट्रांसवाल-प्रवासी भारतीयोंके प्रति उन दिनों विलायतमें सहानुभूतिका सागर उमड़ आया था। प्रवासी भारतीयोंकी दुःख-भरी कहानी बड़े-बड़े अंग्रेज राजनीतिज्ञ गला फाड़-फाड़कर दुनियाको सुनाते, बोअरोंकी बदमाशीपर गुस्सेसे लाल हो जाते और उनके प्रजातन्त्रको मटियामेट कर डालनेकी शपथ खाते। इस हमदर्दीपर बेचारे हिन्दुस्थानी फूलकर कुप्पा हो जाते और अहर्निश बृटिश-सरकारकी जय-कार मनाते। बगुला भगत अंग्रेजोंकी कूटनीति 'मुंहमें राम, बगलमें छुरी' का मर्म भला वे क्या समझ पाते? वास्तवमें अंग्रेज राजनीतिज्ञोंके मनमें कुछ होता है, वचनमें कुछ और तथा कर्म कुछ और ही होता है, जैसे हाथीके खाने और दिखानेके दांत भिन्न-भिन्न होते हैं।

भारतीयोंकी साम्राज्य-भक्ति

भारतवासी और प्रवासी भारतीय दोनोंपर कूटनीतिज्ञ अंग्रेजोंका जादू चल गया। उनको यह विश्वास हो गया कि ट्रांसवालकी सोनेकी खान के लिए नहीं बल्कि उनके ही अभ्युत्थानके लिए अंग्रेज अपना खून बहा रहे हैं। अतएव भारतीयोंने बृटिश-सरकारकी विजयके लिए अपना सर्वस्व समर्पण करनेका संकल्प कर लिया। प्रवासी भारतीयोंने पहले सेनामें भर्ती होने और बोअरोंसे लड़नेकी इजाजत मांगी पर जब उनको जवाब मिला कि यह गौरवर्णकी लड़ाई है, इसमें भूरे या श्याम रंगके भारतीयोंको हथियार उठानेका अवसर नहीं दिया जा सकता तब उन्होंने मुर्दे उठाने और घायलोंको अस्पताल पहुंचानेका काम मंजूर कर लिया। हिन्दुस्थानकी तो हालत ही निराली है? सदियोंसे गुलामीके बोझ ढोनेवाले हिन्दुस्थानी भला बोअरोंकी आजादी और उनकी लोक-तन्त्रात्मक शासन-प्रणालीका मूल्य और महत्त्व क्या समझते? भारतसे आठ हजार गोरे अफसर और सिपाही, तीन हजार देशी सिपाही और सेवक साढे चार सौ कारीगर और ढाई हजार भिश्ती के सिवा घोड़े,

खच्चर, गोला, बारूद, अन्न-वस्त्र तथा युद्धके अन्य सामान भेजे गए—बोअरोंको गुलाम बनाने और ट्रांसवालको बृटिश-साम्राज्यमें मिलानेके लिए। देशी रजवाड़े तो इस साम्राज्य-विस्तारके यज्ञमें अपने सर्वस्वकी आहुति देनेको प्रस्तुत थे।

अंग्रेजोंके अत्याचार

आखिर अंग्रेज-बोअर-युद्ध समाप्त होगया। आजादीके उपासक बोअर-देशभक्तोंकी लाशोंके ढेरपर ट्रांसवालमें अंग्रेजी राज्यकी बुनियाद पड़ गई। बृटिश सत्ताधिकारियोंने भारतीयोंकी राज-भक्तिका पुरस्कार चुकाना शुरू कर दिया। प्रवासी हिन्दुस्थानियोंने आशाकी जो इमारत बनाई थी वह बृटिश-नीतिके एक ही धक्केसे भरराकर ढह पड़ी। बृटिश-सरकारके हाई कमिश्नर लार्ड मिलनरने 'पीस प्रेज़र्वेशन ऑर्डिनेन्स' (Peace Preservation Ordinance) जारी किया, जिसके अनुसार प्रत्येक भारतीयके लिए अपने नामकी रजिस्ट्री कराना और 'पीला-परवाना' (Yellow Permit) पासमें रखना अनिवार्य हो गया, मानो भारतीयोंकी इस बेइज्जतीसे ही ट्रांसवालमें शान्तिकी रक्षा हो सकती थी। यदि कोई इस आदेशका उल्लंघन करता तो उसे दो सालकी कैद और पाँच सौ पौण्ड तक जुरमानेकी सजा दी जाती। भारतीयोंने बृटिश-साम्राज्यकी इतनी सेवा और सहायता की; पर फल कुछ नहीं हुआ। सुखके दिन तो आये नहीं; दुःखकी रात और भी गाढ़ी हो गई। एक और कानून बनाया गया और भारतीयोंको 'ट्रांसवाल एशियाटिक रजिस्ट्रेशन सर्टिफिकेट'(Transvaal Asiatic Registration Certificate) लेनेपर मजबूर किया गया। पहली परमिट का रंग पीला था, इस दूसरे सर्टिफिकेटका रंग था लाल और दाम था तीन पौण्ड। फिर तो अंग्रेजी कानूनोंकी ऐसी सृष्टि और अभिवृद्धि होने लगी कि भारतीयोंके प्राणकी बारी आ गई। विलियम स्टेड जैसे प्रख्यात् पत्रकारको अंग्रेजोंके अत्याचारके विरुद्ध आवाज उठानी पड़ी।* और

* We went to war with President Kruger, among

सर वलन्टाइन चिरोल जैसे वृटिश राजनीतिज्ञको प्रवासी अंग्रेजोंको खरी-खरी बातें सुनानी पड़ीं।†

पर सुनता है कौन ? गुलामोंकी फिक्र और परवाह कौन करता है ? ट्रांसवालमें अंग्रेजी राज्य क्या आया मानों प्रवासी भारतीयोंपर जुल्म और ज्यादतीका तूफान आ गया। बोअर-प्रजातंत्रमें भारतीयोंके साथ दुर्व्यवहार अवश्य होता था, पर अंग्रेज शासकोंके अत्याचारोंके सामने

other things, because of our holy horror at the scandalous way in which he treated the British Indian subjects of the Queen. To redress the wrongs of the Indians we went to war, pulled down the republic, and set up a crown colony in Transvaal. With what objects? Not only have none of the wrongs of our Indian fellow-subjects been removed but their lot today is in every respect worse than it was under President Kruger. —(William T. Stead, Editor, Review of Reviews.)

† The bitterness is intensified by the recollection that, before the South African war, the wrongs of the British Indians in the Transvaal figured prominently in the catalogue of the charges brought by the Imperial Government against the Kruger regime and contributed not a little to precipitate its downfall... . As far as the British Indians are concerned, their lot in the Transvaal since it became a British colony is harder than it was in the old Kruger days, and the British colonists in the Transvaal, who were ready enough to use Indian grievances as a stick with which to beat Krugerism, have now joined hands with the Dutch in refusing to redress them. —The Indian Unrest by Sir Velantine Chirol.)

वह फीका पड़ गया। प्रवासी भारतीयोंपर कविवर 'अकबर'की यह उक्ति ठीक घट रही थी—

"थे केककी फिक्रमें सो रोटी भी गई।
चाही थी बड़ी सो छोटी भी गई॥
वाइजकी नसीहत क्यों न माने आखिर।
पतलूनकी ताकमें लंगोटी भी गई॥"

अंग्रेजोंने अत्याचारोंकी अति कर दी और 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' है। कैसा ही सीधा-सादा और साधु-स्वभावका मनुष्य क्यों न हो वह भी अत्याचारोंको अति देखकर प्रतिकारके लिए प्रस्तुत हो जाता है; जैसे चन्दन स्वभावतः शीतल होनेपर भी अति संघर्षसे आग उगले बिना नहीं रहता। अतएव इसमें आश्चर्य ही क्या कि व्यवस्थित आन्दोलनसे हताश होकर आखिर महात्मा गान्धीको ट्रांसवालमें सत्याग्रहका शस्त्र उठाना पड़ा और एक ऐसा अद्वितीय युद्ध चलाना पड़ा, जिसका वृहत् इतिहास पराधीन भारतके लिए गौरव एवं गर्वकी वस्तु है।

अखबारमें अभिरुचि

जोहान्सबर्ग लौटकर मैंने कुछ दिनोंतक 'सेन्ट सिप्रियन स्कूल'में अंग्रेजीकी शिक्षा पाई और उसके बाद 'वेसलिन मेथोडिस्ट स्कूल'में। सेन्ट सिप्रियन स्कूलमें यूरोपकी मिशनरी महिलाएँ मुझे पढ़ाती थीं। उनको मेरा हिन्दुस्थानी नाम लिखने और पुकारनेमें कुछ कठिनाई प्रतीत हुई; इसलिए उन्होंने मेरा नाम ही बदल दिया और नया नाम रख दिया—'विलियम'। वेसलिन मेथोडिस्ट स्कूलमें एक हब्शी मास्टर मुझे शिक्षा देते थे। वे बड़े गम्भीर, उदार और ज्ञानी पुरुष थे और अध्यापन-कलामें परम प्रवीण थे। उनसे मैंने अंग्रेजी पढ़ने-लिखनेकी विशेष योग्यता प्राप्त की।

उन्हीं दिनों मुझे अखबार पढ़नेका अनुराग पैदा हुआ। सन् १९०३ में महात्मा गांधीकी प्रेरणा और प्रोत्साहनसे श्री वी० मदन-जीतने "इन्डियन ओपीनियन" नामक साप्ताहिक-पत्र चार भाषाओंमें

निकाला—अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी और तामिल। इसके प्रधान सम्पादक थे—श्रीमनसुखलाल नाज़र। इस पत्रके प्रचारमें पिताजीने बड़ी सहायता पहुँचाई थी। इसका हिन्दी-अंश मैं आदिसे अन्त तक पढ़ जाता था। उस समय रूस और जापानमें घोर संग्राम हो रहा था और उसका समाचार "इन्डियन ओपीनियन" में छपा करता था। युद्धके सम्वाद मुझे अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होते और उनका मेरे दिल और दिमागपर गहरा असर होता। जनरल नेगी और एडमिरल टोगोकी वीरताका विवरण पढ़कर मैं आनन्द और उत्साहसे उछल पड़ता। मुझे ऐसा भासित होता कि रूसकी पराजय यूरोपके अहंकारपर दैविक प्रहार है और जापानकी विजय है—एशियाके उत्थानका मंगल-प्रभात।

लोकेशनका होलिका दहन

ट्रांसवालमें सर्वत्र शान्ति व्याप रही थी पर प्रवासी भारतीयोंके लिए शान्ति कहाँ? उनके सिरपर विपद्के बादल मँडरा रहे थे। अकस्मात् उनपर वज्र टूट पड़ा। राष्ट्रपति क्रुगरने जोहान्सबर्गमें प्रवासी भारतीयोंको बसनेके लिए जो जगह दी थी, वह शहरके बहुत बढ़ जानेके कारण बस्तीके बीचमें आगई थी। उसपर अंग्रेज शासकोंकी गृद्ध-दृष्टि पड़ गई। जिस जमीनको बोअर-प्रजातंत्रने ९९ सालके पट्टेपर दे दिया था उसको हड़प जानेकी कोशिश होने लगी। पट्टेकी परवाह कौन करता है? भारतीयोंकी बस्ती शहरके बीचमें? यह स्थिति अंग्रेज प्रभुओंके लिए असह्य हो गई। जोहान्सबर्ग म्युनिसिपैलिटीमें अंग्रेजोंका ही बहुमत था और म्युनिसिपैलिटीकी ही तरफसे प्रवासी भारतीयोंको जमीन छोड़कर चले जानेका नोटिस दिया गया।

इस क्रूर प्रहारसे हिन्दुस्थानी बेजार हो उठे। अंग्रेज सत्ताधिकारी उनका 'लोकेशन' छीन लेंगे और उनको इस प्रकार गृह-हीन बना देंगे, यह बात उन्होंने सपनेमें भी नहीं सोची थी। इसलिए नोटिस पाकर वे व्याकुल होगये। पिताजी ट्रांसवाल इण्डियन एसोसियेशनके सभापति थे, उन्हींकी ओर लोकेशन-निवासियोंकी टकटकी लगी थी।

पिताजीने अपने गांधी भाईकी सम्मति, सहयोग और सहायतासे स्थानीय सत्ताधिकारियोंकी नीति और प्रवृत्तिके प्रतिकूल प्रचंड आन्दोलन उठाया। सार्वजनिक सभाएँ हुईं, प्रस्ताव पास हुए अर्जियाँ दी गईं, डेपुटेशन भेजे गए और यहाँ तक कि बृटिश प्रजा होनेके नाते ब्रिटिश पार्लीमेण्टमें भी गुहार मचाई गई, पर कहीं उनकी सुनवाई नहीं हुई, किसीने दाद नहीं दी। उनका आन्दोलन असफल हुआ, उनकी आवाज अरण्य-रोदन ही हुई। आखिर वही हुआ जो पराधीनता-पातकका परिणाम होता है। इण्डियन लोकेशनका अपहरण कर लिया गया और नाम-मात्रका मुआवजा देकर प्रवासी भारतीयोंको वहाँसे निकाल बाहर किया गया।

वहाँसे भारतीयोंको निकालनेका जो उपाय काममें लाया गया वह और भी लज्जास्पद था। यद्यपि उनकी जमीन हड़प ली गई थी तो भी उनके बसनेके लिए दूसरी जगह देना म्युनिसिपैलिटीका नैतिक कर्त्तव्य था। ऐसी व्यवस्था किये बिना उनको निकालनेसे भारी हलचल मचती और म्युनिसिपैलिटीकी बदनामी भी होती। इसलिए ऐसा उपाय सोचा गया कि इनको निकाल भी दिया जाय और दूसरी जगह बसानेकी चिन्ता भी न करनी पड़े। फिर तो लोकेशनकी हालत खतरनाक होगई। एक तो यह बस्ती उपेक्षित थी ही, तिसपर म्युनिसिपैलिटीने उसे और भी बिगाड़ दिया। फल यह हुआ कि उसकी गंदगीके सामने नरक भी झक मारने लगा।

आखिर लोकेशनमें प्लेग फूट ही पड़ा। लोग बीमार पड़ने और दम तोड़ने लगे। बड़ा आतंक फैला। लोकेशनकी चौहद्दीपर पुलिसका पहरा बैठ गया, न कोई अंदर आ सकता और न बाहर जाने पाता। महात्मा गांधी, श्री मदनजीत और डाक्टर गॉडफ्रेने रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषामें जिस साहस, त्याग और तन्मयताका परिचय दिया था वह प्रवासी भारतीयोंके इतिहासकी सामग्री बन चुकी है। प्लेग देशमें फैलने न पावे, इस ख्यालसे प्रवासी भारतीयोंको लोकेशनसे निकालकर

'क्लिप्सप्रुट कैम्प' (Klipspruit Camp) में ठहराया गया। वहां हमें कुछ दिनों तक पुलिसके कड़े पहरेके अंदर नजरबंदी (Quaratine) में रहना पड़ा। प्लेगका तो अंत हुआ ही, पर लोकेशनका भी अन्त हो गया। म्युनिसिपैलिटीने चूहे मारनेके बहाने किरासन—तेल छिड़ककर ऐसी आग लगाई कि सारी बस्ती जलकर राख हो गई। जब बेचारे हिन्दुस्थानियोंको क्लिप्सप्रुट-कैम्पकी नजरबंदीसे रिहाई मिली तो उनके टिकनेका कोई ठौर नहीं रहा। लाचार होकर अधिकांश नेटालकी ओर रवाना हुए और कुछ हिन्दुस्थानकी ओर भी। बचे-खुचे भाइयोंने मलाई-लोकेशनमें डेरा जमाया।

हिन्दुस्थानको प्रस्थान

ट्रांसवालसे विदा होते समय इण्डियन एसोसियेशनकी ओरसे पिताजीको जो मान-पत्र दिया गया था वह वास्तवमें प्रवासी भारतीयोंकी तत्कालीन अवस्था और उनकी मनोव्यथाकी संक्षिप्त कथा ही थी। उसमें यह स्पष्ट कहा गया था कि "जब बृटिश राजदूत सर-कोनिङ्गहम ग्रीनको प्रवासी भारतीयोंके मानकी अधिकारोंकी रक्षामें सफलता नहीं मिली तब उन्हें विवश होकर ट्रांसवाल प्रजातंत्रके विरुद्ध युद्ध करनेके लिए महाराणी विक्टोरियाको सलाह देनी पड़ी थी। ट्रांसवालमें बृटिश राज्यकी स्थापनासे प्रवासी भारतीयोंको पूरा भरोसा हो गया था कि उनके दुःखके दिन कट गये और अब वे सुखसे समय बिता सकेंगे, पर उनकी आशा मृग-तृष्णा ही सिद्ध हुई। अंग्रेज अमलदार वर्ण-विद्वेषकी मदिरा पीकर मतवाले बन गये। अंग्रेजोंके अत्याचारके सामने बोअरोंका व्यवहार कोई गिनतीमें नहीं रहा।"

पिताजीको जमीनके मुआवजेमें कुल दो हजार पौण्ड (तत्कालीन विनिमयके अनुसार तीस हजार रुपये) मिले थे। उसीपर संतोष कर वे डरबन होते हुए सन १९०४ में हिन्दुस्थानके लिए प्रस्थान कर गये।

: ६ :

स्वदेशकी पहली झाँकी

मैंने अपने मनमें बड़ी-बड़ी उमंगें लेकर हिन्दुस्थानके लिए प्रयास किया था। जिस भारतकी खोजमें निकलेहुए कोलम्बसको अमेरिका मिला था और वास्कोडिगामाको अफ्रिका महादेश; उस सुजला-सुफला मातृभूमिके दर्शनकी उत्कण्ठा मेरे लिए स्वाभाविक ही थी। कलकत्ता पहुँचकर पिताजी कालीघाटमें काली-मंदिरपर ठहरे। वहाँ बकरोंके बलिदानका नृशंसतापूर्ण नजारा देखकर मेरा कलेजा काँप उठा। मैंने पहले कभी रक्तकी ऐसी धारा बहते नहीं देखी थी। मेरी आत्मा चिल्ला-उठी यदि यह देवीका मंदिर है तो कसाईखाना किसको कहना चाहिए ?

कलकत्तासे रेलगाड़ीपर सवार होकर हम 'कुदरा' पहुंचे—यह स्टेशन बिहार प्रांतके आरा जिलेमें सहसरामके समीप गया-लाइनपर स्थित है। यहाँसे करीब चार कोस उत्तरकी तरफ 'बडुआरा' नामक एक छोटा-सा गाँव है, जो पिताजीकी जन्मभूमि है। स्टेशनसे गाँव जानेके लिए इक्केकी सवारी मिली। पहले-पहल पाँव सिकोड़कर इक्के-पर बैठा था; ऊबड़-खाबड़ कच्ची सड़कपर उसके हचकोलोंसे नस-नाड़ियां ढीली हो गईं, अङ्ग-भङ्ग टूटने लगे।

गाँवकी गरीबी और गंदगी

किसी तरह जब मैं उस 'बडुआरा' गाँवमें पहुँचा तो वहाँका हाल देखकर बेहाल हो उठा। वहाँ दिन-दहाड़े श्मशानकी भाँति सन्नाटा था। सँकरी खोरियाँ—कूड़ा और बड़-पीपलके पत्तोंसे ढँकी हुई। मिट्टी-

के छोटे-छोटे झोंपड़े, वह भी वर्षाकी बौछार अथवा रेह लगकर ढहे हुए; किसीपर घास-फूँसके छप्पर और किसीपर खपरैलके; दरवाजेपर धूरके ढेर। गलियोंमें गन्दे पानीकी मोरियोंसे निकली हुई ऐसी दुर्गन्धि कि साँस लेना मुश्किल! खोरियोंमें कभी कोई बच्चा, कोई स्त्री अथवा कोई वृद्ध पुरुष दिखाई पड़ जाते, उनके कृश बदन जहाँ-तहाँसे फटे-पुराने तथा मैले-कुचैले चिथड़ोंसे ढक रहे थे। किसीके पास पनही नहीं, पैरपर धूल और गर्दकी पपड़ी पड़ रही थी। ऐसे मनुष्य और कहाँ मिलेंगे जिनके जीवन ऐसे दीन, तन ऐसे क्षीण, मुख ऐसे मलीन और नयन ऐसे तेजहीन हों। हरे-हरे क्या यह मनुष्योंका गाँव है? यहाँके निवासी क्या रक्त-मांसके शरीर वाले जीवित मनुष्य हैं अथवा केवल हाड़-चामकी ठठरीवाले निर्जीव प्रेत? किसीके पेट और पीठ एक हो गए हैं, किसीकी छातीकी हड्डियाँ बाहर निकल आई हैं, किसीका शरीर मलेरियासे पीला हो गया है, किसीकी तिल्ली बढ़ जानेसे पेट फूलकर नाँद बन गया है, किसीके पैर मोटाईमें हाथीके पैरका मुकाबला कर रहे हैं।

गाँवके झोंपड़ेमें एक ओर जहाँ टूटी-फूटी खाटोंपर आदमी पड़े थे वहाँ उसी कमरेमें दूसरी ओर ढोर बँधे हुए घास खा रहे थे और मल-कर रहे थे। गलियोंमें आवारे और खुजलहे कुत्ते भूँकते और रोते फिरते थे। गाँववाले अशिक्षित और अज्ञानी थे, उनका रहन-सहन गंदा और बोली बहुत भद्दी थी।

उस वातावरणमें मेरा तो दम घुटने लगा। ऐसे मनहूस गाँवमें आकर मैं बहुत पछताया, जहाँसे सभ्यता और संस्कृति सैकड़ों कोस दूर थी और जो आर्थिक दृष्टिसे देशके दिवाला निकल जानेकी साफ गवाही दे रहा था। मैं सोचने लगा—यहाँ लोग रहते हैं कैसे? हाय हाय! यह गन्दी गलियाँ, यह टूटे-फूटे झोंपड़े, उनपर यह सड़े-गले घासके छप्पर, जिनमें न सुंदरता है न सजावट; न आराम है, न सुभीता न प्रकाश पहुँचता है न पवन! यह नन्हें-नन्हें बच्चे—नंगे

और स्वास्थ्य-हीन, चेहरेपर चमक नहीं, गालपर लाली नहीं, आँखोंमें आभा नहीं,—पेट फूलकर फुटबॉल और पैर सूखकर नरकट बन गए हैं। सारे बदनमें फुन्सी-फोड़े और घाव भरे हैं, पीब बहती है और मक्खियाँ भिनभिनाती हैं। इसी स्थितिमें एक-दो दिन नहीं, मास-दो मास नहीं, साल-दो साल भी नहीं, बल्कि जीवन-भर, पीढ़ी-दर-पीढ़ी? कैसी अनीप्सित अवस्था? कैसा दारुण दृश्य?

मैं प्रगाढ़ चिन्तामें डूब गया; हाथ मलने और सिर धुनने लगा। इस मनोव्यथासे कि कहाँ आ फँसा? यहाँ कैसे दिन कटेंगे? इन गवारोंसे कैसे निबाह होगा? क्या मेरा जीवन इसी मनहूस गाँवमें बीतेगा? क्या मेरे नसीबमें यही नरक-वास बदा है? मेरे देहमें खून नहीं, आँखों में आँसू नहीं, रुलाईमें आवाज नहीं—मैंने उसी दम वहाँ से अफ्रिका लौटने का हठ बाँध लिया, खाना-पीना छोड़ दिया और धरना दे बैठा। आखिर पिताजीके बहुत समझाने-बुझाने और आश्वासन देनेपर मैंने साल-भर उस गाँवमें ठहरना मंजूर कर लिया। भावी बड़ी बलवती होती है।

पिताजीने दौड़-धूप तथा मोल-तोल करके 'बहुआरा' और 'इस्माइल-पुर' गाँवोंको अठारह हजार रुपयेमें खरीद लिया। बहुआरामें छोटी-सी बस्ती थी, पर इस्माइलपुर था उजड़ा हुआ डीह। गाँव खरीदनेमें पिताजीको बड़ी परेशानी उठानी पड़ी और कुछ लोगोंकी बेईमानीसे पैसेका भारी नुकसान भी हुआ। पिताजीने पड़ोसके 'तेन्दुनी' गाँवमें भी कुछ हिस्से खरीदे। इस प्रकार उन्होंने अपनी पूँजीकी दो-तिहाई जमीन खरीदनेमें लगा दिया, शेष एक तिहाईसे खपरैलका मकान बना और खेती-बाड़ीका इन्तजाम हुआ। वे एक छोटी-सी जमींदारीके मालिक बन गये। उस देहातमें वे बनिहारसे अब एक इज्जतदार रईस और जमींदार बन गये। यह लोकोक्ति उनपर ठीक लागू हो गई—

तुलसी इक दिन वे हुते, मांगे मिले न चून।
कृपा भई भगवान की, लुचई दोनों जून॥

बिरादरीके वधिक

इसी मध्यमें पिताजीके सामने एक अत्यन्त पेचीदा प्रश्न आ पड़ा और वह था बिरादरीमें मिलनेका सवाल। उस देहातमें यह शोहरत हो गई थी कि पिताजी अनेक वर्षोंतक टापूमें रहकर खूब माल कमा लाये हैं, इसलिए जातिके पंच नाना प्रकारके प्रपंच रचनेमें व्यस्त थे। हमें जातिमें मिलाना चाहिए या नहीं, इस बातपर विचार करनेके लिए गाँवके बखोरी राय, घीना राय आदि मुखियोंकी पंचायत बैठ गई। मैं भी एक किनारे बैठकर पंचायतका तमाशा देख रहा था। सरपंच महोदय बोले,—"देखो भाई जयरामसिंह, तुमको जातिमें मिलानेके लिए हम तैयार हैं, बशर्तेकि तुम टापूसे आये हो, इसलिए प्रायश्चित्त करो—पाँच गाँवके ब्राह्मणोंको पक्की जिमाओ और गाँव तथा देहातके राजपूत भाइयोंको कच्ची खिलाओ। इसके सिवा पंचोंको कौर उठानेके लिए कुछ भेंट भी देनी होगी। बस, तुम्हारा कार्य तो सिद्ध हो जायगा। लेकिन भाई साहब, तुम्हारे बच्चोंको जातिमें लेना अनहोनी बात है। यह जानते हुए कि वे विधवाकी कोखसे जन्मे हैं, हम लोग जीती मक्खी कैसे निगल सकते हैं? तुमको दो मेंसे किसी एकको चुन लेना चाहिए—या तो बच्चोंके साथ रहो अथवा जातिके साथ?

उस समय मेरी आयु बारह सालकी हो चुकी थी। इस अपमानपूर्ण बातसे मेरे आत्म-सम्मानपर ऐसी चोट पहुँची, जितनी हजार बिच्छुओंके डंकसे भी नहीं पहुँचती। हृदयमें ग्लानिकी आग धधक रही थी, शरीर क्रोधसे थर-थर कांप रहा था और आँखोंमें लहू उतर आया था। ओह! ऐसा घोर अपमान? इन नर-पशुओंसे किस बातमें मैं हीन हूं? क्या मेरा संस्कार इनसे श्रेष्ठ नहीं है? क्या मेरा रहन-सहन इनसे उच्च नहीं है? क्या मेरे आचार-विचार इनसे उत्तम नहीं हैं? यदि विश्वके किसी भी न्यायाधीशके इजलासमें यह मामला दायर किया जाय तो वह हमारा रूप-रंग, आचार-विचार, शिक्षा-संस्कार और चाल-ढाल देखकर क्या फैसला करेगा—किसको ऊँच और किसको नीच बतावेगा? फिर भी

इन नर-पशुओंकी नजरमें मैं नीच हूँ—कुजाति हूँ, अतएव मुझे समाजसे अलग रखनेकी चर्चा हो रही है।

मेरे हृदयमें भावनाओंकी बाढ़ आ गई। मैं सोचने लगा—क्या यह वही भारत-भूमि है जहाँ रामने शबरीके जूठे बेर खाये थे और कृष्णने विदुरकी भाजीका भोग लगाया था? जहाँ पाराशर चंडालिनसे वेदव्यास मल्लाहिनसे और वशिष्ठ गणिकाके गर्भसे जन्म लेकर भी समाजमें सर्वोपरि सम्मानके अधिकारी हुए थे—अपने युगमें धर्म-शास्त्र काव्य-कला, सत्साहित्य और तत्त्व-ज्ञानके पूज्य आचार्य माने गए थे? जहाँ सिरियन, सिथियन, हूण, ग्रीक आदि भिन्न-भिन्न जातियाँ आकर आर्य जातिमें ऐसी घुल-मिल गईं कि उनकी निशानी तक नहीं रही। आर्य और द्रविड़ प्रजामें परस्पर ऐसी मिलावट हुई कि हिन्दुस्थानी कौम (Indian Nation) का कोई खास रंग ही नहीं रहा। सभी कौमों के कोई-न-कोई रंग हैं, पर हिन्दुस्थानियोंमें कोई गोरा है तो कोई काला, कोई भूरा है तो कोई पीला, कोई साँवला है तो कोई कबरा। वर्ण-संकरताका इससे बढ़कर प्रमाण और क्या चाहिए।*

असह्य अपमान

जिन्होंने अपने आर्य-रक्तकी पवित्रताकी परवाह न करके अनेक विभिन्न कौमोंको दूध-पानीकी भाँति अपनेमें मिला लिया था, क्या यह उन्हीं आर्योंके वंशज हैं, जो मुझे केवल इस अपराधपर जातिसे बहिष्कृत करना चाहते हैं क्योंकि मैंने एक विवाहित विधवा के गर्भसे जन्म लिया है। यद्यपि मेरे माता-पिताकी शादी रजिस्टर हो चुकी है और कानूनसे मैं जायज पुत्र हूँ, पर यह जातिके जानवर मुझे नाजायज ठहरानेपर तुले हैं। इनकी इसी हृदय-हीनतापर तो लाखों-करोड़ों मनुष्य

* इस विषयपर मैंने 'वर्ण व्यवस्था या मरण-अवस्था' नामकी पुस्तकमें विस्तारपूर्वक अपना विचार प्रकट किया है।

—लेखक

इनको त्यागकर ईसाई और मुसलमान हो गए और ये सदियोंसे गुलाम बने हुए हैं।

अब मुझे केवल एक ही आशा रह गई थी और वह यह कि चाहे कुछ भी नतीजा क्यों न हो, पर पिताजी इन नर-पशुओंकी धमकीमें आकर मुझे छोड़ेंगे नहीं। इसलिए उनके चिन्तित और व्यथित चेहरेपर मेरी टकटकी बँध गई, पर मेरी आशा टिकाऊ नहीं होने पाई, वह क्षण-मात्रमें पानीके बुलबुलेकी तरह विलीन होगई। जब पंचोंने जवाब तलब किया तो पिताजी रुद्ध कण्ठसे बोले—"यदि बिरादरी बच्चोंको नहीं लेती है तो भी मैं बिरादरीको नहीं छोड़ सकता।"

उस समय मुझे जितना दुःख हुआ उतना इस जीवनमें फिर कभी नहीं होने पाया। मेरी आँखोंके सामने निविड़ अन्धकार छा गया, पैरों तलेसे मानो धरती सरक गई, सिरपर मानो आकाश फट पड़ा। मैं मूर्छित हो गया।

उस रात मेरी नींद हराम हो गई; दिलमें दर्द था और दिमागमें तूफान। बिरादरीकी ममता पिताजीको ऐसा हृदय-हीन, हत्-बुद्धि, हौलदिल और हकीर बना देगी, इसकी मैंने कभी कल्पना तक नहीं की थी। उनके इस कृत्यपर मुझे घृणा हो गई और मैं उनको कभी क्षमा नहीं कर सका। वे मेरी दृष्टिसे ऐसे गिरे कि फिर कभी नहीं उठ पाये। यदि मुझे सालभरके बाद दक्षिण अफ्रिका लौटने का भरोसा न होता तो इस अपमानसे मैं अवश्य आत्म-घात कर लेता।

पिताजी बोअर-युद्धसे कुछ पहले एक बार भारत आ गए थे और छः मासके अन्दर यहाँसे लौट भी गये थे। उसी समय वे एक बेटी-बेचवासे तीन सौ रुपयेमें एक लड़की मोल लेकर उससे विवाह कर गए थे। उसीको लेकर बिरादरीमें बहाल हो गए और अपनी घर-गृहस्थी चलाने लगे। कालान्तरमें उनकी इस पत्नीसे एक पुत्री जन्मी—'राम-दासी' और एक पुत्र भी पैदा हुआ—'रामनरेश'।

सौतेली माता

अब मैं सौतेली माँके पाले पड़ गया। कुछ अपवादोंको छोड़कर विमाता चाहे दयावती ही क्यों न हो, अपनी सौतकी सन्तानपर उसका सच्चा स्नेह नहीं हो सकता। पुरुष चाहे कैसा ही चतुर और सुजान क्यों न हो, नवेलीको पाकर उसके वशमें हो ही जाता है और उसके नखरेपर उसी तरह नाचने लगता है जिस तरह नटके इशारेपर मर्कट। यदि पुरुष कहीं अधेड़ या खूसट बूढ़ा हुआ और पत्नी हुई नई—नवोढ़ा, तब तो बस यही समझिये कि एक तो करेला कड़ुवा, तिसपर नीम चढ़ा। कहीं वह खूबसूरत हुई, उसकी आँखोंमें बिजलीकी चमक हुई और चेहरेपर जवानीकी लाली, तब तो वह अपने पति-पुजारीकी आराध्य-देवी बनकर रहने लगती है। वह घरमें रानीका रुतबा पा जाती है और सभीपर रौब जमाती तथा हुक्म चलाती है। उसकी बात पतिदेवके लिए ब्रह्म-रेखा होती है जो कभी मिट नहीं सकती। उसके हाव-भाव एवं चोंचलेपर बूढ़ा पति वैसे ही जान देने लगता है जैसे चिरागकी लौपर पतंगे। वह अपनी स्वर्गीया पत्नीके बच्चोंके साथ केवल दुर्व्यवहार ही नहीं करता बल्कि अपनी नव्य नवेलीको प्रसन्न रखनेके लिए उनपर अत्याचार भी कर बैठता है। किमाश्चर्यमतः परम्! पर है यह बात सोलह आना सच्ची, और मैं किशोरावस्थामें स्वयं इस दुखद स्थितिका यत्किंचित् अनुभव कर चुका हूँ। यदि मैं अपनी अनुभूतियोंका सिलसिलेवार वर्णन करूँ तो एक अच्छी पोथी तैयार हो सकती है।

हिन्दीका अध्ययन

मैं थोड़ी-बहुत हिन्दी पढ़ना-लिखना जानता ही था, अब गाँवमें रहकर उसका विशेष रूपसे अध्ययन करने लगा। तुलसी-कृत रामायण पर मेरा परम अनुराग था, उसका पाठ मेरा नित्य नैमित्तिक कर्म बन गया था; सैकड़ों चौपाइयाँ और दोहे मैंने याद कर लिये थे और सम्पूर्ण किष्किन्धा एवं सुंदरकाण्ड तो मुझे कंठाग्र हो गया था।

सूरदास के पदोंपर भी मेरी बड़ी भक्ति थी। मैं बड़े प्रेमसे सूरकी कृतियां पढ़ता और उनकी भाव-प्रवणतापर मुग्ध हो उठता, पर तुलसीकी रचनाओंमें मुझे जो आनंद आता वह अन्य किसीकी रचानामें नहीं। रामायण पढ़ते समय मेरे हृदय-सितारके तार-तार बज उठते थे और मेरी आत्मा भगवद्भक्तिमें तल्लीन हो जाती। किसीको शेक्सपियर, मिल्टन, टेनिसन, जान कीट्स प्रभृतिकी कविताओंमें मजा मिलता होगा और किसीको बंकिम, मधुसूदन, रवीन्द्र आदिकी शाय-रियोंमें, किन्तु मेरे हृदय-सिंहासनपर तो तुलसीदासका एकाधिपत्य था, वहाँ अन्य किसीके लिए गुंजाइश ही नहीं थी। जब राजापुर-बांदामें तुलसी-स्मारककेलिए अपीलकी गई तो मैंने गाँव-गाँव चक्कर लगाकर कुछ चंदा एकत्र किया और महाकविकी पुण्य-स्मृतिपर अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाई।

बाल्यावस्थासे ही अखबार पढ़नेकी ओर मेरी अभिरुचि थी। मैं केवल एक ही हिन्दी पत्रका नाम जानता था और वह था, बम्बईका "श्रीवेंकटेश्वर समाचार।" मैंने उसे मँगाना आरंभ किया और आदिसे अंततक पढ़ना भी। यहाँ तक कि उसमें छपे विज्ञापन भी दृष्टिसे नहीं बचने पाते थे। कुछ कालके बाद मैं अपने देहातकी छोटी-मोटी खबरें छपनेके लिए भेजने लगा, जब वे छपकर आतीं तो मैं आनन्द-विभोर हो उठता और उसे पढ़कर गाँव-भरको सुनाता।

जमींदारीका जंजाल

पिताजी मुझे हमेशा खिन्न और उदास देखकर चिन्तित हो उठे। वे मेरी मनोव्यथासे परिचित थे। वे जानते थे कि उनके व्यवहारसे मेरे भावुक-हृदयमें ऐसा गहरा घाव हो गया है कि वह इस जीवनमें कभी नहीं भरेगा। पर इस प्रकार मेरा घुल-घुलकर मरना उनकी अन्तरात्माके लिए अत्यन्त त्रास-दायक बात थी। इसलिए उन्होंने मुझे फौरन किसी ऐसे काममें लगा देना उचित समझा जिससे मेरी तल्लीनता मिट जाय और ध्यान बँट जाय। आखिर मुझे जमींदारीके झंझटोंमें फँसा दिया

गया और चौदह सालकी आयुमें जिम्मेदारियोंका इतना बोझ लाद दिया गया कि मैं उसके भारसे दब गया। जमींदारीके सिवा पटवारीका काम भी मुझपर आ पड़ा क्योंकि पटवारी दस-बारह कोसके फासलेपर रहता था और सालमें केवल दो बार आया करता था, अतएव उसके भरोसे बैठे रहनेसे जमींदार और किसान दोनोंका नुकसान था। अतएव मैं काम-काजमें इतना व्यस्त रहने लगा कि दम लेनेकी भी फुरसत नहीं रही।

यह बात अच्छी ही हुई। इससे जहाँ मुझे अपने अपमानकी बात सोचकर सन्ताप करनेका अवकाश नहीं रहा, वहाँ भारतके किसानोंकी असली हालत जाननेका भी अवसर मिल गया। भूतलपर भारत ही एक ऐसा अभागा देश है जहाँके किसान गम खाते, आँसू पीते और दम साधकर सो जाते हैं। यही कष्ट क्या काफी नहीं है? पर इसीसे उनका पिण्ड नहीं छूट पाता बल्कि बात-बातमें उनको जमींदारों, तहसीलदारों और पटवारियों—यहाँतक कि मामूली प्यादों और चपरासियोंकी भी झिड़कियाँ, धमकियाँ और गालियाँ तथा कभी-कभी तो जूतेकी मार भी खानी पड़ती है। धरती-माता ही किसानोंका एक-मात्र अवलम्ब है, उसीके अंकमें वे अपना सारा आस-भरोस बिखेर आते हैं, फिर उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा किया करते हैं; पर अंतमें निराशा ही उनके पल्ले पड़ती है। समयपर वृष्टि नहीं होती, अक्सर अकाल पड़ा करता है। अच्छी फसल तो कभी होती ही नहीं और होने भी कैसे? न अच्छी खाद, न सिंचाईकी व्यवस्था, न बढ़िया बैल और न आधुनिक हल-हेंगा। बरद बैल ऐसे क्लान्त और कमजोर कि हलमें नाधनेपर डग-भर चलना दुस्साध्य; अतएव हलवाहा उनकी पूँछ मरोड़कर आगे ढकेलता और हल खींचनेपर मजबूर करता है। किसानोंके घरमें अनाज नहीं, चूहे दण्ड पेलते हैं; बच्चे रोते-रोते सो जाते हैं और सयाने पेटपर पट्टी बाँधकर। तिसपर जमींदारका जुल्म, तहसीलदारकी तिकड़मबाजी और पटवारीकी प्रतारणा। गुमाश्ते और पटवारी तो पिशाचके प्रतिरूप ही होते हैं, उनके

'हक' या 'सलामी' के रुपये मिलनेमें कहीं कुछ देर हो गई तो बस धरती भी गई और इज्जत भी। उधार रुपये कहाँ मिल सकते हैं ? गाँवोंमें न सहयोग-समितियां हैं और न किसानोंको ऋण देनेके लिए सरकारकी ओरसे कोई व्यवस्था ही, आबरू बचानेके लिए महाजनका दरवाजा खटखटाना और झाँकना पड़ता है। पर असलमें ये महाजन नहीं, पूरे दुर्जन होते हैं जो जोंककी तरहसे लहू चूसकर अघाते और मुटाते हैं। इनके सूद-दरसूदके झमेलेसे किसान कभी पनपने नहीं पाते। बस, एक-बार फंसनेकी देर होती है, फिर तो उनके फन्देसे निकल सकनेकी कोई सूरत नहीं रह जाती। बेचारे कृषक धूप, मेंह, सर्दी सहकर खेतकी उपजकी ओर देखते हैं पर उसे देखकर अच्छी तरह आँखें जुड़ा भी नहीं पाते कि एक तरफ जमीन्दारका प्यादा लट्ठ लेकर खलिहानमें आ डटता है और दूसरी ओर बनिया-बक्काल अपना खाता-बही लेकर। किसानकी पैदावार उसके घर नहीं आने पाती—कुछ मालिककी मालगुजारीमें चली जाती है और बची-खुची बनियाके बिया-खेहन तथा नकदकी बेबाकीमें। उनकी आज वही दशा है जो द्वापरके अंतमें वसुदेव-देवकी की थी—वे अपने बच्चोंको बराबर देखने भी नहीं पाते थे और कंस उन्हें उठा ले जाता था। फिर उसी बनिया-बक्कालसे साल-भर कर्ज़ उधार लेकर किसी तरह दिन काटने पड़ते हैं और खलिहानमें वह एक मनका कहीं सवा और कहीं डेढ़ मन तक वसूल कर लेता है। जमींदारकी जुलम-ज्यादती और महाजनकी शोषण-वृत्तिसे तंग आकर किसान आर्त्त-स्वरमें भगवान्‌को पुकार उठता है:—

भारतमें जनमाय, चहै फीजी भिजवाना।
जी चाहे नेटाल भेजकर खान खुदाना॥
है मुझको मंजूर वहां पर कोड़े खाना।
दीनबंधु ! पर भारतीय मत कृषक बनाना॥
जोतें, बोवें, मरें, खपें, भर-पेट न पावें।
बेदखलीको जमींदार तिसपर डरपावें॥

हे प्रभु ! अब इस क्रूर देश का मुंह न दिखाना।
मेरी विनती यही यहां मत अब जनमाना॥

जिस जमानेकी कहानी मैं कह रहा हूं उस समय किसानोंकी अवस्था अत्यन्त त्रास-दायक थी; न उनकी कोई सभा थी, न संगठन था और न उनका कोई मार्ग-प्रदर्शक नेता ही। वे ऐसे ला-वारिस मालकी तरह पड़े थे जिनका कोई धनी-धोरी नहीं होता। उनकी सिधाई और मुरखाईपर अफसोस भी होता, और हँसी भी आती। वे दुःख भोगते हैं, पर किसीपर दोष नहीं मढ़ते। अन्ध-विश्वासने उनकी बुद्धिको कुंठित बना दिया है, अतएव अपनी दुःखद स्थितिके लिए वे अपने ही भाग्यको अपराधी ठहराते हैं, अपनी ही किस्मतको कोसकर संतोष कर लेते हैं। उनके दिल और दिमागमें यह बात जम गई है कि उनके क्लेशका कारण न तो विदेशी सरकारकी शासन-पद्धति है, न जमींदारोंकी ज्यादती और न बनियोंकी सूदखोरी ही। असलमें एक तो उनके भालकी ग्रहरेखा और दूसरे कलि-कालकी पापलीलाके कारण ही उनकी सांसति और दुर्गति हो रही है, क्योंकि इस युगमें चतुष्पाद धर्मके तीन चरण टूट गए हैं, मानवी-मर्यादा नष्ट हो गई है, पुण्यकी पताका गिर पड़ी है। आदमीकी नीयत अच्छी नहीं रहीं, फिर बरकत कैसे हो ? ईमान जाता रहा तो धन-धान्य कैसे ठहरे ? इसीसे दिन-रात खपते-मरते हैं, एड़ीसे चोटी तक पसीना बहाते हैं, उद्योग और परिश्रममें कोई कसर नहीं रखते; फिर भी उनकी यह हालत ? इसका कारण इसके सिवा और क्या हो सकता है:—

करम हीन जब होत हैं, सभी होत हैं वाम।
छांह जान जहँ बैठते, तहां होत है घाम॥
करम-हीन सागर गये, जहां रतन का ढेर।
पर छूअत घोंघा भये, यही करम का फेर॥

कैसी मनहूस मनोदशा ? मानसिक गुलामीका कैसा अचल आधिपत्य ? यदि कोई और देश होता तो वहांके किसान इस स्थितिमें क्रान्ति-

-की आग लगाये बिना चैन नहीं लेते, पर यहाँके किसान अपने 'करम'-को कोसकर संतोष कर लेते हैं। विदेशी सरकारको देशमें शान्ति-रक्षाके लिए इससे बढ़कर और क्या सहारा मिल सकता है ?

खैर, अब तो जमाना बहुत-कुछ बदल गया है। कांग्रेस और किसान सभाने किसानोंको असली बात समझाने और आगे बढ़ानेमें बहुत-कुछ सफलता प्राप्त की है पर इस शताब्दीकी प्रथम दशाब्दीमें अवस्था कुछ और ही थी। मैं तो उनकी दुर्दशा देखकर दुःखपूर्ण आहें भरा करता था और सोचा करता था कि भारतीय किसानोंका क्या कभी उत्थान हो सकेगा ?

पिताजीपर भी यह यदा-कदा जमींदारीकी झक चढ़ आती थी और वे असामियोंके साथ दुर्व्यवहार कर बैठते थे। यहाँ उसका एक ही दृष्टान्त दे देना काफी है। एक दिन मध्याह्नमें किसान रामजनम रायके बैल चरते-चरते उनके खेतमें पहुँच गए और कुछ गोचना चरकर खेतका नुकसान कर गए। इसपर पिताजी दुर्वासाकी भाँति क्रोधसे उन्मत्त हो उठे और जब गाली-गलौज की वृष्टिसे भी उनकी तुष्टि नहीं हुई तब वे अपने सारे जानवर हाँककर ले गए और उस किसानकी छः बिगहा खेती चरवाकर सफाचट करा आए।

जब इस अत्याचारका समाचार मुझे मिला तो मेरे हृदयमें विद्रोह-की भावना जाग उठी। मैंने निश्चय कर लिया कि आज पिताजीके इस अन्यायका खुल्लम-खुल्ला प्रतिवाद करूँगा और यदि उन्होंने किसानको हरजाना देना मंजूर न किया तो नतीजा अच्छा न होगा। खैर, अभी पिताजीमें मनुष्यताका नाश नहीं हो पाया था, वे जमींदारी-के अखाड़ेमें अभी नये पहलवान थे। इसलिए वे मेरी बातोंसे कायल हो गए—उन्हें अपनी भूल मालूम हो गई। खेत 'बटाई' था, इसलिए आधा तो पिताजीका ही नुकसान हुआ था। मैंने पंच चुना, खेतकी नापाबंदी हुई और उसके अनुसार पिताजीने अपने बखारसे अनाज देकर किसानकी क्षति-पूर्ति कर दी।

: ७ :

क्रान्तिके पथपर

देशकी दारुण दीनता, दरिद्रता और दासता देखकर मेरा दिल दुःखसे भर आता और सोचता कि इसका सुधार, उद्धार और निस्तार कैसे हो सकेगा ? ट्रांसवालके मुट्ठी-भर बोअरोंने अपने देश और राष्ट्रकी स्वाधीनताके लिए सर्वस्व निछावर कर दिया था; सिर कटवाया पर शत्रुके सामने उसे झुकाया नहीं। दमनने उनको दृढ़ बनाया, संकटोंने साहस दिलाया और आफतोंने और आगे बढ़ाया। उनकी आजादीकी प्यास अभीतक बुझने नहीं पाई है। देशपर अंग्रेजोंका अधिकार नहीं हो सका है। आज अंग्रेज उनको स्वराज देकर संतुष्ट करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। पर एक हमारा यह देश भी है, जहां मननशील मनुष्य बसते हैं अथवा मनुष्यके रूपमें निर्जीव मिट्टीके पुतले ? यहाँ तो आजादीका नाम लेना भी अपराध है। सारी प्रजा गुलामीके नरकमें गरक है। दुःख-दरिद्रताकी भट्टी धधक रही है पर उसका धुँआ बाहर नहीं निकल पाता। दासताके दर्दसे दम घुट रहा है पर किसीमें कराहने की हिम्मत नहीं है। कैसी प्रचण्ड पराधीनता ? गुलामीकी कैसी विकट बेड़ी ?

स्वाधीनताका सवेरा

विधि-विधानसे उन्हीं दिनों लार्ड कर्जनने बंग-भूमिका अंग-भंग कर डाला और बंगालियोंके विरोधकी बिलकुल परवाह नहीं की। अतएव स्वदेशी आन्दोलनका जन्म हुआ। देशमें एक नई जागृतिकी

लहर उठी, जिसकी खबर पाकर मेरे भग्न हृदयको भारी सहारा मिला। मुरझाई हुई मेरे मनकी कलियाँ वैसे ही खिल उठीं जैसे सूखते हुए धानको समय-समयपर पानी मिल जानेसे वह लहलहा उठता है। सन् १८५७की राज्य-क्रान्तिके बाद जो देश मृत-प्राय हो चुका था, जहाँकी शान्ति श्मशानकी शान्तिको मात कर रही थी वहाँ क्रान्तिकी किरणें छिटकना नवजीवनके मंगल-प्रभातका उद्बोधक था।

मुझे तो मानों मुँह-माँगी मुराद मिल गई है। मैं मस्त फकीरकी तरह गाँव-गाँव घूमने और गला फाड़-फाड़कर 'स्वदेशी' पर लेक्चर झाड़ने लगा। मैं गाँवके आदमियोंको निरा गँवार समझता और वे मुझे सनकी समझते। इस आन्दोलनमें मेरा अनुराग बढ़ता ही गया और राष्ट्रीय प्रगतिकी जानकारी हासिल करनेके लिए मैं "हिन्दी-केसरी" और "कर्मयोगी" भी मँगाने लगा। "श्रीवेंकटेश्वर समाचार" के लेख अब मुझे शुष्क और नीरस प्रतीत होने लगे। "केसरी" और "कर्मयोगी" में मुझे यथेष्ट मानसिक भोजन मिलता था। सन् १९०६ में कलकत्तामें इंडियन नेशनल कांग्रेसका वार्षिक अधिवेशन हुआ और उसके प्रधान स्वर्गीय श्रीदादाभाई नौरोजीने यह घोषणा कर दी कि हिन्दुस्थानका उद्देश्य तो है—"स्वराज्य" और उसकी प्राप्तिके उपकरण हैं स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा। इससे मेरी नस-नसमें बिजली दौड़ गई, शरीरमें जोश भर आया और मुझे निश्चय हो गया कि उस युगका यह आरम्भ है जिसके लिए भारत-माता आशा लगाये बैठी है। अब मैं विशेष रूपसे 'स्वराज्य' पर भाषण देने लगा। देहाती आदमी तो मुझे पहलेसे ही कुछ-कुछ बौरहा 'पागल' समझते थे, पर अब मेरे नये विचार-को सुनकर पूर्ण पागल समझने लगे। यदि मैं यह कहता कि गूलरमें फूल खिल सकते हैं और रेतसे तेल निकल सकता है तो वे शायद मान भी लेते, पर हिन्दुस्थानी स्वराज्य प्राप्त कर सकेंगे, इसपर वे स्वप्नमें भी विश्वास नहीं कर सकते थे। वे मुझे निरा झक्की और दीवाना ही समझते और जब मैं दादाभाईकी दुहाई देता तो मेरी हँसी उड़ाते हुए

कहते—"यहाँ तो अब अंग्रेजी राज्य उलटकर स्वराज्य प्राप्त कर लेना अनहोनी बात है लेकिन शायद इनके दादाजीको स्वर्गमें स्वराज्य मिल जाय।" उस देहातमें प्रपितामहको 'दादा' कहते हैं।

यह उस जिलेकी बात है जहां केवल अर्द्धशताब्दी पहले कुंवरसिंह और अमरसिंह जैसे महान् क्रान्तिकारी हुए थे, जिन्होंने भारतको विदेशी शासनसे मुक्त-कर स्वराज-स्थापनके लिए अपने जीवन तक उत्सर्ग कर दिये थे। इधर पचास सालके अंदर उसी जिलेके आदमियोंकी मनोवृत्ति क्या-से-क्या हो गई थी, उनपर गुलामीका कैसा गाढ़ा रंग चढ़ गया था? उनकी धारणा बन गई थी कि भारतपर अंग्रेजोंका राज्य सदा बना रहेगा, उसे हटानेकी बात करना गोया अपने पागलपनका इजहार करना है। यह सोचकर कि सयानोंको समझाना तो टेढ़ी खीर है, बच्चोंके दिलमें स्वराजकी चाह पैदा करनी चाहिए, मैंने अपने गाँव बहुआरामें एक राष्ट्रीय पाठशाला खोली। देहातके कुछ बच्चोंको बटोरकर उनको हिन्दी पढ़ाता, उनको देश-सेवाका मर्म बतलाता और सुबह-शाम उनसे वन्दे-मातरम्का जयघोष कराता।

एक ओर तो भारतीयोंमें स्वराज लेनेकी धुन समाई और दूसरी ओर अंग्रेज नौकरशाहीको अपनी सत्ता बचानेकी चिन्ता। अंग्रेजोंको मालूम है कि किसी देशकी जनताके दिलमें आजादीकी आग लग जाने-पर फिर उसको संसारकी कोई भी शक्ति बुझा नहीं सकती है, चाहे वह शक्ति मानवी हो या दानवी। अतएव वे चौकन्ने हो उठे और दमनकी चक्कीमें जन-जागरणको पीस डालनेके लिए उद्यत हो गए। लाला लाज-पतराय और सरदार अजीतसिंहको गिरफ्तार कर कालेपानीके द्वीप अंड-मानमें नजरबंद रखा गया और सूफी अम्बाप्रसाद, जो लुक-छिपकर देशसे भागे तो फिर लौटकर नहीं आये। उन्हीं दिनों सूरतमें कांग्रेस हुई, वहां नरम और गरम दलमें ऐसा झगड़ा मचा कि जूतियां चलने तककी नौबत आगई। पराधीन देशमें स्वाधीनताकी लड़ाई लड़नेवाले देशभक्तोंमें इस प्रकारकी दलबंदी अत्यन्त घातक सिद्ध होती है क्योंकि

आपसके संघर्षसे स्वराजके सिपाहियोंकी उच्च भावनाएँ और प्रवृतियां कुंठित हो जाती हैं, वातावरण विषाक्त हो उठता है और उद्देश्यकी पूर्ति नहीं हो पाती। राष्ट्रकी दलबंदी देखकर अंग्रेज सत्ताधिकारियों ने अच्छा अवसर पाया—उन्होंने शासन-सुधारका माया-जाल फैलाया। नरम दल वाले तो उसमें फँस गए, गरम दलवाले जेलमें ठेल दिये गए। घरकी फूटसे विदेशियोंकी कूटनीति सफल हो गई। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकको छः सालके लिए कैदकी सजा मिली। दण्डाज्ञा सुनकर तिलक महाराजके मुखसे जो उद्‌गार निकला था वह आजतक मुझे याद है और उसकी सचाई मेरे सामने है। श्री अरविन्द घोष उस समय तरुण भारत की सर्वोपरि विभूति थे, उनको बम-केसमें फँसाया गया। देशबंधु चितरंजनदासकी वकालतसे किसी तरह उनकी बेला टली और वे पाण्डुचेरी पहुँचकर योग-साधनमें तल्लीन हो गए। तात्पर्य यह कि नरम नेताओंको 'मार्ले मिन्टो शासन-सुधार' मिला और गरम नेताओंको कठोर कारागार। राष्ट्रीय-उद्यानमें स्वतंत्रताके जो फूल खिलने लगे थे, वे वैरकी बयारसे झुलस गए। मिण्टोने जहां भेद-नीतिसे काम लेकर राष्ट्रीय नेताओंको फूटका शिकार बनाया, वहां मुसलमानोंको भी राष्ट्रीय भावनासे विरक्त कराया। उसी समय लोकतंत्रके नामपर साम्प्रदायिक-निर्वाचनका विष-वृक्ष लगाया, जिसका फल यह निकला कि आज हिन्दुस्थानका अङ्ग-भङ्ग करनेको पाकिस्तान-निर्माणका बाजार गर्म हो उठा है।

बम-विभ्राट

उस समय अपनी बाल-बुद्धिके कारण मैं इन राजनीतिक बारीकियोंको समझनेमें असमर्थ था, अतएव इनका मुझपर उतना असर नहीं पड़ा जितना मुजफ्फरपुरमें पहले-पहल बम चलानेवाले खुदीराम बोसके बलिदान एवं उसके साथी प्रफुल्लचन्द्र चाकीके आत्म-घातका। यद्यपि कुछ काल पश्चात् मैंने महात्मा गांधीके सहवास और सत्सङ्गसे अहिंसाका मर्म जाना और उसे ही भारतकी आधुनिक अवस्थामें स्वराज-प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ साधन माना, लेकिन उस समय तो मेरी मनोदशा कुछ और ही

थी। जवानीका उठान था, मनमें बड़ी-बड़ी उमंगें और खूनमें गर्मी थी। मुझे ऐसा भासित होता था कि खुदीरामका बम मानो युवकोंको आत्मोत्सर्गके लिए आवाहन है; उसकी उपेक्षा करना कायरताकी बात है। इसके बाद जब माणिकतल्ला बागमें बम बरामद हुए और श्रीअरविन्द, बारीन्द्र, उल्लासकर, कन्हाई, सत्येन्द्र, उपेन्द्र प्रभृति बगावतके जुर्ममें गिरफ्तार हुए तो देशोद्धारके यज्ञमें अपनी आहुति देनेकी मेरी कामना और भी तीव्र हो उठी। मैं पागलकी भाँति यही सोचा करता कि किसी तरह कलकत्ता पहुँचकर क्रान्तिकारी दलमें शरीक हो जाना चाहिए और मातृभूमिके चरणोंपर अपने जीवनका बलिदान चढ़ा देना चाहिए। इस गुलामीकी जिन्दगीसे तो मौत ही अच्छी है। जिस दिन मुझे यह खबर मिली कि अलीपुर जेलमें कन्हाई और सत्येन्द्रने सरकारी गवाह नरेन्द्रको मार डाला उसी दिन मैंने घीके चिराग जलाये थे और खुशीमें दिवाली मनाई थी।

जब पिताजीको मेरी मनोवृत्तिका पता लगा तो उनकी चिन्ता और व्यथाकी सीमा नहीं रही। उन दिनों भारतमें दमनका नग्न-नृत्य हो रहा था। क्रान्तिकारी, उनके कुटुम्बियों और उनके साथ सहानुभूति रखनेवाले व्यक्तियोंपर सरकारकी कैसी क्रूर और कोप दृष्टि है और उनका पता लगानेवाले जासूसोंकी शरारतसे किस तरह गेहूँके साथ घुन भी पीसे जा रहे हैं, यह बात पिताजी पूर्णतया जानते थे। उन्होंने सोचा कि यदि शीघ्र कोई उपचार न किया जायगा तो यह रोग असाध्य हो जायगा और फिर पश्चात्तापके सिवा और कुछ करते-धरते न बनेगा। अतएव उन्होंने सोलह सालकी उम्रमें ही मेरा विवाह कर डालनेका निश्चय कर लिया ताकि मैं स्वराज-वराजका पचड़ा छोड़कर घर-गिरस्तीके झंझटमें फँसा रहूँ।

विवाह-बंधन

आखिर आरा जिलेमें ही 'सखरा' गाँवके जमींदार बाबू रामनारायणरायकी पुत्री जगरानी देवीसे मेरा विवाह कर दिया गया। शादी बड़ी

शान-शौकतसे हुई। पिताजी ने 'घर फूँककर तमाशा देखने' वाली कहावत पूरी कर दिखाई। जब घरके धन-धान्यसे अरमान पूरा न हो सका तो कर्ज काढ़कर शान बचानेकी कोशिश की गई। नतीजा बहुत बुरा हुआ। बनियेका ब्याज शैतानकी आँतकी भाँति बढ़ता गया। पिताजी अपने जीवनमें ऋण-मुक्त नहीं होने पाये, उनके निधन के बाद मुझे जमींदारीका कुछ भाग बेचकर कर्ज चुकाना पड़ा था।

खैर, पिताजीकी मनोकामना पूरी हो गई, मेरे पैरोंमें बेड़ी पड़ गई। दो सालके बाद गौना भी हो गया, अठारह वर्षकी आयुमें मैं गृहस्थ बन गया। जगरानीको पत्नीरूपमें पाकर मुझे हर्ष भी हुआ और विषाद भी। हर्ष तो इसलिए कि उनकी सूरत बड़ी सलोनी थी। गौर-वर्ण, मझोला कद और गठीला बदन। कंठ सुरीला और वार्तालाप रसीला। मृग-नैनी और गज-गौनी। सहृदय, सहिष्णु और स्नेहशीला। पर विषादका कारण यह था कि वह लिख-लोढ़ा और पढ़-पत्थर की प्रत्यक्ष प्रतिमा थीं। उनके पास न विद्याकी विभूति थी, न मेधाकी मनिया और न ज्ञानकी गरिमा। अतएव संसारकी समस्याओंसे वे सर्वथा अपरिचित थीं और देशकी दशासे नितान्त अनभिज्ञ। इसका कारण यह था कि जिस देहातमें जगरानीका जन्म हुआ था वहाँ नवीन युगका धुँधला प्रकाश भी नहीं पहुँच पाया था। जहाँ लड़के निरक्षर-भट्टाचार्य रखे जाते थे वहाँ लड़कियोंको कौन पढ़ाता-लिखाता है? वहाँकी कायस्थ कुलांगनाएँ अवश्य कैथीमें कुछ गोद-गाद कर लेती थीं और किसी तरह चन्द्रकान्ता-उपन्यास भी पढ़ लेती थीं, पर साधारण जनताके विचारमें तो लड़कियोंको पढ़ाना मानो उनको दुराचारका मार्ग दिखाना था।

जगरानीमें एक विशेष शक्ति अवश्य थी और वह थी उनकी प्रगाढ़ पति-भक्ति। मेरी बातें उनके लिए मानो वेद-वाणी थीं। जो कुछ मैं कहता, उसे ध्यानसे सुनने और उसपर अमल करनेके लिए वे सदा तैयार रहतीं। एक दिन मैंने हँसी-हँसीमें कह दिया कि स्त्रियोंको गहने-

से नख-शिखतक लदे हुए देखकर मुझे उनकी अभिरुचिपर अचरज और अफसोस होता है। भला तुम किसको रिझानेके लिए गहने पहनती हो? यदि मुझको रिझाना अभीष्ट है तो मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि यह मेरी रुचिके साथ अन्याय है। मैं तुमको प्रकृत-रूपमें देखना पसंद करता हूँ, आभूषणोंसे अलंकृत कृत्रिम-रूपमें नहीं। उसी दिन जगरानीने अपने शरीरसे सारे गहने उतार दिये और जीवनकी अंतिम घड़ीतक फिर कभी उनको धारण नहीं किया। यहाँ तक कि अँगुलीमें एक अँगूठी भी रहने देना उनको पसंद नहीं आया।

अतएव जब मैंने उनको पढ़ने-लिखनेके लिए प्रेरित किया तो कोई अड़चन नहीं आई, मेरे आदेशके सामने स्वभावतः उनका शीश झुक गया। मैं अपनी जीवन-संगिनीको अपढ़ रहने देना नहीं चाहता था, इसलिए मैंने स्वयं पढ़ाना शुरू किया। पर वहाँकी प्रचलित रूढ़ियोंके कारण इस काममें बड़ी कठिनाई होने लगी और मुझे विवश होकर बिजनौर जिलेकी पंडिता कौशल्यादेवीसे सहायता लेनी पड़ी। देवीजी आर्यसमाजकी एक उपदेशिका थीं। वे बड़े अनुरागसे जगरानीको पढ़ाने लगीं। जगरानीका जेहन अच्छा था, इसलिए अल्पकालमें ही हिन्दीका साधारण ज्ञान हो गया। तत्पश्चात् स्वाध्याय और सत्सङ्गके द्वारा उनकी विद्या और बुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और अन्ततः प्रवासी बालकोंको विद्या-दान देते हुए उनकी जीवन-यात्राकी समाप्ति हुई।

हिन्दू धर्मसे विरक्ति

उन दिनों हिन्दू धर्मसे मेरा विश्वास उठता जाता था। जहाँ पहले इस धर्मपर मेरी अनन्य आसक्ति थी वहाँ उससे घोर विरक्ति हो गई। उस देहातके हिन्दुओंकी दशा देखकर मेरी यह धारणा दृढ़ होने लगी कि सड़ी-गली रूढ़ियों, नाना प्रकारकी कुरीतियों और भाँति-भाँतिके दुष्कर्मोंका नाम ही हिन्दू धर्म है। मुझे न तो सार्वभौमिक वैदिक धर्मका ज्ञान था और न आर्य संस्कृतिका भान। मेरे सामने तो हिन्दू धर्मका वही विकृत रूप था जो उस देहातमें दृष्टिगोचर हो रहा

था। वह धर्मका पावन प्रकाश नहीं था, अधर्मकी निविड़ तमिस्रा थी। हिन्दू धर्मका वह विगलित रूप देखकर मेरी आत्मा विद्रोहके लिए उद्यत हो गई।

वह रूप था क्या ? बस, जात-पाँतका प्रबल प्रपंच, ऊँच-नीचका भयंकर भेद, छुआछूतका वाहियात बखेड़ा, चूल्हे-चौकेकी भीषण भिन्नता, कच्ची-पक्कीका प्रचंड पचड़ा ! न वेदका कहीं पता और न ईश्वरका, न सन्ध्या-गायत्रीका विधान और न हवन-यज्ञका अनुष्ठान। उनकी जगह अनेक देवी-देवताओंकी भरमार—आत्म-घातक ब्रह्मपिशाच, गर्दभारूढ़ शीतला, रक्त-पिपासु दुर्गा, मुंड-मालिनी काली, श्वानारोही भैरव प्रभृतिसे लेकर पीर, फरिश्ते, जिंद आदि तकका जमघट—उनकी मनौती, आराधना और पूजा। कालीमाईके चौरेपर बकरेका बलिदान और पीर साहबके मजारपर मुर्गेकी कुर्बानी। फरफंदी फकीरोंसे झाड़-फूँक कराना और पाखंडी साधुओंके गंदे गोड़तक धोकर पी जाना; यदि कोई इस अघोर कर्मपर आपत्ति करे तो यह सफाई देना कि यह गंदा गोड़-धोवन नहीं, पवित्र चरणामृत है; हम व्यक्तिकी नहीं, वेशकी पूजा करते हैं। ईंट, पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, गोबर आदि कौन-सी ऐसी वस्तु बची है जिनको देवता कहकर हिन्दू नहीं पूजते—यहाँतक कि हैजा, चेचक, प्लेग आदि व्याधियों एवं कुत्ता, नाग इत्यादि जीव-जंतुओंकी भी पूजा की जाती है।

त्योहारोंपर देखिये तमाशा ? दशहरेमें भैंसे या बकरेकी हत्या करना, दिवालीमें खुलम-खुला जुआ खेलना और होलीमें निर्लज्ज होकर गंदी-से-गंदी गालियाँ बकना।

समाजकी कैसी हृदय-विदारक हालत ! माङ्गलिक प्रसङ्गपर महफिल लगाकर रंडी-भड़ुओंको नचाना, दुधमुँहे बच्चोंका विवाह रचाना, विधवा-विवाह वर्जित ठहराना, विधवाओंको भ्रष्ट करके चकलेमें बैठाना और हरिजनोंको गर्दनियाँ देकर गिरजे या मसजिदमें पहुँचा आना।

क्या-क्या कहूँ ? मैं जिधर दृष्टि घुमाता, हिन्दू धर्म में बुराइयों के

सिवा और कुछ नहीं पाता। साधु-सन्तों के दम्भ और पाखण्डने मेरे धार्मिक विश्वासपर और भी आघात पहुँचाया। मैं साधुवों की सेवा और संगति को स्वर्ग-प्राप्तिका सोपान समझता था, अतएव मैं हिन्दू धर्म का सच्चा स्वरूप जानने के लिए उनसे जिज्ञासा किया करता था, पर मेरी मनोकामना पूरी नहीं हुई। उनके नाना रूप और नाना वेश देखे; जितने मूँड पाये उतने ही मत भी। संन्यासी और उदासी, ऊर्ध्वबाहु और खाकी, नागा और कनफटा, जोगी और वैरागी, औघड़ और अवधूत, मौनी और परमहंस, आचारी और पौहारी आदि भांति-भांतिके साधु-सन्त मेरी दृष्टिसे गुजरे। वैष्णवोंको शिवकी निन्दा करते हुए देखा और शैवोंको विष्णुको गाली देते हुए। उस देहातमें कीनारामके चेले—औघड़ बाबा बड़े सिद्धसाधु माने जाते थे। लोगोंका विश्वास था कि यदि वे नाराज होकर श्राप दे दें तो गांवमें अकस्मात् आग लग जायगी, आदमियों और मवेशियोंमें बीमारी फूट पड़ेगी, खेती बारीपर कुदरती आफत आये बिना नहीं रहेगी। पर उनकी हालत यह थी कि जब वे गांजा, भांग, अफीम, शराब और यहाँ तक कि नरमांस, मल-मूत्र तथा मक्खियां तक बिना चबाये खाजायं और बिना डकारे पचा जायँ तब कहीं उनको यह सिद्धि प्राप्त होती थी।

गांवकी जनताकी दशा देखकर, सच पूछिये तो, हिन्दु धर्मसे मुझे घृणा होने लगी। गांवमें भगवान का राज्य नहीं, शैतानका साम्राज्य था। देहमें दर्द हुआ, दैत्य का दौर्जन्य; पेटमें पीड़ा हुई, प्रेतका प्रकोप, ज्वर आगया तो जिंदका जुल्म; सर्दी लग गई तो शैतानकी शरारत; भगंदर हुआ तो भूतका भय; चेचक हुई तो चंडिकाकी चढ़ाई; कालरा (हैज़ा) आया तो कालीका कोप; प्लेग फूटा तो पुरदेवी का प्रहार; चित्त-विकार हुआ तो चुड़ैल की चाण्डाली? और, फिर इसका उपचार! बस, ओझा बुलाओ, पचरा गाओ, प्रेतोंकी पंचायत जुटाओ; सुअर, मुर्गे और बकरेकी बलि चढ़ाओ तथा शराब के प्याले पिलाओ।

पादरीके पंजेमें ।

हिन्दू धर्म की ऐसी छीछालेदर देखकर उस किशोरावस्थामें मेरे लिए हिन्दू बना रहना कठिन होगया । उसी समय आरा शहरके एक पादरी साहबकी नजर मुझपर पड़ गई और वे मुझे मसीहकी भेड़ोंमें मिलानेकी कोशिश करने लगे । उनका उपदेश था कि मुझे फौरन ईसाई होजाना चाहिए । शरणमें आते ही मेरे सारे पाप उसी तरह धुल जायंगे, जिस तरह साबुन लगाकर फींचनेपर मैले-कुचैले कपड़े । ईसा ईश्वरका इकलौता बेटा था, उसका दामन पकड़े बिना मुक्ति नहीं मिल सकेगी । मुझे उच्च शिक्षा दिलाने और वयस्क होनेपर विवाह करानेका भी वायदा किया गया । मैंने बड़े अनुरागसे बाइबिलका पाठ किया, पर्वतपर ईसाका प्रवचन मुझे पसंद भी आया पर मसीह के चमत्कारोंमें मेरी आस्था नहीं जमी । हाँ ईसाइयोंका धर्मानुराग, रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषा और चिकित्सा करनेकी भावना, गिरे हुए प्राणियोंको उठानेकी कामना, विद्या और ज्ञान-प्रचारकी योजना आदि बातें मुझपर असर डाले बिना नहीं रहीं ।

जिस समय मेरी मनोदशा अत्यन्त डांवाडोल हो रही थी—एक ओर मेरे मनमें हिन्दू धर्मके प्रति घोर तिरस्कार और दूसरी ओर ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने का विचार—ठीक उसी समय एक ऐसी घटना घटी जिससे मेरे जीवनकी धारा ही बदल गई । अचानक कलकत्तासे प्रकाशित 'वीर-भारत' नामक सप्ताहिक पत्रकी एक प्रति मेरे हाथ लगी । उसमें एक ऐसा लेख छपा था जिसमें यह कहा गया था कि स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश रचकर देशका सत्यानाश कर डाला । मुझे स्वभावतः यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि यह दयानन्द थे कौन और उनके सत्यार्थप्रकाश में कौन-सी भयंकर बात है जिससे यह गिरा हुआ देश और भी गिर रहा है ?

मैंने बम्बईके श्रीवेंकटेश्वर मुद्रणालयको सत्यार्थप्रकाशकी एक प्रति वी. पी.से भेजनेके लिए लिखा, किन्तु वहाँसे सूखा जवाब मिल गया

कि सत्यार्थप्रकाशके लिए कोई दूसरा दरवाजा देखना चाहिए। इधर-उधर खोज करनेपर आखिर मुझे मेरठके पं० तुलसीराम स्वामीका पता प्राप्त हुआ और उनके यहाँसे मैंने सत्यार्थप्रकाश, भास्करप्रकाश, दिवाकरप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, संस्कार-विधि आदि अनेक पुस्तकें इकट्ठी वी. पी.से मँगा लीं। मुझे अच्छी तरह याद है कि जिस दिन मैंने सत्यार्थप्रकाश पढ़ना शुरू किया था उस दिन खाना-पीना और सोना तक भूल गया था। मेरी आत्मा धार्मिक क्षुधासे छटपटा रही थी, उसको स्वादिष्ट एवं पुष्टिकर भोजन मिल गया। इस ग्रंथके पाठसे मेरे अन्तरंगके कपाट खुल गए; मेरे सामने नवजीवनकी ज्योति जगमगा उठी।

आर्यसमाजका आश्रय

मैंने गुरुकुल-कांगड़ीके संस्थापक महात्मा मुंशीरामजीको एक पत्र लिखकर प्रार्थना की कि मुझे विधिपूर्वक आर्यसमाजकी दीक्षा चाहिए, पर मुझे उनका उत्तर पाकर बड़ा अचंभा हुआ कि मेरे लिए किसी संस्कारकी आवश्यकता नहीं। चूंकि मैं हिन्दू हूं अतएव आर्यसमाजी बननेके लिए मेरा मत और विचार-परिवर्तन ही पर्याप्त है। यह बात मुझे अच्छी तो नहीं लगी कि ईसाई-मुसलमान तथा अन्य मजहब वालों-को आर्यसमाजमें प्रविष्ट होनेके लिए तो शुद्धि-संस्कार अनिवार्य हो, पर हिन्दुओंके लिए किसी प्रकारका प्रायश्चित्त आवश्यक नहीं। यह कहांका न्याय है ? सभीके लिए एक-सा नियम होना चाहिए।

खैर, मैं कट्टर आर्यसमाजी बन गया और 'नया मुल्ला अल्ला ही अल्ला'को लोकोक्ति चरितार्थ करने लगा। मैं खंडनकी खँजड़ी बजाकर मंडनका मलार गानेमें मस्त रहने लगा। गांवमें आर्यसमाज खोला और उसका प्रधान बन गया। 'राष्ट्रीय पाठशाला'का नाम बदलकर 'वैदिक पाठशाला' रख दिया—शास्त्रार्थकी ऐसी सनक सवार हुई कि राह चलते पंडितोंको पकड़-पकड़कर उनको शास्त्रार्थके लिए बाध्य करने लगा। सहसरामके शास्त्रार्थसे मेरा साहस और हौसला

बहुत बढ़ गया। इस शास्त्रार्थमें एक ओर मैं अकेला था और दूसरी ओर शहरके प्रतिष्ठित पंडितोंका मेला। मध्यस्थ बनाये गए थे—लंदनसे ताजे लौटे हुए बैरिस्टर रामबहादुरजी। बस, एक ही बातपर शास्त्रार्थका निर्णय हो गया। ब्राह्मण वर्णकी बड़ाई हांकते हुए पंडितों-ने फरमाया कि भगवद्गीतामें स्वयं भगवान् कृष्णका कथन है—

अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः।

मैंने झट जवाब दिया कि यह गीताकी वाणी नहीं है, जनताको ठगनेके लिए पोपोंकी कारस्तानी है। गीतामें तो 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः'का सिद्धान्त प्रतिपादित है, उसमें ऐसी असंगत, अधम एवं अग्राह्य बात नहीं मिल सकती। यदि गीतामें यह श्लोक दिखा दिया जाय तो मैं अपनी हार स्वीकार कर लूँगा। अधिक बहस-मुबाहिसेकी जरूरत ही नहीं है। आर्ष ग्रन्थोंमें तो इसके विपरीत ही बात है। मनुस्मृति स्पष्ट कहती है कि कर्मसे शूद्र हो जाता है ब्राह्मण, और ब्राह्मण बन जाता है शूद्र। यथा—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जात मेवंतु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥

सब पंडित एक साथ चिल्ला उठे—यह स्मृतिका श्लोक नहीं, बनावटी बात है। यदि मनुस्मृतिमें यह श्लोक निकल आवे तो हमारी पराजय समझ ली जाय।

फिर क्या था? एक तरफ गीताके पन्ने पलटे जाने लगे और दूसरी तरफ मनुस्मृतिके। मेरे पक्ष वालोंको कोई कठिनाई नहीं हुई, उन्होंने सहज ही मनुस्मृतिसे श्लोक ढूँढ निकला। पर विपक्षियोंके होश-हवास गायब थे। वे गीताके पन्ने उलट-पलटकर थक गए, पर उनके श्लोकका कहीं पता ही नहीं लगा। उन्होंने विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्रपर अपनी पराजयका दोष मढ़कर सन्तोष कर लिया, जिन्होंने शायद 'दयानंद तिमिर भास्कर' नामक अपने ग्रन्थमें इसको गीताका श्लोक कहकर उद्धृत किया है। बस, मेरी डिग्री होगई, शहरमें

सनसनी फैल गई और उसी दिन सहसराममें आर्यसमाजकी स्थापना भी हो गई।

आर्य-जगत्में मेरी मान-मर्यादा बढ़ने लगी। मुझे बिहार प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभाका अवैतनिक उपदेशक बनाया गया और उन दिनों भागलपुरसे प्रकाशित होनेवाली "आर्यावर्त" मासिक-पत्रिकाका सहकारी सम्पादक भी। जिस समय मैं आर्यसमाजमें सम्मिलित हुआ था, वह वास्तवमें समाजका स्वर्ण युग था। आर्योंमें परस्पर बड़ी एकता, मैत्री और सहानुभूति थी। केवल पंजाबमें कालिज पार्टी और गुरुकुल पार्टीका संघर्ष चल रहा था। अन्यत्र कहीं भी आपसमें ईर्षा द्वेष, कलह और दलबंदी दिखलाई नहीं पड़ती थी। जहाँ एक आर्य-का पसीना गिरता वहां दूसरा रक्त बहानेके लिए तैयार हो जाता। किसीको नमस्ते करते हुए देखकर उसके प्रति स्वभावतः स्नेह उत्पन्न हो आता। हाकिम आर्यसमाजीकी गवाहीपर विश्वास करके मामलेमें फैसला करते थे और जन्ताकी यह धारणा थी आर्यसमाजी कभी झूठ नहीं बोलते। आर्यसमाजी और सत्यवादी दोनों पर्यायवाची शब्द थे। अतएव आर्यसमाजी होनेका मुझे अभिमान था और आर्यसमाजकी गोदमें बैठ करही मैंने जन-सेवाका सबक सीखा।

पिताका परलोकवास

सन् १९११में मेरे पिताजीका देहान्त हो गया। उनका निधन भी मेरे जीवनकी एक दुःखपूर्ण घटना है। पिताजी गांवके पटवारीको मौकूफ करानेके लिए मुकदमा लड़ रहे थे। मुझे मुकदमेबाजीसे नफरत थी, इसलिए इस मामलेमें मेरी कोई दिलचस्पी नहीं थी। एक त्रिपुण्डधारी बिहारी दूबेने उनको इस झंझटमें फँसा दिया था जिससे उनको बड़ी हैरानी हुई और काफी रुपयेका नुकसान भी। सहसरामकी कचहरीमें साल-भर मुकदमा चलनेके बाद पिताजीकी जीत तो हो गई थी, लेकिन आराकी अदालतमें अपील करनेपर पटवारीको यह हुक्म मिल गया था कि तीन महीनेके अन्दर उस गांवमें घर बनाकर रहे, क्योंकि वह दस-

बारह कोसकी दूरीपर रहता था और खासकर इसी वजहसे उसकी मौकूफी भी हुई थी। अवधि बीत गई पर शर्त पूरी नहीं हुई। इसलिए पटनाके कमिश्नरके इजलासमें उसको बरखास्त करनेके लिए अर्जी दी गई। सुनवाईकी तारीख पड़ी।

उस समय पिताजीकी बीमारी बहुत बढ़ गई थी। एक तो यों ही वे दमेसे दिक रहते थे, तिसपर उस समय बीमारी उस रेखापर पहुँच गई थी जहां जीवन-मरणकी सन्धि है। उन्होंने मुझे अपने पास बुलाकर कहा,—"परसों तारीख है, तुम्हें पटना जाना होगा।" मुझे यह बात तीर-सी लगी, मेरा रोम-रोम काँप उठा और मैंने उनकी तरफ ऐसी करुण-दृष्टि डाली कि वे सिहर उठे, मेरे मनोगत भाव समझ गये, उनका हृदय भी भर आया, पर मुझे हिम्मत बँधाते हुए वे बोले, "अजी, तुम जमींदार हो, तुमपर भारी जिम्मेदारी है। मेरी तबियतकी परवाह नहीं करना चाहिए, अपना काम देखना चाहिए। इसीमें तुम्हारी बड़ाई है और भलाई भी। तुम्हें पटना जाना ही पड़ेगा, किसी तरह छुटकारा नहीं हो सकता।"

मैं बड़े धर्म-संकटमें पड़ गया। एक ओर पिताकी मरणान्न अवस्था और दूसरी ओर उनकी आज्ञा; न जानेकी इच्छा होती और न रहनेकी हिम्मत। आखिर यही निश्चय किया कि "होइहै सोइ जो राम रचि राखा", अतएव पिताके आदेशका पालन करना ही उचित है।

मै छातीपर पत्थर रखकर पटना गया। कमिश्नरकी कचहरीमें तारीखपर हाजिर हुआ और ईश्वरकी अनुकम्पासे मुकदमा भी जीत गया। तत्पश्चात् क्षण भर भी वहाँ ठहरना मेरे लिए दुष्कर हो गया। मैंने पहली गाड़ीसे प्रस्थान कर दिया। पासमें पैसे बहुत थोड़े बचे थे, इस लिए चौसा स्टेशनका टिकट कटाया। वहांसे दस कोस पैदल चलना पड़ा। जब गाँव समीप आ गया तो मैं यह सोचकर खुशीसे लम्बी छलाँग भरने लगा कि मामलेमें जीतका समाचार पाकर पिताजीकी चिंता मिट जायगी और इससे उनके स्वास्थ्य सुधरनेमें सहायता पहुँचेगी।

पर मेरा यह उल्लास टिकने नहीं पाया, एक चरवाहेने बिना पूछे ही बतलाया कि उधर मैं पटना गया, इधर पिताजी परलोक चले गये और उनका दाह-कर्म भी हो चुका।

इस दुखद-सम्वादसे मैं तिलमिला उठा। शरीर शिथिल हो गया; पैर उठाये नहीं उठते थे। किसी तरह लड़खड़ाते हुए घर पहुँचा। वहाँ न पिताजी थे और न उनकी लाश थी। घर सूना पड़ा था, मातम छाया हुआ था। अब न उनकी सूरत देखनेकी आशा थी और न उनकी बातें सुन सकनेकी। मैं अचेत हो चला। अगर आँगनमें पड़ी हुई मचिया-पर बैठ न जाता तो अवश्य ही धरती चूमनेकी नौबत आ जाती। घरकी स्त्रियां फूट-फूटकर रो रही थीं, पर मेरी आँखोंमें आँसू भी नहीं रहे, हार्दिक व्यथाकी ज्वालामें वे सब जल गये थे।

ऊँचे तत्त्व-विचारोंके उदय होनेपर शोक सन्तापकी मात्रा शनैः-शनैः घटती गई और अब भविष्यमें घर-गृहस्थी सुचारु-रूपसे चलानेकी चिन्ताने आ घेरा। आपसमें किसी प्रकारका मतभेद न होने पावे, इस लिए मैंने अपनी विमातासे निवेदन किया कि जबतक वे जीवित हैं तब तक सारी जायदाद उनके ही नामपर रहनी चाहिए। और उनकी मृत्यु-के बाद जैसा वे वसीयतनामा बना जायँगी उसीके अनुसार बच्चोंमें जायदादका बंटवारा हो जायगा। पर वे मेरे प्रस्तावसे सहमत न हुईं। उन्होंने उत्तर दिया कि इससे उनके ईमानमें बट्टा लगता है, उनकी आकबत बिगड़ती है। वे पिताजीकी अन्तिम इच्छाकी उपेक्षा करना नहीं चाहतीं प्रत्युत् उसे कार्यान्वित कर स्वर्गमें उनकी आत्माको तृप्त चाहती हैं इसलिए उनका कहना था कि मैं फौरन आरा जाकर कल-क्टरकी कचहरीमें दाखिल-खारिजके लिए दरखास्त दे दूं; आधी जमीं-दारीपर उनके इकलौते पुत्र रामनरेशका नाम चढ़ा दूँ और शेष आधीपर मैं अपना और अपने छोटे भाईका। यह कार्य यथासंभव शीघ्र ही हो जाना चाहिए।

गृह-कलह

उनके विशेष आग्रहसे मुझे आरा जाना पड़ा और उनके आदेशके अनुसार नाम चढ़ानेकी कानूनी कार्रवाई करनी पड़ी। जब इस बातकी खबर विमाताके भाइयोंको मिली तो उनके पेटमें चूहे कूदने लगे और वे इस मामलेमें ऐसे झपटे जैसे मरे ढोरपर गिद्ध। उनको अपने प्रयत्नमें सफलता मिली; उनकी झाँसा-पट्टीमें आकर मेरी विमाता मुकदमा लड़नेको तैयार हो गईं। कहाँ तो ईमान और आकबतकी दुहाई एवं पतिकी अन्तिम इच्छा पूरी करनेका दृढ़-संकल्प और कहाँ यह सारी जायदाद हड़प जानेका षड्यंत्र ? सच कहा है—"मतिरुत्पद्यते तादृक् यादृशी भवितव्यता"।

अब क्या था ? मेरे घरपर मुकदमाबाजोंकी भीड़ जुटने लगी; कानूनी बालकी खाल उधेड़ी जाने लगी। विमाताको सारी जमींदारी दिला देनेका दम-दिलासा दिया जाने लगा और साथ ही पूरी और पकवान पर भी हाथ साफ किया जाने लगा। परम धर्मनिष्ठ बिहारी दूबे, जिन्होंने पिताजीको पटवारीके मामलेमें फँसाया था और सालभर मेवा-मिष्टान्न उड़ाया था, खम ठोककर मैदानमें आ गए। वे दिनमें तीनबार 'त्रिकाल' सन्ध्या करते थे, पर अदालतमें मिथ्या शपथ खाने तथा झूठी गवाही देनेमें कोई दोष नहीं मानते थे।

मेरे पास पिताजीका वसीयतनामा तथा अन्य अनेक दस्तावेज थे, उनके मेरे पास होते हुए मुकदमा जीतनेकी कोई सम्भावना नहीं थी। इसलिए विमाताको सलाह दी गई कि किसी भी तरह उन कागजोंको हथियाना ही चाहिए अन्यथा मामला बहुत कमजोर हो जायगा। विमाताजीने न आव देखा न ताव, झट भगमानी फूआ और भगनरायको लेकर दिन-दहाड़े मेरे कमरेमें घुस गईं और मेरी गैरहाजिरीमें सारी चीजें लूट ले गईं। कुछ विघ्नसंतोषियोंने मुझे बहकाया भी कि विमाताको गिरफ्तार कराना चाहिए और उनपर फौजदारीका मुकदमा चलाना चाहिए। पर आग लगाकर तमाशा देखनेकी उनकी तमन्ना पूरी नहीं हो सकी। मैं

विमाताके विरुद्ध कोई ऐसी कार्रवाई करना नहीं चाहता था, जो दुर्भावनाकी द्योतक हो।

पर विमाताकी की ओरसे मुझे फँसाने और गिरानेके लिए कोई बात उठा नहीं रखी गई। यहाँ तक कि उनके ही हुक्मसे दाखिल-खारिजके लिए मैंने जो अर्जी दी थी और जिसपर उनकी ओरसे मैंने सही बनाई थी उसके खिलाफ भी कार्रवाई की गई और किसी भी तरह मुझे दबाकर सारी जायदाद हड़प जानेका मनसूबा बाँधा गया।

मैं भी अड़ गया, लड़नेके सिवा मेरे पास और उपाय ही क्या था? सहसरामके अनेक वकील-बैरिस्टर मेरे मित्र थे, उन्होंने बिना फीसके मेरी ओरसे वकालत करनेका वायदा किया। कुशल यही हुई कि विमाताजीको अपने पैरोंकारोंकी मनोवृत्ति और प्रवृत्तिका पता चल गया और उनको निश्चय हो गया कि भाइयोंके कहनेसे उन्होंने जो मार्ग ग्रहण किया है वह बड़ा ही खतरनाक है। इसलिए वे विचलित हो उठीं और मुझे बुलाकर बोलीं, "देखो, तुम दोनों भाई सयाने हो गये और कमाने-खानेके लायक भी, पर मेरे बच्चे अभी नादान हैं। तुमपर उनके पालन-पोषणकी जिम्मेदारी है। इन बातोंको ध्यानमें रखकर आपसमें समझौता हो जाना चाहिए अन्यथा मुकदमेबाजोंने विग्रहकी जो आग सुलगाई है, उसमें सारी जमींदारी जलकर राख हो जायगी। हममेंसे किसीके हाथ कुछ नहीं लगेगा।"

वास्तवमें यह विमाताकी बड़ी बुद्धिमानीकी बात थी। इसमें संदेह नहीं कि मुकदमेके दौरानमें सारी जायदाद चौपट हो जाती, न उनके पास रह पाती, न मेरे,—वकील, बैरिस्टर और पैरोकारोंके पेटमें गल-पच जाती।

मुझे स्वयं मुकदमेबाजीसे नफरत थी, और इस घरेलू कलहसे तो मेरे सन्तापकी सीमा नहीं थी। मैं अक्सर दूसरोंको मुकदमेबाजीके चक्करमें पड़नेसे रोका करता था क्योंकि जब मैं किसी कामसे कचहरी जाता तो मुकदमेबाजोंकी हृदय-द्रावक दशा देखकर तड़प उठता था। वह मर्म-

स्पर्शी दृश्य ! मुकदमा लड़नेवाले अपने घरके बर्तन बेचकर या स्त्रियोंके गहने गिरवी रखकर, नन्हें-नन्हें बच्चोंको नंगे-भूखे छटपटाते छोड़कर, सत्तूकी पोटली बाँधे अदालतके दरवाजेपर जुटे हैं और वहाँ उद्विग्न-चित्त-से चपरासीकी पुकार सुननेके लिए कान खड़े किये, उसी तरफ टकटकी लगाये बैठे हैं। पेशकार, सरिश्तेदार, अहलकार और सिपाहियोंकी झिड़कियाँ खाते और वकील-मुख्तारोंके पीछे-पीछे दौड़ते और हाथ जोड़कर उनकी चिरौरी करते हुए अपने घोर अधःपतनका प्रदर्शन करते हैं। एक तो मैं इस दुःसह स्थितिसे बचनेके लिए उत्सुक था और दूसरे मैं स्वभावसे भावुक भी हूँ। अतएव विमाताजीकी बात मुझे अत्यन्त रुचिकर प्रतीत हुई। मैं उनको सारी सम्पत्ति सौंप देनेको तैयार हो गया बशर्ते कि वे मुझे अपनी और अपने बच्चोंकी देख-रेख और भरण पोषणकी नैतिक जिम्मेदारीसे बरी कर दें। मैंने उनको भली-भाँति समझा दिया कि पिताजीके उठ जानेसे मुझपर भारी जिम्मेदारी आ पड़ी है, मैं उनको और उनके बच्चोंको छोड़कर कहीं नहीं जा सकता। यदि मैं उनको मौजूदा हालतमें त्यागकर चला जाऊं तो इससे जहाँ पिताजीकी स्वर्गस्थ आत्मा मुझे शाप देगी वहाँ मेरी अपनी आत्मा भी ग्लानिसे तड़फा करेगी। पर यदि मैं अपनी सारी जायदाद उनको दे देता हूँ तो फिर इस गाँवमें मेरा निर्वाह होना असंभव है। मुझे अपनी जीविका चलानेके लिए कोई जगह ढूँढनी ही पड़ेगी और इसके लिए अफ्रिकाके सिवा और कोई स्थान मुझे पसन्द न होगा। इसलिए उनको या तो मुझे अथवा जमींदारीको—दोनोंमेंसे किसी एकको-चुन लेना चाहिए।

उन्होंने जमींदारी लेकर मुझे बन्धन मुक्त कर देना उचित समझा। बस, समझौता हो गया।। मैंने अपने परिवारके लिए केवल राहखर्च लेकर शेष सब कुछ उनके लिए छोड़ दिया। इस प्रकार मेरे घरेलू कलहका अन्त हुआ। मैं अफ्रिका लौटनेके लिए सदा उत्सुक रहा, उस मनहूस गाँवमें मेरी तबियत कभी नहीं लगी। पिताजीके जीवनमें मैं कोशिश करके हार गया पर कामयाब नहीं हो पाया था। अब मेरी वह इच्छा

इस ढंगसे सहज ही पूरी हो गई। कविने ठीक ही कहा है—

तुलसी जसि भवितव्यता,-तैसी मिलहि सहाइ।
आपु न आवइ ताहि पहिं ताहि तहां लेइ जाइ॥

: ८ :

अफ्रिकामें आफत

साढ़े आठ साल मातृभूमिकी गोदमें बिताकर मैंने अपनी जन्म-भूमिको लौटनेका संकल्प कर लिया। यहाँसे प्रस्थान करनेसे पूर्व मैंने एक पत्र लिखकर महात्मा गांधीकी सम्मति माँगी। उन्होंने उत्तरमें यही राय दी कि यदि दक्षिण अफ्रिका लौटने का इरादा है तो यथासंभव शीघ्र आजाना चाहिए; क्योंकि निकट-भविष्यमें प्रवास-कानून पास होनेवाला है जिससे दक्षिण अफ्रिकामें भारतीयोंका प्रवेश सर्वथा वर्जित हो जायगा।

विमाताके विग्रहसे विभक्त होकर मैं 'बहुआरा' से 'सखरा' चला गया। वहीं ससुरालमें वर्षाऋतु बिताई। एक तो वर्षाऋतुमें समुद्र प्रक्षुब्ध रहता है, इसलिए यात्रा कष्टकर प्रतीत होती है; दूसरे उन दिनों जगरानी गर्भवती थीं और उस स्थितिमें उनको साथ लेकर समुद्र-यात्रा करना मानों जान-बूझकर खतरेको चुनौती देना था। 'सखरा' गाँवमें ही जगरानीका पहला बालक उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'रामदत्त' रखा गया। जब वर्षाऋतुका अन्त आया और बालककी आयु चार मासकी हो गई तब मैंने विहारसे विदाई ली। उस दिन सगे-सम्बन्धियोंके विछोहसे हृदयमें जो व्यथा हुई थी वह वास्तवमें विस्मृतिकी वस्तु नहीं है। साढ़े आठ सालकी सारी सुखद एवं दुःखद स्मृतियाँ ताजी हो उठी थीं।

विहारसे मैंने बम्बईके लिए प्रस्थान किया और वहाँ पहुँचकर

अफ्रिका-यात्राका इन्तजाम । सन् १९१२ की पहली दिसम्बरको "पालमकोटा" नामक स्टीमरपर सवार होकर मैंने नेटालकी ओर कूच किया। मेरे साथ चार प्राणी और थे—मेरी पत्नी और पुत्र एवं अनुज और अनुज-वधू। पूर्वीय अफ्रिकाके बन्दरगाहोंका चक्कर लगाता हुआ २२ दिसम्बरको "पालमकोटा" जहाज नेटालके बन्दरगाहपर आ लगा। तीन सप्ताह बाद दक्षिण अफ्रिकाकी भूमि देखकर चित्त आनन्द-विभोर हो उठा।

वर्जित प्रवासी

पहले डाक्टरी जाँच हुई, जिसमें हम सब पास हो गए। फिर इमिग्रेशन ऑफिसरके दर्शन हुए। यात्रियोंके पासपोर्टकी परीक्षा ली जाने लगी; इसमें अन्य सब यात्री तो पास हो गए, पर मैं परिवार-सहित फेल हो गया। उस समय इमिग्रेशन विभागके प्रमुख अमलदार थे—श्री सी. डब्ल्यू-कजिन्स, जो अपनी अत्याचार-मूलक नीतिके कारण काफी मशहूर हो चुके थे। भारतीय यात्रियोंके पासपोर्टमें कोई-न-कोई दोष ढूँढकर उनको नेटालमें उतरने न देना और उसी स्टीमरसे उनको स्वदेश लौटा देना ही कज़िन्स साहबकी अमलदारीका एक-मात्र उद्देश्य था। मैं भी उनकी इस नीतिका शिकार बन गया!

सभी यात्री जहाजसे उतर गए परन्तु मुझे सपरिवार जहाजपर ही रात काटनी पड़ी। दूसरे दिन भी मेरे भाग्यका फैसला नहीं हो सका। स्टीमरपर भी हम स्वतन्त्र नहीं थे—हमारे ऊपर पुलिसका पक्का पहरा था। मेरे पास पिताजीके नामसे नेटालका 'डोमिसाइल सर्टिफिकेट' (Domicile Certificate) और ट्रांसवालका 'एशियाटिक रजिस्ट्रेशन सर्टिफिकेट' (Transvaal Asiatic Registration Certificate) था, जिनपर मेरे और मेरे अनुजके नाम भी अङ्कित थे क्योंकि नाबालिग होनेके कारण उस समय हमें पृथक् सर्टिफिकेट नहीं मिल सके थे। सबसे बड़ा सबूत तो हमारे पास यह था कि मेरा और मेरे अनुजका जन्म ट्रांसवालमें हुआ था, अतएव उस प्रदेशमें

प्रवेश और प्रवास करनेका हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार था। पर जहाँ श्वेताङ्गोंकी वर्ण-विद्वेष-नीतिका नग्न-नृत्य हो रहा हो वहाँ भारतीयोंके मानवी अधिकारपर कौन ध्यान देता है ? मेरे मामलेमें कानूनका गला घोंटा गया, न्यायकी हत्या की गई। जहाँ मुझे अपार कष्ट भोगना पड़ा, वहाँ मामलेकी पैरवीमें औकातसे अधिक खर्च भी करना पड़ा।

वे दिन कितनी बेचैनी और बेबसीकी हालतमें बीते थे, आज भी उनकी याद आनेपर रोमांच हो आता है। एक तो यों ही पिताके परलोक-गमनका परिताप था; और था सगे-सनेहियोंके बिछोहपर सन्ताप; तिसपर यह अपमान, अन्याय और अत्याचार ? सच है, विपदा कभी अकेली नहीं आती। हितू-मित्र बन्दरगाहपर आकर घण्टों खड़े रहते थे पर उनसे मिलनेकी भी आजादी नहीं थी। कजिन्स साहब उसी स्टीमरसे मुझे देश लौटानेपर बद्ध-परिकर थे, इसलिए मेरी चिन्ता, उद्विग्नता और व्याकुलताकी सीमा नहीं थी। यदि मैं अकेला होता तो मुझे कोई फिक्र और परवाह न थी लेकिन मेरे साथ तो चार प्राणी और थे, उनको लेकर कहाँ भटकता फिरता ? इधर अफ्रिकाकी भूमिपर पैर रखनेका अधिकार नहीं था, उधर हिन्दुस्थानसे कोई सरोकार नहीं रह गया था। जाता तो कहाँ और करता तो क्या ? इसलिए मेरे धीरजका धुरा टूट गया—साहसका सोता सूख गया। दिन बिताये नहीं बीतता था, रात काटे नहीं कटती थी। जहाजपर एक-एक दिन मेरे लिए एक-एक युग हो रहा था।

इधर जहाजपर मैं फिक्रसे परेशान था, उधर मेरे हितैषी मेरे मामलेके फिराकमें हैरान हो रहे थे। महात्मा गान्धीने मेरा मामला श्री हेनरी एस. एल. पोलकको सौंप दिया था। पोलक साहबने पैरवी करनेमें कोई बात उठा नहीं रखी; मेरे लिए उनको जो कष्ट और अपमान सहना पड़ा वह बयानसे बाहर है। उनको न दिनमें चैन मिलता, न रातमें नींद आती। इसी दौड़-धूपमें ट्रामसे उतरते समय उनके पैरमें चोट भी लग गई, जिससे चलने-फिरनेमें कठिनाई होने

लगी ; फिर भी कभी वे किसी सवारीपर और कभी लँगड़ाते हुए पैदल ही बराबर दौड़-धूप करते रहे ।

पोलक साहबने मेरी तरफ़से यह दावा पेश किया कि चूँकि मैं अपने अनुजके साथ सन् १६०२की ३१वीं मईको ट्रांसवालमें मौजूद था, इसलिए सन् १६०८के ३६ वें कानूनके अनुसार उस प्रदेशमें प्रवेश करने और बसनेका हमें अधिकार है। मेरा यह भी दावा था कि मैं अंग्रेजी भाषाकी परीक्षा (Educational Test) पास कर सकता हूँ, इसलिए मैं नेटालमें भी बसनेका अधिकारी हूँ। कजिन्स साहब अपने दुराग्रहपर अटल रहे। न उनको कानूनकी परवाह थी और न मानवी भावनाओंकी; वे तो येन केन प्रकारेण भारतीयोंकी संख्या घटाने-पर तुले थे। उन्होंने मुझे नजरबन्द कर रखा था और उसी स्टीमरसे भारत वापस जानेका नादिरशाही हुक्म भी दे दिया था। हिन्दुस्थानसे प्रस्थान करते समय मैंने सहसरामके अंग्रेज मजिस्ट्रेटसे अपना शादीका सर्टिफिकेट भी ले लिया था, उसे भी कजिन्सने जायज माननेसे इन्कार कर दिया था।

सुप्रीमकोर्टमें अपील

पोलक साहबको इसी दौड़-धूप और झंझटमें तीन दिन बीत गए, पर वही कहावत चरितार्थ हुई कि "विनय न मानत जलधि जड़, गये तीन दिन बीत।" कजिन्सको कानूनकी मर्यादाका ध्यान दिलाना मानो भैंसके सामने वेणु बजाना था, अतएव पोलक साहबने नेटालकी सर्वोपरि अदालत—सुप्रीम कोर्ट—का दरवाजा खटखटाना ठीक समझा। मेरे दुर्भाग्यसे ठीक उसी समय ईसाइयोंके बड़े दिन—क्रिसमस (Christmas)—को त्यौहार आ पड़ा। इसलिए सब अदालतें बन्द थीं। फिर भी पोलक साहबको मेरी विपदासे चैन कहाँ? उनके आदेशा-नुसार प्रसिद्ध वकील टेथम, के० सी०ने जस्टिस ब्रूमके मकानपर पहुँच-कर कजिन्सके हुक्मके विरुद्ध यह दरख्वास्त दी कि प्रार्थियोंको स्टीमरसे उतरकर अपने प्रवासाधिकारका दावा सिद्ध करनेका अवसर दिया जाय।

जस्टिस ब्रूमने अर्जी मंजूर कर ली और यह हुक्म दिया कि जबतक प्रार्थी स्टीमरसे उतर न जावे तबतक स्टीमर बन्दरगाहपर रुका रहे और यह कि सौ पौण्डकी जमानत जमा करके प्रार्थी नेटालमें दाखिल हों और ट्रांसवालमें अपने प्रवासाधिकारका दावा साबित करने के लिए उचित और आवश्यक कानूनी कार्रवाई करें।

सर्वोच्च अदालतकी आज्ञा तो मिल गई परन्तु उस दिन बहुत ढूँढनेपर भी कजिन्स साहब कहीं नहीं मिले—सारे दिन गायब रहे। पोलक साहबका हरकारा डरबनके मशहूर सौदागर पारसी रुस्तमजीसे एक सौ पौण्डका चैक लेकर जमानत जमा करनेके अभिप्रायसे कजिन्स-की ड्योढ़ीपर दिन-भर धरना दिये बैठा रहा, पर उनके दर्शन नहीं हुए। जब पहर-भर रात गुजरनेपर वे घर लौटे भी तो पोलक साहबके हरकारे-को देखकर क्रोधसे पागल हो गए। उन्होंने हरकारेको बड़ी फटकार बताई, कुत्तेकी भाँति अपने दरवाजेसे दुरदुरा दिया और पारसी रुस्तमजीका चैक उठाकर फेंक दिया।

जब पोलक साहबको इस अमलदारकी अशिष्टता और उद्दण्डताकी खबर मिली तो वे स्वयं चैककी जगह सौ पौण्ड नक़द लेकर कजिन्सके सामने हाजिर हुए और उनको सर्वोच्च अदालतके जजका हुक्मनामा पढ़ सुनाया। यह बात कजिन्सके लिए असह्य हो गई, वे जामेसे बाहर हो गए और बिगड़ कर बड़ी रुखाईसे बोले, "अजी, तुम हो कौन, जो मुझपर अदालतका हुक्म तामील करने आये हो?" पोलक साहबने उनकी अहम्मन्यता और अभद्रताका तीव्र प्रतिवाद किया। आखिर कजिन्सके गर्म मिजाजका पारा कुछ उतरा और उन्होंने यह कहकर पोलक साहबको टरकाया कि अगले दिन इस मामलेपर विचार और निर्णय होगा। दूसरे दिन भी ईसाइयोंका त्योहार (Boxing Day) था। सब लोग खुशियाँ मना रहे थे और हम लोग दुःखकी घड़ियाँ गिन रहे थे। पोलक साहब बड़े सवेरे बंदरगाहपर आ गए थे और इमिग्रेशन अफसरके आनेपर उनके साथ स्टीमरपर पहुँचे।

कजिन्सकी नादिरशाही

कजिन्स इमिग्रेशन-विभागमें निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी तानाशाह थे। उन दिनों हिटलर आस्ट्रियाके किसी कोनेमें कूचीसे मकान रँगता था और मुसोलिनी इटलीके किसी लोहारखानेमें हथौड़ेसे फौलाद पीटता था, लेकिन बृटिश साम्राज्यके लिए यह घमंडकी बात है कि उस जमानेमें भी उसके पास कजिन्सके जैसे अमलदार थे, जो हिन्दुस्थानियोंको जुल्मके कोल्हूमें पेलकर तेल निकाल रहे थे और इस प्रकार यहूदियोंका संहार करनेके लिए हिटलर और मुसोलिनीको मार्ग दिखा रहे थे।

जब कजिन्सने देखा कि सुप्रीमकोर्टके जजके फैसलेकी अवहेलना करना उनकी शक्तिसे बाहरकी बात है तब उन्होंने फैसलेका मनमाना अर्थ लगानेकी कुचेष्टा की। वे जजकी आज्ञाका विश्लेषण करते हुए बोले,—"प्रार्थियोंको सौ पौण्ड नकद जमानत देनेपर स्टीमरसे उतरनेका अधिकार है परन्तु स्टीमरसे उतरकर उनको "डिटेन्शन कैम्प"में नजरबन्द रहना पड़ेगा और जमानतके रुपयेसे अपने खान-पानका खर्च चलाना पड़ेगा।" कजिन्सकी धींगा-धींगीपर पोलकको क्रोध आये बिना न रहा। उन्होंने प्रतिवाद करते हुए कहा, "जजके फैसलेका यह अर्थ निकालना मानो अपनी कलुषित मनोवृत्तिका प्रदर्शन करना है। यह अर्थ नहीं, अनर्थ है और प्रार्थियोंके प्रति घोर अन्याय है।"

उसी समय स्टीमरका कप्तान भी वहाँ आ गया। स्टीमर खुलनेका समय हो चला था और हमें उतारे बिना स्टीमर खोल देना मानो सुप्रीमकोर्टका अपमान करना था। इसलिए कप्तानकी घबराहटकी हद नहीं थी। कजिन्सकी मेजपर जमानतका सौ पौण्ड नकद धरा हुआ था, पर वे उसको स्वीकार करनेसे इन्कार कर रहे थे। कप्तानने पैसे उठाकर कजिन्सके हवाले करनेकी कोशिश की क्योंकि इस झंझटसे जहाज खुलनेमें देर हो रही थी। इसपर कजिन्स बेचारे कप्तानपर टूट पड़े और बिगड़कर बोले, "तुमको जमानतकी रकम उठानेका क्या

अख्तियार है ? तुमने उसे उठाया है तो अपनी जिम्मेदारीपर। मैं उसके उत्तरदायित्वसे मुक्त हूँ।" बेचारा कप्तान बहुत चकराया। उस समय तक उसे अदालतके हुक्मका पूरा पता नहीं था। जब पोलक साहबने जजके फैसलेका विस्तारपूर्वक अर्थ और मर्म बतलाया तो कप्तानकी बेचैनी और भी बढ़ गई। इधर कजिन्स अपने दुराग्रहपर दृढ़ थे, उधर स्टीमर खुलनेको तैयार था, कूचकी पहली सीटी भी बज चुकी थी। कजिन्सने भी कप्तानको सूचित कर दिया कि इस स्थितिमें स्टीमर सचमुच लंगर नहीं उठा सकता किन्तु इसकी सारी जिम्मेदारी पोलकपर है।

पोलक साहबने दृढ़तासे उत्तर दिया कि अदालतके आदेशानुसार जमानतकी रकम उनके सामने मौजूद है। अब यदि वे प्रार्थियोंको उतरनेकी आज्ञा नहीं देते हैं तो जहाँ अदालतका वह अपमान कर रहे हैं वहाँ स्टीमरके रोक रखनेकी जवाबदेही भी अपने ऊपर ले रहे हैं। इस बातसे कजिन्सका क्रोध उमड़ आया; उनका चेहरा तमतमा उठा, आँखें आग उगलने लगीं। उन्होंने पोलकसे पूछा, "क्या तुमको नेटाल प्रान्तमें वकालत करनेका अधिकार है ?" पोलक साहब ट्रांसवालके वकील थे, नेटालमें वकालत करनेका लायसेन्स उनके पास नहीं था। इसलिए अपने प्रश्नका नकारात्मक उत्तर पाकर कजिन्स और भी शेर होगए और गर्जकर बोले, "बस, बहुत हो चुका। इसी दम हट जाओ मेरे सामनेसे और निकलो जहाजसे बाहर। तुम्हारी टरटराहट सुननेके लिए मेरे पास अवकाश नहीं है।" इसीसे कजिन्सको सन्तोष न हुआ बल्कि उन्होंने पुलिसके जरिये पोलक साहबको वहाँसे खदेड़कर ही दम लिया। पोलकको यह अपमान बहुत अखरा। उन्होंने सोचा कि जजसे ही अपने फैसलेका स्पष्टीकरण कराना चाहिए। इसलिए जहाजसे उतरकर उन्होंने वकील टैथमको टेलीफोन द्वारा यह काम सौंपा।

इधर मेरी अजीब अवस्था थी। पोलक साहबकी बेइज्जती देखकर मेरे बदनकी लहूकी लाली लुप्त हो गई—सूरतपर सफेदी छा गई, ओंठपर पपड़ी पड़ गई। तिसपर कजिन्सका शोर-गुल मचाना और

बुलडॉगकी तरह गुर्राना ! उनकी घुड़कियोंसे मैं घबरा गया, हिम्मत हार बैठा और कम्पित हाथसे उनके उस मसविदेपर सही बना दिया जिसमें स्टीमरसे उतरकर डिटेन्शन कैम्पमें नजरबन्द रहने और जमानतके पैसेसे अपने खान-पानका खर्च चलानेकी स्वेच्छा-पूर्वक स्वीकृति थी, मैं अपने पैरोंपर स्वयं कुल्हाड़ी मार बैठा। इधर मैं बड़ी हड़बड़ीमें किसी तरह जहाजसे उतरकर भूमिपर पैर धरने ही पाया था कि उधर मुझसे पिण्ड छुड़ाकर जहाजने भी कूचका डंका बजा दिया।

हमें पुलिसके पहरेमें इमिग्रेशन ऑफिस लाया गया। पर कुशल यह हुई कि पोलक साहबके उद्योगसे नजरबंद रहनेकी नौबत न आई। उसी समय जस्टिस ब्रूमका टेलीफोन आ गया। उन्होंने अपने फैसलेका स्पष्टीकरण करते हुए कजिन्ससे कहा कि उसमें भ्रमकी कोई गुंजाइश नहीं है। हुक्मनामेका सीधा और साफ मतलब यह है कि सौ पौण्डकी जमानत लेकर आगेकी कानूनी कार्रवाई करनेके लिए प्रार्थियोंको बिलकुल आजाद कर दिया जाय।

जजके फैसलेका खुलासा होजानेपर हमें डिटेन्शन कैम्पमें नजरबन्द रखना कजिन्सके अख्तियारसे बाहरकी बात थी,फिरभी वे अपनी दूषित मनोवृत्ति एवं कुटिल नीतिके प्रदर्शनसे बाज नहीं आये। उन्होंने हमें जो मियादी परवाना (Temporary permit) दिया वह केवल एक पखवारेके लिए। इसी दरम्यानमें हम या तो अपना प्रवासाधिकार सिद्ध करें अथवा नेटालकी सीमासे बाहर चले जावें अन्यथा वे हमारी जमानत जब्त कर लेंगे और नेटालसे निर्वासनका दण्ड भी देंगे। जब उनसे अनुरोध किया गया कि वे हमारी अर्जी अपने दफ्तरके जरिये ट्रांसवालके एशियाइयोंके रजिस्ट्रारोंके पास विधिवत् भेज देनेकी कृपा करें तो हमारी बात माननेसे उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। लाचार होकर पोलक साहबको सरकारी फार्मके बदले कोरे कागजपर अर्जी भेजनी पड़ी। रजिस्ट्रारकी तरफसे एक सप्ताहमें उत्तर आया कि कोरे कागजपर अर्जी भेजना नाजायज है, अतएव सरकारी फार्मपर अर्जी भेजनी चाहिए और वह भी इमिग्रेशन

अमलदारके द्वारा। अब तो कजिन्सके पास कोई बहाना न रहा। उन्हें हमारी अर्जी स्वीकार करके रजिस्ट्रारके पास भेजनेको मजबूर होना पड़ा।

श्वेतांग-नीतिका नंगा-नाच

इसी खटपटमें दो सप्ताह बीत गए और जब केवल 'रहा एक दिन अवधि कर' तब हमें अधीर होकर कजिन्ससे यह प्रार्थना करनी पड़ी कि अभी कल ही हमारी अर्जी उनके दफ्तरके जरिये प्रिटोरिया गई है, जो अबतक रजिस्ट्रारके पास पहुँची भी नहीं होगी, इसलिए परमिटकी अवधि कुछ और बढ़ा दी जाय। पर कजिन्स तो न्याय-अन्यायका विवेक त्यागकर क्रोधसे अंधे हो रहे थे और अंधेके आगे रोना अपने दीदे खोना था। पोलक साहबसे झगड़कर उसका बदला चुकानेके लिए वे कसम खा चुके थे, इसलिए उन्होंने न्यायको अँगूठा दिखाया और हमारी प्रार्थनाको ठोकर लगाई। मेरी हालत ऐसी हो गई कि इधर गिरूँ तो कुआँ, उधर गिरूँ तो खाई। यदि अवधि बीतनेके बाद नेटालमें रहता हूँ तो कजिन्स साहब जमानत जब्त कर लेते हैं और यदि नेटाल छोड़कर ट्रांसवालमें प्रवेश करता हूँ तो वर्जित-प्रवासी (Prohibited-Immigrant) होकर जेलकी हवा खानी पड़ती है। आखिर महात्मा गांधीकी सलाहसे यही निश्चित हुआ कि उसी दिन वहाँसे कूच कर देना चाहिए और अवधिसे पहले नेटालकी सीमासे बाहर हो जाना चाहिए।

उसी दिन साँझकी गाड़ीसे हम डरबनसे रवाना हो गए, हमारी मददके लिए पोलक साहब भी साथ हो लिये। दूसरे दिन सबेरे हम नेटालकी सरहद लाँघकर ट्रांसवालमें दाखिल हो गए। ट्रांसवालकी सीमामें प्रविष्ट होते ही वाल्क्सरस्ट (Volksrust) स्टेशनपर पुलिसके दर्शन हुए। 'परमिट'की तलबी हुई, पर हमारे पास परमिट था ही कहाँ? इसलिए गाड़ीसे उतारकर हमें गिरफ्तार कर लिया गया। वहाँके मजिस्ट्रेट एक विचारशील व्यक्ति थे। उन्होंने जुर्म लगाने और मामला चलानेसे पहले प्रिटोरियाके रजिस्ट्रारसे तार द्वारा पूछ लेना उचित समझा, क्योंकि पोलक साहबने उनको सूचित कर दिया था कि हमारी अर्जी रजि-

स्ट्रारके सामने विचाराधीन है। पर रजिस्ट्रारने फौरन जवाब दिया कि या तो हम पहली गाड़ीसे नेटाल लौट जायं—(जहाँ जाते ही हमारी जमानतकी रकम जब्त हो जाती) अथवा हमपर इमिग्रेशन-कानून भङ्ग करनेके अपराधमें मुकदमा चलाया जाय।

हम मजिस्ट्रेटके इजलासमें हाजिर हुए। हमपर 'वर्जित प्रवासी'-का जुर्म लगाया गया। पोलक साहबने हाकिमसे प्रार्थना की कि उनकी व्यक्तिगत जमानत और जिम्मेदारीपर हमें छोड़ दिया जाय और मामला प्रिटोरियाकी अदालतमें भेज दिया जाय क्योंकि वहाँ गवाह और सबूत पेश करनेमें हमें आसानी होगी। मजिस्ट्रेटने पोलक साहबकी दोनों बातें मान लीं।

वहाँसे हम जर्मिस्टनके इंडियन लोकेशनमें पहुँचे और अपने एक पुराने मित्र श्रीनन्दनरामके घरपर ठहरे। सन् १९१२की १६ जनवरीको प्रिटोरियामें मेरे मामलेकी पहली पेशी हुई, लेकिन रजिस्ट्रारने मोहलत माँग ली। दूसरी तारीख पड़ी ३० जनवरीकी। पर फिर हमें अदालतमें हाजिर होनेकी जरूरत नहीं हुई। रजिस्ट्रारको मेरे प्रवासाधिकारके सम्बन्धमें काफी सबूत मिल चुका था, इसलिए मामला उठा लिया गया। इतनी हैरानी और पैसेकी नुकसानीके बाद मुझे अपनी जन्मभूमि ट्रांसवालमें रहनेका अधिकार प्राप्त हो सका।

भारतीयोंके लिए दरवाजा बन्द

इसी दरम्यान एक बात और हो गई थी। मैंने नेटालके बन्दरगाहपर पहुँचते ही यह दावा किया था कि मैं अंग्रेजीमें परीक्षा (Educational Test) पास कर सकता हूँ, इसलिए मुझे नेटाल-प्रदेशमें प्रवेश और प्रवास करनेका प्रचलित कानूनके अनुसार अधिकार है। मेरी परीक्षा लेकर यूनियन-सरकारके तत्कालीन आंतरिक-मंत्री (Minister of Interior) श्री फिशरके पास कागज-पत्र निर्णयके लिए भेज दिये गए थे। उन्होंने फौरन यह फैसला दे दिया कि मैं अंग्रेजीमें उतनी योग्यता रखता हूँ जितनी कानूनसे नेटालमें दाखिल होने और बसनेके लिए अनि-

वार्य है। यह एक मार्केकी बात है कि इस परीक्षाके आधारपर नेटालमें निवासाधिकार प्राप्त करने वाला मैं अन्तिम हिन्दुस्थानी था। इसके बाद ही स्वर्गीय श्री गोपाल कृष्ण गोखलेके परामर्शसे महात्मा गान्धीने यूनियन-सरकारकी नये भारतीयोंके लिए 'दरवाजा-बन्द-नीति' (Close-door-policy) को इस शर्तपर स्वीकार कर लिया कि पुराने बाशिन्दोंके साथ न्यायपूर्ण उत्तम व्यवहार होगा और उनकी सारी शिकायतें दूर कर दी जायंगी। उस समय सर फिरोजशाह मेहता और सर मंचेरजी भावनगरीने माननीय गोखले और महात्मा गान्धीकी इस कार्रवाईका घोर विरोध किया था और यहाँ तक कह डाला था कि उनको हिन्दुस्थानकी ओरसे ऐसा समझौता करनेका कोई अधिकार नहीं था। इस समझौतेमें यूनियन-सरकारके लिए जो फायदेकी बात थी उसपर फौरन अमल किया गया। सन् १९१३ में 'इमिग्रेशन रेगुलेशन एक्ट' (Immigration Regulation Act) पास हो गया और भारतीयोंके लिए दक्षिण अफ्रिकाका दरवाजा सदाके लिए बन्द हो गया। आज दक्षिण अफ्रिकाके प्रवेश-द्वारपर बड़े-बड़े अक्षरोंमें अंकित है कि "यह देश सिर्फ सफेद चमड़े वाले मनुष्योंके लिए सुरक्षित है। इस पवित्र भूमिपर कोई हिन्दुस्थानी, चाहे वह कितना ही बड़ा विद्वान् और धनवान क्यों न हो, पाँव नहीं रख सकता।" जो भारतीय पहलेसे वहाँ जा बसे थे उनके साथ न्याय-पूर्ण व्यवहारकी प्रतिज्ञा हवामें उड़ गई। उनको मार भगाने और उनकी संख्या घटानेके लिए कोई बात उठा नहीं रखी गई।

मेरे मामलेसे सारे दक्षिण अफ्रिकामें हलचल मच गई थी। इसका एक विशेष कारण यह था कि मेरे वहाँ पहुँचनेसे छः मास पहले माननीय गोपाल कृष्ण गोखले दक्षिण अफ्रिकाकी संहतिमें अपने देशवासियोंकी दशा देखनेके अभिप्रायसे गये थे और वहाँके सरकारी मंत्रियोंने, जिनमें जनरल बोथा और जनरल स्मट्स प्रमुख थे, अन्य बातोंके सिवा उनसे यह भी वायदा किया था कि भविष्यमें इमिग्रेशन कानूनपर उदारतापूर्वक अमल होगा किन्तु उन्होंने अपने वचनको किस तरह निबाहा,

उसका प्रत्यक्ष प्रमाण था—मेरा मामला। इस विषयपर "इंडियन ओपिनियन" तथा अन्य अखबारोंके पन्ने-के-पन्ने रँगे गए, ट्रांसवाल ब्रूटिश इंडियन एसोसियेशनने यूनियन-सरकारसे पत्र-व्यवहार करके इस अन्याय-का घोर प्रतिवाद किया और लंदनकी इंडियन कमेटीने भी मेरे मामलेकी ओर औपनिवेशिक मंत्रीका ध्यान आकर्षित किया। माननीय गोखले और महात्मा गांधीने जिस आशासे यूनियन-सरकारकी 'दरवाजा-बंद-नीति'-को स्वीकार किया था, वह साल-भरके अन्दर ही मृग-तृष्णा सिद्ध हो गई।

: ६ :

जीवनका नया नकशा

जिस दिन मैंने जहाजसे उतरकर नेटालकी भूमिपर पैर रखा उसी दिन सबसे पहले महात्मा गांधीके दर्शनके लिए उनके फिनिक्स-आश्रम (Phoenix Settlement)पर पहुँचा। मैंने अपने मनमें महात्माजी-के उस रूपकी कल्पना कर रखी थी, जिस वेशमें उन्हें अपने बचपनमें देखा था। उस समय गांधीजी जोहान्सबर्गमें वकालत करते थे। उनके शरीरपर अंग्रेजी पोशाक शोभा देती थी और सिरपर हिन्दुस्थानी पगड़ी। पर उस आश्रममें पहुँचकर जो कुछ देखा वह मेरी कल्पनाके बाहरकी बात थी।

बापूके दर्शन

पोलक साहब मेरे साथ थे। साँझकी वेला थी। फिनिक्स स्टेशनसे तीन मील पैदल चलकर हम आश्रम पर पहुँचे। महात्माजीका मकान सूना पड़ा था, वहाँ कोई नहीं मिला। इसलिए पोलक साहब मुझे इधर-उधर मटरगश्ती कराते हुए एक खेतपर ले गए, जहाँ कुछ मजदूर कुदालसे घास काट रहे थे। उन मजदूरोंको दूरसे देखकर मेरे आश्चर्यकी सीमा नहीं रही; क्योंकि मैंने ऐसे साफ-सुथरे कपड़े पहनकर खेत गोड़ने-वाले मजदूर पहले कभी नहीं देखे थे। निकट पहुँचनेपर अचानक मेरी दृष्टि उस व्यक्तिपर जा अटकी, जो अत्यंत दुबला-पतला होते हुए भी कुदाल चलानेमें सबसे आगे था। उसके बदनपर आस्ट्रेलियाके आटेकी बोरियोंका सिला हुआ अधबहियाँ कुरता और घुटने तकका पाजामा

था; न पैरोंमें पनही थीं और न सिरपर पगड़ी या टोपी। जब उसने सिर उठाकर मेरी तरफ देखा तो उसके चेहरेकी दिव्य-ज्योतिसे मेरी आँखें चौंधिया गईं। मुखाकृतिसे उसको पहचानकर मैं विस्मय-वारिधिमें डूब गया और अपने तनकी सुधि-बुधि बिसार बैठा। वह और कोई नहीं, स्वयं महात्मा गांधी थे।

प्राचीन आर्य ऋषियों एवं अर्वाचीन टॉल्स्टाय और रस्किन सरीखे महापुरुषोंके आदेश और आदर्शोंको कार्यान्वित करनेके लिए गांधीजीने इस आश्रमकी स्थापना की थी। आश्रमवासियोंमें वे सबसे अधिक और कठोर परिश्रम करते थे। जहाँ तरुणोंकी ताकत जवाब दे बैठती वहाँ वे उनकी सहायताके लिए झट पहुँच जाते और सहारा देकर आगे बढ़ाते। वे सबसे पहले उठते और सबसे पीछे सोते। खेतपर वे सबसे पहले पहुँचते, फावड़ा चलानेमें सबसे आगे रहते और अपनी कड़ी मेहनतसे मजदूरको भी मात कर देते। किसी कामसे उनको परहेज न था। वे झाड़ू लगाते, बर्तन माँजते, कपड़े फींचते, रसोई परोसते, लकड़ी चीरते और यहाँ तक कि मल-मूत्र भी उठाते। अखबार छापनेका मुद्रणालय तेलकी मशीनसे चलता था। उस मशीनको उन्होंने पेन्शन दे दी और उतने बड़े सिलेण्डर मशीनको, जिसमें कागज दोनों तरफ एक साथ ही छपकर निकलते थे, अपने शागिर्दोंके साथ वे स्वयं चलाते थे। जब उनको डरबन नगर जानेकी जरूरत पड़ती—और यह अक्सर पड़ती ही रहती थी—तो वे पहाड़ोंकी उतराई-चढ़ाई एवं ऊबड़-खाबड़ राहसे पैदल ही जाते और पैदल ही लौटते। आश्रमका सारा भार उन्हींपर था। उन्होंने बैरिस्टरीका चोगा उतार फेंका था और पचास हजार रुपये सालाना की आमदनीको ठुकरा दिया था। वे सारे भोग-विलासको त्यागकर किसानका कठोर जीवन व्यतीत कर रहे थे। आश्रमवासी उनको 'बापू' कहकर पुकारते।

फिनिक्स-आश्रम

फिनिक्समें बापूने लगभग सौ एकड़ भूमि खरीद ली थी और कुछ

चुने हुए भारतीय तथा यूरोपियन भक्तोंको वहाँ ला बसाया था। इस आश्रममें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, गोरे-भूरे-काले—सभी धर्मों और वर्णोंके लोग भाई-भाईकी भाँति रहते थे। 'सादा जीवन और उच्च विचार' आश्रम-जीवनका एक-मात्र ध्येय था। दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंकी हित-रक्षा करने, उनको नेक-सलाह देने और उनकी कष्ट-कथा संसारको सुनानेके लिए आश्रमसे "इंडियन ओपीनियन" नामक एक साप्ताहिक अखबार निकलता था। आश्रमवासी नित्य सबेरेसे दोपहर तक अखबारके प्रेस और दफ्तरमें काम करते और अपराह्नमें किसानोंकी तरह खेत गोड़ते, साग-भाजी बोते और भाँति-भाँतिके फल-फूलोंके पौधे लगाते। सन्ध्या समय सभी लोग प्रार्थना-गृहमें एकत्र होते, वहाँ गीता एवं रामायणका पाठ भी होता और बाइबिल एवं कुरानका भी।

वास्तवमें फिनिक्स आश्रम बापूकी प्रयोगशाला था,जहाँ वे मानव-जीवनको सत्य और अहिंसाके साँचेमें ढाल रहे थे। प्राकृतिक सुषमा-सम्पन्न नेटाल प्रदेश दक्षिण-अफ्रिकाकी संहतिका सरसब्ज बाग कहलाता है, और नेटालके इस सुरम्य स्थानमें आश्रम बनाकर बापू घोर तपस्या कर रहे थे। इसी तपोवनमें 'सत्याग्रह'की सृष्टि हुई थी, जो भारतके स्वाधीनता-संग्राममें अमोघ अस्त्र सिद्ध हुआ।

मैंने बापूको पहचानकर श्रद्धा-पूर्वक उनके चरण-स्पर्श कर अभिवादन किया। "अच्छे हो न ?" बापूने सहज स्वभावसे पूछा। पर उस ऋषिका दिव्य-रूप और अलौकिक-तेज देखकर मैं तो अवाक् हो रहा था, वाणीका बल विलुप्त हो चुका था, अतएव मैं बापूकी बातका जवाब न दे सका। मुझे मौन देखकर उन्होंने फिर पूछा, "क्यों, क्या सोच रहे हो ? बोलते क्यों नहीं ?"

"आजका दिन मेरे जीवनमें महान् परिवर्तनका दिन है," सहसा मेरे मुखसे निकल पड़ा। "क्यों, क्या बात हुई ?" मधुर मुस्कानके साथ बापूने दरियाफ्त किया। "इसका ठीक उत्तर तो मेरा भावी जीवन

ही दे सकेगा। अभी मुँहसे कुछ कहना व्यर्थ है।" कहकर मैंने फिर चुप्पी साध ली।

दरअसल मैं हिन्दुस्थानसे निर्धन होकर गया था—दक्षिण अफ्रिकामें रोजगार-धन्धा करके धनार्जन करने और धनवान होकर भोग-विलासकी सामग्री जुटाने तथा आमोद-प्रमोदमय जीवन बितानेके अभिप्रायसे; परन्तु बापूके दर्शन और सत्सङ्गसे मेरे जीवनका नक्शा ही बदल गया। मेरे हृदयमें एक ऐसी दैवी प्रेरणा हुई कि मैंने आर्थिक संकटसे मुक्त होते ही प्रवासी भारतीयोंकी सेवामें आत्मोत्सर्ग करनेका संकल्प कर लिया। यदि इमिग्रेशनके कारण मेरी माली हालत नाजुक न हो गई होती तो मैं बापूके साथ आश्रममें ही रह जाता, वहाँसे हटनेकी इच्छा ही नहीं होती थी। पर मैं तो विपत्तियोंके प्रहारसे बेजार हो रहा था, बे-बस होकर मुझे जर्मिस्टन जाना पड़ा और वहां परिवारके निर्वाहकी चिन्तामें लग जाना पड़ा।

आखिर इमिग्रेशन अमलदारके दुर्व्यवहार और अत्याचारका अन्त आ गया और दक्षिण अफ्रिकाकी संहतिके ट्रांसवाल एवं नेटाल-प्रदेशमें प्रवास करनेका मुझे अधिकार मिल गया, पर मामलेके दौरानमें मेरा इतना खर्च हुआ कि मैं पैसे-पैसेके लिए मुहताज हो गया। शारीरिक और मानसिक चिन्ता और व्यथाके उपरान्त सौ पौण्डसे अधिक कर्जका भार भी मुझपर आ पड़ा। इसलिए मेरी स्थिति अत्यन्त दया-जनक हो गई। विहारमें साढ़े आठ साल शान-शौकतसे बिताये थे, जीवनको अमीरीके साँचेमें ढाल लिया था, परमुखापेक्षी बननेमें अपना गौरव समझता था। पर यहाँ तो धनार्जनके लिए कठोर परिश्रमकी आवश्यकता थी अन्यथा भोजन-वस्त्रके भी लाले पड़ जाते।

मेहनतकी महिमा

ट्रांसवाल पहुँचकर मैं बहुत पछताया। हाथ मलता, सिर धुनता और किस्मतको कोसता रहा। वहाँका जीवन मुझे बड़ा ही अरुचिकर प्रतीत हुआ। वहाँके अशांत और कोलाहलपूर्ण वातावरणमें मेरा दम

घुटने लगा। वहाँ न शांति थी, न सन्तोष था—सभी नगद-नारायणकी उपासनामें मस्त और व्यस्त थे। पैसा ही वहाँके लोगोंका परमेश्वर था और येनकेन प्रकारेण धनार्जन करना ही था, उनका सर्वोपरि धर्म।

जर्मिस्टनमें मेरे एक सहृदय मित्र श्रीनन्दनरामने मुझे अपने घर-पर मेहमानके तौरपर ठहराया था,पर मेहमानदारीकी भी एक अवधि होती है। आखिर मुझे अपने परिवारके निर्वाहके लिए कोई-न-कोई रोजगार करना जरूरी था। मेरे अनुज देवोदयाल एक बलवान और मेहनती जवान थे। वे एक ओर नौकरीकी तलाश कर रहे थे और दूसरी ओर फेरीका पेशा। साइकिलपर गोरोंके घर-घर चक्कर लगाते, बोतल और बोरे खरीदते और उनको बाजारमें बेचकर कुछ कमा लेते। इससे उनका खर्च तो चल जाता,पर मेरा शरीर तो बहुत सुकुमार था, अमीरीके पलनेमें पलकर श्रम करनेकी शक्ति गँवा बैठा था। जीवन-संग्राममें मेरे पास इच्छा-शक्तिके सिवा और कोई सहारा न था।

अब मुझे मेहनत-मजदूरीका महत्त्व मालूम होगया। हिन्दुस्थानसे प्रस्थान करनेके कुछ पहले मैंने श्री स्वामी सत्यदेवजीकी अमेरिका सम्बन्धी कई पुस्तकें पढ़ी थीं, जिनमें उन्होंने अमेरिकाके खेतोंपर मजदूरी करने और होटलोंमें जूठे वर्त्तन माँजनेकी अपनी रामकहानी लिखी थी। दक्षिण अफ्रिकामें पदार्पण करते ही गांधीजीको खेत गोड़ते, झाड़ू देते, कपड़े फींचते,बरतन माँजते और यहाँ तक कि पाखाना उठाते देखकर मुझे अपनी अकर्मण्यतापर बड़ी लज्जा आई। मुझे यह निश्चय हो गया कि श्रम ही जीवनकी ज्योति है और विलासिता है मरणका मार्ग।

मैंने महाभारतमें भी पढ़ा था कि एक बार विपद् पड़नेपर धर्मराज युधिष्ठिर चाकर बने थे और महावीर भीमसेन रसोइया; पंडित-प्रवर सहदेव चरवाहा बने थे और धनुर्धर अर्जुन गवैया; देवी द्रौपदी दासी बनी थीं और नीतिज्ञ नकुल बने थे रथ-हँकवैया। उनकी प्रतिष्ठामें कोई अन्तर नहीं आया बल्कि उन्होंने अपने सुकृत्यसे भारतके

इतिहासको गौरवमय बनाया। परन्तु आज विधिकी विडम्बनासे हिन्दुस्थानमें उलटी गङ्गा बह रही है। मेहनत करके कमाने-खाने वाले कारीगर और मजदूर तो अछूत माने जाते हैं और घर-घर भीख माँगकर पेट पालने वाले निठल्ले और अहदी पूजाके पात्र। विश्वमें और कहाँ ऐसा उदाहरण मिलेगा, जहाँ शिल्पकार और श्रमजीवी तो नीच समझे जाते हों और भिखमंगे उनसे ऊँच ? इस देशमें भी पुरातन कालसे यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

उत्तम खेती, मध्यम बान।
अधम चाकरी, भीख निदान॥

पर जब बुरे दिन आते हैं तो बुद्धि उलटी हो जाती है, काम उलटे होने लगते हैं। महाकवि तुलसीदासका कथन है—

जाको प्रभु दारुण दुःख देहीं।
ताकी मति पहले हर लेहीं॥

धोबीका धन्धा

आखिर मैं श्रीलालबहादुरसिंहके धोब-खाने (Laundry)में नौकर हो गया। सिंहजी ट्रांसवालके एक मशहूर रईस थे। सन् १९०४में जब मेरे पिता स्वदेशको प्रस्थित हुए थे तब उनके स्थानपर इन्हींको ट्रांसवाल इंडियन एसोसियेशनका सभापति चुना गया था। सिंहजी सत्याग्रह-संग्राममें भी शरीक हुए थे और कई बार जेलकी हवा खा आये थे। उन दिनों वे जर्मिस्टन इंडियन एसोसियेशन,सनातन धर्म सभा और हिन्दू-मंदिरके सभापति थे। ट्रांसवालमें वे सनातन धर्मके स्तम्भ और नेता थे, पर धनार्जनके लिए किसी भी धन्धेसे उनको परहेज न था। इसलिए उन्होंने गोशालाके सिवा धोब-खाना भी खोल रखा था। मैंने सोचा कि मेरे लिए यह विपदकी घड़ी है। ऐसी ही स्थितिमें तो हरिश्चन्द्रने श्मशानमें श्वपचकी चाकरी की थी। अतः मैं सिंहजीके धोब-खानेमें भर्ती हो गया। मैं घोड़े-गाड़ीपर सिंहजीके साथ शहरका गश्त लगाता, गोरोंके घरसे मैले कपड़े बटोर लाता, उनपर निशान लगाता,

हिसाब-किताब रखता और धुले कपड़ोंकी इस्त्री भी करता। सबेरे काम शुरू करता तो आधी रातको छुट्टी मिलती। इस्त्रीकी आँच सहनेमें पहले मुझे बड़ी तकलीफ हुई लेकिन धीरे-धीरे मैं धोबीका धन्धा सीख गया। इस काममें सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि रविवारके सिवा और किसी दिन दम लेनेकी भी फुर्सत न मिलती और इससे मेरे सार्वजनिक जीवनकी प्रवृत्ति और प्रगति बहुत-कुछ अवरुद्ध हो गई।

उन्हीं दिनों जर्मिस्टनके शिक्षित युवकोंने 'इंडियन यङ्गमैन एसोसियेशन'को स्थापना की, जिसका उद्देश्य था—भारतीय तरुणोंमें राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक विषयोंकी अभिरुचि उत्पन्न करना। मैं उसका प्रधान चुना गया; श्री आर. नायडू मंत्री और श्रीरामस्वामी मुदालियर खजानची। इस सभाके सिलसिलेमें ट्रांसवालके हिन्दी और तामिल-भाषी युवकोंकी तत्कालीन अवस्थाका मुझे जो अनुभव हुआ वह बड़ा ही विषाद-जनक है। उनमें न संस्कार पाया, न सदाचार और न उच्च विचार। उनके जीवनपर दो महाव्याधियोंका आधिपत्य था—एक तो शराब और दूसरी 'कलर्ड'-कामिनियाँ। शराबने देह और दिमागपर दखल जमा लिया था और 'कलर्ड'-कामिनियोंने दिलपर।

'कलर्ड'-कामिनी

दक्षिण अफ्रिकामें एक नई कौम पैदा हो गई है जिसका नाम है—'कलर्ड' या 'रंगीन'। यह यूरोपीय मर्दों और हब्शी औरतोंकी काम-केलिकी उपज है। सभ्यता और श्रेष्ठताकी शेखी बघारने वाले यूरोपके नर-साँडोंकी इस नई वर्ण-संकरी औलादकी तादाद इस समय दस लाखसे अधिक है। इन रंगीन युवतियोंसे विधिवत् विवाह करना गोरांगोंके धर्म एवं विधानके विरुद्ध है,पर व्यभिचारसे मुँह काला करनेपर उनकी सफेदीमें कोई फर्क नहीं पड़ता। इस कौमकी कामिनियाँ बड़ी सुन्दर, चपल और नटखट होती हैं तथा हमेशा अच्छे युवकोंको फँसानेके फिराकमें लगी रहती हैं। गोरे उनसे शादी नहीं करते क्योंकि इससे उनके बड़प्पनमें बट्टा लगता है। काले हब्शी इनको पसंद नहीं, क्योंकि

इनको श्वेतांगोंकी सन्तान होनेका अभिमान है। इस कौमके अधिकांश युवक निकम्मे और आवारा होते हैं, उनसे शादी करना मानो मुसीबत मोल लेना है। इसलिए इनकी तेज निगाह भारतीय युवकोंपर लगी रहती है और वे येन केन प्रकारेण उनको अपने प्रेम-पाशमें फँसानेकी चेष्टा करती रहती हैं।

इन 'कलर्ड'- कामिनियोंकी करतूतसे ट्रांसवालके अनेक भारतीय युवकोंके जीवन नष्ट हो गए, उनके घर बर्बाद हो गए और वे धोबीके कुत्तेकी तरह न घरके रहे न घाटके। वास्तवमें वे रंगीन युवतियाँ काली नागिन हैं जिनके डसनेपर बचावकी कोई बूटी नहीं। वे जहरकी ऐसी आकर्षक पुड़िया हैं जो चखनेमें स्वादिष्ट होनेपर भी प्राण-घातक हैं। वे ऐसी मानवी जोंक हैं जो धन एवं प्रतिष्ठाके सिवा जीवन-सत्त्व भी चूस लेती हैं। वे क्षयकी भाँति असाध्य रोग हैं जिसका कोई उपचार नहीं। उनके सिंगार-पटार, नाज-नखरे, हाव-भाव-कटाक्ष और कृत्रिम प्रेम-प्रदर्शन ऐसा जटिल जाल है जिसमें एक बार फँस जानेपर मछलीकी भाँति छटपटाकर मरना अनिवार्य है।

उसी समय एक ऐसी घटना घटी थी जिससे हिन्दी-भाषियोंमें बड़ी सनसनी फैल गई थी। न्यूक्लेरका एक हिन्दू युवक इसी श्रेणीकी एक वर्ण-संकरी युवतीके चंगुलमें पड़कर अपनी विवाहिता पत्नीको त्याग बैठा था। उसे बहुत-कुछ ऊँच-नीच समझाया गया, वंशकी मर्यादाका ध्यान दिलाया गया; पर कामान्धको चेत कहाँ? उसकी धर्मपत्नी पूर्ण युवती और रूपवती थी, उसके चेहरेपर सौन्दर्यके सुमन खिले हुए थे और वह किसी भी गृहके लिए शोभा सिद्ध होती। जब बेचारीने देखा कि पतिदेव कुमार्ग-गामी हो गए, उनके सुधरनेकी कोई आशा नहीं रही तब उसने भी अपना रास्ता ढूँढ निकाला। हिन्दू समाजको लज्जितकर वह एक मुसलमानकी बीबी बन बैठी।

वास्तवमें ट्रांसवालके हिन्दू युवक भारतीय संस्कृति और आदर्शों-की शिक्षासे वंचित होनेके कारण एक ऐसे जहाजपर सवार हैं जो महो-

दधिके मँझधारमें चक्कर काट रहा है, जिसे न ओरका पता है न छोर-का। वह समयकी लहरोंके झोंकेसे किस घाटपर जा लगेगा, यह भविष्य ही बतावेगा।

हमने युवकोंमें जीवन और जागरण उत्पन्न करनेके लिए यङ्गमैन-एसोसियेशनकी स्थापना की थी, पर हमारी मनोकामना पूरी नहीं होने पाई। उसी समय सत्याग्रहकी लड़ाई छिड़ गई; अतएव हमारी योज-नाएँ खटाईमें पड़ी रह गईं, वे कार्यान्वित न होने पाईं।

: १० :

हिन्दुस्थानियोंकी हड़ताल

अभी मैं जर्मिस्टनमें स्थिर भी नहीं होने पाया था कि महात्मा गांधीने सत्याग्रह-संग्रामकी घोषणा कर दी। यह कौन नहीं जानता कि ब्रिटिश साम्राज्यके उपनिवेशोंमें वर्ण-विद्वेषकी बदौलत प्रवासी भारतीयोंके साथ जैसा अपमान-जनक बर्त्ताव होता है वैसा विश्वमें और कहीं नहीं। यहूदियोंपर अत्याचार करने वाले हिटलरका उदय और अस्त अभी हाल-की घटना है, उसके भी गुरु-घण्टाल हैं जनरल स्मट्स, जो बीसवीं सदी-के आरंभसे ही 'श्वेतवर्ण-शिरोमणि-धर्म' (White Race Supremacy Religion)का दक्षिण अफ्रिकामें प्रचार कर रहे हैं और अपने अदम्य उत्साहके कारण इस नवीन धर्मके मसीहा बन गए हैं। वे एक कूटनीतिज्ञ तो हैं ही, साथ ही महाधूर्त्त और विश्वास-घाती भी हैं। वचन देकर मुकर जाना उनके बायें हाथका खेल है। महात्मा गांधीके साथ उन्होंने बार-बार विश्वास-घात किया और माननीय गोखलेको भी अपनी दगाबाजीका शिकार बनाया, जिससे प्रवासी भारतीयोंमें बड़ा क्षोभ और असंतोष फैल गया।

स्मट्सका विश्वास-घात

बात यह हुई कि सन् १९१२में माननीय गोपालकृष्ण गोखले वहाँ गये थे। वे अपने देश-वासियोंको अपमानकी ठोकरें खाते हुए देखकर स्वभावतः संतप्त हुए, और खासकर सन् १८९४ के बाद गिरमिटमें गये हुए भारतीय मजदूरोंकी विपत्ति और दुर्गति जब उन्होंने अपनी आँखों

देखी तब उनका धैर्य जाता रहा—हृदय प्रकंपित हो उठा। इसलिए जब प्रिटोरियामें यूनियन-सरकारके सूत्रधार जनरल बोथा, जनरल स्मट्स प्रभृतिसे उनकी मुलाकात हुई, तो बातचीतके सिलसिलेमें उन्होंने सबसे अधिक इस बातपर जोर दिया कि नेटालका वह तीन पौण्ड वाला टैक्स रद्द हो जाना चाहिए जो सन् १८९५ के पश्चात् आये हुए मर्दोंके सिवाय औरतों तथा सोलह सालसे अधिक आयु वाले किशोरोंसे भी वसूल किया जाता है और समयपर टैक्स न भर सकनेपर कैदकी सजा भुगतनी पड़ती है।

माननीय गोखलेकी माँग ऐसी न्यायपूर्ण थी कि जिसकी उपेक्षा करना मानो इन्सानियतसे इन्कार करना था। अतएव बोथा और स्मट्सने उनको वचन दिया कि उनके शुभागमनकी स्मृतिमें वह टैक्स पार्लमेण्टके आगामी अधिवेशनमें अवश्य रद्द कर दिया जायगा। इस आश्वासनसे माननीय गोखलेको बड़ा सन्तोष हुआ। ऐसे जिम्मेदार मन्त्रियोंके अभिवचनसे टैक्सके रद्द होनेमें सन्देहकी कोई गुंजाइश नहीं रही। इसलिए वहाँसे स्वदेश लौटनेपर बम्बईकी एक सार्वजनिक सभामें उन्होंने इस आश्वासनकी बात प्रकट कर दी।

जब यूनियन पार्लमेण्टकी बैठक हुई तो एक सदस्यने पूछा कि क्या मंत्रियोंने तीन-पौण्ड वाला टैक्स रद्द करनेके लिए माननीय गोखलेको अभिवचन और आश्वासन दिया है? इसपर स्मट्सका गिरगिटकी भाँति रंग बदल गया। सचाई और ईमानदारीको वे तिलांजलि दे बैठे, वचन देकर मुकर गए—थूककर चाट गए। उन्होंने प्रश्न-कर्ताको उत्तर देते हुए साफ कह दिया कि मंत्रि-मंडलने समष्टि-रूपसे अथवा मंत्रियोंने व्यक्तिगत-रूपसे माननीय गोखलेको न कोई अभिवचन दिया है और न आश्वासन ही। इसका अर्थ तो यही हुआ कि गोखले महोदय झूठ बोलते फिरते हैं। इस घटनासे प्रवासी भारतीयोंको गहरी चोट लगी, अपने लोकप्रिय नेताका अपमान उनके लिए असह्य हो गया।

[illegible] दिनों जस्टिस सरलने अपने एक फैसलेमें भारतीय धर्मोंके

अनुसार हुए विवाहोंको कानूनसे नाजायज ठहरा दिया, इससे भारतीय लोकमत बहुत क्षुब्ध हो उठा। ठीक उसी समय इमिग्रेशन कानून भी संशोधित रूपसे पास हुआ जिससे भारतीयोंका बचा-खुचा अधिकार भी जाता रहा। श्री गोखलेके आगमन, अनुसन्धान और अभिभाषणसे यूनियन-सरकारकी नीतिमें परिवर्तन होनेकी जो आशा बँधी थी वह तत्कालीन सरकारी प्रवृत्तियोंसे चूर-चूर हो गई। भारतीयोंके अंतस्में असन्तोषका अन्धड़ चलने लगा, प्रतिकारकी बिजली कौंधने लगी।

सत्याग्रह का सिंहनाद

अतएव महात्मा गांधीने यूनियन-सरकारको एक पत्र लिखकर चेतावनी दी कि (१) सन् १८७२के बाद नेटालमें गिरमिट लिखाकर आने वाले भारतीय मजदूरोंसे जो तीन पौण्डका टैक्स वसूल किया जाता है वह फौरन रद किया जाय; (२) हिन्दुस्थानियोंके धर्मोंके अनुसार जो विवाह हुए हैं या होवें उनको कानूनसे जायज माना जाय; (३) दक्षिण अफ्रिकामें जन्मे हुए प्रवासी भारतीयोंका, जो केप-प्रदेशमें प्रवेश और प्रवास करनेका अधिकार था और जिसको नवीन इमिग्रेशन रेगुलेशन एक्टमें अपहरण कर लिया गया है, वह अधिकार पूर्ववत् बना रहे; (४) ऑरेञ्ज फ्रीस्टेटमें भारतीयोंके लिए जो अपमान-जनक कानून प्रचलित है उनको रद कर दिया जाय; (५) भारतीयोंके स्थायी स्वत्वोंकी रक्षा और प्रचलित कानूनोंका न्याय-सङ्गत प्रयोग किया जाय।

यदि भारतीयोंको यह आश्वासन न मिला कि पार्लमेण्टके अगले अधिवेशनमें उनकी माँगें मंजूर कर ली जायंगी और सारी शिकायतें मिटा दी जायंगी, तो उनको लाचार होकर सत्याग्रहका सहारा लेना पड़ेगा। पर गांधीजीकी चेतावनी व्यर्थ गई, उनकी माँगोंपर कोई ध्यान नहीं दिया गया और उनको सत्याग्रह चलानेके लिए मजबूर कर दिया गया।

दक्षिण अफ्रिकामें फिर गांधीजीने एक बार और अन्तिम बार सत्याग्रह-की लड़ाई छेड़ दी। फिनिक्स-आश्रमसे सत्याग्रहियोंका पहला दल कानून-भंग करके जेलमें पहुँच भी गया, जिसमें माता कस्तूरबा, श्रीमती मणी-

लाल डाक्टर, श्रीमती छगनलाल गांधी और श्रीमती मगनलाल गांधीके सिवा डरबनके त्यागी सौदागर काका रुस्तमजी पारसी भी थे।

मैं बड़े असमंजस और धर्म-संकटमें पड़ गया। एक ओर मेरे सिर-पर कर्जका भार था और दूसरी ओर थी दलित और पीड़ित प्राणियों-की पुकार। सबसे अधिक दुःख मुझे उन प्रवासी भारतीयोंकी दुर्गतिपर था, जो तीन पौण्ड टैक्सकी चक्कीमें पीसे जा रहे थे। इस टैक्ससे स्त्रियों-की स्थिति अत्यन्त करुणा-जनक हो गई थी। कितनी बहनोंको इस 'खूनी टैक्स'की अदायगीके लिए खुले बाजार अपना सतीत्व बेचना और कितने भाइयोंको चोरी करके इस बलासे पिण्ड छुड़ाना पड़ता था। सर्दी,गर्मी और बरसातमें कड़ी-से-कड़ी मेहनत करके किसी तरह पापी पेटकी आग बुझाना और तिसपर प्रत्येक प्राणीके लिए सालाना तीन पौण्ड टैक्स भी भरना; वह भी साल-दो-साल नहीं, सारी जिन्दगी—पीढ़ी-दर-पीढ़ी। यदि समयपर सरकारी खजानेमें टैक्स न पहुँचा तो फिर चलो बन्दी-घरमें मकईकी लपसी खाने और पत्थरकी गिट्टियाँ तोड़ने।

आखिर मानव-सेवाकी भावनाने व्यक्तिगत स्वार्थमयी कामनापर विजय पाई। मैंने नौकरी छोड़ दी, सत्याग्रहमें शरीक होनेका संकल्प कर लिया और इसकी सूचना गांधीजीको दे दी। जब मेरी पत्नी जगरानीको मेरे निश्चयका पता लगा तो वे अत्यन्त अधीर हो उठीं। उनको यह चिन्ता नहीं थी कि जेलमें मुझे यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी, पर उनके लिए व्यथाकी बात यह थी कि मैं उनको क्यों इस संग्राममें सम्मिलित होने-के सौभाग्यसे वंचित रखना चाहता हूँ।

जगरानीका जौहर

"आपने सत्याग्रह करके जेल जाना निश्चित कर लिया है, यह तो मेरे लिए गर्व और गौरवकी बात है। वहाँ पत्थरकी गिट्टियाँ तोड़नेके लिए आपको जो हथौड़े चलाने पड़ेंगे उसकी चोटसे देशवासियोंकी दासता-की बेड़ीकी कड़ी-पर-कड़ी टूटती चली जायगी। कौमी कल्याणके लिए भारी-से-भारी बलिदान करना ही मानव-जीवनकी सार्थकता है, यह मैं

जानती हूँ। पर सवाल तो यह है कि मैं यहाँ रहकर क्या करूँगी? आपके बिना मेरे दिन कैसे कटेंगे? मैं आपके पैरोंकी जंजीर बनना नहीं चाहती बल्कि चाहती हूँ आपके चरण-चिह्नोंपर चलकर अपने नर-तनको सार्थक बनाऊँ। जब कि माता कस्तूरबा कैद भोग रही हैं तो मुझे अपने साथ ले चलनेमें आपको कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।" कहकर जगरानी चुप हो गईं। उनका हृदय भर आया, आँखोंसे आँसू टपकने लगे।

मुझे जगरानीके मुखसे ऐसी ओज-भरी वाणी सुननेकी आशा नहीं थी। मैं उनसे हमेशा देशवासियोंके भूत, वर्तमान और भविष्यकी चर्चा किया करता था, पर वे बातें उनके हृदयमें इतनी गहराईतक पहुँच गई हैं, यह मेरे लिए वास्तवमें विस्मयकी वस्तु थी। उनको हिन्दुस्थानसे आये अभी एक साल भी नहीं बीता था; वहाँके वातावरण और जीवन-से वे पूर्णतया परिचित भी नहीं होने पाई थीं। ऐसी स्थितिमें उनको दुर्गम पथपर जाने देना मुझे अभीष्ट न था; इसलिए मैंने उनको बहुत समझाया कि जोशमें आकर ऐसा कोई काम कर बैठना उचित नहीं है, जिससे पीछे पछतानेकी नौबत आवे। पर उनको अपने प्रणसे डिगाना कठिन हो गया। अन्ततः विवश होकर बोला, "यह एक ऐसा मामला है जिसका फैसला करना मेरे बूतेकी बात नहीं है। तुम्हारी इच्छाकी पूर्ति महात्मा गांधीकी सहमतिपर निर्भर है। इसलिए जोहान्सबर्ग चलकर उनसे मुलाकात और बात करनी चाहिए।"

मीर जाफरी मुसलमानोंकी मतान्धता

उस समय गांधीजी डरबनसे जोहान्सबर्ग आये हुए थे और सत्याग्रहियोंका संगठन कर रहे थे। ट्रांसवालमें सत्याग्रहकी विफलताके कारण वहाँके मुसलमानोंका एक दल गांधीजीका वैरी बन बैठा था। इस दलके नेता थे हबीब मोटन। ट्रांसवालके भारतीयोंके इतिहासमें हबीब मोटनको वही स्थान मिलना चाहिए जो भारतकी आजादीके इतिहासमें जनाब मुहम्मदअली जिन्नाको मिलेगा। सत्याग्रह और गांधीजीका विरोध करना ही इस दलका एक-मात्र उद्देश्य था। हबीब मोटन और इसप

मियाँ 'ट्रांसवाल लीडर'में चिट्ठियाँ छपवाकर सरकारको विश्वास दिला रहे थे कि इस बार सत्याग्रहके लिए ट्रांसवालमें यदि गांधीजीको पचास आदमी भी मिल जायं तो उनके लिए सौभाग्यकी बात होगी। ट्रांसवाल-के मुस्लिम सौदागर गांधीजीके सत्याग्रहसे कोई सरोकार नहीं रखते हैं अतएव उनके इस आन्दोलनमें आर्थिक सहायता मिलना असम्भव है। तात्पर्य यह कि गांधीजीका सत्याग्रह अवश्य फेल होगा; सरकारको चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं है।

पर यह सन्तोषकी बात है कि देशभक्त मुसलमान गांधीजी और उनके सत्याग्रहके समर्थक थे। उन्होंने "ट्रांसवाल लीडर" में हबीब मोटन और इसप मियाँके इस कथनका तीव्र प्रतिवाद किया कि मुसलमान सौदागरोंकी सत्याग्रहसे कोई सहानुभूति नहीं है और उनको यह भी चुनौती दी कि मुसलमानोंकी तरफसे बोलनेके लिए उनको कहाँसे अधि-कार मिल गया? मैंने सोचा कि श्री अहमदमुहमद काछलिया भी मुसल-मान हैं और जनाब हबीब मोटन भी, परन्तु दोनोंकी प्रकृति और प्रवृत्तिमें कितना अन्तर है ? वास्तविक बात तो यह है कि प्रत्येक देश और कौममें जहाँ देशभक्त होते हैं वहाँ देशद्रोही भी। जिस अमेरिकाकी भूमिमें देशभक्त वाशिङ्गटनने जन्म लिया था, उसीमें देशद्रोही अरेण्डल ने भी। जिस इङ्गलैण्डकी गोदमें पराया-धन और परायी-धरती लूटकर स्वार्थ-सिद्ध करने वाले साम्राज्यवादी—क्लाइवसे लेकर चर्चिल और एमरी तक पले हैं उसीने ब्रेडला, फोक्स, मिल, बर्क, ह्यूम, एण्ड्रूज आदि नर-रत्नोंको भी जन्म दिया है। हमारे देशमें क्या ऐसे दृष्टान्तोंकी कुछ कमी है ? जिस भारतकी स्वाधीनताके लिए प्रताप, गोविन्द और शिवाजीने आत्मोत्सर्ग किया था क्या उसी देशमें जयचन्द और मानसिंह नहीं जन्मे थे ? सिराजुद्दौलाकी जन्मभूमिमें मीर जाफर भी तो पैदा हुआ था। आधुनिक हिन्दुस्थानने जहाँ अब्दुल गफ्फार खाँ, अबुल कलाम आजाद प्रभृति आजादीके अग्रदूत उपजाये हैं वहाँ उसीने स्वदेश, स्वराष्ट्र और स्वाधीनताके विरोधी मोहम्मदअली जिन्नाको भी तो

जन्माया है।

खैर, गांधीजीको किसीके वैर-विरोधकी परवाह नहीं थी। वे अपनी अन्तरात्माके आदेशपर आचरण करना उचित समझते हैं। उन्होंने "ट्रांसवाल लीडर"के प्रतिनिधिसे स्पष्ट कह दिया कि चाहे कोई साथ दे या न दे, जबतक एक भी सच्चा सत्याग्रही रहेगा वह तबतक जङ्ग जारी रखेगा। सत्याग्रही यह नहीं सोचता कि वह अकेला है अतएव कैसे सफल हो सकेगा, प्रत्युत उसकी यह धारणा होती है कि वह सत्यके लिए लड़ रहा है और सत्यकी अवश्य विजय होगी।

गांधीजी इस युगमें सत्य और अहिंसाके प्रतीक हैं। उनका जीवन कृष्णके गीता-गानकी, बुद्धके परम निर्वाणकी, मुहम्मदकी मस्त तानकी और ईसाके पवित्र बलिदानकी आधुनिक आवृत्ति है उनको अपने संकल्प से कोई भी शक्ति डिगा नहीं सकती चाहे वह मानवी हो या दानवी।

बापूसे वार्त्तालाप

निदान सन् १९१३की २० सितम्बरको मैं जर्मिस्टनसे जगरानीके साथ जोहान्सबर्ग गया और वहाँ गांधीजीसे हमारी मुलाकात हुई। जिसकी वाणी मृतकोंमें भी प्राण डाल देती है, जिसकी लेखनी स्वाधीनताके लिए सर्वस्व-समर्पणका सबक सिखाती है और जिसका व्यक्तित्व लोह चुम्बककी भाँति जनताको अपनी ओर खींच लेता है उस महापुरुषके दर्शनसे हमारी नस-नसमें बिजली दौड़ गई। यह जानकर कि जगरानी सत्याग्रहमें शरीक होकर जेल जाना चाहती है, गांधीजी हँसते हुए बोले, "तुम्हारे शरीरपर तो रेशमकी रंगीन साड़ी शोभा दे रही है। ऐसे कपड़े जेलमें नहीं मिलेंगे।"

जगरानी ग्लानिसे गड़ गई—लज्जासे सिकुड़ गई। स्वदेशमें एक बार मेरी बातपर उन्होंने गहना पहनना छोड़ ही दिया था, पर रेशमी और रंगीन वस्त्रसे उनको परहेज न था और न इसमें मेरा ही कोई एतराज था। अतएव गांधीजीकी व्यङ्गोक्तिसे वे मर्माहत हो उठीं और उसी समय मनमें शपथ ले ली कि भविष्यमें सफेद नैनसुख और मारकीनके

सिवा और कोई वस्त्र नहीं पहनेंगी। इस शपथको उन्होंने जीवनकी अन्तिम घड़ीतक निभाया। मेरी पुस्तकोंके प्रकाशक श्रीद्वारिकाप्रसाद 'सेवक'ने जगरानीको एक बेश-कीमती बनारसी साड़ी भेंट की थी, पर जीवनमें उन्होंने उसको कभी नहीं पहना। मृत्यु हो जानेपर उसी साड़ीको पहनाकर मैंने उनका अन्त्येष्टि संस्कार किया था।

प्रकटमें बापूको उन्होंने जवाब दिया, "जेलमें मोटे वस्त्रकी वर्दी पहननेमें मैं अपना सौभाग्य समझूँगी।"

"वहाँ स्वादिष्ट भोजन भी नहीं मिलेगा," गांधीजीने कुछ गंभीर होकर कहा, "जेलमें तो देशियों (हब्शियों) की खुराक 'पूपू' (मकईकी लपसी) खानी पड़ेगी। यह ध्यान रहे कि जेलमें तरह-तरहकी तकलीफें झेलनी पड़ती हैं। सत्याग्रहीका मार्ग सुगम नहीं, अत्यन्त दुर्गम है। इस पथको स्वीकार करना मानो तलवारकी धारपर चलना है।"

"जेलमें मकईकी लपसी मेरे लिए मोहन-भोगकी भाँति स्वादिष्ट होगी," जगरानीने दृढ़तासे जवाब दिया, "मैं खूब सोच-विचारकर आपकी शरणमें आई हूँ। मुझे मालूम है कि सत्याग्रहके पथमें फूल नहीं, काँटे बिखरे हुए हैं। जेलके सारे क्लेश मैं प्रसन्नतापूर्वक भोगनेको तैयार हूँ।"

"पर सवाल तो यह है कि तुम सत्याग्रहमें शरीक होना और जेल जाना ही क्यों चाहती हो?" गांधीजीने पूछा, "मुझे यकीन है कि तुम सब प्रकारके कष्ट झेल सकोगी परन्तु किसलिए? जहाँ सुखसे समय बीत रहा है वहाँ इस तरह जान-बूझकर दुःखको आवाहन करनेकी क्या जरूरत?"

"जिस देशमें हमारी हजारों बहनोंको तीन पौण्डका टैक्स भरनेके लिए बुरे-से-बुरे कर्म करनेपर मजबूर होना पड़ता है," जगरानीने उत्तरमें निवेदन किया, "और जहाँका कानून हमारे देशकी विवाहिता स्त्रियोंको रखेली ठहराता है और उनके जायज बच्चोंको दोगला, उस देशमें हमारे लिए सुख और शान्ति कहाँ? घरमें बैठकर खाना-पीना और

आराम करना तो हमारे लिए हराम होना चाहिए।"

जगरानीके जवाबसे गांधीजी सन्तुष्ट हो गए। उनका चेहरा खुशीसे खिल उठा। जगरानीको आशीर्वाद देते हुए वे बोले, "मैं तुमको सत्याग्रहमें शामिल होनेकी अनुमति देता हूँ। मनुष्यको अपने हकके लिए लड़ना ही चाहिए और अपने देशवासियोंके संकट-मोचनके लिए कष्ट भोगना ही चाहिए। जो अपने मानवी अधिकारोंका अपहरण होते हुए देखकर भी लड़नेसे हिचकता है वह वास्तवमें कर्म-हीन कायर है और जिसके दिलमें अपने देशवासियोंके दुःखसे दर्द नहीं होता वह इन्सान नहीं, हैवान है। तुमसे इतनी पूछ-ताछ करनेका कारण यह है कि कोई भी स्त्री दूसरोंकी देखा-देखी या जोशमें आकर जेल चली जाय और वहाँ कष्ट होनेपर पछताये, यह मैं बिलकुल नहीं चाहता। चाहे कितनी ही थोड़ी संख्या क्यों न हो, सिर्फ वही स्त्रियाँ सत्याग्रहमें शरीक हों, जिनको देशवासियोंकी दशा और सत्याग्रहके सिद्धान्तोंका पूर्ण ज्ञान है। तुम्हारी बातोंसे मुझे सन्तोष हुआ है। अब तुम जाकर श्रीमती थम्बी नायडू, श्रीमती पी० के० नायडू आदि मद्रासी बहनोंसे मिलो, जो सत्याग्रहके लिए तैयार हो रही हैं।"

फ्रीस्टेटकी सरहदपर सत्याग्रही स्त्रियाँ

गांधीजीकी आज्ञा और आशीष पाकर जगरानी कृतार्थ हो गईं। उनको अपने देशवासियोंकी सेवा करनेका अवसर मिल गया। वे फिर घर नहीं लौटीं। जोहान्सबर्गसे ही मद्रासी महिलाओंके साथ सत्याग्रह करनेके विचारसे ऑरेन्ज फ्रीस्टेटकी सीमाकी तरफ रवाना हो गईं। दक्षिण अफ्रिकाकी संहतिमें एक प्रांतके भारतीयके लिए दूसरे प्रांतमें प्रवेश करना कानूनसे वर्जित है। यदि कोई ऐसा अपराध करता है तो उसे जेल और निर्वासनका दण्ड मिलता है। माता कस्तूरबा आदिको सीमोल्लंघनके अपराधमें ही तीन-तीन मास कड़ी कैदकी सजा हुई थी। अतएव यह देखकर सभीको विस्मय हुआ कि जगरानीका जत्था ट्रांसवालकी सीमा लाँघकर ऑरेंज फ्रीस्टेटमें प्रविष्ट हो गया, पर अधिकारियोंने

उनको गिरफ्तार नहीं किया। इससे सत्याग्रही देवियोंके अरमान पूरे नहीं हुए, उनकी आशाएँ धूलमें मिल गईं और उनका पहला प्रहार बेकार गया। फिर भी वे मोर्चेपर डटी रहीं और विरिनिगिङ्ग (Vereeniging) नामक सरहदी शहरमें बिना लायसेन्सके फेरी करने लगीं। ऐसा करना सरासर कानून भंग करना था क्योंकि दक्षिण अफ्रिकामें लायसेन्स मिले बिना न कोई दूकान खोल सकता है और न फुटकर चीजोंकी फेरी कर सकता है। पर सरकार इनको गिरफ्तार ही नहीं करना चाहती थी, इसलिए न तो औरेञ्ज फ्रीस्टेटमें प्रवेश करनेपर इनकी गिरफ्तारी हुई और न विरिनिगिङ्गमें बिना लायसेन्सके फेरी करनेपर। सरकारकी इस नीतिसे देवियोंमें बड़ी निराशा फैली।

जर्मिस्टनकी जेलमें जगह नहीं ?

उधर जगरानी अपनी क्रियाशीलताका परिचय दे रही थीं; इधर मैं नौकरी छोड़कर निठल्ला बना बैठा था। यह बात मुझे खटक रही थी। इसलिए मैंने फिलहाल जर्मिस्टनमें ही कुछ करनेकी ठान ली। छः स्त्रियों और दस पुरुषों—सोलह व्यक्तियोंका एक जत्था बनाया, फटे-पुराने चिथड़े पहनकर गरीब मजदूरकी सूरत बना ली और फल-फूलकी टोकरियाँ लेकर निकल पड़े बिना लायसेन्सके फेरी लगाने और इस रूपमें कानून भंग कर जेल जानेके लिए। जिस मार्गसे हम गुजरते, प्रकृत फेरीवालोंसे बढ़कर आवाज लगाते। ग्राहकों और दर्शकोंकी भीड़ तो जुट जाती, पर पुलिस चुनौती देनेपर भी पास नहीं आती। लाचार होकर हम जर्मिस्टनके रेलवे स्टेशनपर पहुँचे, वहाँ हमने वह चिल्लाहट मचाई कि रेलवे-कर्मचारियोंके होश उड़ गए। स्टेशन-मास्टर कुछ पुलिस लेकर आये हमको समझाने और वहाँसे हटानेके लिए। हमको इकट्ठा करके लगे लैक्चर झाड़ने, कानूनका मर्म समझाने, पुलिसके हवाले लगाने और जेल भिजवानेकी धमकी दिखाने। पर कानूनकी परवाह थी ही किसे ? वहाँ तो कानून भंग कर जेल जानेकी उमंग थी। जब उनको मालूम हुआ कि सत्याग्रहियोंकी ओरसे यह सरकारको चुनौती है तब

उनका रुख बदल गया और वे बड़ी नम्रतासे इस बलाको टालनेकी कोशिश करने लगे।

हमने यह सोचा कि रेलवे-विभागसे हमारा यह संघर्ष सत्याग्रहकी नीतिके अनुकूल है या नहीं, इस विषयपर गान्धीजीकी राय ले लेनी चाहिए, क्योंकि रेलवे स्टेशनपर इस प्रकारका सत्याग्रह पहले कभी नहीं हुआ था। महात्माजी उन दिनों जोहान्सबर्गमें ही थे। टेलीफोनसे उनको सारी बातें बतलाकर पूछा गया कि हमें अब क्या करना चाहिए? उत्तर मिला कि हमारी प्रवृत्ति प्रशंसनीय है; हमें वहाँसे हटना नहीं चाहिए और पकड़नेके लिए पुलिसको मजबूर करना चाहिए। इससे हमारा हौसला और भी बढ़ गया। हमने सत्याग्रह जारी रखा। स्टेशन-मास्टर-को पुलिस बुलाने और हमें गिरफ्तार करानेपर बाध्य होना ही पड़ा।

हम लोग गिरफ्तार होकर थानेपर गये। थानेदार गर्जकर बोला, "तुम्हें जेल चाहिए न? अब चखो जेलका मजा।" इस स्वागतके बाद नाम-धाम लिखकर हमें हवालातके एक बड़े सेलमें बंद कर दिया गया। वहाँ नितान्त निस्तब्धता छाई हुई थी। मनुष्य तो बहुत थे, पर ऐसे गुप-चुप कि मानो समाधि लगाये बैठे हों। वास्तवमें उस बड़े घरके मेहमान अपने भाग्यका ताना-बाना बुननेमें व्यस्त थे और भविष्यकी आशंकासे अधमरे-से हो रहे थे; पर हमारे प्रवेश करनेपर वह नीरव बंदी-घर मनुष्योंकी कण्ठ-ध्वनिसे गुलजार हो उठा।

हमारी यह सफलता टिकाऊ नहीं हो सकी। छः घंटे हास्य-विनोद-में कट गए; इसके बाद सारा मजा किरकिरा हो गया। शामको पाँच बजे पहरेदारोंने हमें हवालातसे बाहर निकालकर फाटक बन्द कर लिया। उस समय वहाँ एक अच्छा तमाशा हो गया। एक ओर तो सत्याग्रही जेलसे बाहर निकलना नहीं चाहते थे और दूसरी ओर सिपाही उनको ठेल-ठालकर फाटकके बाहर कर रहे थे। इस हाथा-पाईमें करीब आध-घन्टा लग गया। जिस थानेदारने क्रोधित होकर हमें जेलका मजा चखानेकी धमकी दी थी, उसीने हँसते हुए कहा, "तुम्हारे लिए इस

जेलमें जगह नहीं है।" आखिर हताश होकर हम घर लौटे।

उधर जगरानी और उनकी पार्टी विरिनिगिङ्गमें फेरी करके पकड़े जाने और जेल जानेकी चेष्टामें बिलकुल विफल हुई। इसलिए वे नेटालकी सीमापर सत्याग्रह करनेके विचारसे जोहान्सबर्ग लौटीं। यद्यपि अधिकांश मद्रासी देवियोंका घर-बार जोहान्सबर्गमें ही था पर वे स्टेशनसे घर जाने और परिवारसे मिलने-मिलानेको राजी न हुईं। उनके सगे-सनेही स्टेशनपर ही उनसे मिले, वहीं उनको बधाई और विदाई दी। इस दलके साथ प्रसिद्ध सत्याग्रही श्री थम्बी नायडू भी नेटालकी सरहदकी ओर रवाना हुए। यह जत्था जब जर्मिस्टन पहुँचा तो मैं भी अपने छः सह-कर्मियोंके साथ उसमें जा मिला। इस प्रकार ग्यारह स्त्रियों और आठ पुरुषोंका यह एक जबर्दस्त जत्था बन गया।

लड़ाईके मोर्चेपर

सन् १९१३ की १० अक्टूबरको जोहान्सबर्ग और जर्मिस्टनसे हमारा जत्था प्रस्थित हुआ था और उसी दिन शामको ट्रांसवाल और नेटालकी सरहदपर वाल्क्सरस्ट (Volksrust) पहुँच गया। यही सत्याग्रहियोंके लिए लड़ाईका मोर्चा था—सरकारी आज्ञाके बिना सीमा लाँघनेके अपराधमें यहीं कारावासका दण्ड दिया जाता था। स्टेशनके प्लेटफॉर्मपर गाड़ी लगते ही पुलिस भी पहुँच गई। पुलिस-अफसरने सदाकी भाँति हमसे 'पास' (Pass)का तगादा किया। उसको जवाब मिला कि 'पास' तो किसीके पास नहीं है—हमसे 'पास'की आशा करना मानो आकाश-कुसुममें विश्वास करना है।

"ओहो! यह बात है। मैं समझ गया। अच्छा, उतरो गाड़ीसे फौरन और चलो थानेपर।" पुलिस-अफसरने हुक्म फरमाया। झटपट सब गाड़ीसे उतर पड़े और चले मटरगश्ती करते हुए पुलिसके साथ थानेपर। वहाँ पहुँचनेपर हमारे नाम-धाम लिखे गए और सोनेके वास्ते कमरे दिये गए। पहर-भर रात जा चुकी थी, इसलिए थानेदारका विचार था कि हम लोग खानेका खयाल छोड़ दें और पेटपर पट्टी बाँध-

कर सो रहें। वहाँके भारतीय व्यापारी हमारे खान-पान और आरामका इन्तजाम करनेके लिए तैयार थे पर चूंकि हम सरकारके मेहमान बन चुके थे इसलिए उनका आमंत्रण आभारपूर्वक अस्वीकार करना पड़ा। थानेदारने बड़ी धींगा-धींगीके बाद कहींसे सूखी रोटियाँ मँगा दीं। वे रोटियाँ ऐसी थीं कि जो बड़ी मशक्कतसे ठूंस-ठांसकर किसी तरह गलेके नीचे उतारी जा सकीं।

रात-भर हवालातका मजा चखना पड़ा। वह रात इस जीवनमें कभी भूलेगी नहीं। वहाँ बड़ी कड़ी सर्दी पड़ती है और बर्फ भी गिरती है। उस रात जब जाड़ेका जोर हुआ तो शरीर सुन्न हो गया। हाथ-पैर ठिठुर गए, रक्तकी गति मंद पड़ गई, दाँत लगे खटखट बजने और घुटने लगे मुँह चूमने। नींद तो रूठकर ऐसी रफू-चक्कर हुई कि बराबर बुलाने और मनानेपर भी पास नहीं फटकी। निशीथिनी नीरव और निस्तब्ध थी; जड़-जङ्गम निश्चल और शांत था; धरतीपर धवल चाँदनी छिटक रही थी; पर हमारे चित्तमें चैन कहाँ ? सर्दीसे शरीर काँप रहा था और स्त्री-बच्चोंकी दुर्गति देखकर हृदय भी। वह रात हमारे लिए 'नार्वेकी रात' बन गई। भगवानकी रट लगाते किसी तरह बिहान हुआ। सवेरे जहाँ थानेदारको चाय-पानका इन्तजाम करना चाहिए था वहाँ उसने यह फरमान सुनाया कि सरकार हमें मेहमान बनाना नहीं चाहती है। इस-लिए हम आजाद हैं और जहाँ चाहें, जा सकते हैं।

इस बातसे हमारे विस्मय और विषादकी सीमा नहीं रही। सरकारके रंग-ढंगसे जेल जानेकी हमारी उमंग अचानक भंग हो गई। उसी दिन तीन सत्याग्रहियोंको जिस अपराधमें दण्ड मिला, उसी अपराधमें हमपर मामला चलाना और दण्ड दिलाना सरकारको उचित नहीं जँचा। असलमें औरतोंको जेल भेजकर सरकार सत्याग्रह-की आगमें घी छोड़ना नहीं चाहती थी, इसी वजहसे हमारे दलके साथ विशेष व्यवहार हो रहा था। सत्याग्रही वीरांगनाओंके बार-बार कानून भंग करनेपर भी उनकी उपेक्षा की जा रही थी। उस समय तो हमें

सरकारकी इस नीतिसे बड़ी निराशा हो रही थी पर इसमें भगवानका क्या भेद है यह समझ लेना हमारी जड़-बुद्धिसे बाहरकी बात थी।

वहाँसे हतोत्साह होकर शामकी गाड़ीसे हम चार्लिस्टनके लिए प्रस्थित हुए। हमने सोचा कि वाल्कसरस्ट ट्रांसवालके अन्तर्गत है और चूंकि हम लोग भी ट्रांसवालके प्रवासी हैं, इसलिए शायद सरकार यह चाल चल रही हो कि वहाँ न पकड़नेसे पिण्ड भी छूट जायगा और कानूनकी मर्यादा भी बच जायगी। अतएव नेटालकी सीमामें प्रवेश करनेपर सरकारी नीतिका खुलासा हो जायगा। दैवयोगसे उसी गाड़ीसे गांधीजी और श्री केलनबेक डरबन जा रहे थे। उनके भावी कार्य-क्रमपर विचार-विमर्श करने का अच्छा अवसर मिल गया। जिस तीसरे दर्जेके डब्बेमें महात्माजी और श्री केलनबेक बैठे हुए थे उसीमें मुझे साथ लेकर श्री थम्बी नायडू भी जा बैठे। समय बहुत थोड़ा था, अगला स्टेशन ही चार्लिस्टन था, इसी दरम्यानमें यह निश्चय हो गया कि यदि चार्लिस्टन में गिरफ्तारी नहीं हुई तो हमें न्यूकासल पहुँचकर मजदूरोंको हड़तालके लिए उभारना चाहिए। भारतीय मजदूरोंमें न संगठन है, न उनका कोई संघ है, न उनमें चैतन्यता है और न अपने हकोंके लिए लड़नेकी तमन्ना ही। वे हड़ताल तो क्या करेंगे उल्टे उनको भड़कानेके अपराधमें हमें कैदकी सजा अवश्य मिल जायगी। चलती गाड़ीमें दस मिनटके अन्दर जो कार्य-क्रम बना वह एक ऐसी क्रान्तिकी बुनियाद बन गई जिससे यूनियन-सरकारका अभिमान चूर-चूर हो गया। सत्याग्रहने नया रूप धारण किया. इतिहासका एक नया अध्याय आरंभ हुआ।

चर्लिस्टनमें गाड़ीसे उतरकर हमने पुलिसको चुनौती दी, पर सरकारकी नीतिके विरुद्ध वह कैसे गिरफ्तार करनेकी हिमाकत कर सकती थी। विवश होकर हमें रात वहीं बितानी पड़ी। दूसरे दिन हम न्यूकासल पहुँचे। वहाँ एक ईसाई गृहस्थके घरपर उतरे, जिसका नाम था श्री डी. लाजरस। वे और उनकी साली कुमारी थोमसने जिस उत्साह और प्रेमसे सत्याग्रहियोंकी सेवा और सहायता की वह इतिहास-

की एक घटना बन गई। उसी दिन साँझको 'सेन्ट ओस्वाल्ड स्कूल'-(St. Oswald's School) भवनमें एक सार्वजनिक सभा श्री-इस्माइल सिदातके सभापतित्वमें हुई जिसमें श्री थम्बी नायडू और मेरे व्याख्यान हुए। हमने अपने उद्देश्य और कार्य-क्रमका वहाँके भारतीयोंको परिचय दे दिया।

सत्याग्रह हड़तालके रूपमें

इसके बाद हम अपने काममें लग गए और भारतीय मजदूरोंको हड़तालके लिए उकसाने लगे। प्रभुकी प्रेरणासे वह हड़ताल आरंभ हुई जो बात-की-बातमें बनकी आगकी भाँति सारे नेटाल-प्रदेशमें फैल गई। सत्याग्रहकी शंख-ध्वनिसे श्रमजीवी भारतीयोंकी सोई हुई शक्ति जाग पड़ी। वे अपनी आनपर अड़ने और शानपर मरनेके लिए तैयार हो गए। उनमें जीवन और जागरणकी ज्योति जगमगा उठी। जो केवल मेहनत करनेकी मशीन माने जाते थे, जिनपर मनमाने अत्याचार करना गोरे प्रभुओंका परम्परागत अधिकार बन गया था, वही कुली-कबाड़ी जब अपने मानवी स्वत्वोंकी प्राप्तिके लिए खम ठोककर मैदानमें उतरे तो दानवी-शक्ति दहशतसे दहल गई।

सबसे पहले हमने रेलवे-बारिकपर धावा बोला। सूचना पाते ही सारे मजदूर बारिकके आँगनमें एकत्र हो गए। उनको समझाया गया कि जबतक तीन पौण्डका टैक्स रद्द न हो जाय तबतक उनको हड़ताल-पर डटे रहना चाहिए। श्री थम्बी नायडू तामिलमें बोल चुके थे और मैं हिन्दीमें बोल ही रहा था कि अचानक स्टेशन-मास्टर वहाँ आ पहुँचे—उनके साथ पुलिसकी पार्टी थी। वे मेरे समीप आकर बोले, "आप तो देखनेमें यूरोपियन जान पड़ते हैं।" मैंने उत्तरमें निवेदन किया, "यह आपकी भूल है। मैं एक विशुद्ध हिन्दुस्थानी हूँ।"

"इस दलका नेता कौन है?" स्टेशन मास्टरने रुख बदलकर पूछा। "मैं हूँ—मैं हूँ," सभी एक स्वरसे चिल्ला उठे। पर स्टेशन मास्टरने श्रीथम्बी नायडू और मुझे पुलिसके हवाले किया। रामनारायण

भी आहिस्तासे हमारे साथ आ मिले। पुलिसने हम तीनोंको गिरफ्तार कर जेलखानेपर पहुँचाया। शेष सत्याग्रहियोंने गिरफ्तारीके लिए बड़ी गुहार मचाई, यहाँ तक कि सारा जत्था पुलिसको चुनौती देते हुए बन्दी-घरके फाटक तक गया, वहाँ हमें झटपट अंदर दाखिल करके फाटक बंद कर लिया गया। अन्य सबको हताश होकर लौटना पड़ा।

बंदी-घरमें पहली रात

वन्दी-घरमें प्रवेश करते ही पहले हमारी नंगा-झोली (खाना-तलाशी) हुई, फिर हमें एक भयंकर कोठरीमें बंद कर दिया गया। वहाँ सोनेके लिए लकड़ीके तख्त मिले और ओढ़ने-बिछानेके लिए दो-दो कम्बल। एक कोनेमें मल-मूत्रके विसर्जनके लिए बाल्टी भी रखी हुई थी। किवाड़ बन्द होते ही वहाँ ऐसी अँधियारी छाई कि वह कलूटी कोठरी और भी काली हो उठी। काली दीवारें, काला फर्श, काली छत, काले कम्बल, काली बाल्टी और श्वेतांगोंकी दृष्टिसे हम लोग भी काले। कालेकी करामात देखकर सोचा कि इसका कारागार नाम कितना सार्थक है।

श्री थम्बी नायडू तो पाँव पसारकर ऐसे सोये कि उनकी नाक नगाड़े बजाने लगी। वे हमारे दल के वयोवृद्ध नेता थे और सत्याग्रह-संग्रामके सुभट सेनापति। वे कई वार जेल जाकर काफी अनुभव प्राप्त कर चुके थे। रामनारायणने भी सोनेमें उनका साथ दिया और नाकसे नगाड़ा बजानेमें भी, पर मुझे नींद कहाँ? सत्याग्रहके सिलसिलेमें हवा-लातकी हवा तो मैं खा चुका था, पर जेलखानेमें मेरे लिए यह पहली रात थी। अतएव अन्तःकरणमें विचारोंके बवंडर उठ रहे थे।

अचानक खटमलोंकी पलटनका ऐसा प्रचंड हमला हुआ कि उसके सामने हिटलरका हमला झख मारता। सारे शरीरपर उनका दखल जम गया। ताजा रक्त चूसकर वे अपनी तृप्ति करने लगे। मेरे बदनमें कहीं भी ऐसी जगह खाली नहीं रही जहाँ उनके दुर्दम्य आघातसे ददौड़े न पड़ गए हों। उनका मुकाबला करना मुश्किल या। जब मैं प्रतिकारके विचारसे अपने हाथ-रूपी हथियारको चलाता तो दस-बीसका संहार अवश्य

हो जाता, परन्तु मरकर भी वे विषैली गैसकी ऐसी पिचकारी छोड़ते कि उसकी दुर्गन्धसे नाक फटने लगती और सिरमें चक्कर आ जाता। मैं इस फौजकी मारसे बेज़ार हो उठा और हार मानकर बैठ गया।

सोचने लगा कि क्या इसी कारागारको देशभक्तोंका स्वर्ग कहा जाता है? यदि यहीं स्वर्ग है तो नरक कहाँ और कैसा होगा? क्या इसी जेलमें आकर अमेरिकन सत्याग्रही थैरियो हर्षसे हँसता था और अपनेको पूर्ण स्वतंत्र समझता था? क्या इसीको आयर्लैंडके मायकल डेविस क्रान्तिकारियोंका विश्वविद्यालय कहा करता था? क्या ऐसे ही मनहूस बन्दीघरमें बैठकर तिलकने 'गीता-रहस्य', रेलेने 'संसारका इतिहास' और जोन बनियनने 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस'की रचना की थी? क्या यही गांधीका तपोवन, अरविन्दका योगाश्रम और लेनिनका विश्राम-भवन है।' शायद महापुरुषोंके पदार्पणसे यह नरक भी स्वर्ग बन जाता हो, किन्तु मेरे जैसे मामूली मनुष्यके लिए तो यह बात नहीं है। मेरा तो दम घुट रहा है। यदि मौका मिल जाता तो मैं वहाँसे कूदकर स्वतंत्र वायु-मंडलमें ही साँस लेता। मैं इतना अधीर और उद्विग्न हो उठा कि हठात् मेरे मुँहसे यह उद्गार निकल पड़ा—

जिसने आज़ाद रहकर दिन अपने हों गुज़ारे।
उनको भला खबर क्या, यह कैद क्या बला है॥

पर यह मनोवृत्ति टिकाऊ नहीं हुई, उच्च विचारोंसे उसकी गति बदल गई। मुझे अपनी मानसिक निर्बलतापर बड़ी ग्लानि हो आई। मैं अपनेआपको धिक्कारने और फटकारने लगा। मन-ही-मन बड़बड़ाने लगा, मैं कितना कायर हूँ? एक ही रातके संकटसे साहस खो बैठा—धैर्यसे हाथ धो बैठा? मैंने जान-बूझकर इस पथमें पैर रखा था। मैं जानता था कि इस बाटके बटोहीको भाँति-भाँतिकी यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं, अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचनेमें कई बार अग्नि-परीक्षा देनी पड़ती है। फिर यह निर्बलता कैसे मुझमें आगई? मैं कहाँ-से-कहाँ आ पहुँचा? सत्याग्रहका मेरा शुभ-संकल्प मनोविकारके सामने कैसे पछाड़ खागया? भगवन्!

मेरी रक्षा करो, मुझे साहस दो, शक्ति दो, सहारा दो, ताकि मैं दुःखमें, दुर्दिनमें और दुरवस्थामें अपने देशवासियोंकी सेवासे न डिगूँ और जीवनके अन्तिम क्षणतक अपने संकल्प और व्रतपर अटल बना रहूँ।

इस अन्तर्भावनाकी प्रेरणासे मेरे मनको बड़ी शान्ति और सान्त्वना मिली और मैं खटमलोंकी शर-शय्यापर खुरदरा कम्बल ओढ़कर ऐसा सोया कि सवेरे पहरेदारोंके जगानेपर ही जाग सका। नाश्ता-पानीके बाद हमें जेलरके सामने हाजिर होना पड़ा। हमसे चोर-उचक्कोंकी भाँति दस उँगलियोंकी छाप माँगी गई। इन्कार करनेपर गर्दन पकड़कर धक्के लगाये गए और बलात् उँगलियोंकी निशानी ले ली गई।

इसके बाद श्री थम्बी नायडू और रामनारायणके हाथोंमें हथकड़ी पड़ गई, पर मैं इस सम्मानसे वंचित रहा, क्योंकि मेरी पतली कलाईके लायक हथकड़ी ही नहीं मिली। करीब दस बजे हमें हाकिमके इजलास-में खड़ा किया गया। अदालतके अहातेमें भारतीय दर्शकोंकी काफी भीड़ थी। हमपर वर्जित स्थानमें प्रवेश करने और मजदूरोंको भड़कानेका दोषारोपण किया गया, जिसे हमने सहर्ष स्वीकार कर लिया। अतएव पुलिसको गवाह और सबूत पेश करनेकी जरूरत ही नहीं रही। मजि-स्ट्रेट महोदयने फैसला सुनाया—"तीनों अभियुक्तोंको दो-दो पौण्ड जुर्माना।" इधरसे जवाब दिया गया—

"हमें जुर्माना नहीं है चुकाना।
हमारी तमन्ना तो है जेल जाना।"

हाकिमने कुछ गुस्सेसे फर्माया,

"खबरदार, मुझसे न बातें बनाना;
तुम्हारे लिए जेलमें नहीं है ठिकाना;
मैं जानता हूँ कैसे वसूल करना जुर्माना।"

हमें झख मारकर अदालतसे बाहर जाना पड़ा। यदि उस दिन हमें सजा हो गई होती तो शायद हड़तालकी आग बुझ जाती, पर ईश्वरकी इच्छा तो कुछ और ही थी—उसके विधानमें विघ्न डालना किसीके

यशकी बात नहीं है।

हड़तालकी हुंकार

उसी दिन (१९ अक्टूबर) शामको हम कोयलेकी खानोंपर पहुँचे। उन दिनों न्यूकासलके आसपास कोयलेकी कई खानें थीं, जिनमें बहुत-से भारतीय मजदूर काम करते थे। भारतीय मजदूरोंके रहनेके लिए जो बारक बने हुए थे, उनकी दशा देखकर कलेजा काँप उठा। वहाँ रहनेवाले मर्द, औरत और बच्चे क्या थे मानो दीनता, दरिद्रता एवं दासताकी सजीव मूर्तियाँ थीं। छोटे-छोटे गन्दे घर थे। प्रत्येक घरके एक कोनेमें टूटी-फूटी खटिया पड़ी है, दूसरे कोनेमें चूल्हेपर हँडिया चढ़ी है, तीसरी तरफ काठ या टीनकी पेटी धरी है जिसमें उनकी सारी सम्पत्ति भरी है और चौथे कोनेमें दो-चार मुर्गियाँ बैठी चूँ-चूँ कर रही हैं। इस तरह सारा घर इन्सान, हैवान और सामानसे खचाखच भरा हुआ था, जिसमें न रोशनी पहुँचनेकी गुंजाइश थी और न हवा पहुँचनेकी। उनके मैले-कुचैले काले बदन, कोयलेकी गर्दसे और भी काले-कलूटे बन जाते। स्त्रियोंके शरीरपर फटे-पुराने चिथड़े और बच्चोंके मुरझाये हुए मुखड़े। गरीबी और गुलामीके गहरे गर्त्तमें गिरे हुए इन प्राणियोंको देखकर मैं सोचने लगा कि क्या यह हिन्दुस्थानकी दासताका परिणाम और उसका घोर अपमान नहीं है? क्या यह गिरमिटकी प्रथा गुलामीका रूपान्तर मात्र नहीं है? क्या बृटिश साम्राज्यके सूत्रधार इस बीसवीं सदीमें भी खुल्लम-खुल्ला गुलामोंका व्यापार नहीं कर रहे हैं? क्या यह कुली-बारक नेटालका नरक नहीं है? और क्या यह हमारे देशकी पराधीनता और हमारी मनुष्यताके लिए चुनौती नहीं है?

हमारे मनमें यह संकल्प और भी दृढ़ हो उठा कि या तो हम इस इस अवस्थाको मिटा देंगे अथवा इसके मिटानेके प्रयत्नमें स्वयं मिट जायंगे। हमारी बातें सुनकर कोयलेकी खानोंके सैंकड़ों मजदूरोंने हड़ताल बोल दी। दिन-भर तो हम हड़ताल करानेके काममें लगे ही रहे, पर रातको भी आराम करना उचित नहीं जँचा। न्यूकासलसे कुछ दूरीपर

बैलंगिचमें कोयलेकी एक बहुत बड़ी खान थी, जिसमें एक हजारसे अधिक भारतीय मजदूरी करते थे। हमने उसी रात वहाँ जानेकी ठान ली। श्री थम्बी नायडू और श्री केलनबेकके साथ मैं आधी रातकी गाड़ीसे बैलंगिच पहुँचा। स्टेशनसे हम खानकी तरफ रवाना हुए। बीचमें एक छोटी-सी नदी मिली। नदीके उस पार खानके मैनेजर अपने कुछ लट्ठबाज हब्शियों और गोरे कर्मचारियोंके साथ मौजूद थे। उनके एक हाथमें हण्टर था और दूसरेमें थी दुनाली बन्दूक। न्यूकासलसे टेलीफोन द्वारा उनको हमारी हरकतकी खबर मिल गई थी, इसलिए वे दल-बल सहित नदी-के किनारे हमारे आगमनकी इन्तजारमें खड़े थे। हमें देखतेही वे बुलडॉग-की भाँति गुर्रा उठे, "खबरदार! यदि नदी लाँघकर इस पार हमारी जमीनमें आये तो फिर तुम्हारी जानका कल्याण नहीं, इस हण्टरसे खाल खींच लूँगा।" हमने भी सोचा कि अर्द्धरात्रिके समय वर्जित स्थानमें खतरा खरीदने जाना ठीक नहीं होगा, इसलिए हमारी तरफसे श्री केलनबेकने जवाब दिया, "भाई साहब, हमें अपने प्राणोंकी तो कोई परवाह नहीं, लेकिन इस समय उस पार आनेकी चाह भी नहीं है। इस वक्त हम वापस जाते हैं, पर सवेरे अवश्य आयेंगे और खुशीसे आपकी चुनौती स्वीकार करेंगे।"

हड़तालियोंपर हैवानी हमला

न्यूकासल लौटकर हम तो सो गए पर सवेरे उठनेपर जो नजारा दिखाई दिया वह स्वप्नवत् प्रतीत हुआ। हमारे शयनके स्वल्प समयमें एक ऐसी घटना घट चुकी थी, जो सत्याग्रहके इतिहासमें अद्भुत और अद्वितीय है। हमारे डेरेके आसपास बैलंगिचके मजदूरोंकी भीड़ लगी हुई थी, जिनमें आहत मर्द, अपमानित औरतें और भयभीत बच्चे भी थे। उनकी कहानी उन्हींकी जुबानी सुनिये—

"पिछली रातके तीसरे पहरमें जब हमें यह खबर मिली कि हमारे कुछ नेता हमसे मिलनेके लिए आ रहे थे लेकिन मैनेजरकी शैतानीसे उनको लाचार लौट जाना पड़ा तो बारक भरमें हलचल मच गई। हम

सब एकमत होकर न्यूकासलकी तरफ रवाना हुए। उस समय—

'जो जैसहि तैसहि उठ धाये'

न किसीने कपड़े बदले, न किसीने बिस्तर बाँधे और न किसीने साथमें कोई चीज ली। हम अपना सर्वस्व त्यागकर तीर्थ-यात्रापर निकल पड़े। औरत और बच्चे भी वहाँ रहनेको राजी न हुए। हमारी ढिठाई देखकर खानका मैनेजर दङ्ग रह गया, वह जोशमें आकर अपना होश गँवा बैठा। उसने हमपर हमला करनेके लिए अपने हब्शी-कुत्तोंको ललकारा और वह स्वयं भी हण्टर तथा बन्दूकसे लैस होकर हमारे गिरोहपर टूट पड़ा। वे नर-पिशाच लगे लाठियाँ चलाने और हम निहत्थोंपर क्रूर प्रहार करने। किसीका मूँह फूटा, किसीका गोड़ टूटा। किसीकी बाँह-पर लाठियाँ लगीं और किसीकी पीठपर। अंग-भंग होने वाले व्यक्ति आपके सामने हैं। मर्दोंपर तो मार पड़ी ही, पर उन जंगली जानवरोंके प्रहारसे औरतें भी न बचीं। वे शैतान स्त्रियोंकी चोटियाँ पकड़कर घसी-टने, उनके लुग्गे फाड़-चीथकर आधी-आधी नंगी बनाने, बुरी-से-बुरी बातें बकने और तरह-तरहके त्रास दिखानेसे बाज नहीं आये। मैनेजर भी मर्कटकी भाँति उछल-कूद मचाता, दायें-बायें हण्टर घुमाता और बीच-बीचमें बन्दूकोंसे गोलियाँ चलाता जाता था। हमारे एक भाईकी छातीमें ऐसी गोली लगी कि वह छटपटाकर तुरन्त मर गया। घायलों-को हम किसी तरह घसीटकर अपने साथ लाये हैं उनकी मरहम-पट्टी होना जरूरी है। इतना अत्याचार करनेपर भी मैनेजरकी मनोकामना पूरी नहीं हुई, वह सब तरहसे कोशिश करके हार गया, परंतु हमें बारक-पर वापस नहीं ले जासका। हमने साहस नहीं छोड़ा। गोरे और हब्शियों-की शैतानीके सामने हम नहीं झुके। 'गांधी बाबाकी जय' बोलकर जो निकल पड़े तो आपके पास पहुँचकर ही ठहरे।"

अद्भुत संग्राम

हरे! हरे! कैसी थी यह करुण-कहानी? कैसा था वह दुःखमय दृश्य? आज भी उसकी याद आनेपर हृदयमें हूक-सी उठती है और

मुँहसे चीख निकल पड़ती है। कैसा भीषण अत्याचार ? भारतकी बेटियोंके साथ ऐसा अपमान-जनक व्यवहार ? हब्शी उनपर हमले करें, उनकी हतक करें ? भारतकी पराधीनताका इससे बढ़कर दुष्परिणाम और क्या होगा ? इन मजदूरोंमें यह दैवी शक्ति कहाँसे आ गई। वे बेचारे सीधे-सादे और सहन-शील थे। न उनमें राजनीतिका ज्ञान था और न देशका अभिमान ही। वे थे अपढ़ और अज्ञानी, दीन और दरिद्र। अतएव उनमें आत्मोत्सर्गकी यह विलक्षण भावना हमारे लिए तो विश्वका आठवाँ आश्चर्य ही था। उनमें केवल यही विशेषता थी कि वे 'गान्धी-बाबा और उनके आदमियों'के हुक्मपर मरने-कटनेको तैयार थे।

संसारके इतिहासमें यह अद्वितीय संग्राम था। एक ओर तो यूनियन-सरकार और पूँजीपति श्वेतांग; दूसरी ओर दलित, दीन एवं दास हिन्दुस्थानी। एकको अपनी सम्पत्ति, शक्ति और सत्ताका मद, दूसरेको अपने आत्म-बल और अपने अगुआका भरोसा। एकके हाथमें हथियारका जोर एवं दण्डकी बागडोर थी, दूसरेके पास था सत्संकल्प, सत्साहस और सत्याग्रहका सहारा। इन्हीं बे-मेल शक्तियोंमें संघर्ष था।

उन मजदूर स्त्रियोंकी त्याग-तपस्या ही सत्याग्रहकी सफलताकी गारंटी थी। उनमें न बनावट थी, न सजावट। बिखरे बाल, बौरही बोली। कईकी गोदमें छोटे-छोटे बच्चे। तनपर दो-चार चाँदीके गहने और पुराने-धुराने कपड़े।

गोखलेका आत्म-बलिदान

नेटालमें भारतीय मजदूरोंपर लाठियोंकी मार पड़ रही है और गोलियोंकी बौछार भी हो रही है, यह समाचार जब माननीय गोखलेको मिला तो उनका हृदय हाहाकार कर उठा और उनके मुखसे सहसा यह उद्गार निकल पड़ा, "नेटालकी कोयलेकी खानोंमें हड़ताल करने वाले भारतीयोंके साथ यह क्रूर और नृशंस बर्त्ताव हो रहा है, इसलिए अब जो कोयला वहाँसे भारत आयगा वह हमारे देशवासियोंके रक्तसे रँगा

हुआ होगा।"

उधर नेटालमें हड़ताल हुई, इधर भारतमें माननीय गोखलेका भोजन, शयन और विश्राम हराम हो गया। अस्वस्थ और निर्बल होते हुए भी वे निकल पड़े--नगर-नगर अलख जगाने, देशवासियोंको नेटालकी रोमांचकारी कथा सुनाने और धन-संग्रह करके हड़तालियोंको सहायता पहुँचानेके लिए। सत्याग्रहकी सफलताके लिए उन्होंने कोई बात उठा नहीं रखी और कठोर परिश्रम करनेका परिणाम यह हुआ कि उनको अपने जीवनसे भी हाथ धोना पड़ा। दक्षिण-अफ्रिकाके सत्याग्रहके इतिहासमें मान्यवर गोखलेका त्याग और बलिदान अमर रहेगा।

हड़तालका हुताशन

न्यूकासलमें हमारी जिम्मेदारी और कठिनाई बहुत बढ़ गई। हजारों हड़तालियोंके लिए खान-पानका इन्तजाम करना कोई आसान काम नहीं था। धधकती हुई कोयलेकी आगपर बड़े-बड़े हण्डे चढ़ाये जाते, उनमें चावल रींधा जाता अथवा मकईकी लपसी पकाई जाती, पर चूल्हेसे उतरते ही वह सफाचट हो जाती। जब बच्चोंको समयपर भोजन नहीं मिलता और वे भूखसे छटपटाने तथा चिल्लाने लगते तो हम बोरे लेकर स्थानीय दुकानदारोंके पास जाते, उनसे डबल-रोटियाँ माँग लाते और बच्चोंको खिला-पिलाकर किसी तरह चुप कराते। पर स्थिति हमारे काबूकी नहीं रह गई, क्योंकि उस समय हड़तालकी आग बहुत दूर तक फैल चुकी थी और दिन-पर-दिन हड़तालियोंकी संख्या बढ़ती जाती थी।

गांधीजीने हमारी मददके लिए श्री पोलकको रुपये और रसदके साथ भेजा। वे १८ अक्तूबरको सबेरेकी गाड़ीसे न्यूकासल पहुँचे। शनिवारका दिन था और भोरकी बेला। पोलक साहब बड़े प्रेमसे मिले और हड़तालकी सफलतापर मुझे बधाई दी। उन्होंने वस्तु-स्थितिका विश्लेषण करते हुए यह राय प्रकट की कि मुझे फौरन वहाँसे हट जाना चाहिए और अन्यत्र हड़ताल करानेका उद्योग करना चाहिए। मेरी गिरफ्तारीमें अब देर नहीं लगेगी और वे यह नहीं चाहते कि काम पूरा हुए बिना

मैं जेलका मेहमान बन जाऊँ ।

मैंने पोलक साहबकी सम्मति मानकर उसी दिन शामकी गाड़ीसे वहाँसे प्रस्थान कर देनेका निश्चय कर लिया और अपने सहकर्मियों तथा हड़तालियोंको एकत्र करके यह सन्देश भी दे दिया--"जिस दिन कोयले-की खानोंकी चिमनियाँ धुआँ उगलना बन्द कर देंगी, डरबनके बन्दर-गाहपर जहाजोंको कोयला मिलना दुष्कर हो जायगा, गन्नेके खेतों और चायके बाग-बगीचोंमें काम करनेवाले हमारे भाई हल और कुदाल चलाने-से इन्कार कर देंगे, गोरे प्रभुओंको खाना पकाने, खिलाने-पिलाने और खिदमत बजानेके लिए बावर्ची और बैरा नहीं मिलेंगे, उसी दिन यह रक्त-शोषी तीन पौण्ड सालाना टैक्सका अन्त आ सकेगा और हमारे हजारों भाई मनुष्यताके अधिकार उपलब्ध कर सकेंगे।"

वास्तवमें मेरे कथनको कार्यान्वित होनेमें विलम्ब न लगा—स्वल्प-कालमें ही नेटाल-भरमें हड़ताल हो गई। गन्नेकी कोठियाँ और चायके बाग-बगीचे उजड़ने लगे, कोयलेकी खानें और शक्करके कारखाने बन्द हो गए। छोटी-बड़ी फैक्टरियोंमें ताले लग गए, कारीगरोंने औज़ार रख दिए। बावर्ची और बैरे अपने साहबको सलामी देना भूल गए, अस्प-तालके अधिकारियोंपर भी आफत आये बिना नहीं रही। हड़तालका रूप इतना भयावह हो उठा कि न्यूकासलमें मेहतरोंने भी काम छोड़ दिया। कई दिन तक पाखाने साफ नहीं हुए, मल-मूत्रकी सड़ाईंदसे वह नगर असलमें नरक बन गया और कोई भयंकर बीमारी फूट पड़ने-की नौबत आगई।

: ११ :

कारावासकी कहानी

मैंने पोलक साहबको वचन देकर उसी दिन न्यूकासल छोड़नेका निश्चय कर लिया और अपने सहकर्मियोंसे विदा लेकर ज्योंही अपने हाल-मुकामसे निकलकर सड़कपर पहुँचा, त्योंही पुलिस सुपरिन्टेन्डेण्ट मेकडॉनल्ड अपने कुछ सिपाहियोंके साथ अचानक मेरे सामने आकर खड़े हो गए। उनका मुखड़ा क्रोधसे तमतमा रहा था, भृकुटियाँ चढ़ी हुई थीं, आँखें लाल-गुलाल हो रही थीं। वे उन्मत्तकी भाँति चिल्लाकर बोले, "तुम्हारी ही तलाशमें था, तुम्हें गिरफ्तार करता हूँ।" दिनके बारह बज चुके थे, शनिवार होनेके कारण कचहरी उठ चुकी थी। लेकिन पुलिसकी सूचना पाकर मजिस्ट्रेट महोदय मेरे मामलेकी तजवीज करनेके लिए फौरन न्यायासनपर आ विराजे।

तीन मासका कठोर कारावास

मुझे मजिस्ट्रेटके सामने हाजिर किया गया। हाकिमने मुझे टोपी उतार लेनेकी आज्ञा दी पर मैंने यह कहकर टोपी उतारनेसे इन्कार कर दिया कि मैं हिन्दुस्थानी हूँ और मेरे सिरपर स्वदेशी टोपी है जिसे उतारना मैं अपमान-जनक समझता हूँ। कुशल यही हुई कि पुलिसने हाकिमके हुक्मको मनवानेके लिए बल-प्रयोग करना उचित नहीं समझा, जिससे मेरी टोपी सिरपर रह गई।

मुझपर जुर्म लगा। मामलेकी सुनवाई हुई। मेरा बयान हुआ, पुलिसकी गवाहियाँ गुजरीं। उभय पक्षकी बातें सुनकर मजिस्ट्रेटने मुझे

सम्बोधित करके फर्माया—"तुमने सरकारके विरुद्ध साजिश, न्यूकासलके नागरिकोंके प्रति नीचता और भारतीय श्रम-जीवियोंके साथ विश्वासघात का अपराध किया है। तुम्हारे बहकावेमें आकर कोयलेकी खानोंके मज़दूर, फैक्टरियोंके कारीगर और नौकर, होटलोंके बावर्ची और बैरे और यहाँ तक कि म्युनिसिपैलिटीके मेहतर भी हड़ताल कर बैठे हैं। परिणाम यह हुआ है कि जहाँ एक तरफ व्यक्तियों और कम्पनियोंके कारबारकी नुकसानी और नागरिकोंको परेशानी हो रही है वहाँ दूसरी तरफ बेचारे गरीब मज़दूर अपने औरत-बच्चोंके साथ आवारोंकी तरह शहरकी सड़कोंपर भटकते और दाने-दानेके लिए तरसते फिरते हैं। इस भयंकर अपराधपर यथेष्ट दण्ड देनेके लिए अभी तक कोई कानून नहीं बना है, पर आशा है कि यूनियन पार्लमेण्ट शीघ्र ही इस अभावकी पूर्ति कर देगी। इस समय जो कानून प्रचलित है, उसीपर संतोष करना पड़ रहा है। अतएव तुम या तो पाँच पौण्ड जुर्माना भरो अथवा तीन मास कारागारमें कठोर परिश्रम करो।"

मैंने दण्डाज्ञा सुनकर हाकिमसे निवेदन किया कि मेरी अन्तरात्मा जुर्माना भरकर छूटनेकी अपेक्षा कारागृहमें कष्ट भोगनेकी ही आज्ञा देती है। कचहरीमें काफी भीड़ लग चुकी थी। मित्रवर पोलकने जेल-यात्रा-पर मुझे बधाई देते हुए आश्वासन दिया कि मुझे अपनी पत्नी और शिशुकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। "तब तक मैं निश्चिन्त नहीं हो सकूँगा, जब तक कि वे भी जेलमें नहीं पहुँच जाते" कहकर मैंने पुलिसके पहरेमें जेलकी ओर कूच किया।

न्यूकासलकी जेलमें

न्यूकासल-जेलमें प्रविष्ट होते ही मूँड मुड़ाना और शीतल जलसे स्नान करना पड़ा। मेरे वस्त्रों और वस्तुओंकी पकुची बनाकर रख दी गई। मुझे बन्दी-घरकी वरदी मिली—हाफ-पेन्ट, कमीज़, चप्पल और गान्धी-टोपी। इस वरदीसे लैस होनेपर मेरा वेश बन्दीके रूपमें बदल गया। मेरा जेल-जीवन प्रारम्भ हुआ।

जेल जाते समय पोलक साहबसे मैंने जो अपनी अभिलाषा प्रकट की थी, उसकी पूर्तिमें देर न लगी। चौथे ही दिन जगरानी भी अपनी सहयोगिनियोंके साथ जेलमें पहुँच गई, उनको भी तीन मास कड़ी कैद-की सजा मिली थी। आखिर सरकारको अपनी नीति बदलनी पड़ी, झख मारकर सत्याग्रही वीराङ्गनाओंको गिरफ्तार करना ही पड़ा। उनको दण्ड देते समय मजिस्ट्रेट महाशय अपनी बुद्धि और विवेक खो बैठे। कोपसे वे ऐसे उद्धत और उन्मत्त हो उठे कि उनको न साधारण शिष्टा-चारका ध्यान रहा, न कानूनकी कदरदानीका और न न्यायासनकी मर्यादा-का। हाकिमकी कुर्सीको कलंकित करने वाला यह अंग्रेज अपनी जुबानपर काबू भी न रख सका और देवियोंको सजा सुनाते हुए भाँड़की भाँति बोल बैठा, "तुम्हारी बातोंसे बहककर बेचारे निर्धन श्रमजीवी हड़तालके जालमें फँस गए हैं और आर्थिक हानि उठाने तथा जेल जानेकी बेवकूफी कर रहे हैं, पर जब वे कैद भोगकर लौटेंगे और उनको अपनी भूलका पता लगेगा तो तुमको अच्छी तरह बदला चुका देंगे और तुम्हारी इज्जत-पानी उतार लेंगे।"

मजिस्ट्रेटकी इस निर्लज्जता और नीचतापूर्ण व्यङ्गोक्तिसे प्रवासी भाइयोंमें बड़ा रोष और जोश फैला। पोलकने तो अदालतमें ही उस बदज़बान हाकिमकी बदमाशीका विरोध किया। देश-भरमें सार्वजनिक सभाएँ हुईं, प्रतिवादके प्रस्ताव पास हुए, जो न्याय-मंत्री (Minister of Justice)के पास भेजे गए।

मैंने कैदकी उस कोठरीमें सोनेसे इन्कार कर दिया जिसमें एक बार खटमलोंने रात-भर मेरा खून चूसा था। मैंने जेल-कानूनका हवाला देकर जेलरसे कहा कि "जेलमें जान-बूझकर खटमलोंकी सृष्टि और वृद्धि होने देना कर्मचारियोंकी कर्तव्य-हीनताका द्योतक है और इसकी शिका-यत उच्चाधिकारियोंसे करना कैदीका कुदरती हक है। मैं इस स्वत्वका उपयोग करना चाहता हूँ।" मेरी धमकीसे जेलरके होश गुम हो गए। वे घबराकर बोले, "मैं तुम्हारे लिए दूसरी कोठरीकी व्यवस्था किये देता

हूँ। यदि वह भी तुम्हें पसंद न आवेगी तो तुम्हारे सोनेके लिए ऑफिस-में बन्दोबस्त करूँगा। केवल दो रातकी बात है, फिर तो न जाने, भावी तुम्हें कहाँ ले जाती है। तुम्हारी शिकायतसे मुझपर लांछन लगेगा, पर तुम्हें कुछ भी फायदा न होगा।''

राजधानीमें बंदी-जीवन

सचमुच तीसरे दिन शामको मुझे हथकड़ी पहनाकर सिपाहियोंके पहरेमें रेलगाड़ीमें बैठाया गया और रात-भर यात्रामें बिताकर सवेरे नेटालकी राजधानी पीटर मेरित्सबर्ग (Pieter Maritzburg)की सेन्ट्रल जेलमें पहुँचाया गया। यहाँके जेलर अपनी सौजन्यता और सहृदयताकी बदौलत कैदियोंके श्रद्धा-भाजन बन गए थे, पर मुझ विद्रोहीको देखते ही वे वैसे ही बिगड़ उठे, जैसे लाल पताका देखकर बनैला बैल भड़क उठता है। उन्होंने मेरी गीता छीन ली और डपटकर कहा, ''यह जेल है जनाब, गीता-पाठका मंदिर नहीं।''

मैं प्रातः तीन बजे उठकर सन्ध्या-प्रार्थना करता। पाँच बजे जेलका पहला घण्टा बजनेपर बिस्तर चौतह कर तैयार हो जाता। कोठरीकी किवाड़ी खुलनेपर मल-मूत्रकी बाल्टी उठाकर पाखानेमें साफ कर आता। फिर हाथ-मुँह धोकर पाक-शालामें जाता, वहाँसे कलेवा लेकर कोठरीमें वापस आता। छः बजे दूसरा घण्टा बजनेपर कोठरीसे निकलकर बाहर लाइनमें खड़ा हो जाता। गवर्नर और जेलर मुलाहजा करते। ठीक सात बजे काममें लग जाता। बारहसे एक बजे तक भोजन और विश्राम। शामको पाँच बजे कामसे छुट्टी। फिर नंगा-झोली, नग्न-स्नान और भोजन। सात बजे कोठरीका दरवाजा बंद। कुछ काल स्वाध्याय अथवा सह-वासियोंसे सत्सङ्ग। दस बजे निद्रादेवीकी आराधना।

हमें खानेके लिए सवेरे आठ आउन्स मकईका नमकीन हलुवा (पॉरिज), मध्याह्नमें आठ आउन्स भात, चार आउन्स बिन्सकी दाल और दो आउन्स साग-भाजी, शामको छः आउन्स डबल-रोटी और दो आउन्स मकईकी नमकीन लपसी मिलती थी। नेटालके जेलखानोंमें

हब्शी और हिन्दुस्थानी कैदियोंकी खुराकमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। यदि अन्तर है तो यही कि दोपहरको दाल-भात तरकारीकी जगह हब्शियोंको उबले हुए मकईके दानेसे पेट भरना पड़ता है। हाँ, सफेद चमड़ीवाले कैदियोंके साथ विशेष व्यवहार होता है; उनको चाय, डबल-रोटी, मक्खन, मांस, शोरवा, सब्जी आदि परंपरागत भोजन मिलता है।

अनशन-व्रत

कई दिन तक मैं चाय बिना वैसे ही छटपटाता रहा जैसे पानी बिना पाठीन। फॉरिज और पूपू खाना मेरे लिए तो मानो लोहेके चने चबाना था। भूखकी ज्वाला शान्त करनेके लिए दो-चार कौर किसी तरह ठूँस-ठाँसकर गलेके नीचे उतार लेता था। घीके लिए प्रार्थना करनेपर जवाब मिला कि यह माँग नाजायज है, इसलिए मंजूर नहीं की जा सकती है। लाचार होकर हमें भूख-हड़ताल (Hunger-strike) का आश्रय लेना पड़ा। पहले दिन करीब चालीस कैदी निराहार रहे, पर कुछ तो जेलरके अत्याचारसे और कुछ पेटके अंगारसे तंग आकर हिम्मत हार बैठे। जो अपने प्रणपर दृढ़ रहे, उनमेंसे छः व्यक्तियोंको जेलरकी कोपाग्निमें पड़कर बड़ी विकट परीक्षा देनी पड़ी।

मेरे सिवा प्रागजी देसाई, मणिलाल गान्धी, सुरेन्द्रराय मेढ, गोकुलदास गान्धी और रावजी पटेलको छाँटकर अलग किया गया और हमें अलग-अलग छः ऐसी डरावनी और मनहूस कोठरियोंमें बंद किया गया, जो फाँसीकी सजा पाये हुए नर-हत्यारोंके लिए रिजर्व थीं। यद्यपि मैं भूत-प्रेतके अस्तित्वमें विश्वास नहीं करता और उसे मानवी-मस्तिष्ककी कोरी-कल्पना ही समझता हूँ तो भी उस रात मेरी नींद हराम हो गई। ज्योंही आँखें झपतीं, त्योंही ऐसे भयंकर स्वप्न देखने लगता कि कलेजा काँप उठता और रोमाञ्च हो आता।

दूसरे दिन हमें लोहेके छड़से बने हुए पिंजड़ोंमें अलग-अलग बन्द किया गया। आँखोंकी रक्षाके लिए तारके झँझरीदार चश्मे मिले और काम मिला—पत्थरकी चट्टानें फोड़कर छोटी-छोटी गिट्टियाँ बनाने का।

पहरेदारोंको ताकीद कर दी गई कि हमपर उनकी कड़ी निगाह बनी रहे ताकि हमारे हथौड़े बराबर चलते रहें—रुकने न पावें। एक तो हमारे पेटमें भूखकी आग लगी हुई थी और छत्तीस घण्टेके अनशनके कारण शरीर भी निर्बल हो चुका था, तिसपर करना पड़ा पत्थर तोड़नेका कठोर काम और वह भी बिना दम लिये। जहाँ हथौड़ेकी ध्वनि कुछ धीमी पड़ती, वहाँ पहरेदारकी आवाज बुलन्द हो उठती। दिन-भर कठोर परिश्रम और रात्रिको उसी खूनी कोठरीमें विश्राम।

मेरा सुकुमार शरीर यह अमानुषिक अत्याचार सह न सका। शरीरकी शक्ति क्षीण हो गई, हाथ-पैर ठंडे पड़ गए, आँखोंके आगे अँधेरी छा गई और मैं मूर्च्छित हो गया। रात-भर बेहोश पड़ा रहा। सवेरे खटोलेपर लादकर अस्पताल पहुँचाया गया। डॉक्टरके उपचारसे मूर्च्छा भङ्ग हुई। होशमें आनेपर डॉक्टरने मुझे मौतका भय दिखाकर दूध पिलानेकी बड़ी कोशिश की, लेकिन उनको कामयाबी हासिल नहीं हुई। मैंने व्रत-भंग करनेकी अपेक्षा मर जाना ही श्रेयस्कर समझा।

मेरे बाद ही क्रमशः अनशन-व्रतधारियोंका अस्तालमें आगमन आरंभ हो गया। कोई मार्गमें मूर्च्छित होकर गिर पड़ा और कोई कामपर पहुँचकर। दस बजेतक भूख-हड़तालियोंसे अस्पताल भर गया। यह खबर जेलकी दीवारें चीरकर बाहर भी पहुँच गई और प्रवासी भारतीयोंमें बड़ी चिन्ता और सनसनी फैली। जनरल स्मट्सके पास तार-पर-तार पहुँचने लगे। इधर जेलके अमलदार भी निश्चिन्त नहीं थे और सरकारको वस्तु-स्थितिकी सूचना दे रहे थे। शामको यूनियन-सरकारका तार आ गया कि प्रत्येक सत्याग्रही बन्दीको प्रतिदिन एक आउन्स घी मिलेगा। इस प्रकार अनशन-काण्ड समाप्त हुआ।

संघर्षमें सफलता तो हुई लेकिन मुझे कई दिन तक अस्पतालमें डाक्टरका मेहमान रहना पड़ा। जब शरीर कुछ सँभला तो मुझे खुली हवामें खेतपर काम करनेको भेजा गया। वहाँ रामदास गान्धी प्रभृति युवकोंके साथ दिन मोद-विनोदमें कटने लगे। जेलकी प्राचीरके अंदर

काम करनेके बजाय खेतपर काम करना मुझे अधिक पसन्द आया। वहाँकी प्राकृतिक सुषमा बड़ी मनोहारी और नेत्र-रंजक थी। खेतके सिवानपर एक छोटी-सी सरिता बह रही थी। भाँति-भाँतिके साग-पात-की खेती ऐसी लहलहा रही थी मानो धरतीपर हरा गलीचा बिछा हुआ हो। खेतकी मेंड़ोंपर छोटे-बड़े पेड़ों और उनपर फैली हुई ललित लताओं-की हरियाली निराली छटा दिखा रही थी।

डरबनकी सेन्ट्रल जेलमें

इस जेलमें हम एक मास और एक सप्ताह रहने पाये। इसी दर-म्यानमें मेरित्सबर्गमें भी हड़तालकी आग लग गई। जेलके सारे सेल कैदियोंसे भर गए, पुस्तकालय, गिरजाघर और यहाँ तक कि बरामदेमें भी कैदियोंसे बित्त-भर जगह खाली नहीं बची। अतएव वहाँसे एक सौ सत्याग्रही कैदियोंको डरबनकी सेन्ट्रल जेलमें भेजा गया जिनमें एक मैं भी था।

डरबनके लिए प्रस्थान करते समय मेरित्सबर्ग स्टेशनपर डेढ़ महीने-के बाद जगरानीसे देखा-देखी हुई। वे भी अपनी सहयोगिनियोंके साथ डरबन जा रही थीं। मेरित्सबर्गकी जेलमें जगरानीको माता कस्तूर बाके सत्सङ्ग और सेवाका अवसर मिल गया था। स्त्री-कैदियोंको कपड़े धोने-का काम करना पड़ता था। जगरानी अपने और बाके हिस्सेके कपड़े फींच लिया करती थीं और बा उनके शिशु रामदत्तको खेलाया करती थीं। इस प्रकार जगरानीके दिन बड़े आनन्दसे बीत रहे थे, पर उस दिन अचानक उनको बासे विदाई लेकर डरबन जानेपर मजबूर होना पड़ा।

स्टेशनपर मैंने जगरानीको बन्दी-वेशमें—जेहलीके रूपमें देखा और उन्होंने मुझे देखा हथकड़ी पहने हुए। हम दोनों कैदी थे। एक-दूसरेके इतना समीप होते हुए भी मिल नहीं सकते थे। कैसी विवशता थी? मुँहपर ताले लगे हुए थे, बातचीत करनेकी मनाही थी। केवल आँखें आजाद थीं, जो आपसमें मिलीं और ऐसी अव्यक्त भाषामें उनकी बातचीत भी हो गई जिसमें बाधा डालना पहरेदारके अख्तियारसे बाहरकी बात थी।

जेलमें जघन्य जुल्म

डरबनकी सेन्ट्रल जेलमें हमारा जैसा आगत-स्वागत हुआ उससे यह निश्चय करना कठिन हो गया कि यह बीसवीं सदीके सभ्य अंग्रेजोंका जेलखाना है अथवा मानवताकी हत्या करने वाला मध्ययुगका कसाईखाना। गोरे पहरेदार ऐसे कमीने, कर्कश और क्रूर थे कि उनको इन्सान कहना गोया इस पवित्र शब्दका अपमान करना होगा; वास्तवमें वे शैतानकी ही सन्तान थे। बात-बातमें गालियाँ बकते, यदि कोई उनको जबानमें लगाम लगाने और दुर्वचन छुड़ानेके विचारसे कुछ कहता तो उसपर लातों, मुक्कों और डण्डोंकी मार पड़े बिना नहीं रहती। क्रूरतामें उनसे बढ़कर उनके हब्शी कुत्ते थे। इन गुलामोंकी आत्मा इतनी गिरी हुई थी कि वे अपने गोरे मालिकोंके इशारेपर क्रूर-से-क्रूर कर्म करनेको तैयार रहते।

इस जेलमें हमें ऐसे मैले-कुचैले और गन्दे कपड़े मिले कि उनकी बदबूसे नाक फटने लगी—दम घुटने लगा। खाना मिला ऐसा खराब, जिसको सूँघकर श्वान भी सटक जावे। कमरी केवल एक ही दी गई। उसीको चाहे बिछाओ—चाहे ओढ़ो और चाहे तकियेके तौरपर सिरहाने रखो। जब इस पाशविक बर्त्तावसे खिन्न होकर मैं रात्रिमें सोनेके समय धीमे स्वरमें परमेश्वरकी प्रार्थना करने बैठा तो एक अँग्रेज पहरेदार गटरगश्ती करता हुआ मेरी कोठरीके दरवाजेपर पहुँचा और किवाड़के सूराखसे झाँककर चिल्ला उठा, "ओ कुली-कुत्ता! मुँह बंद कर, नहीं तो जीभ खींच लूँगा।" इसे मैंने अपना व्यक्तिगत नहीं, अपने देश और राष्ट्रका अपमान समझा, अतएव गौराङ्गोंके प्रति मेरे दिलमें द्वेष और रोष की बाढ़-सी आ गई।

पाखानेमें बहुत-से कैदी एक साथ ही कतारमें बैठा दिये जाते थे और जल्दी करानेके लिए हब्शी पहरेदार उनके सिरपर सवार रहते थे। दूसरे दिन सवेरे ज्योंही मैं पाखानेमें बैठा त्योंही हब्शी सिपाही चिल्ला उठा, "ओ मकूला, छेछा" (अरे कुली, जल्दी कर) जब अँग्रेज हमें

'कुली' कहनेसे बाज नहीं आते थे तो उनके हब्शी-गुलाम 'मकूला' कहकर पुकारनेमें क्यों हिचकिचाते ? कुली शब्दका ही अपभ्रंश है—हब्शियोंकी बोलीमें 'कूला' या 'मकूला'। "मिना फ़िगोले माँझे" (मैं तो अभी आया हूँ), कहकर मैं पाखानेमें बैठा रहा। मेरी ढिठाई देखकर दाँत किटकिटाते हुए उस हब्शी गुलामने कूदकर मेरी गर्दन दबोच ली और फिर उसी हालतमें झकझोरते हुए पाखानेसे निकाल बाहर किया। मैंने अँग्रेज वार्डरसे इसकी शिकायत की। उसने मुझे खामोश रहनेका उपदेश दिया और बात बढ़ानेपर मेरी और भी मरम्मत करनेकी धमकी दी। जब यह मामला जेलके गवर्नरके पास पहुँचा तो उन्होंने शब्द-कोष निकालकर कुली शब्दकी व्याख्या करते हुए फर्माया, "कुलीका अर्थ है मजदूर। चूँकि तुमको कठोर परिश्रमके साथ तीन मास कारावास-(Three months' imprisonment with hard labour) का दण्ड मिला है, इसलिए तुमको 'कुली' या 'मकूला' कहना कोई अनुचित बात तो नहीं है।"

पैशाचिकताका प्रदर्शन

गवर्नरकी इस मनोवृत्ति और नीतिसे अंग्रेज और हब्शी वार्डरोंकी अत्याचार-मूलक प्रवृत्ति और भी बढ़ गई। प्रागजी देसाईपर डण्डों और बूटोंसे ऐसी मार पड़ी कि वे बेहोश होकर धरतीपर लोट गए। तिसपर भी उन शैतानोंको संतोष नहीं हुआ और उसी बेहोशीकी हालतमें टाँगें पकड़कर कँकरीली जमीनपर उनको इस तरह घसीटा गया कि उनके बदनका चमड़ा उधड़ गया और लहूके फव्वारे फूट पड़े। एक मोटे-ताजे जवान रघुवरको इतना पीटा गया कि वह अधमरा हो गया। फिर उसे एकान्त काली कोठरीमें दिन-रात बंद रखकर आधी खूराक दी जाने लगी। आठ दिनमें उसका हृष्ट-पुष्ट शरीर सूखकर काँटा बन गया, आँखें धँस गईं, गाल पिचक गए और सूरत ऐसी बिगड़ गई कि उसको पहचानना तक मुश्किल हो गया।

इस दुर्व्यवहारसे व्यथित होकर कुछ सत्याग्रहियोंने अनशन-व्रतका

सहारा लिया। इसका फल यह हुआ कि डरबन सेन्ट्रल जेलमें सत्याग्रहियोंकी सारी शिकायतें दूर तो कर दी गईं लेकिन हम पाँच-सात चुने हुए कैदियोंके सिवाय अन्य सबको 'पाइन्ट जेल'में भेज दिया गया। वहाँ उनके आत्म-सम्मानको कुचलनेके लिए जोर-जुल्मकी नंगी नुमाइश की गई, पर बेचारे जेलके वार्डर क्या जानें कि संकट सत्याग्रहियोंका साहस बढ़ाता है, आपत्तियाँ उनको आगे बढ़ाती हैं। वे जान-बूझकर जेलकी यातनाएँ हँसते-हँसते सहनेके लिए घरसे बाहर निकले थे। अतएव उनको अपने व्रतसे डिगानेकी कोशिश करना मानो पत्थरकी चट्टान-पर माथा टकराना था। सच्चे सत्याग्रहीकी तो यह धारणा होती है—

Stone-walls do not a prison make,
Nor iron-bars a cage,
Minds innocent and quite take
That for hermitage.

पत्थरकी भित्तियोंसे बनता न जेलखाना।
लोहेकी छड़से बनता पिंजरा नहीं अजाना॥
निर्दोष मन वहींपर एकांत-शांत पाते।
भगवान के भजनमें अपना समय बिताते॥

डरबन जेलमें अवशिष्ट आधा दर्जन सत्याग्रहियोंके साथ अत्युत्तम बर्त्ताव होने लगा। मुझे यह अनुभव हुआ कि गुलाम कौमके आदमी जितने क्रूर होते हैं उतने ही कायर भी। जो हब्शी पहरेदार शेर बनकर सत्याग्रहियोंके साथ क्रूर-से-क्रूर व्यवहार कर रहे थे, अँग्रेजोंकी प्रवृत्ति बदलते ही वे पालतू कुत्तेकी तरह पूँछ हिलाकर लगे प्यार दिखाने। हमें 'मकूला' की जगह 'बाबा' कहने लगे और बदमाशीके बदले चापलूसीसे काम लेने लगे। दूषित गुलामीसे उनकी आत्मा इतनी कलुषित हो गई थी कि सत्याग्रही बंदियोंके साथ सद्व्यवहार होना उनके लिए विस्मयकी बात थी। बंदी भी मनुष्य हैं और मानवी बर्त्तावके पात्र, यह उनकी बुद्धिसे बाहरकी बात थी।

ईसाकी शिक्षा और उनके श्वेतांग शिष्य

मेरी गीता तो मेरिस्सवर्ग-जेलमें ही जब्त हो गई थी। डरबन-जेलमें पुस्तक माँगनेपर गवर्नरने फर्माया कि "यहाँ गैर-गोरे बंदीको अंग्रेजी पुस्तक देना वर्जित है।" पुस्तकालयमें बहुत ढूँढ़नेपर हिन्दी बायबिल-की एक प्रति मुझे मिल गई थी। उसे कई बार पढ़ गया, पर मुझपर न ईश्वरके इकलौते पुत्रके चमत्कारका कुछ असर पड़ा; न उनके द्वारा भूत-प्रेत प्रपीड़ित प्राणियोंके निस्तारका और न उनकी शरणमें आये हुए व्यक्तियोंके पापोंके उद्धारका। हाँ, सत्यके विचारसे मैं यह स्वीकार करता हूँ कि पर्वतपर मसीहका प्रवचन मुझे अत्यन्त रुचिकर और ज्ञान-प्रद प्रतीत हुआ। मैं बायबिलके उसी प्रकरणको बार-बार पढ़ता और सोचता कि कहाँ वह दया, क्षमा और प्रेमका पैगाम और कहाँ यह नृशंसता, प्रतिहिंसा और विग्रहका सरंजाम! कहाँ उनकी गिरे हुए प्राणियोंको उठाने और आगे बढ़ानेकी सद्भावना और कहाँ इनकी एशिया और अफ्रिकाके मनुष्योंको गिराने और गुलाम बनानेकी दुष्कामना? कहाँ वह सत्य, अहिंसा, सेवा, परमार्थ और त्यागसे संसारको स्वर्गमय बनानेकी प्रेरणा और कहाँ यह असत्य, हिंसा, स्वार्थ, असहिष्णुता, कपट और विश्वास-घातसे अपनी सत्ता, महत्ता और प्रभुताको बढ़ानेकी तमन्ना! जहाँ वे वसुन्धरापर भगवान्का राज्य फैलानेमें मस्त थे वहाँ उनके श्वेतांग शिष्य संसारमें शैतानका साम्राज्य बढ़ानेमें व्यस्त हैं। यीशूके प्रवचन और उनके गोरे अनुयायियोंके आचरणमें कितना अन्तर है? वास्तवमें न बायबिलपर इनका विश्वास है और न ईसापर इनका ईमान। इन्होंने अपना एक नया धर्म चलाया है जिसका नाम है—"श्वेत-वर्ण प्रभुत्व धर्म" (White-race Supremacy Religion).

एक वृद्ध का बलिदान

जिस समय ज्वराक्रांत होकर मैंने डरबन जेलके अस्पतालमें एक सप्ताह बिताया था उसी समय वयोवृद्ध हरबतसिंहको देखनेका अवसर मिला था। वे भी अस्पतालमें अपने जीवनका अन्तिम काल बिता रहे

थे। उनकी आयु ८० वर्षसे अधिक थी; शरीर जीर्ण-शीर्ण एवं जर्जर हो गया था और केश पककर नितांत श्वेत। तीस साल उन्होंने नेटालमें गोरोंकी गुलामी की थी। इस बुढ़ापेमें वे एक छोटी-सी खेतीपर गुजर-बसर कर रहे थे। जब इनको हड़तालकी खबर मिली तो उनका जोश उभर आया। वे गिरफ्तार होकर जेलमें पहुँच गए। वाक्सरस्ट-जेलमें गांधीजीने इनको देखकर पूछा, "आपने इस ठेठ बुढ़ापेमें जेल आना क्यों पसन्द किया ?"

"जब छोटे-छोटे बच्चोंको गोदमें लेकर हमारे देशकी स्त्रियाँ और आप जैसे महापुरुष जेल काट रहे हैं," वृद्धने सहज स्वभावसे उत्तर दिया, "तब मैं घर पर रहकर क्या करता ? इससे बढ़कर मेरे लिए शर्म और ग्लानिकी बात और क्या होती ?"

"पर बाबा," गांधीजीने गंभीर होकर पूछा, "कहीं जेलमें आपके शरीरने जवाब दे दिया तो ?"

"इसकी क्या पर्वाह," वृद्धने प्रत्युत्तरमें दृढ़तासे कहा, "मैं वृद्ध हो ही गया हूँ। मेरे जीवनसे किसीको क्या फायदा। भाइयोंकी भलाईमें मरनेपर मुझे कुछ सन्तोष तो होगा।"

वृद्धकी वाणी सत्य हुई, उनकी मनोकामना पूरी होगई। मेरे सामने ही अस्पतालमें वे परलोकको प्रयाण कर गए। सरकारने लावारिस समझकर उनकी लाश गड़वा दी थी, पर सहस्रों हिन्दुस्थानी उनके वारिस-की हैसियतसे लाशके दावेदार बन गए। आखिर लाचार होकर सरकार-को उनकी लाश उखड़वाकर प्रवासी भारतीयोंके हवाले करनी पड़ी। उनकी अर्थीके साथ भारतीयोंकी अपूर्व भीड़ थी, उमगेनीके श्मशानमें विधिवत् उनका दाह-कर्म हुआ।

वृद्ध हरबतसिंह एक अज्ञात परिवारमें जन्मे थे, उनके जीवनकी घटनाएँ किसीकी संचित-स्मृतिकी नहीं, सभीके लिए विस्मृतिकी ही वस्तु थीं। किसी दिन वे रोग-शय्यापर मक्खियाँ हाँकते हुए मर जाते। उनके पास-पड़ोसके सिवा और किसीको खबर भी न होने पाती। पर

उनके किसी पूर्व-जन्मके पुण्यका ही यह परिणाम था कि वे देशवासियों-की सेवा-वेदीपर अपने जरा-जीर्ण शरीरका बलिदान चढ़ाकर इतिहासमें अमर हो गए। वे एक महज मामूली मजदूर थे; उनके पास न विद्याका बल था और न धनकी धाक थी, पर जीवनकी अन्तिम घड़ियोंमें देश-वासियोंके लिए आत्मोत्सर्ग कर उन्होंने वह सुयश कमाया, जो सरस्वती-के सुयोग्य सपूतों और लक्ष्मीके लाड़ले लालोंके लिए भी दुर्लभ है। गान्धीजीने अपने लेखों और भाषणोंमें उनके साहस, शौर्य और बलि-दानका बखान किया, हजारों हिन्दुस्थानियोंके सिवा पोलक और पिय-र्सन जैसे गोरे मित्रोंने शवके साथ श्मशान पहुँचकर उनके आत्मोत्सर्ग-का सम्मान किया और दक्षिण अफ्रिकाकी अनेक सभा-समितियोंने उनके शवपर पुष्प-मालाएं चढ़ाकर कौमी अहसानका इजहार किया। देश-सेवा-की बदौलत एक साधारण व्यक्ति भी ऐसी परम गति पा गया।

जेलसे रिहाई

दिन टिकते नहीं, कट ही जाते हैं चाहे सुखसे चाहे दुःखसे। हमारे भी कैदके दिन बीत गए। सन् १९१४ की जनवरीमें मेरी और जगरानी-की रिहाई होगई। जेलसे हम छूट आये भग्न-स्वास्थ्य एवं रुग्ण-शरीर लेकर।

इस बीचमें नेटाल-भरमें हड़तालकी धूम मच गई थी। पचीस-हजार भारतीय मजदूर और कारीगर गोरोंकी नौकरी छोड़कर हड़तालमें शरीक हो गए थे। नेटालसे हजारों आदमियोंका जत्था लेकर गान्धीजी-ने ट्रांसवालको कूच किया था। वे गिरफ्तार हुए और साल-भरके लिए जेलमें ठेल दिये गए। उनके बाद जत्थेका नेतृत्व ग्रहण करनेके अपराध-में पोलक और केलनबेकको भी कारावासका दण्ड मिला। जत्थेके सभी मनुष्योंको गिरफ्तार करके नेटाल वापस लाया गया और छः-छः मास कड़ी कैदकी सजा दी गई। नेटालके सारे बन्दी-घर भारतीय हड़तालियोंसे भर गए। जब जेलमें जगह नहीं रही तो सरकारने घोषणा कर दी कि मजदूरोंके बारक (Barracks) अब जेलके काममें लाये जायंगे।

-दण्डित मजदूरोंको बन्दीकी हैसियतसे उन्हीं बारकोंमें रखा गया, जिन्हें छोड़कर वे गांधीजीके कूचमें शरीक हुए थे और उन्हीं खानोंमें उनसे काम लिया जाने लगा, जिनमें वे हड़तालसे पहले नौकरी करते थे। इस नीतिसे कोयलेकी खानोंकी रक्षा की गई, उनको सर्वनाशसे बचाया गया।

सन् १९१३में दक्षिण अफ्रिका-प्रवासी भारतीय मजदूरोंमें साहस, शौर्य, संयम, देशानुराग और आत्मोत्सर्गका ऐसा अनुपम परिचय दिया कि सारा विश्व विस्मित रह गया। माननीय गोखलेके मर्मस्पर्शी भाषणों और नेटालके सनसनीदार समाचारोंसे भारतवासी क्रोधसे लाल हो उठे, उनका दिल दहल उठा, खून खौल उठा। भारतीय जनताको प्रक्षुब्ध देखकर तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिञ्जको सार्वजनिक भाषणमें साफ-साफ कह देना पड़ा कि दक्षिण अफ्रिकाकी सरकारकी नीतिसे जो भीषण स्थिति उत्पन्न हो गई है वह हमारी सहिष्णुताकी सीमा पार कर चुकी है। अब अधिक बर्दाश्त करना हमारे काबूसे बाहरकी बात है। भारत-सरकारकी आज्ञासे मध्यप्रांतके चीफ कमिश्नर सर बेंजामिन रॉबर्टसन और रायसाहब सरकार दक्षिण अफ्रिकाके लिए प्रस्थान कर गए और माननीय गोखलेकी प्रेरणासे साधु एण्ड्रूज और पादरी पियर्सन भी।

सत्याग्रहकी समाप्ति

आखिर यूनियन सरकारका आसन डिगा, होश ठिकाने आया। उसे झख मारकर महात्मा गान्धीको जेलसे छोड़ना पड़ा और उनसे संधिके लिए बातचीत करनी पड़ी। जेलसे छूटनेके बाद गान्धीजीने पश्चिमीय पोशाक परित्याग कर पूर्वके सन्तोंकी भाँति धोती और लम्बा-ढीला लबादा धारण किया। हाथमें एक लम्बी लाठी ली और बगलमें एक झोली लटकाई। इस अहिंसात्मक संग्राममें हरबतसिंह, कुमारी बेलिअम्मा, सुभाई, सोलवन,पचियापन आदि योद्धा वीर-गतिको प्राप्त हुए थे उन्हींकी पवित्र-स्मृतिमें गांधीजीने यह शोक-सूचक चिह्न धारण किया था।

जब कारा-मुक्त होकर गांधीजी डरबन लौटे तो सुभाई और सोलवनकी विधवाएँ उनके समीप आकर विलाप करने लगीं। सुभाई और

सोलवन दोनों अंग्रेजोंकी गोलियोंसे शहीद हुए थे। गान्धीजीकी आँखोंमें आँसू छलछला आये और विधवाओंको ढाढस बँधाते हुए वे बोले, "बहन, यह तुम्हारे लिए सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारे पति वीर-गति पा गए। यदि वे किसी बीमारीसे खाटपर पड़े-पड़े मर जाते तो संसार उनको क्या जानता ? पर देशवासियोंके लिए मरकर वे अमर हो गए हैं।" इतना कहकर वे क्षण-भरके लिए मौन हो गए, उनका हृदय भर आया, चेहरा तमतमा उठा और फिर सहसा उनके मुखसे यह बात निकल पड़ी, "सत्याग्रह करते हुए यदि मैं भी इसी प्रकार अत्याचारियोंकी गोलियोंसे मारा जाऊँ और मेरी पत्नी भी तुम्हारी तरह विधवा बन जाय तो मैं समझूँगा कि मेरा नर-तन और जीवन सार्थक होगया।"

गान्धीजीकी वाणीमें इतनी वेदना थी कि इस दृश्य को देखने वाले सभी लोगोंकी आँखोंसे आँसू बह चले। उनकी भविष्यद्वाणीमें केवल यही अंतर पड़ा कि उनकी जगह माता कस्तूरबाको भारत-सरकारके अत्याचार-मूलक व्यवहारका शिकार और गान्धीजीको विधुर बनना पड़ा।

कुमारी वेलियम्मा तो बन्दी-घरसे मुक्त होनेके बाद ही विश्व-बंधनसे भी विमुक्त हो गईं। वह केवल सोलह सालकी कुँवारी कन्या थी। उसके जीवनकी कोमल कलियाँ अभी खिलने भी नहीं पाई थीं कि जेल-यातनाओंके तुषारसे सदाके लिए वे मुरझा गईं। इन्हीं शहीदोंकी कुर्बानी-से सत्याग्रह सफल हो सका था।

बापूकी विजय

निदान यूनियन-सरकारने जस्टिस सोलमनकी अध्यक्षतामें एक कमीशन बैठाया। इस कमीशनके कुछ सदस्य प्रवासी भारतीयोंके हितोंके विरोधी थे, इसलिए गान्धीजीने कमीशनका बहिष्कार करना ही उचित समझा। यद्यपि लार्ड हार्डिन्ज और माननीय गोखलेने कमीशनके साथ सहयोग करनेके लिए गान्धीजीसे आग्रह करनेमें कोई कसर न छोड़ी पर महात्माजी अपने निश्चयपर अटल रहे।

कमीशनकी जाँच शुरू हुई। महात्मा गान्धी और सत्याग्रहियोंने

तो उसका पूर्ण बहिष्कार ही किया किन्तु भारतीयोंके कुछ नामधारी नेता, जो हड़तालके समय न जाने कहाँ अन्धकारमें छिपे थे, कमीशनके सामने बयान देनेके लिए प्रकाशमें गये। कमीशनने अपनी रिपोर्टमें यही राय दी कि प्रवासी भारतीयोंकी माँगें न्याय-संगत एवं स्वीकार करने योग्य हैं। सरकारने कमीशनकी रिपोर्टके आधारपर यूनियन पार्लमेण्टमें 'इंडियन रिलीफ एक्ट' (Indian Relief Act) पास करा लिया, जिससे प्रवासी भारतीयोंकी शिकायतें दूर हो गईं। सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि जिन दस हजार भारतीय मजदूरोंको सालाना तीन पौण्ड जजिया-टैक्स देना पड़ता था उनका इस बलासे पिण्ड छूट गया।

इस प्रकार दक्षिण अफ्रिकामें सत्याग्रहके अन्तिम संग्रामकी समाप्ति हुई। यह युद्ध था और विलक्षण युद्ध था। इसमें तोप और तलवार, भाले और बर्छी, बन्दूक और पिस्तौलें नहीं चली थीं। वायुयानोंसे बमोंकी बौछार नहीं हुई थी। यह तो अपने ढंगका विश्वमें पहला ही युद्ध था, जिसमें आत्म-बलने अस्त्र-बलपर विजय पाई—मनुष्यताने पशुताको परास्त किया। हिन्दुस्तानियोंके त्याग और बलिदानने श्वेताङ्गोंको सभ्यताका सबक सिखाया और उनकी बर्बरताकी बानगी विश्वके सामने रख दी। अपढ़, अबोध और गुलाम भारतीय मजदूरोंके देशानुरागपर दुनिया दङ्ग रह गई। यह अहिंसात्मक संग्राम बीसवीं सदीकी अद्भुत अभूतपूर्व और शिक्षाप्रद महान् घटनाओंमेंसे एक है।

: १२ :

फिनिक्समें प्रवास

बन्दी-मोचन के पश्चात् प्रिटोरियासे बापूका एक पत्र मिला जिसमें यह आदेश था कि मुझे सपत्नीक फिनिक्स-आश्रममें रहना चाहिए। और 'इंडियन ओपीनियन' के हिन्दी-अंशका सम्पादन करना चाहिए। मेरे मनकी मुराद पूरी होगई। जब जहाजसे उतरकर मैं बापूके दर्शनके लिए फिनिक्स गया था तभीसे उस ऋषि-आश्रममें कुछ दिन प्रवास करनेकी मेरी आन्तरिक आकांक्षा थी, परन्तु परिस्थितिके प्रभावसे मैं अपनी इच्छाकी पूर्ति नहीं कर सका था। इसलिए गान्धीजीका सन्देश पाकर मेरे सन्तोषकी सीमा नहीं रही। मैं फौरन फिनिक्स पहुँचकर अपने काममें लग गया।

जगरानीकी बीमारी

पर जगरानी उस समय रुग्ण-शय्यापर पड़ी हुई थीं। जेलमें ही उनका स्वास्थ्य भग्न हो गया था और वे रुग्ण शरीर लेकर बंदी-घरसे निकली थीं। डरबनमें अच्छे-अच्छे डाक्टरोंसे उनका उपचार कराया गया। पर 'मरज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की' वाली कहावत ही चरितार्थ हुई। जब रोग अत्यन्त असाध्य हो गया और डाक्टरोंकी सारी चेष्टाएँ विफल होगईं तो बापू उनकी दशापर दया करके उनको अपने साथ ही फिनिक्स लाये। बापूके आदेशसे उनको आश्रम ले जानेके लिए हाथसे खींची जानेवाली ठेलागाड़ी स्टेशन पहुँच गई थी। बापूने बहुत सँभाल-कर जगरानीको रेलगाड़ीसे उतारा और ठेलागाड़ीपर लिटा दिया। इसके

बाद बापूने जो कुछ किया वह मेरे-लिए तो कल्पनातीत बात थी। वे स्वयं ठेलागाड़ी खींचने लगे और वह भी अकेला ही। हम लोगोंमेंसे कई आदमी बापूके हाथसे गाड़ी ले लेनेके लिए आगे बढ़े; पर उन्होंने किसीको पास नहीं फटकने दिया और साफ कह दिया कि उनको किसीकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है। उन्होंने अकेले ही ठेलागाड़ी खींचते हुए लगभग तीन मीलकी ऊबड़-खाबड़ मंजिल तय की।

मैं तो ग्लानिसे गड़ा जा रहा था। जब बापूने मुझे ठेलागाड़ी खींचनेका अवसर नहीं दिया तो 'खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे'की भाँति बिगड़कर मैं जगरानीसे बोला, "तुम बापूसे गाड़ी खिचवाती हो, नरकमें जानेका यह सबसे सीधा रास्ता है।" मेरी इस हृदय-हीनतापर उनकी आँखोंसे आँसूकी धारा बह चली और वे व्यथित होकर बोलीं, "आप ठीक कहते हैं। इससे बढ़कर पाप-कर्म और क्या होगा? बापूसे गाड़ी खिचवानेकी अपेक्षा तो मेरे लिए मौत ही अच्छी है, पर माँगेसे मौत भी कहाँ मिलती है? यदि धरती फट जाती तो मैं उसमें समाकर इस दुष्कर्मसे बच जाती। मुझे तो नरकमें भी जगह नहीं मिलेगी।" असलमें जगरानीकी व्याधि असाध्य होगई थी, उनमें उठने-बैठनेकी भी शक्ति नहीं थी और वे जीवन-मरणके अधरमें वे लटक रही थीं।

बापूका विलक्षण उपचार

बापूने रुग्णा जगरानीकी परिचर्याका भार बाको सौंपा। उस समय कारावासके कष्टसे स्वयं बाका स्वास्थ्य काफी गिर गया था, फिर भी उन्होंने अपने शरीरकी कोई परवाह नहीं की और अपनी अथक एवं स्नेहमयी सेवा-सुश्रूषासे, जगरानीकी जान बचा ली। गान्धीजीकी चिकित्सासे जिसमें केवल मिट्टीकी पुलटिस बाँधी जाती थी और अखण्ड उपवास कराया जाता था, केवल एक सप्ताहमें जगरानीका स्वास्थ्य सुधर गया—उनको नया जीवन मिल गया। क्षीण-काय और अस्वस्थ बाने जिस लगन, परिश्रम और प्रेमसे जगरानीकी परिचर्या की, वह उनकी सहृदयता और स्नेह-शीलताके अनुरूप ही थी। बाका शरीर

दुर्बल था सही, पर उनका हृदय बड़ा बलवान था। सेवाकी वे सजीव मूर्ति थीं।

आश्रमके बहुमुखी कार्योंमें व्यस्त होते हुए भी बापू वहाँके डाक्टर भी थे और बा नर्सके रूपमें खुशीसे उनके काममें हाथ बँटाती थीं। बापू रोगियोंका उपचार करते, उनके कपड़े धोते और मल-मूत्र तक साफ करते थे। उनका जीवन ही आत्म-संयमका साक्षात् स्वरूप था; तन और मनको अपने अधीन करके उनसे वे इच्छानुसार काम लिया करते थे, पर मेरे लिए तो यह नितान्त नया नजारा था। इतने बड़े नेता मजदूरकी भाँति काम भी कर सकते हैं, यह सोचकर मैं स्तब्ध रह गया। मेरे सामने नेतृत्वका नया नमूना था, देश-सेवाकी नई नजीर थी और थी मनुष्यताकी नई कसौटी।

आश्रमका आहार

आश्रमकी पाकशाला भी बापू और बाकी ही निगरानीमें चलती थी। भोजन पकाने, लोगोंको परोसकर खिलाने-पिलाने और जूठे बर्तन माँजनेमें भी बापू और बाको कोई परहेज न था। बापूकी विधिसे डबल रोटियाँ पकती थीं, जो ऐसी कड़ी होती थीं कि उनको खाना मानो लोहेके चने चबाना था—किसी तरह उनको गलेके नीचे उतारने-के योग्य बनानेमें दाँतोंके छक्के छूट जाते थे। आस्ट्रेलियाका मैदा स्वास्थ्यकी दृष्टिसे उपयोगी नहीं जँचा, इसलिए बापूने हाथसे आटा पीसनेकी व्यवस्था की। आटा पीसनेमें वे सबको मात कर देते थे। इससे जहाँ स्वास्थ्यकी रक्षा होती थी वहाँ खर्चकी बचत भी। अन्य प्रकारके व्यंजनोंको बनानेमें भी बापूकी पाक-विधियाँ काममें लाई जाती थीं। मिर्च, मसाला और घीके तो दर्शन भी दुर्लभ थे जिनसे भारतीयों-की प्रिय कढ़ी, दाल और तरकारी चरपरी, रसनीय और स्वादिष्ट बनती है। वहाँ तो सभी प्रकारकी साग-भाजी पानीमें उबाल दी जाती थी। ऊपरसे जो चाहे, जैतूनका कच्चा तेल (Olive Oil) मिला सकता था।

इस विधिसे पानीमें उबाली हुई साग-भाजीमें भी 'अलोना' और

'सलोना'का भेद होता था। कुछ लोग अलोना खाते थे और कुछ लोग सलोना। किसीपर कोई दबाव नहीं था, प्रत्येक व्यक्तिको अपनी इच्छा-से भोजन पसन्द करनेकी आजादी थी। पर एक बार यह संकल्प कर लेने पर कि कौन किस अवधि तक अलोना खायगा, बापू इस बातकी पूरी चौकसी रखते थे कि उसकी प्रतिज्ञामें अन्तर न आने पावे। इस विषयपर मुझसे जब पूछा गया तो मैंने साफ जवाब दे दिया कि मेरे लिए तो अलोनी शाक-भाजी गलेसे नीचे उतारना असंभव है। वहाँके सलोने भोजनसे भी मेरी तृप्ति नहीं होती थी, इसलिए मैं सप्ताहमें चार दिन फिनिक्समें रहता और शेष तीन दिन स्वादिष्ट भोजनके लिए डरबनमें।

चटोरोंकी चालबाजी

एक दिन आश्रममें एक विलक्षण घटना हो गई। अलोने दल वाले कुछ तरुण प्रवासी अपने स्वाद-हीन भोजनसे ऊब गए। बापूको प्रसन्न करनेके लिए वे प्रतिज्ञा तो कर बैठे थे—साधनाके लिए कृत-संकल्प हो चुके थे पर उनकी वासना और रसना बगावत कर उठीं। उन्होंने डरबनसे घीकी पूरी कचौरियाँ, मसालेदार चरपरी तरकारियाँ और रसदार मिठा-इयाँ चोरीसे मँगवाईं और लुक-छिपकर पेट-भर खाईं। बापूसे यह बात छिपानेके लिए सभी प्रतिज्ञा-बद्ध थे, पर भाई देवदास गान्धी अपनी प्रतिज्ञापर दृढ़ न रह सके। उन्होंने बापूके सामने अपना अपराध स्वी-कार करते हुए सारा भण्डा फोड़ दिया। शामको प्रार्थनाके पश्चात् बापूने हर एक चटोरेसे पूछा, पर किसीने देवदासके कथनको सत्य स्वीकार नहीं किया। सत्यकी अवहेलना होते हुए देखकर बापूका अन्तःकरण तिल-मिला उठा; मुखपर सत्यकी अप्रतिम आभा एवं नेत्रोंमें दया और करुणा-को ज्योति प्रदीप्त हो उठी।

'इसमें तुम लोगोंका कोई दोष नहीं है, मुझमें ही सत्यका अभाव है। अभी मैंने अपने जीवनको सत्यमय नहीं बना पाया है, इसीसे मेरे सामने सत्य प्रकट करनेमें तुम्हें संकोच होरहा है,' यह कहकर बापू औरों-को दण्ड देनेकी अपेक्षा अपने ही गालोंपर तड़ातड़ तमाचे लगाने लगे।

ऐसा भासित हुआ कि धरती हिल रही है, आकाश फट रहा है। सभीके शरीर थर-थर काँपने लगे, हृदय हठात् हिल गए। चटोरे लज्जित और व्यथित होकर खड़े हो गए और अपराध स्वीकार करके क्षमाके लिए प्रार्थी हुए।

नग्न-स्नान

फिनिक्सके प्रवासी ठीक चार बजे सवेरे उठ जाया करते थे, पर बापू-ने मेरी स्थितिपर दया करके यह रिआयत कर दी थी कि मुझे छः बजे उठाया जाय। मध्याह्नमें नहानेका ढंग निराला ही था। प्रेसके पास एक कुआँ था, वहाँ अधिकांश आश्रमवासी इकट्ठे हो जाते। पहले सब नंग-धड़ंग होकर धूप खाते और फिर शीतल जलसे नहाते। मुझे जेलमें इस प्रकार कैदियोंके साथ नग्न-स्नान करनेका अभ्यास पड़ गया था अतएव यहाँ भी विशेष झिझक नहीं हुई। तभीसे मुझे नग्न-स्नानकी जो आदत पड़ी सो आजतक नहीं छूटी है। फर्क इतना ही है कि तब बाहर नहाना पड़ता था और अब स्नानागारका द्वार बन्द करके नहाता हूँ।

बापूका शिशु-स्नेह

एक दिनकी बात है। सत्याग्रहकी समाप्तिपर अनेक प्रख्यात अंग्रेज आश्रम आये हुए थे, खासकर बापूसे भारतीय-समस्यापर सलाह-मशविरा करनेके लिए। बड़े कमरेकी लम्बी मेजके चौगिर्द लोग बैठे हुए थे, उनके बीचमें बापू विराज रहे थे। बाहर बिलकुल सन्नाटा था, अन्दर गंभीर राजनीतिक चर्चा चल रही थी। उसी समय अचानक मेरा बच्चा रामदत्त खेलते-खेलते ठोकर खाकर गिर पड़ा, फिर तो न उसने आव देखा, न ताव—न माताके पास आया, न पिताके पास, चिल्लाते हुए वह बापूके पास पहुँचकर उनसे लिपट गया। वह विचार-सभा बाल-रुदनसे गूँज उठी; वार्तालापका सिलसिला टूट गया। सबका ध्यान रोते हुए रामदत्तकी तरफ खिंच गया। हम लोग तो सन्न रह गए। बालक इतनी ढिठाई कर सकेगा, इस की हमें आशंका भी नहीं थी। जगरानी बच्चेको रोते देखकर चुप कराने के लिए दौड़ पड़ी थीं, पर उनके पास

पहुँचनेसे पहले ही बच्चा बापूकी गोदमें पहुँच गया। यदि बापूकी जगह मैं होता तो बच्चेको डाँट-डपटकर हटा देता और उसके माँ-बापको भी खरी-खोटी सुनानेसे बाज नहीं आता। पर मेरे और बापूके स्वभावमें उतना ही अन्तर ठहरा, जितना गंगा और गड़हीमें होता है। बापूने उस महान् सभाकी, जिसमें प्रवासी भारतीयोंके भविष्यका नक्शा खींचा जा रहा था, उतनी पर्वाह नहीं की, जितनी कि बच्चेकी फरियाद सुनने और उसे पुचकारकर खुश करनेकी। बच्चेको गोदमें लेकर थपकियाँ देते हुए बापू कमरेमें टहलने लगे और साथ ही उस गंभीर विचारमें भी योग देने लगे। सबके साथ एक-सा व्यवहार करने और सबपर समदृष्टि रखनेके कारण महात्मा गान्धी 'बापू' या 'पिताजी' के नामसे पुकारे जाने लगे थे।

सम्पादकसे श्रमजीवी !

मैं सम्पादक बनकर फिनिक्स गया था। सन् १९१३के अन्तिम सत्याग्रहमें हिन्दी और तामिल-भाषियोंने आत्मोत्सर्गका ऐसा उच्चतम परिचय दिया था कि उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करनेके लिए बापूने 'इंडियन ओपीनियन' में हिन्दी और तामिल अंश जोड़ दिया। हिन्दी अंशका काम मुझे सौंपा गया। उससे पहले मैं भागलपुर (बिहार) से निकलने वाले 'आर्यावर्त' मासिक पत्रका सहकारी सम्पादक रह चुका था, इसलिए मुझे अभिमान था कि सम्पादन-कलाका मैं एक निष्णात विद्वान् हूँ। पर फिनिक्समें 'इंडियन ओपीनियन' के सम्पादकीय विभागमें प्रविष्ट होते ही मेरा सारा अहंकार चूर-चूर हो गया और मुझे पता लग गया कि मैं इस कलाका अभी ककहरा भी नहीं जानता हूँ। उस समय 'इंडियन ओपीनियन'के सम्पादकीय विभागमें गान्धीजी और पोलक साहब जैसे विश्व-विश्रुत पत्रकार काम कर रहे थे। उनके चरणोंके पास बैठकर मैंने सम्पादन-कलाकी शिक्षा पाई, जो मेरे भावी जीवनमें अत्यन्त उपयोगी एवं लाभदायक सिद्ध हुई।

मैं अपनी सारी विद्या-बुद्धि लगाकर लेख तैयार करता, पर जब

बापूको दिखाता तो मुझे अक्सर निराश होना पड़ता । वे उनमेंसे कुछ-न-कुछ दोष ढूँढ निकालते और मुझे दोबारा लिखनेके लिए मजबूर करते। एक बार बापूने जनरल स्मट्सकी नीति और सोलमन-कमीशनकी प्रकृति-पर एक आलोचनात्मक अग्रलेख लिखनेकी आज्ञा मुझे दी। मैंने रत-जगा करके एक लम्बा और लच्छेदार लेख लिखा और सवेरे नजरसानीके लिए बापूके हाथमें देकर उनका मुँह जोहने लगा। बापू लेख पढ़कर पहले तो मुसकराये, फिर गंभीर होकर बोले, "इसको लिखनेमें तुमने काफी मेहनत की है अवश्य, पर वह व्यर्थ गई। यह लेख 'इंडियन ओपीनियन' में अग्र-स्थान पाने योग्य नहीं बन सका। इसमें शब्दाडम्बरके घटा-टोपमें भाव ऐसे प्रच्छन्न हो गए हैं कि वे साधारण हिन्दी-पाठकके लिए बोधगम्य नहीं रहे। थोड़े-से-थोड़े शब्दोंमें अधिक-से-अधिक बातें कहना ही लेखन-कलाकी विशेषता है। एक भी फालतू शब्दका उपयोग करना मानो अपनी कलम का दुरुपयोग करना है। जो कुछ कहना चाहो, सीधे ढङ्गसे सरल शब्दों-में साफ-साफ कहो, उसे शब्दालंकारके आवरणसे ढको मत।

"दूसरी बात यह है कि इस लेखमें जनरल स्मट्सके विरुद्ध जो बातें कही गई हैं, क्या यही बात तुम उनके मुँहपर कहनेका साहस कर सकते हो ? यदि हाँ, तो इससे शिष्टाचारका संहार होगा और यदि नहीं तो, फिर तुम्हें ऐसी बातें लिखनेका क्या अधिकार है ? जब किसीके विचार और व्यक्तित्वपर सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे टीका-टिप्पणी करना आवश्यक समझो तो अपने मनमें यह कल्पना कर लो कि वह व्यक्ति तुम्हारे सामने बैठा है और जो बात बिना किसी संकोचके तुम उसके मुँहपर कह सकते हो वही बात लिखो भी, उससे एक शब्द भी अधिक नहीं। यह याद रखना चाहिए कि पत्रकारकी हैसियतसे तुम जिसकी टीका कर रहे हो, वह टीका उसकी दृष्टिसे ओझल नहीं रह सकती। यह भी मत भूलो कि किसीकी नीति, प्रवृत्ति और अभिमतिकी आलो-चना जहाँ जन-हितकी दृष्टिसे वांछनीय है वहाँ किसीपर व्यक्तिगत आक्षेप करना सर्वथा अनुचित है। यदि किसीका व्यक्तित्व सार्वजनिक हितमें

बाधक होरहा हो तो उसकी टीका करना पत्रकारका नैतिक अधिकार है।" बापूका यह सदुपदेश मेरे पत्रकार-जीवनका मुख्योद्देश्य बन गया।

मैंने फिनिक्समें बड़ी शानसे अपना काम आरंभ किया था क्योंकि मुझे इस बातका अभिमान था कि एक इतिहास-प्रसिद्ध अखबारका सम्पादक कहलानेका सम्मान मुझे प्राप्त है। अधिकांश आश्रम-वासी अखबारके लिए अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी और तामिलमें टाइप बैठाया करते, पर मैं अपनी कुर्सीसे हिलना-डुलना पसंद नहीं करता। जब पत्रके मुद्रणका दिन आता और सभी लोग पारी-पारीसे 'सिलैण्डर मशीन' चलाते तब मैं भी संकोचमें पड़कर पन्नोंकी तह लगानेमें लग जाता। पर मेरी यह स्थिति शीघ्र ही बदल गई। एक दिन बापू मेरी मेजके पास आये और यह कहकर चले गए, "तुमको घड़ी-दो घड़ी टाइप बैठानेका काम भी सीखना चाहिए।" बस, उस दिनसे मेरी आधी सम्पादकी गायब हो गई।

अब मैं कुछ घण्टे एडीटर बनकर लेख लिखता और कुछ घण्टे कम्पोजीटर बनकर टाइप सेट करता। इसीसे मेरा पिण्ड नहीं छूटा, अभी भाग्यमें कुछ और भी बदा था। वहाँ एक बहुत बड़ी अखबार छापनेकी 'सिलैण्डर मशीन' थी, जो पहले 'स्टीम इंजिन'से चलती थी। बापूने इंजिनको तो पेन्शन दे दी और सिलैण्डरके चक्रमें डण्डा लगाकर हाथसे चलानेकी व्यवस्था की। उन्होंने अपने लिए यह नियम बना लिया था कि सामने एक घड़ी रख लेते थे। इस बीचमें कई आदमियोंकी अदला-बदली होजाती थी क्योंकि कोई भी देरतक बापूके साथ ठहर नहीं सकता था। मैं चालाकीसे काम लेता। जब अखबार छपने लगता तो मैं छपे पन्नोंकी तह लगानेमें जुट जाता। इस प्रकार मैं मशीनका चक्कर घुमानेकी कड़ी मेहनतसे सहज ही बच जाता। मेरी यह कार-गुजारी बापूकी तेज निगाहसे कब तक छिपी रहती। एक दिन उन्होंने मेरा नाम लेकर पुकारा। मैं सुनकर भी बहरा बन गया और अपने काममें ऐसा व्यस्त हो गया कि मानो कुछ सुना ही न हो। वहाँ सभी नवयुवक मेरी इज्जत

करते थे; इसलिए मेरे बदले उनमेंसे एक तरुण बापूके पास दौड़ गया, किन्तु बापू मुझे कहाँ छोड़ने वाले थे ? उन्होंने हँसते और मजाक करते हुए युवकसे पूछा, "क्या तुम ही भवानीदयाल हो ?" बेचारा नौजवान लज्जित होकर लौट पड़ा। अब क्या करता ? कोई चारा नहीं रहा। लाचार होकर मुझे मशीनका चक्कर घुमानेके लिए जाना ही पड़ा। चक्रके हण्डेको एक तरफसे बापूने पकड़ा और दूसरी तरफसे मैंने। लगी मशीन चलने। पाँच मिनटमें ही मेरी साँसोंने इस्तीफा दे दिया—दम उखड़ने लगा। मेरी हालत बापूसे छिपी नहीं रही। उन्होंने दयार्द्र होकर पूछा,—"थक गए न ?"

"नहीं, अभी तो नहीं थका हूँ" कहकर मैंने अपनी कमजोरी छिपानेकी कोशिश की और दो-तीन मिनिट और भी चक्कर घुमाया; पर मेरा दिल ही जानता था कि मेरे श्रमकी क्या गत हो रही है ? आखिर बापूको दया आगई और उन्होंने मेरी रिहाई कर दी। इस प्रकार फिनिक्समें मेरी तरक्की होती गई, एडीटरसे कम्पोजीटर बना और कम्पोजीटरसे खासा मजदूर।

साधु एंड्रूजके दर्शन

फिनिक्समें ही मुझे पहले-पहल साधु-चार्ल्स फ्रीयर एंड्रूजके दर्शन हुए। पहली झाँकीमें ही उनके प्रति मेरे हृदयमें श्रद्धा उत्पन्न हो आई। उनका बाह्य रूप आरसीकी भाँति इतना स्वच्छ था कि उसपर उनके हृदयके सारे भाव झलक रहे थे। उनसे परिचय और वार्त्तालाप होनेपर मुझे निश्चय हो गया कि यह कोई साधारण पादरी नहीं है प्रत्युत एक ऐसा महापुरुष है, जो गरीबोंका गर्व, दासताका दुश्मन, मजदूरोंका मसीहा, किसानोंका कर्णधार, स्वतंत्रताका सन्देश-वाहक और भारतका भक्त बनकर विश्वमें पूजित होगा।

सच बात तो यह है कि अंग्रेजोंके अन्याय, अधमता और अत्याचारको देखकर मैं उस कौमको ही घृणाकी दृष्टिसे देखने लगा था। पर साधु सी० एफ० एंड्रूजके सत्सङ्गसे मुझे अपना विचार बदलनेपर बाध्य होना

पड़ा। वस्तुतः किसी भी देश या कौमके न सब व्यक्ति अच्छे ही होते हैं और न सब खराब ही,—

"उपजहिं एक संग जल माहीं।
जलज जोंक जिमि गुण बिलगाहीं।।"

जहाँ हिरण्यकश्यप पैदा हुआ था वहीं तो प्रह्लाद भी; जिस भूमिपर रावण जन्मा था उसी पर विभीषण भी; जो नगर कंसका जन्म-दाता है वही कृष्णका भी। इसी तरह जिस इंग्लैंडके गोरे नेटालमें प्रवासी भारतीयोंके साथ अमानुषिक अत्याचार कर रहे थे उसी इंग्लैंडने एंड्रूज-जैसे पवित्रात्माको प्रवासी भारतीयोंकी सेवा और सहायताके लिए प्रदान किया था।

उन दिनों दक्षिण अफ्रिकाके अंग्रेजोंके अखबारोंमें साधु एंड्रूजकी बड़ी कड़ी टीका हो रही थी—बेहूदी दिल्लगी उड़ाई जा रही थी। बात यह हुई कि जब एंड्रूज डरबनमें जहाजसे उतरे तो बंदरगाहपर उन्होंने प्रवासी भारतीयोंकी भारी भीड़ पाई। पोलकसे परिचय होनेपर उन्होंने पूछा, "गांधीजी कहाँ हैं?" मजदूरके रूपमें महात्माजी वहीं पोलकके पास खड़े थे। इसलिए एंड्रूजके पूछनेपर बापूने कहा; "मैं ही गांधी।" एंड्रूजने झुककर भारतीय विधिसे बापूके चरण छुए और हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

यह दृश्य अंग्रेज रिपोर्टरोंके लिए असह्य हो गया। दक्षिण अफ्रिका-के पत्रकार-संसारमें भूकम्प मच गया, अंग्रेजोंके मर्यादा-मयंकपर ग्रहण लग गया। वे क्रोधानलमें जल-भुनकर खाक हो गए। अंग्रेजी अखबारोंने अभिमानी अंग्रेजोंको उभारनेके लिए इस घटनापर रंग चढ़ाते हुए लिखा—"ईसाइयोंके धर्म-गुरु कहलाने वाले रेवरेण्ड महोदय गान्धीके पैरोंपर गिर पड़े, उन्होंने गांधीके चरण भी चूमे और उनके तलुवेकी धूल उठाकर बड़ी श्रद्धा-भक्ति से अपने माथेपर रगड़ी।"

एंड्रूजको इन वाहियात व्यङ्गोक्तियोंकी पर्वाह ही क्या थी? वे तो बापूके व्यक्तित्वमें अपने प्रभु ईसा मसीहका रूप देख रहे थे। एक दिन

डरबन के अंग्रेजोंके गिरजाघरमें एंड्रूज साहब प्रवचन करने गए और अपने साथ बापूको भी ले गए, पर हिन्दुस्थानी होनेके कारण बापूको गिरजेके अन्दर जानेसे रोक दिया गया। ईसाई धर्माध्यक्षोंकी इस वर्ण-विद्वेष-मूलक मनोवृत्ति और प्रवृत्तिपर एंड्रूजको बड़ा ही विस्मय और विषाद हुआ और उनकी आत्मा गिरजा-पंथियोंसे विद्रोह कर उठी। उन्होंने अपने वक्तव्यमें स्पष्ट घोषणा कर दी कि "मैं दक्षिण अफ्रिका-के सारे गिरजाघरोंमें मशाल लेकर ढूँढ आया, पर कहीं अपने प्रभु ईसा-को नहीं पाया। आखिर वे मुझे मिले तो सही, पर कहाँ? प्रभु ईसाके नामपर निर्मित गिरजोंमें नहीं, प्रत्युत हिन्दुस्थानी सत्याग्रहियोंके जीवन-के उच्च उद्देश्यमें, उनके सत्य और अहिंसाके सन्देशमें, उनके त्याग और बलिदानके आवेशमें।"

उस समय साधु एण्ड्रूजसे मेरा जो स्नेह-सम्बन्ध स्थापित हुआ वह उनके जीवनकी अन्तिम घड़ी तक अविच्छिन्न रहा। कई बार प्रवासी भारतीयोंके प्रश्नोंपर परस्पर सैद्धांतिक मतभेद भी हुआ, पर व्यक्तिगत प्रेम-प्रवाहमें कोई अन्तर नहीं आने पाया। इस पोथीमें प्रसङ्गानुसार उन बातोंकी चर्चा होगी। यहाँ तो इतना ही कहना काफी है कि प्रथम-मिलनमें ही उनके महान् व्यक्तित्वका मुझपर अमिट प्रभाव पड़ा। उन-पर मेरी श्रद्धा होगई और मुझपर उनकी प्रीत। मैंने उनके चरित्रमें कृष्णके निष्काम कर्मका, बुद्धके संयम, सत्य और अहिंसाका, ईसाकी दया और क्षमाका अद्भुत संयोग पाया। उनको समझनेमें मुझसे भूल नहीं हुई थी क्योंकि कुछ ही वर्षोंके बाद हिन्दुस्थानने उनको 'दीनबंधु' कहकर पुकारा और संसारने मानवताका पुजारी कहकर।

साधु एण्ड्रूजके साथी श्री डबल्यू. डब्ल्यू. पियर्सनसे भी मेरा परि-चय हुआ था और उनके व्यक्तित्व और सुकृत्यसे भी मैं प्रभावित हुए बिना न रहा। वह अंग्रेज नर-पुंगव इस संसारमें नहीं रहे, पर प्रवासी भाइयोंके इतिहासमें उनका नाम अमर रहेगा। वे बंग भाषाके विशिष्ट विद्वान् थे। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरके "गोरा" नामक उपन्यासका

उन्होंने बंगलासे अँग्रेजीमें अनुवाद किया था। वे बड़े पुरुषार्थी और क्रियाशील व्यक्ति थे। उन्होंने नेटालमें गन्नेकी कोठियों, चायके बगानों, कोयलेकी खानों और भिन्न-भिन्न स्थानोंपर पहुँचकर उनकी दशाकी पूरी-पूरी जाँच की थी और बहुत अच्छी रिपोर्ट तैयार की थी। वे नेटालकी यात्राके बाद एण्ड्रूज साहबके साथ फिजी भी गये थे और उनकी रिपोर्ट प्रकाशित होनेपर भारतमें ऐसा तहलका मचा कि अर्द्ध गुलामी—गिरमिट की प्रचलित प्रथाका अन्त आ गया।

उन्हीं दिनों हिन्दुस्थान-सरकारके प्रतिनिधि सर बेंजामिन रोबर्टसन, रायसाहब सरकार और श्री स्लेटर भी फिनिक्स पधारे थे। इनसे भेंट और बातचीत करके मैं इस परिणामपर पहुँचा कि ये लोग मानो ब्रिटिश साम्राज्यवाद रूपी विशाल-मशीनके कल-पुर्जे हैं, जो अपनी-अपनी जगहपर जड़े हुए हैं और परिमित परिधिमें घूम रहे हैं। इनके पास न मानवी-हृदय है और न उसमें पर-दुःख-कातरताका अभिव्यंजन। सोचा कि बेंजामिन रॉबर्टसन और स्लेटर भी अंग्रेज है तथा एण्ड्रूज और पियर्सन भी अंग्रेज ही। एक ही जमीनपर जन्मे, एक ही वातावरणमें पले, एक ही देशमें शिक्षा पाई, पर इनके स्वभाव और चरित्रमें कितना अन्तर है। एक ब्रिटिश साम्राज्यवादकी शोषण-नीतिका रक्षक है तो दूसरा भारतीय स्वाधीनताका संदेश-वाहक। ठीक ही है, समुद्रमें जहाँ सीप होता है वहाँ सीपज भी तो।

फिनिक्स-प्रवासकी स्नेहमयी स्मृतियाँ मेरे जीवनकी स्थायी सम्पत्ति हैं। बापू भारतके वर्तमान युगका आत्मा हैं, इस युगका संदेश उन्हींकी वाणीसे निःसृत हो रहा है। उनका सहवास एवं सत्सङ्ग किसीके लिए भी सौभाग्यकी बात है। मेरे जीवनकी अन्य चिन्ताएँ मिटी नहीं थीं, पर बापूके सत्संगकी कामनासे उनको मैं पास नहीं फटकने देता था। जब बापू और बाने फिनिक्ससे सदाके लिए विदा होनेका निश्चय कर लिया तो मेरी चिन्ताएँ भी बलवती हो गईं और मैं भी फिनिक्स-से जर्मिस्टनके लिए प्रस्थान कर गया।

जोहान्सबर्गमें
सन् १९१२ के ऐतिहासिक सत्याग्रह-संग्रामके अवसर पर



(…ईं ओर से) सत्याग्रहके सूत्रधार महात्मा गान्धी और ट्रांसवाल ब्रिटिश …इण्डियन एसोसियेशनके सभापति स्व० श्री अहमद महमद काछलियाके … न्यू कासलमें भारतीय हड़तालके प्रवर्त्तक पण्डित (अब स्वामी) भवानी दयाल खड़े हैं।

: १३ :

बापूकी विदाई

ट्रांसवाल पहुँचकर देखा कि सर्वत्र गान्धीजीकी विदाईकी धूम है। प्रवासी भारतीयोंका हृदय-सम्राट् दक्षिण अफ्रिकासे सदाके लिए विदा हो रहा है, यह सोचकर सबकी छाती फट रही थी। यदि कोई खुश था तो इसप मियाँ, हबीब मोटन और उनका मतान्ध दल। हमदर्दे-इस्लाम सोसायटीकी बैठकमें यहाँतक विष-वमन किया गया कि हिन्दू और गांधी तो शरीअतके अनुसार काफिर हैं, उनसे अलग रहनेमें ही मुसलमानोंका कल्याण है। काफिरको लीडर मानना इस्लामके उसूलके खिलाफ है। कुछ दीनदार मुसलमान भी इन काफिरोंके साथ जा मिले हैं, उनके साथ भी काफिरोंकी तरह सलूक किया जाना चाहिए। गांधीको किसने हमारा लीडर बनाया? गांधीने तो सरकारसे सुलह कर ली है और यह मंजूर कर लिया है कि कानूनसे एक मर्दकी एक ही बीबी जायज है। इससे इस्लामपर भारी हमला हुआ है—हमारे मजहबकी तौहीन की गई है। कुरान-मजीदमें चार बीवियाँ तक जायज करार दी गई हैं, इसलिए गांधीके इकरारनामेको मुसलमान हर्गिज कबूल नहीं कर सकते।

गुण्डोंकी गुस्ताखी

सन् १९१४की २३ जुलाईको बापू और बा नेटालसे विदा लेकर जोहान्सबर्ग पधारे। स्टेशनसे उनकी बग्घीके साथ हजारों आदमियोंका जलूस चला। भीड़ ऐसी थी कि लोगोंको चींटीकी चाल चलना पड़

रहा था। मैं फुटपाथपर श्रीलालबहादुरसिंहके साथ बड़ी कठिनाईसे आगे बढ़ रहा था। हमारे पास हीसे एक मुसलमान गुण्डेने बापूको लक्ष्य करके सड़ा अण्डा फेंका, वह जाकर बग्घीके पहियेपर फूट गया। दूसरा अण्डा बग्घीके अन्दर पहुँचकर फूटा। तीसरा वह फेंकने ही वाला था कि हमारी सहिष्णुताका अन्त हो गया। सिंहजीने झपटकर उसकी गर्दन पकड़ी और उसे फुटपाथपर दे मारा। मैंने ऊपरसे दो-चार ऐसी ठोकरें लगाईं कि गुण्डेका मिजाज दुरुस्त हो गया। हुल्लड़ मच गया, गिरे हुए गुण्डेको लोग लातें लगाते और रास्ता नापते। उस भीड़में कौन किसको देखता है। हबीब मोटनके दलमें बड़ी उत्तेजना फैली, पर इधर भी किसको पर्वाह थी।

पर हमें अपने इस कृत्यके लिए दण्ड मिले बिना नहीं रहा। उसी रातको जब सभा हुई तो गांधीजी भाषण देते हुए बोले, "सुनता हूँ कि स्टेशनसे आते समय कुछ भाई मुझपर हमला करना चाहते थे, उनसे मुझे कुछ भी नहीं कहना है। वे भले ही मुझे मारें—मैं मार खानेको तैयार हूँ। पर जो भाई मेरी रक्षाकी चिन्तामें थे उनसे ही मुझे कुछ निवेदन करना है। मीर आलमने जब मुझे मारा था तो ईश्वरको मेरा मरना मंजूर नहीं था, इसलिए मैं नहीं मरा। मैं विलायत जा रहा हूँ, यदि मेरा जहाज डूब जाय और मैं भी उसके साथ समुद्रमें समा जाऊँ तो मेरे रक्षक क्या करेंगे? क्या वे ईश्वरसे लड़ेंगे? यदि मेरी मौत आवेगी तो क्या तुम उससे मेरी रक्षा कर सकते हो? फिर तुम रक्षक बननेका अहंकार क्यों कर रहे हो? मुझे रक्षककी जरूरत नहीं है। जिन्होंने मेरी रक्षाके बहाने एक भाईको मारा-पीटा है उन्होंने मेरा हित नहीं, बड़ा ही अहित किया है।"

हमने गांधीजीका उपदेश सिर झुकाकर सुन तो लिया, पर हमें अपने कृत्यपर कोई ग्लानि नहीं हुई। उस समय मैं केवल बाईस वर्षका नौजवान था; दिलमें जोश था, खूनमें गर्मी थी। सोचा कि बापूका कथन उनकी महानताका द्योतक है। वे अपने वैरीपर भी दया दिखा सकते हैं,

पर मैं तो एक क्षुद्र जीव हूँ। ऐसे उत्तेजना-पूर्ण अवसरपर आत्म-संयमसे काम लेना मेरे लिए तो सहज नहीं है। यदि कोई दुरात्मा किसी महात्मा-पर सड़े अण्डे फेंकनेका दुस्साहस करता है तो उसको देखते हुए भी शान्त रह जाना क्या उचित है—कायरता और अधर्म नहीं है? दुष्टको दण्ड देना यदि दुष्कर्म है तो मैं गुण्डेको बदमाशी करते हुए देखकर शान्त रहनेकी अपेक्षा दुष्कर्मी बनना अधिक पसंद करूँगा।

इस प्रकार वस्तु-स्थितिका विश्लेषण करके मैंने अपने मनको सन्तुष्ट करनेकी चेष्टा तो की, पर यह हिम्मत न पड़ी कि बापूके सामने जाकर अपनी जिम्मेवारी स्वीकार कर लूँ। यहाँतो यह भय व्याप रहा था कि बापूको कहीं हमारी कार-गुजारीका पता न लग जाय अन्यथा ऐसी फट-कार खानी पड़ेगी जो हण्टरकी मारसे भी अधिक चोटदार होगी।

जोहान्सबर्गके 'मेसोनिक हॉल'में बापू और बाको अन्तिम विदाईका भोज दिया गया था। ट्रांसवालकी अनेक सभा-समितियोंकी ओरसे बापूको अभिनंदन-पत्र अर्पण किये गए थे। जर्मिस्टनके प्रवासी भारतीयोंकी ओरसे मान-पत्र पढ़नेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। दक्षिण अफ्रिका, हिन्दुस्थान और इङ्गलैण्डसे सैकड़ों तार आये थे जिनमें बापूकी त्याग-तपस्या और सेवाकी स्तुति की गई थी। केवल जोहान्सबर्गकी अहमदिया इस्लामिक सोसायटीके तारमें विदाई-समारोह (Farewell Reception) का विरोध किया गया था, जिसपर सारी सभा 'शर्म-शर्म' पुकार उठी थी।

पठान मीर आलम

इसी अवसरपर मैंने पहले-पहल उस पठान मीर आलमको देखा, जिसने बापूपर घातक हमला करके काफी ख्याति प्राप्त कर ली थी। बापूके मुँहमें आगेके टूटे हुए दो दाँत उस हमलेकी निशानी हैं। बात यह हुई कि सन् १९०७में ट्रांसवाल-सरकारने एक ऐसा कानून बनाया कि जिसके अनुसार प्रत्येक प्रवासी भारतीयके लिए दस उंगलियोंकी अलग-अलग और चार-चार उँगलियोंके साथ कुल अठारह उँगलियोंकी छाप देना

अनिवार्य हो गया। इसी अपमान-जनक कानूनके विरुद्ध सत्याग्रहका प्रथम प्रयोग किया गया। हजारों प्रवासी भारतीयोंने कानून भङ्ग करके बंदी-घरमें बसेरा किया। हिन्दुस्थान और इङ्गलैण्डमें घोर हलचल मच गई सारी दुनियामें ट्रांसवाल सरकारकी बदनामी होने लगी।

कूट-नीतिज्ञ जनरल स्मट्सने बापूको बुलाकर समझाया और शपथ खाकर विश्वास दिलाया कि यदि प्रवासी भारतीय स्वेच्छापूर्वक उँगलियों-की छाप देकर 'एशियाटिक रजिस्ट्रेशन सर्टिफिकेट' ले लेवें और इस प्रकार कानूनकी कदर कर देवें तो सरकार पार्लमेण्टके आगामी अधिवेशनमें इस कानूनको ही रद्द कर देगी। इस कानूनको रद्द कराना ही सत्याग्रहका उद्देश्य था अतएव बापू आ गए जनरल स्मट्सके चकमेमें।

बापूने जोहान्सबर्गमें सार्वजनिक सभा बुलाकर अपने देशवासियोंको जनरल स्मट्सके आश्वासनकी सूचना देते हुए समझाया कि जहाँ बलात् उँगलियोंकी छाप देना अपमान-जनक था वहाँ स्वेच्छापूर्वक निशान देकर रजिस्टरमें नाम दर्ज करना सर्वथा उपादेय है। इसपर मीर आलम आदि कुछ भारतीय बापूपर बहुत नाराज हुए और यहाँ तक धमकी दे डाली कि यदि हमारे नेता होकर भी बापू अपराधियोंकी भाँति उँगलियोंकी छाप देकर रजिस्टरमें नाम दर्ज करावेंगे तो उनको हम जानसे मारे बिना नहीं छोड़ेंगे। पर बापू कहाँ किसीसे डरने और पीछे हटने वाले थे ? उनको अपने विचारके अनुसार चलनेमें संसारकी कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती है।

बापू अन्य कुछ सहकर्मियोंके साथ रजिस्ट्रारके ऑफिसके लिए रवाना हुए। खबर पाकर मीर आलम आदि भी चल पड़े—अपनी धमकीको कार्यान्वित करनेके लिए। एक गलीमें मुठभेड़ हो गई। "कहाँ जा रहे हैं आप ?" मीर आलमने पूछा। "उँगलियोंकी निशानी देकर रजिस्टरमें नाम दर्ज कराने," बापूने निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया। बस, मीर आलमने लट्ठ-प्रहार आरंभ कर दिया। बापू 'हा राम'! कहकर धरतीपर गिर पड़े। उनका सिर फट गया, दाँत टूट गए; मारसे शरीर

चूर-चूर हो गया, लहूकी धारा बह चली। मीर आलम आदि यह सोचकर कि बापूका काम तमाम हो चुका, वहाँसे रफू-चक्कर हो गए। पर किसी कविने ठीक ही कहा है—

जाको राखै साइयाँ, मारि सके नहिं कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥

रेवरेण्ड जे० जे० डोक बापूको उठाकर अपने घर ले गए। वहाँ उनके सिवा उनकी पत्नी और बच्चोंने बापूकी बड़ी लगन और स्नेहसे सेवा-शुश्रूषा की, जिससे उनके जीवनकी रक्षा हो गई। मीर आलम आदि आक्रमणकारी गिरफ्तार हुए। उनपर संगीन जुर्म लगा। बापूका बयान लेनेके लिए पुलिस पादरी डोकके घर पहुँची। मृत्यु शय्यापर पड़े हुए इस महापुरुषका हृदय दयार्द्र हो उठा। टूटे-फूटे और सीधे शब्दोंमें उन्होंने पुलिस-अफसरसे कहा, "हमारे उन भाइयोंको यह प्रतीत हुआ कि मैं भूल कर रहा हूँ, इसलिए उन्होंने मुझे शिक्षा देना ठीक समझा। मैं उनपर मामला चलाना और उनको दण्ड दिलाना नहीं चाहता, इसलिए उनके विरुद्ध साक्षी देना नहीं चाहता। मैं तो सरकारसे प्रार्थना करता हूँ कि हमारे आक्रमणकारी बंधुओंको फौरन जेलसे छोड़ दे।" पुलिस निराश होकर लौट गई। एक अंग्रेज ईसाई पादरीके घरमें भारतके कुली-कबाड़ियोंके इस नेताने ईसाकी यह वाणी कि "Love your enemy as you love your ownself अर्थात् अपने वैरीसे वैसा ही प्रेम करो जैसा तुम स्वयं अपनेको करते हो"—कार्यान्वित कर दिखाया। बापूकी दयालुता और क्षमाशीलता देखकर वह ईसाई-परिवार चकित और मुग्ध हो गया।

अतएव उस दिन जब हम लोग बापूके साथ बैठे हुए बातें कर रहे थे और यह सूचना मिली कि मीर आलम आया है, एवं बापूसे मिलना चाहता है तो मेरे कौतूहलकी सीमा नहीं रही। उस समय जो दृश्य मैंने देखा वह मेरे लिए एक अपूर्व शिक्षा थी। बापू उसको अन्दर जानेकी आज्ञा देनेकी अपेक्षा स्वयं उठ खड़े हुए, बड़े वेगसे बाहर गये और उसे

गले लगाकर ऐसे मिले जैसे कोई अपने परम मित्रसे मिलता है। उसकी बाँह पकड़कर अन्दर लाये और कुशल-क्षेम पूछने लगे। पर वह जवाब क्या देता? उसका दिल इतना भर आया था कि जबान बन्द हो गई थी। बस, उसकी आँखें उसके दिलकी कहानी कह रही थीं। आँसूकी गङ्गामें, वह अपने पूर्व-कृत पापका प्रायश्चित्त कर रहा था। जब उसकी जबान खुली भी, तो बस बार-बार क्षमा-याचना करनेके सिवा और कुछ न कह सका।

बापूका प्रस्थान

कुछ मतान्ध मुसलमानोंके सिवा दक्षिण अफ्रिकाके हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी प्रभृति सभी धर्मावलम्बी एवं हिन्दुस्थानी, चीनी, अंग्रेज, बोअर, यहूदी, जूलू आदि सभी जातिकी जनता बापूको आदर, स्नेह और श्रद्धाकी दृष्टिसे देखती थी। इस महापुरुषने दक्षिण अफ्रिकामें इक्कीस साल ऐसा उच्चतम और पवित्र जीवन बिताया था कि उसके विचारके विकट विरोधियोंको भी विवश होकर उसके महान् व्यक्तित्वके समक्ष नत-मस्तक होना ही पड़ा। सबकी जबानपर गान्धीका नाम था। उनके त्याग और तपस्यापर लोग मुग्ध होकर कहते, "मनुष्य है तो बस यही एक। इस संसारमें इसके जोड़का दूसरा मनुष्य मिलना दुर्लभ ही है। प्रकृतिवादी पाश्चात्य प्रजाके बीचमें रहकर पूर्वके इस साधु-पुरुषने अपने सात्त्विक जीवन और आत्म-बलसे सभीको आश्चर्यमें डाल रखा था। कुली-कबाड़ियोंके इस नेताके साहस और शौर्य, स्नेह और सत्य-संकल्प, निर्वैरता और निर्लोभ, सादगी और सदाचार देखकर गौराङ्ग-प्रजा दाँतों-तले उँगली दबा रही थी। माननीय गोपालकृष्ण गोखले जैसे विज्ञ विचारक, उद्भट विद्वान् और विचक्षण राजनीतिज्ञको दक्षिणीय अफ्रिका हिन्दू महासभाके प्रधानकी एक चिट्ठीके जवाबमें साफ कहना पड़ा था कि "यद्यपि गांधीजी मेरे प्रायवेट सेक्रेटरीकी हैसियतसे काम कर रहे हैं तो भी उनके चरणोंके समीप बैठना ही मेरे उपयुक्त स्थान है।" (Mr. Gandhi is acting as my private

secretary, though my proper place is to sit at his feet.)

प्रवासी भारतीयोंका हृदय-सम्राट् उनसे विदा हो रहा था; विलायत होते हुए अपनी मातृ-भूमिकी गोदमें जानेके लिए और वहाँ अपने देशवासियोंको निद्रासे जगाने, सत्याग्रहका सन्देश सुनाने और स्वाधीनताका संग्राम चलानेके लिए। उसके दिमागमें स्वतन्त्र-भारतका नक्शा था और दिलमें था स्वराज्य प्राप्त करनेका अटल संकल्प। सारे प्रवासी भारतीय बापूके विछोहसे व्यथित थे, पर यह सोचकर कि उनकी जो हानि हो रही है उससे उनकी मातृ-भूमिकी भलाई होगी, बापू और बाको उन्होंने छाती कड़ी करके विदाई दी।

सोनेकी खानमें नौकरी

ट्रांसवालसे बापूके कूच करते ही मेरे चित्तकी स्थिरता भी कूच कर गई और सिरपर फिर चाकरीकी चिन्ता सवार हुई। धोबीके धन्धेसे मेरा मन उचट गया था, इसलिए नहीं कि उससे मुझे नफरत हो गई हो बल्कि इसलिए कि उसमें दिन-भर तो खटना पड़ता ही था, पर रातमें भी फुरसत नहीं मिलती थी। धोबीका धन्धा स्वीकार करना मानो जन-हितके कार्योंसे नाता तोड़ लेना था। कोई अच्छी नौकरी नहीं मिली, विवश होकर मुझे सोनेकी खानमें चाकरी करनी पड़ी। 'रोज़डीप गोल्ड माइन' (Rose Deep Gold Mine) उस खानका नाम था और वहाँके हिन्दुस्थानी सरदार थे—श्री बन्धु गङ्गादीन। मासिक वेतन था केवल पाँच पौण्ड और पाँच शिलिङ्ग। प्रथम मासका वेतन सरदार साहबने ले लिया—जर्मिस्टन हिन्दू-मन्दिरके जीर्णोद्धारके लिए। मन्दिरकी मरम्मत तो नहीं हुई, पर मेरी मेहनतकी कमाई मन्दिरके प्रधानजीके पेटमें पच गई।

काम बड़ा कठोर था। एक सप्ताह दिनमें काम करना पड़ता और एक सप्ताह रातमें। नित्य नौ घण्टेकी मशक्कत थी। मुझे एक कलदार गोलमेजके पासमें बराबर खड़ा रहना पड़ता। भूगर्भसे निकले हुए पत्थर-

के छोटे-बड़े टुकड़े एक नालीसे उस मेजपर गिरते; मेजके सिरेपर पानीका झरना था, उसमें धुलकर वे हमारे सामने आते। हम उन टुकड़ोंको उलट-पलटकर देखते, जिनमें सोनेकी निशानी पाते उनको मेजपर ही छोड़ देते और शेष बेकार टुकड़ोंको चुन-चुनकर बाहर फेंकते। यह काम बलवान मजदूर और खासकर हट्टे-कट्टे हब्शी ही करते थे, पर भाग्यके फेरसे वही कड़ी मशक्कत मेरे सिर आ पड़ी थी।

ट्रांसवालकी सर्दी मशहूर है। सवेरे मैं गर्म कपड़े पहनकर घरसे निकलता, बाहर ऐसी ठंढी हवा मिलती कि मानो अङ्ग-अङ्गको चीर डालेगी। खानपर पहुँचते-पहुँचते तो सारा शरीर सुन्न हो जाता। कामपर और भी कष्ट होता। एक तो ठंढसे उंगलियाँ सीधी नहीं होतीं, तिसपर पानीसे सराबोर पत्थरके टुकड़ोंको उलट-पलटकर देखनेका काम। मालूम पड़ता कि हाथ बर्फमें गले जा रहे हैं। हथेलियोंके चमड़े छिल जाते थे, वे लहूसे लथपथ हो जाती थीं। शरीरकी शक्ति तो जवाब दे चुकी थी, केवल आत्म-बलने मुझे उस कठोर कर्मसे विचलित होने नहीं दिया।

दिनकी जब पारी आती तो एक हूँठे अंग्रेज सरदारकी निगरानीमें काम करना पड़ता था। एक दिन बातचीतके सिलसिलेमें उसे मेरे राजनीतिक विचारोंका पता लगा। फिर तो उसकी वक्र-दृष्टि मुझपर बनी ही रहती। वह इस बातकी पूरी चौकसी रखता कि मैं कामसे सिर उठाकर दम न लेने पाऊँ। मेरे दिन बड़े क्लेशसे कटते। पर रातकी पारीमें मुझे कुछ आराम मिल जाता था। रातका सरदार एक स्कॉटलैण्डका गोरा था। उसके पास एक ऐसा हृदय था, जिसमें दूसरोंके लिए कुछ दर्द था। उसे इस बातका बड़ा विस्मय था कि मैं शिक्षित और संस्कारी होकर भी ऐसी मजदूरी क्यों कर रहा हूँ? उसने मुझे कामके बदले आराम करनेकी पूरी छूट दे दी थी। मैं रातमें तीन-चार बार चाय या कहवा बनाकर उसे पिला दिया करता। अवकाश मिलनेपर वह घण्टों मेरे पास बैठता और अँगीठी तापते हुए संसारकी सामयिक चर्चा किया करता।

हिन्दुस्थानी सरदार श्री बन्धु भी मेरे साथ अच्छा वर्त्ताव करते थे।

संसारकी सर्वोपरि स्वर्ण-भूमि

संसारमें सबसे अधिक सोना निकलता है, ट्रांसवालकी खानोंसे। सोनेकी खानें मानवी उद्योग और प्रतिभाकी परिचायिका हैं। उनको देखकर साधारण बुद्धि चकरा जाती है। भूमिके भीतर पक्की सुरङ्गें बनाई गई हैं। मुहानेसे कुछ दूरीपर मुख्य स्टेशन है। वहाँसे अनेक लाइनें निकली हैं और उनके अलग-अलग स्टेशन बने हुए हैं। इन लाइनों-पर लोहेकी पटरियाँ बिछी हैं, जिनपर छोटी-छोटी गाड़ियाँ दौड़ती हैं। भूगर्भमें भाँति-भाँतिके यन्त्रोंका जाल फैला हुआ है, कुछ कल बिजली-के बलसे चलते हैं और कुछ वायुके बलसे। अन्दर तो हवा होती नहीं, इसलिए वह एक बड़ी नलीके जरिये वहाँ पहुँचाई जाती है। इस बड़ी नलीसे अनेक छोटी-छोटी नलियाँ निकली हुई हैं, जो आवश्यकतानुसार विभिन्न स्थानोंपर हवा पहुँचाती हैं। इस पवनके प्रतापसे यन्त्र चलते हैं, गाड़ियाँ दौड़ती हैं और डायनामाइट लगानेके लिए पत्थरके टुकड़ोंमें छेनीसे छेद भी बनाये जाते हैं। भूगर्भमें जहाँ-जहाँ मनुष्य काम करते हैं वहाँ-वहाँ भी नलियों द्वारा वायु पहुँचानेका पूर्ण प्रबन्ध है।

भूगर्भमें डायनामाइटसे पत्थर तोड़े जाते हैं। वहाँसे टूटे हुए टुकड़ों-को गाड़ियोंमें लादकर उस चुनावकी मेज (Sorting Table) पर लाया जाता है, जहाँ मैं काम करता था। वहाँ पारखियोंसे परखे जाकर सुनहले पत्थर फिर गाड़ियोंमें लदकर पिसान-घरमें जाते हैं। वहाँ उनको कूटने-पीसनेके लिए लोहेके बड़े-बड़े मूसल होते हैं, जिनकी ऐसी धमा-धम चोट उन टुकड़ोंपर पड़ती है कि वह चूर-चूर होकर मैदा बन जाता है। फिर वह एक नालीमें पानीके साथ बहकर उस स्थानपर जाते हैं, जहाँ रासायनिक क्रियासे सोना तो छन जाता है और बेकार बालू बहकर अलग गिरता है। सभी खानोंके पास रेतके पहाड़ बन गए हैं और पानी-के पोखरे।

खनिज-विद्या-विशारदोंका अनुमान है कि अभी सौ साल और इसी

तरह खानकी खुदाई हो सकेगी और ट्रांसवाल संसारको सबसे अधिक सोना दे सकेगा। इन खानोंकी बदौलत इंग्लैंडके गोरे पूँजीपति और ट्रांसवालके गोरे कर्मचारी, कारीगर और मजदूर तो गुलछर्रे उड़ाते हैं; पर हब्शी मजदूरोंकी जैसी मिट्टी पलीद होती है वह श्वेताङ्गोंकी स्वार्थ-परताका एक सजीव नमूना है। उनकी गुलामी बीसवीं सदीकी श्वेताङ्ग सभ्यतापर सबसे बड़ा कलंक है। एक बार ट्रांसवालमें चीनी मजदूर भी मँगाये गए थे, पर जब स्वतन्त्र देशके चीनियोंने 'जो हने ताहिको हनिये, पाप-दोष एको नहिं गनिये'का मन्त्र-पाठ प्रारम्भ किया तो गोरे प्रभुओं में हाहाकार मच गया और "बखशो बिलार चूहा बंडा ही रहेगा" कहकर उनसे पिण्ड छुड़ाया गया और गिरमिटकी अवधि पूरी होनेसे पूर्व ही हर्जानेकी रकम देकर उनको चीन लौटा दिया गया। रहे बेचारे हब्शी, जो गोरोंके लिए "घरकी मुरगी दाल बराबर" ठहरे—उनको तो गोरे अपना जर-खरीद गुलाम ही समझते हैं।

दक्षिण अफ्रिकाके हब्शी खानोंमें काम करना पसन्द नहीं करते, इसलिए पोर्तुगीज-उपनिवेश मोजम्बिकसे हब्शी भर्ती करके लाये जाते हैं। इनसे गिरमिट लिखा लिया जाता है। उनके रहनेके लिए बड़े-बड़े अहातोंके अंदर बारक बने हुए हैं। यदि वे किसी कामसे बाहर जाना चाहें तो उनको 'पास' (आज्ञा-पत्र) लेना पड़ता है। खानेके लिए मुख्यतया मकईकी लेई मिलती है, थोड़ी-सी डबल रोटी, उबला बिन्स और सप्ताहमें एक बार मांसके टुकड़े भी मिल जाते हैं। महीना-भर लगातार सख्त मेहनत करनेपर तीन पौण्ड तक तनखाह मिलती है।

रविवारको उनकी छुट्टी रहती है। उस दिन उनकी बारकोंमें चले जाइये और दासताका दारुण दृश्य देख लीजिये। कोई शरीरपर कम्बल ओढ़े धूप खा रहा है, कोई लकड़ीके चम्मचसे मकईकी लेई उड़ा रहा है। कोई गाँजेका दम लगानेमें मस्त है, कोई जूआ खेलनेमें व्यस्त। इनके साथ औरतें नहीं आतीं, इसलिए इनका नैतिक पतन स्वाभाविक है। कोई रण्डीबाज बन जाता है, कोई लौण्डेबाज। मेहनत करके

जो कुछ कमाते हैं वह कामाग्निमें भस्म हो जाता है।

खनिज-पदार्थोंके प्रतापसे अफ्रिका महादेशमें ट्रांसवाल सबसे बढ़कर समृद्धिशाली प्रदेश है। ट्रांसवालमें हीरे भी निकले थे और संसारका सबसे बड़ा—प्रसिद्ध कोहेनूरसे भी बड़ा—एवं कीमती हीरा ट्रांसवालकी खानसे निकला था। उसका नाम है—'क्लिनन' और यह भी कोहेनूरकी भाँति विलायतके बादशाहके ताजकी शोभा बढ़ा रहा है। ट्रांसवालमें सोनेकी तरह कोयलेकी खानोंकी भी भरमार है। भूगर्भसे तो कोयला निकलता ही है, पर मैं तो यह देखकर चकित रह गया कि ट्रांसवालमें ऐसे अनेक पहाड़ भी हैं जिनके अंदर कोयला भरा पड़ा है, और पहाड़ काटकर कोयला निकाला जा रहा है।

'दक्षिण अफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास'

उन दिनों मुझे एक और बात सूझी। जब खानमें मेरी रातकी पारी आती तो दिनमें सो लेनेपर भी कुछ समय बच ही जाता। मैं एक घड़ी भी व्यर्थ गँवाना नहीं चाहता था, इसलिए मैंने 'दक्षिण अफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास' लिखना आरंभ कर दिया और नित्य कुछ समय निकालकर यह काम करता गया। तीन-चार मासमें संक्षिप्त इतिहास लिखकर पूरा भी कर लिया। उसकी भूमिकामें मैंने भारतके भविष्यकी ओर निर्देश करके यह आशा प्रकट की थी कि, "भारतवर्षकी अत्याचार-पीड़ित प्रजाके भावी उत्थानके लिए 'सत्याग्रह' एक अमोघ और अचूक अस्त्र होगा, अनेक विचारशील व्यक्तियोंका यह अभिमत है। अतएव दक्षिण अफ्रिकाके सत्याग्रहके इतिहासको अव्यवस्थित अवस्थामें पड़े रहने देना बुद्धिमानीकी बात नहीं है। इससे हमपर अकर्मण्यताका लांछन लगेगा, हमारी भावी पीढ़ीको एक अनमोल निधिसे वंचित होना पड़ेगा और नवीन भारतके निर्माण-कार्यमें भी व्यवधान पड़ेगा। दक्षिण अफ्रिका-में तो 'सत्याग्रह'का केवल बीजारोपण हुआ है, उसमें कलियाँ खिलने फूल फूलने एवं फल लगनेकी उर्वरा भूमि तो वीर-प्रसविनी रत्न-गर्भा भारतवर्ष ही है। यही भाव और आदर्श सामने रखकर इस पुस्तककी

रचना की गई है।"

उस समय मैंने जो स्वप्न देखा था वह केवल पाँच सालके बाद सत्य सिद्ध हुआ और हिन्दुस्थानके स्वाधीनता-संग्राममें 'सत्याग्रह' सर्वोपरि शस्त्र बन गया। खैर, मैंने संक्षेपमें 'दक्षिण अफ्रिकाके सत्याग्रह-का इतिहास' लिखकर प्रकाशनार्थ हिन्दुस्थान भेजा। यहाँ वह पोथी कई प्रकाशकोंके दरवाजेसे अनादृत होकर अन्ततः इन्दौरके 'सरस्वती-सदन'के सर्वेसर्वा श्री द्वारिकाप्रसाद सेवकके पास पहुँची। सेवकजी उन दिनों 'नवजीवन' नामक एक मासिक पत्र भी निकाल रहे थे, जो हिन्दीके मासिक पत्रोंमें अपने ढङ्गका निराला था। सन् १९१६ में सेवकजीने मेरी पुस्तक प्रकाशित की—सत्याग्रह सम्बन्धी साठ चित्रोंसे सजाकर। उस समय हिन्दुस्थान और विशेषतः हिन्दी-संसारके लिए सत्याग्रहका सिद्धान्त और उसके क्रियात्मक प्रयोगका मसला बिलकुल नया था। इसलिए सारे भारतमें मेरी तुच्छ कृतिकी इतनी अधिक चर्चा हुई, जिसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी।

उसकी पहली प्रति उत्ताल-तरङ्ग-वाहिनी भगवती गङ्गाके पवित्र तटपर स्थित गुरुकुल काङ्गड़ीके वार्षिकोत्सवपर सत्याग्रहके सूत्रधार महात्मा गांधीके कर-कमलोंमें समर्पित की गई। हिन्दीमें यह मेरी पहली रचना थी, जिसकी देश और विदेशोंमें काफी ख्याति और कदर हुई। हिन्द और हिन्दीमें अपने विषयकी यह पहली पोथी थी। इसके कुछ साल बाद ही महात्मा गान्धी कृत "सत्यके प्रयोग अथवा आत्म-कथा" तथा "दक्षिण अफ्रिकाका सत्याग्रह" नामक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। अतएव मेरी पुस्तकको आशातीत सफलता हुई और वह हाथों-हाथ बिक गई। दूसरी आवृत्ति भी निकली—परिवर्द्धित, परिशोधित और परिवर्तित रूपमें। इस आवृत्तिको खपनेमें भी देर न लगी। अब यह ग्रंथ अप्राप्य है। प्रकाशककी आर्थिक अवस्था बिगड़ जाने और इस विषयपर महात्मा गांधीकी पुस्तक प्रकाशित हो जानेके कारण तीसरा संस्करण नहीं निकल सका।

यद्यपि इसका नाम मैंने 'सत्याग्रहका इतिहास' रखा था पर वास्तवमें यह नाम उसके लिए सार्थक नहीं था। इतिहास लिखनेके लिए जिस योग्यताकी आवश्यकता होती है वह मुझमें थी ही नहीं। पुस्तक-प्रणयनका यह मेरा पहला प्रयास था। इतिहास लिखनेकी यथेष्ट सामग्री भी मेरे पास नहीं थी। आज जब उस पुस्तकपर दृष्टि पड़ती है तो मुझे स्वयं अपनी भाषा, शैली और कच्ची बुद्धिपर दया आती है। उसमें सत्याग्रह-संग्रामका विवरण अवश्य है पर उसे सत्याग्रह-का इतिहास कहना उपयुक्त नहीं है। महात्मा गान्धीने मुझे एक पत्रमें लिखा था, "मैंने आपकी पुस्तक पढ़ ली है। ऐतिहासिक दृष्टिसे उसे नहीं पढ़ा और इस दृष्टिसे पढ़कर सुधार करनेका मेरे पास समय भी नहीं है। बात असली यह है कि हम लोगोंमेंसे बहुत-कम व्यक्तियोंको ऐतिहासिक दृष्टिसे ग्रंथ लिखनेका मुहावरा है। मैंने जो कुछ सत्याग्रह-संग्रामके विषयपर ('दक्षिण अफ्रिकाका सत्याग्रह'में) लिखा है वह भी ऐतिहासिक पुस्तक न मानी जाय।"

खैर, हिन्दीमें अपने ढंग और विषयकी पहली पोथी होनेके कारण हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, अँग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओंके भारतीय अखबारोंमें उसकी ऐसी उच्चतम समालोचनाएँ निकलीं कि मेरा हौसला बहुत बढ़ गया और मैंने लेखन-कार्यका सिलसिला जारी रखनेका संकल्प कर लिया।

: १४ :

हिन्दी-प्रचार और साहित्य-सेवा

मैंने जर्मिस्टनमें मजदूरी करते हुए भी सार्वजनिक क्षेत्रमें ग्रंथ-लेखनके सिवा एक और काम किया और वह था—ट्रांसवाल-हिन्दी-प्रचारिणी सभा, हिन्दी-रात्रि-पाठशाला और हिन्दी-फुटबॉल-क्लबकी स्थापना। हर रविवारको सभाका साप्ताहिक अधिवेशन होता था और उसमें प्रवासी भारतीयोंमें हिन्दी-प्रचारकी आवश्यकतापर विशेष रूपसे चर्चा की जाती थी। हिन्दी-रात्रि-पाठशाला मेरे ही घरपर चलती थी। शामको छःसे आठ बजेतक करीब पचास बच्चोंको हिन्दीकी प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी। जब सोनेकी खानमें मेरी रातकी पारी आती तो जगरानी और देवीदयाल पढ़ाईका काम सँभाल लेते थे। नवयुवकोंमें हिन्दी-प्रचारके विचारसे फुटबॉल क्लब खोला गया था। खेल-कूदकी ओर तरुणोंकी विशेष अभिरुचि और प्रवृत्ति होती है; अतएव हिन्दी-फुटबाल-क्लब भारतीय युवकोंमें हिन्दी-प्रचारका अच्छा साधन बन गया।

प्रवासी भारतीयोंमें हिन्दीकी उपेक्षा

ट्रांसवालमें हिन्दी-भाषियोंकी हालत देखकर मेरी हैरानीकी हद नहीं रही। हिन्दी उनके लिए 'ग्रीक' और 'लैटिन' बन रही थी और 'अंग्रेजी' और 'अफ्रिकान' उनकी घरेलू बोली। नई पीढ़ीकी अपनी मातृ-भाषा हिन्दीकी यह उपेक्षावृत्ति देखकर मैं अत्यन्त चिन्तित हो उठा और सोचने लगा कि किन उपायोंसे उनमें हिन्दीके लिए अनुराग पैदा किया जा सकता है? यदि यही हालत बनी रही तो उनकी हस्ती ही

मिट जायगी। संसारका यह सर्व-मान्य सिद्धान्त है कि जिसकी भाषा मर जाती है उसकी राष्ट्रीयता नहीं बच सकती। यदि देश राष्ट्रका शरीर है तो भाषा है उसकी आत्मा।

बोअरोंकी भाषा-भक्ति

मुझे यह देखकर और भी दुःख होता था कि हमारे देशवासी ट्रांसवालमें हर वक्त बोअर-प्रजाके सम्पर्कमें आते हैं, उनकी ही भाषामें उनसे बात-चीत करते हैं और अपनी भाषाके प्रति उनका अनुराग एवं अभिमान देखकर दंग रह जाते हैं, फिर भी न तो अपनी हालतपर कुछ गौर करते हैं और न उनसे कुछ सबक लेते हैं। वहाँके बोअर, जो हॉलैण्ड और जावासे वहाँ जा बसे हैं, अब दक्षिण अफ्रिकाको ही अपनी मातृ-भूमि मानते हैं। इसलिए उन्होंने अपनी कौमका नाम 'बोअर'से बदलकर 'अफ्रिकेनर' (Afrikaner) रख लिया है और अपनी मातृ-भाषाका नाम डचसे बदलकर 'अफ्रिकान' (Afrikan)। वास्तवमें यह 'अफ्रिकान' भाषा है तो हॉलैण्डकी 'डच' भाषा ही, किन्तु बोअरोंको सैकड़ों वर्ष दक्षिण अफ्रिकामें बीत जाने और हॉलैण्डसे सम्बन्ध टूट जानेके कारण उनकी भाषाका रूप बहुत कुछ बदल गया है। 'अफ्रिकान'में अभी साहित्यका नितान्त अभाव है। बायबिलका भाषान्तर तो अभी हाल हीमें प्रकाशित हो सका है। इस अवस्थामें भी बोअरोंको अपनी भाषापर विलक्षण ममता है। वे घरमें और बाहर सर्वत्र अपनी भाषाका उपयोग करते हैं। अंग्रेजोंसे तो उनको घोर घृणा है। यदि राष्ट्रवादी बोअरोंका वश चले तो वे दक्षिण अफ्रिकामें अंग्रेजीका नाम-निशान मिटा डालें, पर चूँकि दक्षिण अफ्रिकाकी संहतिके नेटाल और केप प्रदेशमें अँग्रेजोंकी बहुत बड़ी आबादी है, इसलिए राज-काजमें अंग्रेजी एवं अफ्रिकान दोनोंका समान स्थान है।

अफ्रिकान देश-भरमें चल पड़ी है। इस शताब्दीकी तीसरी दशाब्दीमें स्वर्गीय जनरल हर्टजोगकी राष्ट्रीय सरकारने यह फरमान निकाला था कि दक्षिण अफ्रिकाकी संहतिके सभी प्रान्तोंके प्रत्येक राज-कर्मचारीको

तीन महीनेके अन्दर 'अफ्रिकान' सीख लेनी चाहिए अथवा इस्तीफा दे देना चाहिए अन्यथा उसको नौकरीसे निकाल दिया जायगा। यूनियन-पार्लमेण्टमें अफ्रिकानका ही बोल-बाला है—सभी राष्ट्रवादी सदस्य इसी भाषामें बोलते हैं। अफ्रिकानके ज्ञान बिना पार्लमेण्टकी कार्यवाहियाँ समझना आसान नहीं है। बोअर-राष्ट्रवादी तो अंग्रेजोंको उपदेश देते हैं कि यदि अंग्रेज अफ्रिकाको अपनाना चाहते हैं और उसे एक शक्तिशाली देश बनाना चाहते हैं तो उनको इङ्गलैण्ड और इंग्लिश से नाता तोड़ लेना चाहिए और अमेरिकाके अंग्रेजोंकी भाँति 'अफ्रिकेनर' बनकर 'अफ्रिकान'को अपनी मातृभाषा बना लेना चाहिए।

प्रवासी भारतीयोंकी राष्ट्रभाषा

जब गिरमिट लिखाकर भारतीय मजदूर दक्षिण अफ्रिका जाने और वहाँ आबाद होने लगे तो उनके सामने परस्पर विचार-विनिमयकी विकट समस्या पैदा हुई। गिरमिटकी गाँठमें तो बँधे थे केवल हिन्दी-भाषी और मद्रासी। उनके पीछे-पीछे गुजराती तथा कुछ अन्य प्रान्त-वासी भी व्यवसायके विचारसे स्वतंत्ररूपेण वहाँ जा पहुँचे। इस प्रकार हिन्दुस्थानके विभिन्न प्रान्तोंके मनुष्योंका वहाँ जमाव हो गया। उनमें कोई हिन्दी बोलता था तो कोई गुजराती, किसीकी बोली तामिल थी तो किसीकी तैलगू, कुछ मलयालम-भाषी थे तो कुछ कनाड़ी-भाषी। एक दूसरेकी बोली समझ नहीं पाते थे। इससे काम-काजमें बड़ी अड़चन होने लगी, कब तक पड़ोसीके सामने मौन साधे रहते, कहाँ तक इशारेसे काम लिया करते? यह स्थिति तो बड़ी अवांछनीय थी। आपसमें बातचीत करनेके लिए एक सार्वजनिक भाषाका सवाल सामने आया, जिसे उन्होंने बड़ी सुगमतासे हल कर लिया। इस बातपर विचार करनेके लिए न कहीं सभा-सम्मेलनकी बैठक हुई थी, न विद्वानोंकी वक्तृताएँ और न किसी प्रकारकी सार्वजनिक चर्चा ही। प्रत्येक भारतीयने व्यक्तिगत रूपसे अपने मनमें प्रस्ताव पास कर लिया कि विभिन्न भाषा-भाषियोंसे बातचीत करनेके लिए हिन्दीसे काम लेना चाहिए। हिन्दी अपनी सरलताके

प्रतापसे प्रवासी भाइयोंकी राष्ट्रभाषा बन गई। नेटालमें मद्रासियोंकी संख्या सबसे अधिक है और हिन्दी-भाषियोंकी तादाद है उनसे बहुत कम। पर मद्रासियोंके लिए हिन्दी सीखना अनिवार्य हो गया। तामिल और तैलगू द्रविड़ भाषाएँ होनेके कारण आर्यभाषा (हिन्दी) से नितान्त भिन्न हैं, फिर भी मद्रासी भाइयोंको हिन्दी सीखनेमें देर नहीं लगी। कोई तो बहुत अच्छी बोल लेता है और कोई टूटी-फूटी हिन्दी, पर बोल लेते हैं सभी। यहाँ यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि केवल दक्षिण अफ्रिकाका ही नहीं, प्रत्युत जिन-जिन उपनिवेशोंमें हमारे देश-वासी गिरमिटकी प्रथामें गये हैं, यद्यपि वे एक-दूसरेसे हजारों कोस दूर हैं,कोई प्रशांत महासागरके तटपर है तो कोई हिन्द महासागरके किनारे, कोई अमेरिकाके दक्षिणीय भागमें है तो कोई अफ्रिकाके दक्षिणीय भागमें, तो भी यह देखकर विस्मय होता है कि उन सभी देशोंके प्रवासी भारतीयोंने पारस्परिक व्यवहारके लिए एकमतसे हिन्दीको ही राष्ट्रभाषा स्वीकार किया—उसीसे अपनी तत्कालीन आवश्यकताकी पूर्ति की।

नई पीढ़ीपर अंग्रेजीका असर

पर विषादकी बात है कि यह स्थिति टिकाऊ नहीं रहने पाई। उनकी अगली पीढ़ीकी मनोवृत्तिमें परिवर्तन दिखाई देने लगा। जिन प्रवासी बच्चोंको पादरियोंकी पाठशालाओंमें पढ़नेका अवसर मिला उनके दिल और दिमागका नकशा ही बदल गया। उनपर अंग्रेजोंका ऐसा रङ्ग चढ़ा कि वे आपसमें अंग्रेजी बोलना अपना बड़प्पन समझने लगे और अपनी मातृ-भाषामें बातचीत करना असभ्यताका लक्षण। फिर भी पुराने और ..पद भाइयों और गृह-देवियोंसे व्यवहार करनेमें लाचार होकर उनको भी मातृ-भाषाका सहारा लेना ही पड़ता था। पहली पीढ़ीमें जो कुछ कोर-कसर रह गई थी, वह दूसरी और तीसरी पीढ़ीमें बिलकुल मिट गई। ज्यों-ज्यों शिक्षाका प्रचार होता गया और अंग्रेजी बोलने वालोंकी संख्या बढ़ती गई त्यों-त्यों हिन्दीकी आवश्यकता घटती गई। अब तो यहाँ तक नौबत आ पहुँची है कि भाई बहनसे, पति पत्नीसे और पिता

पुत्रसे अंग्रेजी बोलनेमें संकोच नहीं करता है। यह मानसिक गुलामी राजनीतिक गुलामीसे कहीं अधिक भयंकर है, पर इस स्थितिके लिए प्रवासियोंपर दोष मढ़ना कहाँ तक उचित और न्याय-सङ्गत होगा? विदेशों-के वातावरणमें पलनेके कारण यदि उनकी राष्ट्रीय भावनाएँ कुंठित हो गईं तो यह दुःखकी बात अवश्य है, पर उससे भी अधिक दुःख तो यह देखकर होता है कि स्वयं हमारे हिन्दुस्थानमें ही लोग दास्य-मनो-वृत्तिका पोषण और रक्षण कर रहे हैं। भारतके बड़े-बड़े विद्वान् और विचारक अंग्रेजीमें व्याख्यान देते हैं, गण्य-मान्य ग्रंथकार और लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक अंग्रेजीमें लिखते हैं, अग्रगण्य अखबार अंग्रेजीमें निकलते हैं, शिक्षा-संस्थाओंमें अंग्रेजीका आधिपत्य है और यहाँ तक कि हमारी राष्ट्रीय महासभाका नाम भी अंग्रेजीमें 'इंडियन नेशनल कॉंग्रेस' है। शिक्षित भारतीयोंपर अंग्रेजीका ऐसा गाढ़ा रङ्ग चढ़ गया है कि अपनी भाषाके प्रति न माया रही न ममता। अंग्रेजीमें सोचना, बोलना, लिखना और सारा काम चलाना उनके जीवनका लक्ष्य, ध्येय और जन्म-जात अभ्यास बन गया है। क्या दिमागी गुलामीका ऐसा दृष्टान्त दुनियामें और कहीं मिल सकता है?

जब स्वदेशमें ही हमारी यह सन्ताप-जनक स्थिति है तो विदेशोंमें इससे अच्छी स्थितिकी आशा करना मृग-तृष्णाके सिवा और क्या होगा? खैर, चाहे जो कुछ हो, पर दक्षिण अफ्रिका-प्रवासी भारतीयोंकी तत्का-लीन स्थिति मेरे लिए तो असह्य हो उठी। मैं उनके जीवनकी धारा पलट देना चाहता था; पर महाकवि तुलसीदासकी उक्ति 'मम मति रङ्क मनोरथ राऊ' मुझपर ठीक-ठीक घट रही थी। मनमें बड़ी-बड़ी तरंगें उठतीं, पर मेरी आर्थिक अवस्थाके कगारोंसे टकराकर वे सब गिर जातीं। मैंने छोटे पैमानेपर ट्रांसवालमें हिन्दी-प्रचारका जो काम आरम्भ किया था, उसका संतोष-प्रद परिणाम देखकर मेरा उत्साह बहुत बढ़ गया। हिन्दी-प्रचारका काम ट्रांसवाल तक ही सीमित रखना मुझे ठीक नहीं जँचा, अतएव मैंने सारे दक्षिण अफ्रिकामें हिन्दी-प्रचारकी योजना बनाई।

सोचा कि काम शुरू कर देनेपर खर्चके लिए धनका इन्तजाम हो ही जायगा। रहा मेरा निजी ऋण चुकानेका सवाल, जो इमिग्रेशन केसके कारण मेरे सिरपर चढ़ गया था, सो मैंने स्वर्गीय श्री बद्री अहीरको, जिन्होंने मुकद्दमा लड़नेके लिए मुझे पैसे दिये थे, ग्रीनउडपार्क (नेटाल)-की अपनी एक पैतृक जमीन देकर कर्जसे छुट्टी पा ली। इस प्रकार व्यक्तिगत चिन्ताओंसे मुक्त होकर मैंने सोनेकी खानकी नौकरी छोड़ दी और अपना सारा समय हिन्दी-प्रचारमें लगानेका संकल्प कर लिया।

नेटालमें हिन्दी-प्रचार

सन् १९१५के जनवरी मासमें मैंने ट्रांसवालसे नेटालके लिए प्रस्थान कर दिया और नेटालके सर्वोपरि नगर डरबनको अपने कार्योंका केन्द्र बनाया। दक्षिण अफ्रिकाकी संहतिके नेटाल प्रान्तमें ही प्रवासी भारतीयोंकी सबसे अधिक आबादी है। उन दिनों नेटालमें भारतीयोंकी संख्या डेढ़ लाख थी, जिनमें अस्सी हजार तामिल-तैलगू भाषा वाले, दस हजार गुजराती और साठ हजार हिन्दी-भाषी थे।

पाँच साल मैंने नेटाल और ट्रांसवालमें लगातार हिन्दी-प्रचारका काम किया। इस दरम्यानमें जर्मिस्टन, न्यूकासल, डेनहाउसर, हार्डिंगस्पुट, ग्लेङ्को, बर्नसाइड, लेडीस्मिथ, विनेन, जेकब्स आदि शहरों और कस्बोंमें हिन्दी-प्रचारिणी सभाएं और हिन्दी पाठशालाएँ खुल गईं। इन सभाओंको एक केन्द्रीय मंडलके अन्तर्गत संगठित करनेके विचारसे दक्षिणीय अफ्रिका-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की मैंने स्थापना की, जिसका पहला वार्षिकाधिवेशन लेडीस्मिथमें और दूसरा पीटर मेरित्सबर्गमें बड़ी धूम-धामसे हुआ था।

डरबन नगरके अन्तर्गत क्लेरइस्टेटमें मैंने हिन्दी-आश्रम भी बनवाया। इस आश्रममें हिन्दी-पुस्तकालय, हिन्दी-विद्यालय और हिन्दी-मुद्रणालयकी व्यवस्था की गई। मेरे पास लगभग एक हजार पुस्तकोंका एक अच्छा संग्रह था, वह मैंने हिन्दी-पुस्तकालयको प्रदान कर दिया। इस संग्रहमें धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि विभिन्न विषयोंके

चुने हुए ग्रंथ थे। मेरे तब तकके जीवनकी वही सर्वोत्तम सम्पत्ति थी। उन ग्रंथोंको एकत्र करनेमें मैंने काफी मेहनत और खर्च किया था। मैंने उत्साहमें आकर अपना ग्रंथ-संग्रह दान तो कर दिया, पर उस भूलके लिए मुझे पीछे बहुत पछताना पड़ा। जब सन् १९१९में हिन्दी-आश्रमको प्रबन्ध-समितिके हवाले कर मैं वहाँसे चला गया तो पुस्तकोंकी ऐसी लूट मची कि उनमेंसे एक भी नहीं बचने पाई। प्रबंध-समितिके सदस्य-ही इस लूटके जिम्मेदार थे।

हिन्दी-आश्रममें जो हिन्दी-विद्यालय था उसका संचालन-सूत्र जगरानीने ग्रहण किया। विद्यालयमें शिक्षा निःशुल्क थी। जगरानी आस-पासके बालक और बालिकाओंको एकत्र करके बड़े प्रेमसे पढ़ातीं और उनके साथ मातृवत् बर्त्ताव करतीं। उनके वात्सल्य और स्नेह-पूर्ण व्यवहार-कौशलसे विद्यालयकी अच्छी उन्नति हुई।

हिन्दी-अखबार

उस समय हिन्दीमें एक अखबारका अभाव मुझे बहुत अखर रहा था। भारतीय भाषाओंमें कई अखबार निकल भी रहे थे, पर हिन्दीमें एक भी नहीं। महात्मा गान्धीका 'इंडियन ओपीनियन' और श्री एम० सी० आँगलियाका 'इंडियन व्यूज', दोनों गुजराती-अंग्रेजीके साप्ताहिक थे। श्रीदादा ओसमानका मासिक 'क्रेसएट' पत्र भी गुजरातीका गौरव बढ़ा रहा था। तामिलमें भी दो साप्ताहिक पत्र निकल रहे थे,—एक श्री पी० एस० अय्यरका 'अफ्रिकन क्रॉनिकल' तामिल-अंग्रेजीमें और दूसरा श्री सी० वी० पिल्लेका 'विवेक भानु' केवल तामिलमें। एक हिन्दी ही ऐसी भाषा थी, जिसमें कोई पत्र-पत्रिका नहीं थी। सत्याग्रहके समय 'इंडियन ओपीनियन' में जो हिन्दीका अंश जोड़ा गया था वह भी हिन्दी-ग्राहकोंका अभाव बताकर निकाल दिया गया। उन्हीं दिनों 'इंडियन ओपीनियन' का एक विशेषाङ्क—सुनहला अङ्क (Golden Number) निकला था उसमें अंग्रेजी, गुजराती और तामिलको तो जगह दी गई परन्तु हिन्दी इस सौभाग्यसे वंचित

रखी गई। हिन्दीकी यह उपेक्षा मेरे दिलपर गहरी चोट कर गई और मैंने इसका खुल्लम-खुल्ला विरोध भी किया।

फलतः मैंने हिन्दी-आश्रमसे 'हिन्दी' नामक साप्ताहिक पत्र निकालनेका इरादा तो कर लिया, पर यह कोई आसान काम तो था नहीं। इसमें केवल व्यक्तिगत सेवाकी ही नहीं, काफी धनकी भी जरूरत थी। पर मेरी तो यह अटल धारणा है कि संसारमें कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जो सच्ची लगनसे उद्योग करनेपर सिद्ध न हो? मैंने हिन्दी-प्रेसके लिए हिन्दीके टाइप, मशीन आदि सामग्रियाँ जुटा भी ली थीं, दुर्भाग्यवश आश्रमके ट्रस्टियोंमें परस्पर मतभेद हो गया, जिससे मेरे मनकी मुराद मिट्टीमें मिल गई।

फूटका फल

हिन्दी-आश्रम बनवाकर मैंने पाँच ट्रस्टियोंके नामसे रजिस्ट्री करा दी थी। भारतीयोंके स्वभावमें यह बहुत बड़ा दोष है कि वे व्यक्तिगत मतभेदको व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं रखते, प्रत्युत उसे सार्वजनिक संस्थाओंमें भी ला घुसेड़ते हैं। आश्रमके एक ट्रस्टी श्रीलालबहादुरसिंह और मेरे अनुज देवीदयालका आपसमें कुछ झगड़ा हो गया। यद्यपि उस विग्रहके दोनों फरीक ट्रांसवालकी एक ही बस्तीमें रहते थे और मैं था उनसे सैकड़ों मील दूर नेटालमें; अतएव उस कलहसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था, तो भी सिंहजीने मेरे भाईका बदला मुझसे चुकानेका निश्चय कर लिया और मुझे अकारण नीचा दिखानेके विचारसे उन्होंने आश्रमको ही बर्बाद कर डालना उचित समझा, जिसके कि वे स्वयं एक स्तम्भ थे।

श्रीलालबहादुरसिंहने पहले तो जोहान्सबर्गके प्रसिद्ध वकील श्री एच० डबल्यू० रिचके द्वारा नोटिस भिजवाकर मुझपर रौब जमानेकी कोशिश की, पर जब मैंने रिचको साफ जवाब दे दिया कि "यहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं" तब तो सिंहजी और भी बौखला उठे। उनमें बात बनानेकी विलक्षण शक्ति थी, साधारण लोगोंको बहकाना और उल्लू

बनाना उनके बायें हाथका खेल था। ट्रांसवालके अनेक गरीब आदमियों-की आत्मा उनको श्राप दे रही थी, पर किसकी मजाल कि जो उनके मुँहपर कुछ कह सके या उनकी बात माननेसे इन्कार कर सके। सच बात तो यह है कि देवीदयालका आत्म-सम्मान ही सिंहजीके क्रोधका कारण बन गया था। जब वकील रिचने उनको यह सलाह दी कि मेरे विरुद्ध अदालतमें कोई कार्रवाई करनेकी गुंजाइश नहीं है, इसलिए उनको आश्रमके ट्रस्टियों और मैनेजिंग कमेटीके सदस्योंकी सभा बुलाकर आपसका मतभेद मिटा देना चाहिए, तब सिंहजी डरबन पहुँचकर लगे मेरे विरुद्ध प्रचंड प्रचार करने। येन केन प्रकारेण मुझे जनताकी दृष्टिसे गिराना और सार्वजनिक क्षेत्रसे मार भगाना ही उनके प्रचारका एक-मात्र लक्ष्य था। उनको 'अपनी चिलम सुलगानेके लिए दूसरेका झोंपड़ा जलाने'में कोई संकोच न हुआ। उन्होंने अपने वकील रिचकी नेक सलाहको ठुकराकर आश्रमके ट्रस्टियों एवं मैनेजिंग कमेटीके सदस्योंकी सभा बुलानेके बजाय सार्वजनिक सभाका आयोजन कर डाला। पर कवि वृन्दके कथनानुसार—

श्रवण सुन्यो नयनन लख्यो, यामें संशय नाहिं।
कूप खने जो आनको, परे आपु तेहि माँहिं॥

उस सभामें उलटे सिंहजीपर ही जनताकी ऐसी फटकार पड़ी कि लेने-के-देने पड़ गए। उन्होंने सोचा था कुछ,पर हो गया कुछ और ही। चले थे सार्वजनिक सभामें मुझे बदनाम करने, पर स्वयं ऐसे बदनाम हुए कि उन्हें सभामें मुँह दिखाना तक मुश्किल हो गया। सभा छोड़कर जो नौ-दो ग्यारह हुए तो फिर नेटालमें उनके दर्शन ही दुर्लभ हो गए। सिंहजी अपनी करनीका नतीजा देखकर ऐसे लज्जित हुए कि उन्होंने फिर कभी मुझसे छेड़-छाड़ करनेकी गुस्ताखी नहीं की और आश्रमका सारा भार मुझपर छोड़कर किनारा कर गए।

इस विग्रहका परिणाम यह हुआ कि मैंने हिन्दी-आश्रमसे हिन्दी अखबार निकालनेकी जो योजना बनाई थी और उसे कार्यान्वित करनेके

लिए साधन भी जुटाये थे, सब व्यर्थ हुए। मेरा बना-बनाया महल ढह पड़ा, मेरी उमंगें भंग हो गईं। मैं हृदय थामकर और आह भरकर रह गया।

'धर्मवीर'का सम्पादन

उन्हीं दिनों डरबनसे हिन्दीमें एक साप्ताहिक अखबार निकला था। उसके अध्यक्ष थे—श्रीरल्लाराम गंधीलामल भल्ला। आर्यसमाजी होनेके कारण भल्लाजीने अमर शहीद पं० लेखरामकी पुण्य-स्मृतिमें अपने अखबारका नाम 'धर्मवीर' रखा था। सन् १९४२में दक्षिणीय अफ्रीका हिन्दू महासभाकी जो परिषद् स्वर्गीय स्वामी शंकरानन्दजीकी अध्यक्षता में हुई थी, उसीमें भल्लाजीने एक अखबार निकालनेकी प्रतिज्ञा की थी। यद्यपि उन्होंने अखबार निकालनेके लिए मुद्रणालयका पूरा प्रबंध कर लिया था तो भी हिन्दी-भाषियोंकी गिरी हुई हालत देखकर आर्थिक हानिकी आशंकासे कार्यारम्भ करनेमें वे हिचक रहे थे। जब साल-भर मैंने नेटालमें लगातार हिन्दीका प्रचार किया और हिन्दी-भाषी जनतामें नव-जीवनका संचार हो गया तो भल्लाजीका भी भय जाता रहा, उनका हौसला बढ़ गया। उन्होंने इस सुअवसरको हाथसे निकल जाने देना अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिए घातक समझा और फौरन अपना अखबार निकालकर हिन्दी-संसारपर अधिकार जमानेकी ठान ली।

सन् १९१६के प्रारंभमें 'धर्मवीर' का प्रथमाङ्क प्रकाशित हुआ और फिर वह साप्ताहिक रूपसे नियमपूर्वक निकलने लगा। निकल तो गया, पर उसके सम्पादनमें भल्लाजीको बड़ी दिक्कत होने लगी। वे उर्दू पढ़-लिख सकते थे, पर हिन्दीके तो अक्षर-ज्ञानसे भी वंचित थे। इस-लिए 'धर्मवीर'के लिए जो-कुछ लिखते सब उर्दूमें और उनके साथी श्रीमेहरचन्द नागरी अक्षरोंमें उसकी नकल करके प्रेसको दे दिया करते थे। इस ढंगसे 'धर्मवीर'का सम्पादन-कार्य होता था। हिन्दी पढ़े-लिखे प्रवासी भारतीय 'धर्मवीर'की उर्दूमयी भाषा समझ ही नहीं पाते थे। एक और त्रुटि भी पाठकोंको बहुत खटकती थी, वह यह कि उसमें

संसारकी सामयिक समस्याओंकी कोई चर्चा ही नहीं होती थी, केवल पुराने ढर्रेके धार्मिक लेखों और गाथाओंसे वह भरा होता था। वास्तवमें भल्लाजी कोई पत्रकार तो थे नहीं, उनका जीवन वाणिज्य-व्यापारमें बीता था। इसलिए पाठकोंको यदि पत्र अरुचिकर और निस्सार जँचता था तो विस्मयकी बात ही क्या?

यद्यपि 'धर्मवीर' की नीतिसे मैं भी सहमत न था तथापि हिन्दीमें एक-मात्र अखबार होनेके कारण उससे मेरी हमदर्दी अवश्य थी। सन् १९१६में 'धर्मवीर'का जो 'ऋषि-अङ्क' निकाला था उसको सर्वाङ्ग सुन्दर बनानेमें मैंने पूरी सहायता पहुँचाई थी। जब आश्रमसे अखबार निकालनेका मेरा संकल्प शिथिल हो गया तो भल्लाजीने मौका देखकर मुझे 'धर्मवीर'के जरिये हिन्दी-भाषियोंकी सेवा करनेके लिए आग्रह-पूर्वक आमंत्रित किया और मैंने भी सन् १९१०के प्रारंभमें हिन्दी-प्रचार-के विचारसे अखबारका सम्पादन-भार अंगीकार कर लिया।

मैंने 'धर्मवीर'का सम्पादन-सूत्र ग्रहण करते ही उसकी नीति-रीति-में आमूल परिवर्तन कर डाला। बाह्य रूप तो वही रहा, पर अन्तरात्मा बदल गई। उसपर जमानेका रङ्ग चढ़ गया, नवीनताकी छाप लग गई। जो निरा धर्मोपदेशक बना हुआ था, वह प्रवासी भारतीयोंके स्वत्त्वोंका वकील बन गया। उससे विभिन्न विषयोंकी सरल, सुबोध एवं लोकप्रिय पाठ्य-सामग्रियोंसे मैंने ऐसा सजाया कि वह हिन्दी-पाठकोंके लिए मान-सिक आहार बन गया। यदि कभी किसी कारणवश उसके निकलनेमें कुछ देर हो जाती तो पाठक अधीर हो उठते और दफ्तरमें शिकायतोंका ताँता बँध जाता। हास्य-विनोदसे ओत-प्रोत एक लेख-माला मैंने शुरू की—'त्रिलोकीका पोथा'। इस लेख-मालाकी बदौलत 'धर्मवीर'का काफी प्रचार हुआ। अग्रलेखसे लेकर फुटकर समाचार तक मुझे स्वयं ही लिखने पड़ते थे। इधर-उधरसे सभाओंकी जो रिपोर्टें आतीं उनकी हिन्दी ऐसी होती कि मुझे फिर नये सिरेसे उन्हें लिखना पड़ता था।

मैं रोज बहुत सवेरे तीन मील पैदल चलकर धर्मवीर-प्रेसमें पहुँच

जाता। वहाँ सारा दिन काम करके शामको घर लौटता। इस प्रकार रोजाना छः मील चलनेकी कसरत हो जाती। प्रेसके साथ ही भल्लाजी-की एक छोटी-सी दुकान थी, जिसके एक कोनेमें मेरा दफ्तर था। जब भल्लाजी कार्यवश शहर चले जाते तो मैं उनकी दुकानकी भी देख-रेख करता और ग्राहकोंको सौदा भी बेच दिया करता। मैं इतनी मेहनत करता था केवल प्रवासी भाइयोंकी सेवा और हिन्दी-प्रचारकी भावनासे प्रेरित होकर और इसके बदलेमें जेब-खर्चके लिए मासिक दो पौण्डके सिवाय और कुछ नहीं लेता था। अगर इसका नाम वेतन हो तो उन दिनों इस वेतनपर नेटालमें एक मामूली मजदूर भी नहीं मिल सकता था ?

किन्तु भल्लाजीको तो 'धर्मवीर'से आर्थिक लाभ था ही नहीं—हानि अवश्य थी। विज्ञापनोंकी बहुत कमी थी, केवल ग्राहकोंका भरोसा था। पर बहुत-से ऐसे ग्राहक भी थे जो वर्षोंसे अखबार हजम करके भी दाम देनेका नाम न लेते थे। तब भला बेचारे भल्लाजी मुझे क्या देते ? मेरे हकमें सबसे अच्छी बात यह थी कि वह मेरी आजादीमें कभी दस्तन्दाजी नहीं करते थे। एक बार वह मान-हानिके मामलेमें फँसकर माफी माँग चुके थे, इसलिए मेरे लेखोंपर उनकी निगाह बनी रहती थी और छापनेसे पहले वे उन्हें एक बार मेहरचन्दजीसे पढ़वाकर अवश्य सुन लिया करते थे। इसमें मुझे कोई एतराज भी नहीं था, क्योंकि इससे मेरे साथ वे भी जिम्मेदार हो जाते थे। इसके सिवा मेरे लेखोंमें कभी कोई हेर-फेर करनेकी उन्होंने हिम्मत नहीं की, इसलिए मतभेदका मौका ही नहीं आया।

लगभग दो साल मैंने 'धर्मवीर'के सम्पादनमें बिताये और इस बीच उसकी कल्पनातीत उन्नति हुई। मेरे सम्पादन-कालमें जो दूसरा ऋषि-अंक निकला उससे 'धर्मवीर'की और भी धाक जम गई। 'धर्म-वीर'के द्वारा दलित और पीड़ित प्रवासी भारतीयोंको अपने मानवी अधिकारोंके प्रति जागरूक करना, वैदिक धर्म और आर्य-संस्कृतिका

संदेश सुनाना, समाजमें प्रचलित सड़ी-गली रूढ़ियोंके विरुद्ध बगावत फैलाना, जात-पाँत और ऊँच-नीचका भेद-भाव मिटाना, स्त्रियोंको समाज-में समानाधिकार दिलाना और मातृ-भाषा हिन्दीकी पताका उड़ाना मैंने अपना मुख्य उद्देश्य बना लिया था। मेरी इस नीतिका परिणाम यह हुआ कि जहाँ मेरे मित्रों एवं प्रेमियोंकी संख्या बढ़ गई, वहाँ मेरे विचारों-के विरोधियोंकी भी कमी न रही। एक ओर सुधारक मेरे मतका समर्थन करते, दूसरी ओर पुरातन-पंथी मेरे विचारोंका विकट विरोध। इधर मेरे लेखोंसे जोश फैलता तो उधर प्रचंड रोष। यहाँ फूलोंके हारसे सत्कार होता, वहाँ निन्दाकी बौछार होती। सार्वजनिक जीवनमें सर्वप्रिय बना रहना किसी विरले ही महापुरुषके लिए संभव हो सकता है, मुझ-जैसे साधारण व्यक्तिके लिए कदापि नहीं।

अचानक एक ऐसी घटना घट गई कि 'धर्मवीर'से मुझे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना पड़ा। "त्रिलोकीका पोया" शीर्षक लेख-माला मैं 'धर्मवीर'के हर अङ्कमें निकाल रहा था, उसका एक अध्याय ओवरपोर्ट (डरबन)की रामायण-सभाके अधिकारियोंको आपत्तिजनक प्रतीत हुआ। यद्यपि उस लेखमें किसी संस्था या व्यक्तिके नाम-धामका उल्लेख नहीं था तो भी रामायण-सभा वालोंने उसमें वर्णित बातोंको अपनी सभापर घटा लिया। मेरे विचारके विरोधियोंको मुझसे बदला चुकानेका अच्छा बहाना मिल गया। उन्होंने वकीलके जरिये मालिक और सम्पादक दोनों के नामसे नोटिस भेजा कि सभाको चाहिए 'धर्मवीर'से माफीनामा और दो सौ पौण्ड बतौर हर्जाना; अन्यथा सभाका निश्चय है अदालतमें मुकदमा चलाना। मैंने सभाके कुछ सदस्योंको समझाया कि उस लेख-को सभापर घटाना किसी भी दृष्टिसे वांछनीय नहीं है; इससे सभाका सम्मान नहीं, अपमान अवश्य होगा। जनतामें ऐसी गलतफहमी फैलेगी, जो सभाके लिए हानि-कारक होगी। पर सभाके संचालक इस सुयोगको हाथसे जाने देना नहीं चाहते थे। भारतीयोंमें 'अपनी नाक कटाकर दूसरेका शकुन' बिगाड़नेकी प्रवृत्ति बड़ी बलवती है—यदि सभाकी

हानि होती है तो भले ही हो, पर मुझे तो एक बार खूब हैरान किया जा सकता है और अगर अदालतमें जुर्म साबित हो गया तो ऐसा अर्थ-दण्ड दिया जा सकता है कि फिर आजादीसे कलम चलानेकी हिम्मत मुझमें न रहेगी और मेरी क्रान्तिकारिणी क्रियाशीलता सदाके लिए कुंठित हो जायगी।

डरबनके स्वर्गीय श्रीगुलाबसिंहको आपसके इस झगड़ेका अदालतमें जाना उचित नहीं जँचा। उन्होंने दौड़-धूप करके एक पंचायत जुटाई और दोनों फरीकोंसे सुलह कर लेनेके लिए अपील भी की। रामायणसभा वाले इस शर्तपर सुलह कर लेनेको तैयार हो गए कि उस लेखके प्रकाशनके लिए 'धर्मवीर'में खेद प्रकट किया जाय। उन लोगोंकी इच्छाकी पूर्ति करनेमें मुझे कोई आपत्ति नहीं थी। मैंने स्पष्टीकरण कर दिया कि वह लेख केवल पाठकोंके मनोरंजनार्थ लिखा गया था—किसी संस्था या व्यक्तिको लक्ष्य करके नहीं; पर यदि सभा वाले उसको अपने ऊपर घटाते हैं तो मैं अफसोस प्रकट करनेके लिए प्रस्तुत हूँ। यदि 'धर्मवीर'-संचालक भल्लाजी अपने दिमागको शान्त रख सकते तो मामला निपट चुका था। पर उनका जोश उभर आया, वह खम ठोंककर बोल उठे कि उस लेखके लिए मैं खेद तो प्रकट नहीं करूँगा। हाँ, जरूरत पड़नेपर सुप्रीम कोर्ट तक मुकदमा जरूर लड़ूँगा। बस, सारा गुड़-गोबर हो गया, पंचायत भंग हो गई।

पर जब रामायण-सभा वालोंने अदालतसे समन्स भेजे तब तो भल्लाजीका सारा हियाव हिरन हो गया। भल्लाजी बात बघारनेमें तो इतने वीर थे, परन्तु काम पड़ जानेपर इतने कायर निकले; यह देखकर मेरे विस्मय और विषादकी सीमा नहीं रही। मेरे पूछनेपर उन्होंने साफ कह दिया—"मैं लड़नेसे नहीं डरता, लेकिन इस वक्त लाचार हूँ। मेरी जमा-पूँजी 'धर्मवीर'में लग चुकी है, हाथ बिलकुल खाली हो गया है। अतएव मामला लड़नेके लिए पैसे कहाँ से लाऊँ ?"

"यदि यही बात थी," मैंने व्यथित होकर पूछा, "तो उस दिन

पंचायतमें आपकी बुद्धि कहाँ गायब हो गई थी ? सुलहकी बात तो तय हो चुकी थी, पर आवेशवश आप बीचमें कूद पड़े, रङ्ग-में-भङ्ग हो गया। आज जब उस बातपर अमल करनेका वक्त आ गया तब आप लगे इस तरह बगलें झाँकने ? यह कहाँकी मर्दानगी है ?"

"आप जो चाहें कह सकते हैं," भल्लाजी निर्लज्ज होकर बोले, "पर मुझमें लड़नेकी ताकत नहीं है। अगर आप लड़नेका इरादा रखते हों तो जनतासे चन्दा माँगकर लड़ सकते हैं।"

"इस सलाह पर लानत है," मैंने रोष-भरे स्वरमें कहा, "मुकदमे-बाजीके लिए जनतासे चन्दा माँगना मेरे उसूलके खिलाफ है। ऐसा काम करके मैं अपने आत्म-सम्मान की—सम्पादकीय सिद्धान्तकी—हत्या नहीं कर सकता। मेरे साथ आपका यह घोर विश्वास-घात है।"

मेरा रोष देखकर भल्लाजीने सलाह दी—

"तब ऐसी कोशिश करनी चाहिए कि किसी तरह सुलह हो जावे और मामला आगे बढ़ने न पावे।"

"सुलह तो हो जायगी, जनाब," मैंने एक लम्बी साँस लेकर कहा, "पर होगी वह बड़ी ही दुःखदायी, लज्जास्पद और अपमान-जनक।"

एक निरीह सम्पादकके साथ पत्र-संचालककी ऐसी धोखा-धड़ी देखकर आखिर लाचार होकर मुझे सुलहकी चर्चा छेड़नी पड़ी। भल्लाजीके जोश-की कीली इस प्रकार ढीली होते देखकर रामायण-सभा वालोंको तसल्ली हो गई कि अवसर उनके अनुकूल है और उनकी इच्छा-पूर्तिमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी। इसलिए उन्होंने माफीनामेके साथ बीस पौण्ड हर्जाना भी माँगा, जो झख मारकर देना पड़ा और भल्लाजीकी करतूतसे मुझे अप-मानका कड़वा घूँट पीना पड़ा। बीस पौन्ड हर्जानेकी रकममें दस पौण्ड सम्पादककी हैसियतसे मुझे अपनी जेबसे चुकानी पड़ी और शेष दस पौण्ड भल्लाजीको। इस तरहकी स्थितिमें भल्लाजीसे सम्बन्ध बनाये रखना और 'धर्मवीर'का सम्पादन करना मेरे लिए दुष्कर हो गया। अतएव जिस अङ्कमें एक तरफ क्षमा-पत्र छपा, उसीमें दूसरी तरफ मेरा त्याग-

पत्र भी। इसके बाद भी भल्लाजीके विशेष आग्रहसे और इस खयालसे भी कि प्रवासी हिन्दी-भाषियोंका एक-मात्र पत्र कहीं बंद न हो जाय मैं छः मासतक 'धर्मवीर'में अग्रलेख लिखता रहा, यद्यपि सम्पादककी जगह श्रीमेहरचन्दका नाम छपता था। एक बार एक ऐसी रिपोर्ट आई, जिसे मुझे दिखाये बिना ही भल्लाजीने प्रकाशित कर दिया और असलमें उसी दिनसे 'धर्मवीर' से मेरा सारा सम्बन्ध टूट गया।

एक ओर जहाँ मैं 'धर्मवीर'का सम्पादन करता था वहाँ दूसरी ओर पुस्तकोंका प्रणयन भी। इसी बीच मैंने 'हमारी कारावास-कहानी' एवं 'शिक्षित और किसान' तथा 'नेटाली हिन्दू' नामकी पुस्तकें लिखी थीं, जो इन्दौरके सरस्वती-सदनसे प्रकाशित हुईं। पहली पुस्तकमें मेरे जेलके जीवनका वर्णन था; दूसरीमें भारतीय किसानोंकी दरिद्रता एवं दुर्गतिका दिग्दर्शन था और तीसरीमें नेटालके हिन्दुओंकी सामाजिक स्थितिका चित्राङ्कन। 'शिक्षित और किसान' की भूमिका बहुत विस्तृत, विचारणीय और विद्वत्तापूर्ण थी; जो हिन्दीके सुप्रसिद्ध लेखक (बेतिया-चम्पारन-निवासी) श्री पीर मोहम्मद मूनिसकी लिखी हुई थी। 'नेटाली हिन्दू'को मैंने उपन्यासके ढङ्गपर रचनेका प्रयास किया था, पर ऐसी विफलता हुई कि फिर कभी उपन्यास लिखनेका साहस न कर सका। इनके सिवा दो और भी पुस्तकें मैंने लिख डालीं—एक तो 'सत्याग्रही गान्धी' (महात्माजीका जीवन-चरित्र), जो प्रयागके ओंकार प्रेससे प्रकाशित हुई थी, और श्री हेनरी एस. एल. पोलकने प्रस्तावना लिखकर इसका महत्त्व बढ़ा दिया था। दूसरी थी—'वैदिक धर्म और आर्य सभ्यता,' जो मेरठके भास्कर प्रेससे निकली थी।

उस समय मेरे पास न तो शब्दोंका अच्छा भंडार था, न भाषापर मेरा यथेष्ट अधिकार था और न मेरी लेखन-पद्धतिका परिष्कार ही हुआ था। वस्तुतः मैं हिन्दीके क्षेत्रमें एक नया रँगरूट था, फिर भी स्वदेश और विदेशोंके हिन्दी-प्रेमियोंने मेरी तुच्छ कृतियोंका जिस स्नेहसे सत्कार और प्रचार किया उससे प्रवासी-साहित्यके प्रणयनमें मुझे पर्याप्त

प्रोत्साहन मिला।

मेरे लिए लेखन-कार्य सदासे आत्म-तुष्टि और जन-सेवाका साधन रहा है, धनार्जनका धन्धा नहीं। मैंने अपनी लेखनीको जीविका—निर्वाह—का जरिया कभी नहीं बनाया। इसलिए मैंने अपनी पुस्तकें ऐसे ही प्रकाशकोंको दीं, जिनको प्रोत्साहनका पात्र समझा। प्रकाशकोंसे मैंने कभी एक पैसा भी पुरस्कार नहीं लिया और इस नियमको अब तक निबाह रहा हूँ।

: १५ :

नेटालमें हिन्दुओंकी हालत

उन दिनों जहाँ एक ओर मैं हिन्दी-प्रचारमें लगा रहता था, वहाँ दूसरी ओर हिन्दुओंमें वैदिक धर्म और आर्य-संस्कृतिके प्रचारमें भी। दक्षिण अफ्रिकाके भारतीयोंमें तीन चौथाई हिन्दू हैं और एक चौथाई मुसलमान, ईसाई आदि। भाषाकी दृष्टिसे अस्सी हजार तामिल, पच्चीस हजार तैलगू, साठ हजार हिन्दी, तेरह हजार उर्दू, चौबीस हजार गुजराती और बारह हजार अन्य विभिन्न भाषा बोलने वाले भारतीय हैं। तामिल, तैलगू और हिन्दी-भाषी नेटालमें गिरमिट लिखाकर गये, इसलिए उनकी दशा किसी भी दृष्टिसे संतोष-जनक न रही। जहाँ वे राजनीतिक मताधिकारोंसे वंचित रहे वहाँ आर्थिक आपदाओंसे अनवस्थित। उनकी सामाजिक परिपाटियोंका विनाश और धार्मिक भावनाओंका ह्रास हो चुका था। तत्कालीन सनातन धर्मके अनुसार समुद्र लाँघना ही महा-अधर्म था, तिसपर डिपोका अनाचार, जहाजपर भ्रष्टाचार और नेटालमें कोठियोंपर दुष्कर्मोंका खुला बाजार। ऐसी परिस्थितिमें हिन्दुओंको यह धारणा हो गई कि टापुओंमें धर्मका पालन और रक्षण सर्वथा असंभव है। इस प्रकारकी मनोवृत्तिका जो परिणाम होता है, उसकी कल्पना कर लेना कठिन नहीं है।

ब्राह्मणोंकी व्यवस्था

यद्यपि गिरमिट-प्रथामें ब्राह्मणोंकी भर्ती वर्जित थी, इसलिए कि दही-चिउड़ा एवं पूरी-मिठाई खाने और यजमानोंकी दक्षिणापर गुलछर्रे

उड़ाने वाले भूदेवोंसे टापुओंमें कड़ी मेहनत-मजदूरी नहीं हो सकेगी; तो भी विप्र-वंशके कुछ विशिष्ट व्यक्ति नाम और जाति बदलकर वहाँ पहुँच ही गए। उनमेंसे कोई तो हनुमान-चालीसा और कोई दान-लीला तथा कोई-कोई सत्यनारायणकी कथाका अशुद्ध पाठ कर लेता था। उन्होंने अपने भौगोलिक और ऐतिहासिक ज्ञानके आधारपर सीधे-सादे हिन्दुओं-को समझाया कि नेटाल ही रावणकी लंका है और वहाँके हब्शी हैं लंका-के राक्षसोंके वंशज। हनुमानजीने जब लंका फूँकी तो राक्षसोंके सिरके बाल भी झुलस गए थे, इसीसे हब्शियोंके बाल भेड़के बालोंकी तरह ऐंठे हुए हैं। नेटालमें हनुमानजीके सिवा और किसी देवताका प्रभाव और प्रभुत्व नहीं है। उन्हीं की पूजा-अर्चासे कल्याण हो सकता है और मनोवांछित वरदान मिल सकता है। हिन्दी-भाषी हिन्दुओंपर इस उप-देशका गहरा असर पड़ा। घर-घर महावीरजीका लाल झंडा उड़ने लगा और उनके चौरेपर सवा मनके रोट एवं लाल लँगोट चढ़ने लगे। कभी-कभी किसीके घर सत्यनारायणकी कथाकी व्यवस्था भी हो जाती थी। इससे हिन्दुत्वके कुछ चिह्न तो बचे रहे, पर हिन्दुओंकी हालत बे-पेंदीके लोटेकी भाँति डाँवाडोल हो रही थी।

हिन्दुओंकी ताजिया-परस्ती

हिन्दू-त्योहार बिलकुल बिसार दिये गए। होली और दीवाली आती और चली जाती, पर किसीको कुछ पता ही नहीं रहता। हिन्दुओंके लिए सबसे बड़ा पर्व बन गया था—'मुहर्रम।' हिन्दुओंके घर ताजिये बनते, उनकी स्त्रियाँ मातम मनातीं, मर्सिया गातीं और इमाम साहबपर शीरनी और पंजे चढ़ातीं। जब ताजिये निकलते तो हिन्दू लोग छाती पीट-पीट-कर 'हाय हसन ? हाय हुसैन'की ऐसी चिल्लाहट मचाते कि देखने वाले दंग रह जाते। हिन्दुओंको कलंकित करने वाले कुछ ऐसे भी नराधम निकले, जो काले, पीले, नीले, लाल रंगोंसे अपने तनको रँगते, कमरमें पूँछ बाँध लेते और सिरपर व्याघ्राकृति कनटोप पहनकर 'बाघ' बन जाते। उनके साथ तासे आदि बजाने और गाने वाले आठ-दस आद-

मियोंका एक गिरोह होता। यह गिरोह गली-गली और घर-घर नाचता, गाता और भीख माँगता फिरता और जो कुछ रकम हाथ लगती उससे शराबकी प्यालियाँ ढलतीं। अंग्रेजोंने इन नचनियोंका नाम 'कुली-टायगर' रख छोड़ा था। जिस दिन ताजियोंका आम जुलूस निकलता उस दिन ताजिया-परस्तोंमें यह सवाल उठता कि किसका ताजिया आगे रहना चाहिए और किसका पीछे; किसका दायें रहना चाहिए और किसका बायें। इस बातपर बखेड़ा मच जाता और आपसमें लाठियाँ खटखटाने लगतीं। किसीके हाथ-पैर टूटते—किसीकी खोपड़ी फूटती। मजा तो यह था कि जहाँ ताजियेके जुलूसमें अपने औरत-बच्चोंके साथ हजारों हिन्दू शरीक होते वहाँ मुश्किलसे दस-बीस शिया मुसलमान दिखाई पड़ते। दक्षिण अफ्रिकामें गुजराती मुसलमानोंकी ही अधिक आबादी है और वे हैं सुन्नी जमातके। अतएव ताजियेदारीसे वे न तो ताल्लुक रखते थे और न उसके जुलूसमें ही शरीक होते थे। हिन्दुओंकी नादानीपर उनको नफरत भी होती थी और नाराजी भी। कई बार तो उन्होंने पुलिस-कमिश्नरके पास अर्जियाँ भी भेजीं कि ताजियेदारीको रोक देना चाहिए क्योंकि इससे इस्लामको हतक होती है। गोरोंको उन्होंने समझा दिया था कि ताजियेदारी 'दीनदार मुसलमानोंका नहीं, हिन्दू कुलियोंका त्योहार है। इसलिए अंग्रेजोंने मुहर्रमका नाम ही 'कुली-क्रिसमस' रख दिया था।

हिन्दुओंकी हीन अवस्था

हिन्दुओंकी ऐसी बुरी हालत थी कि विधर्मी होड़ लगाकर हिन्दुओंको हड़पनेमें मशगूल थे। ईसाइयोंमें अद्भुत लगन और क्रियाशीलता पाई जाती है। विश्वके अखिल प्राणियोंके पाप क्षमा कराने और उनको मोक्ष-मार्ग दिखानेका पादरियोंने खुदाई ठेका ले रखा है। ईसाई कुमारियोंके मुखसे मसीही मधुर गान और अलमस्त तान सुनकर सैकड़ों हिन्दू जवान अपनी जान तक कुर्बान करनेको तैयार हो गए। धार्मिक विचार बदल देना कौन बड़ी बात है। मुसलमानोंका मजहबी जोश

मशहूर ही है । बे-दीन काफिरोंको किसी भी तरह दीन-इस्लाममें लाना उनके लिए तो मानो अल्लाहमियाँका हुक्म बजाना और बहिश्तमें मौज-मजा उड़ानेके लिए अपनी सीट रिजर्व कराना है । हिन्दुओंकी वस्तुतः वैसी ही स्थिति थी, 'जिमि दसनन महँ जीभ बिचारी' । हिन्दुओंके ह्रासके कारणोंमें उनके धर्मका विकृत रूप ही मुख्य था । जिन जन्म-प्रवासी हिन्दुओंको शिक्षा प्राप्त करने और भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियोंसे विचार-विमर्श करनेका अवसर मिला, उनको हिन्दू धर्मसे विरक्ति होती गई । प्रचलित सड़ी-गली रूढ़ियाँ ही हिन्दूधर्मके रूपमें उनके सामने आईं, अतएव उनके हृदयमें अपने परम्परागत धर्मके प्रति केवल उपेक्षा-वृत्ति बढ़ती ही गई । वे धीरे-धीरे अपने धर्मको तिलाञ्जलि देकर विधर्मियोंकी शरणमें जा रहे थे और ऐसा प्रतीत होता था कि अगली तीन-चार पीढ़ियोंमें नेटालके तामिल और हिन्दी-भाषी हिन्दुओंका नामो-निशान मिट जायगा ।

आर्यसमाजका संदेश

पर ईश्वरकी अनुकम्पासे ऐसा नहीं होने पाया । सन् १९०५में भाई परमानन्दजी एम० ए० नेटाल पहुँच गए । उस समय भाईजी लाहौरके दयानंद एंग्लो वैदिक कालिजमें प्रोफेसर थे । नेटालमें वह अधिक काल तक ठहर न सके, केवल एक मास भिन्न-भिन्न नगरोंमें वैदिक धर्म एवं आर्य-संस्कृतिका प्रचार करके वहाँसे इङ्गलैण्डके लिए प्रस्थान कर गए । उनके व्याख्यानोंसे हिन्दुओंकी प्रगाढ़ निद्रा भङ्ग हो गई और उन्होंने हिन्दुत्वको अपनी धारणासे भिन्न रूपमें देखा । भाईजीने दक्षिण अफ्रिका-के विभिन्न धर्मावलम्बियोंके समक्ष भाषण देते हुए ऐतिहासिक प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर दिखाया कि वैदिक धर्म ही विश्वके समस्त धर्मोंका आदि-स्रोत है और आर्य-संस्कृति ही विभिन्न संस्कृतियोंकी मूल-धारा । शिक्षित तरुणोंको इतना तो मालूम हो गया कि उनका भी कोई धर्म है और उनकी भी कोई संस्कृति है, जिनपर वे गर्वसे मस्तक ऊँचा कर सकते हैं । हिन्दुत्वकी रक्षा और उन्नतिके लिए भाईजीने अनेक सभा-समितियों-

की भी स्थापना की थी, जिनमें पीटर मेरित्सबर्गकी 'हिन्दू यङ्गमैन एसोसियेशन' आज भी प्रवासी भारतीयोंको उनकी याद दिला रही है।

भाईजीने हिन्दुओंमें जो धर्मकी प्यास पैदा कर दी थी उसको उपदेशामृतसे तृप्त करनेके लिए इङ्गलैण्डसे स्वामी शंकरानन्दजी संन्यासी सन् १६०८में नेटाल पहुँचे। स्वामीजीने वहाँ लगातार चार साल तक वैदिक धर्मका प्रचार किया। उनके प्रचारका फल यह हुआ कि हिन्दुओंकी अन्तर्दृष्टि खुल गई और वे अपना सच्चा स्वरूप देख पाये। ताजियेदारीकी जगह राम-रथ निकलने लगे, मुहर्रम और क्रिसमसके बदले होली और दीवाली मनाई जाने लगी। जहाँ मुर्दे कब्रमें दफनाये जाते थे, वहाँ उनका श्मशानमें दाह-कर्म होने लगा। स्वामीजीने हिन्दुओंके धार्मिक जीवनका ढाँचा ही बदल दिया। वैदिक धर्मपर भक्ति, आर्य-संस्कृतिपर श्रद्धा, सन्ध्या-हवनमें अनुराग, सलामके बदले परस्पर 'नमस्ते'से अभिवादन, मातृभाषासे ममता, कुरीतियोंसे घृणा, सभा-समितियोंमें अभिरुचि, आत्म-सम्मानका ज्ञान और भारतीयोंमें अभिमान हिन्दू जीवनकी विशेषता बन गई। स्वामीजीने दक्षिण अफ्रिकाके सभी मुख्य-मुख्य नगरोंमें वेद-धर्म-सभाओंकी स्थापना की थी जो कालान्तरमें विलुप्त हो गई, पर उनमें पीटर मेरित्सबर्गकी वेद-धर्म-सभा न केवल अब तक जीवित ही है बल्कि उत्तरोत्तर उन्नति करती जा रही है और दक्षिण अफ्रिकामें एक शक्तिशाली संस्था एवं स्वामीजीका सच्चा स्मारक बन गई है। स्वामीजीने समस्त हिन्दुओंको संगठित करनेके विचारसे 'दक्षिणीय अफ्रिका हिन्दू महासभा'की बुनियाद डाली थी जिसका प्रथमाधिवेशन उन्हींके सभापतित्वमें सन् १६१२में बड़ी धूम-धामसे हुआ था। यह महासभा सोते-जागते किसी तरह अब तक चली जा रही है।

जिस समय मैं दक्षिण अफ्रिका पहुँचा, ठीक उसी समय स्वामी शंकरानन्दजी वहाँसे हिन्दुस्थानके लिए प्रस्थान कर गए। उनसे मेरी मुलाकात तो न हो सकी क्योंकि जब मैं भारतसे नेटाल पहुँचा तो वे

ट्रांसवालमें थे। जब मैं नेटालसे ट्रांसवाल गया तो वे वहाँसे केप प्रदेश-के लिए विदा हो चुके थे। केपसे जब वे नेटाल लौटे तो मैं उनसे मिलनेके लिए नेटाल पहुँचा; पर मेरे पहुँचनेसे पहले ही वे जहाजपर बैठकर मातृ-भूमिके लिए प्रस्थान कर चुके थे। अतएव मैं उनके दर्शनसे वंचित रह गया, पर दक्षिण अफ्रिकामें उनके महत्कार्योंको देखकर मैं प्रभावित हुए बिना न रहा। उन्होंने दलित, पीड़ित और असंगठित हिन्दुओंको अपने पैरोंपर खड़ा कर दिया था।

धर्मके नामपर पैशाचिक कर्म

यद्यपि मतान्धता, साम्प्रदायिक संकीर्णता और धार्मिक असहिष्णुता को मैं महापातक समझता हूँ, उनको देशके लिए दुर्भाग्य और राष्ट्रके लिए अभिशाप मानता हूँ, तथापि मेरी यह दृढ़ धारणा है कि आत्माके विकास और उत्कर्षके लिए धर्मकी आवश्यकता है और धर्म वह है जो आत्माका परमात्मासे मेल कराता है एवं मानव-समाजमें परस्पर सहानुभूति और सद्भावनाकी सृष्टि, पुष्टि और अभिवृद्धि भी। जिस धर्मके आदेशानुसार मनुष्य 'आत्मवत् सर्वभूतानि' अर्थात् सभी प्राणियोंको अपने ही समान समझता था, उसी धर्मके नामपर संसारमें क्या-क्या दुष्कर्म नहीं हुए? कितने राज्य और साम्राज्य बने और बिगड़े, कितने मनुष्य धधकती हुई आगमें जलाये गए, कड़ाहमें उबाले गए, तोपके गोलेसे उड़ाये गए, तलवारके घाट उतारे गए, फाँसीकी डोरीमें लटकाये गए, दीवारमें चिने गए, पोर-पोर काटे गए। धर्मके नामपर कितने कत्ले-आम हुए, नर-रक्तकी नदियाँ बहाई गईं। पुरानी और दूरकी बात तो जाने दीजिये, हालमें अंग्रेज-शासकोंकी भेद-नीतिसे हिन्दुस्थानमें ही हिन्दू-मुस्लिम-विग्रहने जो-जो रंग दिखाये, वही हमारे सामने धार्मिक-उन्मादका ताजा दृष्टान्त है। इस बीसवीं सदीमें जहाँ संसारमें धार्मिक सहिष्णुता ही सभ्यताकी कसौटी समझी जाती है वहाँ हिन्दुस्थानमें मजहबके नामपर बाटके बेगुनाह बटोहियोंकी हत्या की गई, घरमें आग लगाकर कीड़े-मकोड़ोंकी तरह मनुष्योंको जलाया गया, स्त्रियोंके सिर

और स्तन काटे गए, बच्चोंकी छातीमें छुरी भोंकी गई। कौन-सा ऐसा अधर्म है जो धर्मके नामपर इसी भारत-भूमिमें नहीं हुआ।

मेरी तो धारणा यह है कि धर्मका रूप है प्रेम, और अधर्मका रूप है द्वेष। मानव-समुदायमें शान्ति और सद्भावना फैलाना ही धर्मका ध्येय है। धर्मका सम्बन्ध आत्मासे है और शरीरका सम्बन्ध समाजसे। देश और समाजके कार्योंमें धर्मको दखल देनेका अधिकार नहीं है, पर हिन्दुस्तानमें तो उल्टी ही गंगा बहाई जा रही है। यहाँ तो मजहबके आधारपर कौमें बनानेकी कोशिश हो रही है और देशका अङ्ग-भङ्ग करके आपसमें बाँट-बखरा कर डालनेकी मूर्खता भी।

वैदिक धर्म-प्रचार

मुझे तो साम्प्रदायिक संकीर्णता और धर्मान्धतासे घोर घृणा है। इसे मैं मानवताका सर्वोपरि शत्रु समझता हूँ। वैदिक धर्मको मैंने इसलिए अपनाया कि वह हमें एक ईश्वरकी उपासना सिखाता है, आत्माको ऊपर उठाता है, सदाचारकी सुधा पिलाता है, दुर्व्यसनोंसे दूर हटाता है, विश्व-बंधुत्वका पाठ पढ़ाता है, नम्र, सहिष्णु एवं विनयशील बनाता है। वेद हमें यह सबक सिखाता है कि परमात्मा सब प्राणियोंका पिता है और इस नातेसे मनुष्य-मात्र आपसमें भाई-बहन हैं। यह धर्म मनुष्यको कर्मकी कसौटीपर कसता है, उनपर साम्प्रदायिक रङ्ग नहीं चढ़ने देता। वैदिक धर्मके अनुसार चाहे कोई गोरा हो या भूरा, काला हो या पीला, हिन्दू हो या मुसलमान, पारसी हो या कृस्तान—जो अच्छा कर्म करता है वह स्वर्ग या मोक्ष पाता है और बुरे कर्म करने वाला नरकमें जाता है।

भाई परमानन्दजी और स्वामी शंकरानन्दजीके उपदेशोंसे नेटालमें कुछ लोग आर्यसमाजी कहलाने लगे थे अवश्य, पर उनके वचन और कर्ममें बड़ा अन्तर था। किसी निराश फकीरके कथनानुसार—

"न खुदा ही मिला न विसाले सनम,
न इधरके रहे न उधरके हुए।"

उनकी अवस्था बड़ी डाँवाडोल थी। न वे सच्चे आर्यसमाजी थे और न अच्छे सनातनी—अधरमें लटक रहे थे। परस्पर 'नमस्ते' कर लेना और किसी ब्राह्मणसे हवन करा लेना ही उनके आर्यत्व का प्रमाण माना जाता था। फिर भी उनकी कट्टरता इतनी बढ़ी हुई थी कि साधारण लोगोंके नाकों-दम आ गया था। मैं अब आर्यसमाजका नया रँगरूट नहीं था, संसारका यत्किंचित् अनुभव प्राप्त कर चुका था, अतएव इन कट्टर-पंथियोंकी करतूतोंको मैं आर्यसमाजके लिए हानिकारक समझता था। जहाँ कहीं सत्यनारायणकी कथा होती अथवा हनुमानजीकी पूजा, वहाँ ये महाशय अवश्य पहुँच जाते, लेकिन शिष्टाचारको ताकपर रखकर पंचामृत या प्रसाद लेनेसे इन्कार कर देते और खंडनका ऐसा खंजर चलाते कि बेचारे श्रद्धालुओंके कलेजे फट जाते। यद्यपि मैं इस प्रकारके आर्यसमाजियोंकी नीतिको पसन्द नहीं करता था तो भी 'आर्य-समाजी' होना ही बदनामीके लिए काफी सबूत था। कुछ चलते-पुर्जे नामधारी पंडितोंके बहकावेमें आकर पुरातन-पंथी भाइयोंने आकारण ही मेरे विरुद्ध आन्दोलन उठाया।

शुद्धि-संस्कार

कुछ हिन्दू युवक बहककर ईसाई और मुसलमान हो गए थे, उनकी इच्छासे मैंने उनकी शुद्धि कर डाली। इससे विरोधाग्निमें और भी घृताहुति पड़ गई। नेटाल-भरमें शोर-गुल मचा। मेरे इस कृत्यसे हिन्दू ही सबसे अधिक नाराज हुए; क्योंकि उनके पोंगा-पंथी पंडितोंकी व्यवस्थाके अनुसार ऐसा करना मानो गधेको गोरू बनाना था। यह थी उनकी तत्कालीन मनोवृत्ति! ऐसी थी उनकी दलील! मैं तो जानता था कि समाजका संस्कार करना मानो तलवारकी धारपर चलना है, इसलिए पुरातन-पंथियोंके प्रचंड प्रतिकारसे परास्त होनेकी अपेक्षा मुझमें और भी शक्तिका संचार होता गया। मेरा तो पक्का विश्वास है कि यदि हिन्दू समाजका समयानुकूल संस्कार न हुआ तो उसका संहार अनिवार्य है। हिन्दू धर्म और समाज अपने वर्तमान रूपमें सड़ी-गली रूढ़ियोंके

आधारपर अधिक कालतक टिक नहीं सकता, उसका ह्रास और नाश निश्चित है। फिर भी हिन्दू लोग जगत् की गतिके अनुसार अपनी स्थिति बदलनेमें हिचकते हैं, वास्तवमें यह विषादकी बात है।

मेरे शुद्धि-कार्यसे डरबनका मुस्लिम अखबार 'इंडियन न्यूज' आपेसे बाहर हो गया था, पर जिस शुद्धिपर वह नाराज हुआ उसपर कोई भी विचारशील व्यक्ति आपत्ति नहीं कर सकता। असल बात यह थी कि डरबनमें कोई एक मुसलमान गृहस्थ थे, उनकी बीबी दो नन्हे-नन्हे बच्चोंको छोड़कर स्वर्ग सिधार गई। कुछ ही दिन बाद वह सज्जन भी ऐसे बीमार पड़े कि उनके जीवनकी कोई आशा नहीं रही। मरनेसे पहले वे अपने दोनों मासूम बच्चोंको श्रीजयनारायण नामक अपने एक हिन्दू मित्रको सौंप गए। श्री जयनारायणजीने भी अपने मित्रके उन बच्चोंकी देख-रेख और पालन-पोषणमें कोई बात उठा नहीं रखी। वे बच्चे एक हिन्दू-परिवारमें पले, उनका जीवन हिन्दुत्वके साँचेमें ढला, उनके दिल और दिमागपर हिन्दुओंकी छाप पड़ी और हिन्दुओंके सह-वासमें ही सयाने हुए। इसलिए आचार-विचार और व्यवहारमें वे पक्के हिन्दू बन गए। पर चूँकि वे मुसलमानकी औलाद थे, इसलिए कोई हिन्दू उनको कन्या-दान देनेको प्रस्तुत न था। सच पूछिये तो उनके लिए शुद्धिकी जरूरत भी नहीं थी, वे मन, वचन, कर्मसे सच्चे हिन्दू थे। पर हिन्दुओंके भ्रम-भञ्जनके लिए मुझे उनकी शुद्धि करनी पड़ी और यह शुद्धि स्प्रिङ्गफील्डमें लगभग एक हजार मनुष्योंकी उपस्थिति-में बड़ी धूम-धामसे हुई थी। शुद्धिके बाद ही उनकी शादियाँ भी हो गईं और वे हिन्दुओंमें दूध-पानीकी तरह मिल गए। ऐसे मामलोंमें किसीको शिकायत करनेकी गुंजाइश ही कहाँ है?

धर्म और राष्ट्रमें भेद

सत्यके विचारसे मुझे यह स्वीकार करना ही चाहिए कि मुसलमानों-की अपेक्षा ईसाइयोंमें धार्मिक सहिष्णुताकी अधिकता है। मैं तो राष्ट्रीय दृष्टिकोणसे ईसाइयत और इस्लामको हिन्दुस्थानके लिए अभिशाप

समझता हूँ और इसलिए शुद्धिको देश-हितके विचारसे आवश्यक मानता हूँ। यद्यपि ईसाइयोंमें पतित प्राणियोंके उद्धारकी लगन और मुसलमानोंमें भाई-चारेकी भावना सर्वथा अभिनन्दनीय और हमारे लिए अनुकरणीय भी है, पर उनमें राष्ट्रीय दृष्टिसे सबसे बड़ा दोष यह है कि ईसाई या मुसलमान होना मानो अपने पैतृक धर्मके साथ-ही-साथ अपने देशकी सभी बातोंसे नाता तोड़ लेना है। हिन्दुस्थानकी पुरातन संस्कृति, सभ्यता और साहित्यसे उनका सम्बन्ध टूट जाता है, यहाँके प्राचीन ऋषि-मुनि और वीरोंपर उनकी कोई श्रद्धा नहीं होती, इस देशके अतीत इतिहाससे वे कोई वास्ता नहीं रखते, यहाँके तीर्थ-स्थानोंको वे बुत-परस्तोंके अड्डे समझते हैं, भारतकी भाषा संस्कृत, प्राकृत और हिन्दीपर उनकी ममता नहीं होती। यह मनोवृत्ति क्या राष्ट्रीय दृष्टिसे वांछनीय है? हिन्दुस्थानी होते हुए भी अपने वतन हिन्दुस्थानके सभी पदार्थोंसे उनकी विरक्ति हो जाती है। वे मक्का, मदीना, जेरूसलम और रोमको अपना तीर्थ-स्थान मानते हैं, फारस, अरब आदि विदेशोंके इतिहास, साहित्य, भाषा, संस्कृति और पोशाकको अपनाते हैं और यहाँ तक कि कुछ लोग तो विदेशियोंकी औलाद होनेका भी फख करते हैं। वास्तवमें जो मुट्ठी-भर मुगल आदि विदेशी भारतमें आये थे, वे हिन्दुस्थानियोंके रक्त-मांससे ऐसे मिश्रित हो गए कि उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रहा और कालान्तरमें वे हिन्दुस्थानी हो गए। भारतके मुसलमानोंके पूर्वजोंमें ९९ फीसदी हिन्दू थे पर उनमेंसे कुछ लोग तो अपनेको आज हिन्दुस्थानियोंसे भिन्न कौम तक मानने लगे हैं और इसी आधारपर हिन्दुस्थानका कलेजा काटकर पाकिस्तान बनानेके लिए आन्दोलन कर रहे हैं।

इस प्रकारकी विचार-धारा हिन्दुस्थानके लिए कितनी विघातक है, उसके लिए अन्यत्र कहीं दृष्टान्त ढूँढनेकी आवश्यकता नहीं—इस समय साम्प्रदायिक वैमनस्यके कारण भारतकी जो अधोगति हो रही है वही हमारे सामने प्रत्यक्ष प्रमाण है। वास्तवमें धर्म बदलनेसे केवल विचार

बदलता है, ईश्वरोपासना एवं पूजा-पाठकी विधि बदलती है, पर धर्म बदलनेसे देश नहीं बदलता, पूर्वज नहीं बदलते, रक्त-मांस नहीं बदलता, इतिहास और साहित्य नहीं बदलते, वाणी नहीं बदलती। इसलिए कौम भी नहीं बदल सकती। तुर्की, अरब, मिश्र, ईरान, ईराक, अफगानिस्तान प्रभृति सभी मुस्लिम देशोंके लोग अब मजहबको एक चीज और कौमको दूसरी चीज मानने लगे हैं पर इस अभागे भारतमें तो उल्टी माला फेरी जाती है। आधुनिक अवस्थामें प्रवासी हिन्दुओंका ईसाई या मुसलमान हो जाना कौन पसन्द करेगा ? इसीलिए मैंने विधर्मी युवकोंको शुद्ध करना शुरू कर दिया और इस काममें मुझे काफी सफलता भी हुई। विधर्मियोंका विरोध तो स्वाभाविक ही था, पर पोंगा-पन्थी हिन्दुओंने भी वैरका बवंडर उठाया, यही आश्चर्यकी बात थी।

सुधारकोंका बहिष्कार

मेरे सह-कर्मियोंको तंग करनेका भी सिलसिला आरंभ हुआ। श्री कुंजबिहारीसिंहने होलीके अवसरपर परस्पर कँदई-कीच लगाना, गाली बकना और रंगसे फाग खेलना उचित नहीं समझा, इसलिए सिकोलेकके पुराण-पन्थियोंने उनसे हुक्का-पानी, भोज-भात और यहाँ तक कि राम-जुहार भी बन्द कर दिया। श्री वी. बेचू कहींसे सत्यार्थ-प्रकाश माँगकर ले आये और घरमें उस ग्रन्थका पाठ करने लगे, इस अपराधपर उनके पिताको इतना क्रोध आया कि उनको घरसे निकालकर ही उन्होंने दम लिया। श्री एफ. रामलगन और श्री एफ. सत्यपालने घरमें सन्ध्या और हवन करके अपने पिताको नाराज कर दिया, इसलिए दोनों भाइयोंको गृह-निर्वासनका दण्ड मिला। श्री एस. भगवानदीन, श्री डी. लक्ष्मण, श्री हीरासिंह, श्री बोधसिंह प्रभृति नौजवान मना करनेपर भी ज्ञानार्जनके लिए मेरे आश्रमपर नित्य शामको घड़ी-दो-घड़ी बिताते रहे, इससे उनके पितृदेव परिताप-पावकमें जलकर भस्म हो गए। श्रीजालिमसिंहने अपने स्वर्गीय पिताको पिण्ड-दान नहीं दिया—केवल वैदिक विधिसे अन्त्येष्टि करके छुट्टी पा ली, इसलिए उन्हें जातिसे निकाल दिया गया।

कुछ वृद्ध हिन्दू मुझपर इतने नाराज थे कि यदि उनका वश चलता तो मुझे कच्चा ही चबा जाते। उन्हें भारी भय हुआ कि यदि कहीं यह हवा चल पड़ी और बच्चे 'आरिया' बन गए तो मरनेके बाद उनकी बड़ी दुर्गति होगी—पिण्ड-पानीके लिए उन्हें तरसाना पड़ेगा और परमगतिसे वंचित होना पड़ेगा।

नेटालमें वैदिक विवाह

पोंगा-पंथियों ने जितना विरोध किया, सुधारका काम उतने ही वेगसे बढ़ता गया। छोटे-मोटे सुधार करनेमें लोग उत्साह दिखाने लगे, पर सबसे भद्दी थी—हिन्दुओंकी विवाह-पद्धति। वरका ऐसा स्वाँग बनाया जाता कि वह पुराने ढंगके नाटकका विदूषक प्रतीत होता और वधूको चादरमें लपेटकर इस ढङ्गसे मण्डपमें लाया जाता कि मानो कपड़ोंका गट्ठर बाँधकर रख दिया गया हो। विवाहके अवसरपर ऐसी-ऐसी गन्दी रूढ़ियाँ काममें लाई जातीं, जिनको देखकर विदेशी और विधर्मी हमारी हँसी उड़ाते और हिन्दू युवक तो लज्जा एवं ग्लानिसे गड़ जाते थे। पर उन वाहियात रस्मो-रिवाजके खिलाफ बगावत करनेके लिए कोई तैयार नहीं होता था। मैंने सोचा कि मौखिक प्रचार काफी हो चुका है, अब समाजका ढाँचा बदलनेके लिए संस्कारोंको अमलमें लाना चाहिए और खासकर विवाह-संस्कारमें आमूल परिवर्तन होना चाहिए।

आखिर हार्टिङ्गस्प्रुटके एक झोंपड़ेमें मुझे एक ऐसा व्यक्ति मिला, जो सुधार-कार्यमें समाजका विरोध सहनेको तैयार था। उनका नाम था—श्रीजीवनराम। उनकी बड़ी लड़की 'तारा'का विवाह मैंने श्री भैरवसे वैदिक-विधिसे कराया। इस विवाहमें पुरानी रूढ़ियोंका एकबारगी बहिष्कार किया गया। तारा और भैरव दोनों शिक्षित थे—उन्होंने स्वयं प्रतिज्ञाके मन्त्रोच्चारण किये। इसकी नेटालमें घर-घर चर्चा हुई, पोंगापंथियोंमें हाहाकार मच गया और मुझपर चारों ओरसे गालियोंकी बौछार होने लगी।

पर यह विधि इतनी अच्छी थी कि विरोध होते हुए भी चल निकली

और धीरे-धीरे ऐसी लोकप्रिय हो गई कि अब तो नेटालमें हर साल सैकड़ों विवाह वैदिक विधिसे होते हैं और कोई चूँ तक नहीं करता। मैं अपने सुधार-कार्यमें उत्साहसे लगा रहा, विरोधोंने मुझे बलशाली बनाया, संकटोंने मेरा साहस बढ़ाया और आपत्तियोंने मुझे आगेका मार्ग दिखाया। मेरे कामका परिणाम यह हुआ कि केवल अमीरोंकी अट्टालिकाओंमें ही नहीं, किसानों और मजदूरोंकी झोपड़ियोंमें भी वैदिक धर्म एवं आर्य-संस्कृतिका सन्देश पहुँच गया। शनैः-शनैः वैर-विरोधका वेग घटता गया, भ्रातृत्वका भाव बढ़ता गया। हिन्दुओंके भाग्याकाशमें चैतन्य-चन्द्रकी चाँदनी छिटकने लगी। आर्यत्वके अभिमानने उनके मस्तकको ऊँचा उठाया। राष्ट्रीयताकी ऐसी लहर उठी कि वे मस्तीसे झूमने लगे, उनका हृदय स्वदेश-प्रेमसे ओत-प्रोत हो गया। नेटालमें अर्द्ध-शताब्दीसे नैराश्य-निशा-में भटकनेके बाद हिन्दुओंको आशा-उषाकी वह अरुण प्रभा दृष्टिगोचर हुई कि जिसमें उनके उज्ज्वल भविष्यका प्रतिबिम्ब था।

व्यक्तिगत चिन्ता

छः साल लगातार सार्वजनिक कार्योंमें व्यतीत करनेके बाद मेरा ध्यान अपनी व्यक्तिगत स्थितिकी ओर आकर्षित हुआ। अन्तरतमसे आवाज आई कि मैं अपने गृहाश्रमके कर्त्तव्योंकी उपेक्षा कर रहा हूँ। मैं अकेला तो हूँ नहीं, साथमें पत्नी है और पुत्र भी। बड़ा लड़का राम-दत्त उस समय सात सालका हो चला और छोटा लड़का ब्रह्मदत्त भी अभी (सन् १९१९ की १२ फरवरीको) पैदा होकर मेरी जिम्मेदारी-को बढ़ा चुका है। पर मैं उनके भविष्यकी ओरसे निश्चिन्त बन बैठा हूँ। मेरी आर्थिक अवस्था ऐसी है कि आज खाना मिला तो कलका ठिकाना नहीं है। इस शरीरका क्या भरोसा ? जीवन क्षण-भंगुर ठहरा। कहीं मैं चल बसा तो मेरी स्त्री-बच्चोंकी क्या गति होगी? वे कहाँ रहेंगे, क्या करेंगे और कैसे उनका निर्वाह होगा ? उनके रहनेके लिए न कहीं एक झोंपड़ी है और न उनकी गुजर-बसरके लिए आमदनीकी कोई सूरत ही। उनको दर-दर भटकना और दाने-दानेके लिए तरसना पड़ेगा।

वे जब दुःखित होकर मुझे कोसेंगे तो मेरी आत्माको शान्ति कैसे मिल सकेगी ? भगवत्कृपासे मुझे ऐसी सती-साध्वी सहधर्मिणी मिल गई है, जो मेरे लिए प्राण तक निछावर करनेको प्रस्तुत रहती है। नाना प्रकारके कष्ट झेलते हुए भी मुँहसे उफ तक नहीं करती है। किसी बातकी शिकायत तो दूर रही, उलटे मुझे सार्वजनिक सेवा-क्षेत्रमें अग्रसर रहनेके लिए प्रोत्साहित किया करती है। वह कुछ नहीं बोलती, पर क्या मुझे भी कुछ नहीं सोचना चाहिए ? क्या मैं अपनी पत्नी और पुत्रोंके प्रति पति और पिताका कर्त्तव्य पालन कर रहा हूँ ? आखिर जगरानी भी तो मनुष्य हैं, उनके पास भी हृदय है, क्या उनको कभी यह खयाल न आता होगा कि उनका पति ऐसा सनकी है जो अपने घरके प्राणियोंकी तो पर्वाह नहीं करता और लोक-सेवाका दम भरता है—घरमें चिराग नहीं, बाहरमें मशाल। चाहे वह ऐसी बातें न भी सोचती हों तो भी इसकी सचाईसे कौन इन्कार कर सकता है ? जो व्यक्ति अपने स्त्री-बच्चोंको सुखी नहीं रख सकता वह देश-वासियोंको क्या सुख पहुँचा सकता है ?

मैं बेचैन हो उठा। मेरे दिलमें ऐसा दर्द होने लगा कि मानो उसपर हजार बिच्छुओंने एक साथ डङ्क मार दिया हो। मुझे ऐसी आत्म-ग्लानि होने लगी कि मानो मैंने कोई अक्षम्य अपराध कर डाला हो। मुझे ऐसी लज्जा आने लगी कि जगरानीके सामने मुँह दिखाना मुश्किल हो गया। आखिर गिरिधरदासकी यह वाणी याद आजानेपर चित्त कुछ शान्त हुआ—

बीती ताहि बिसार दे, आगेकी सुधि ले।
जो बनि आवे सहजमें, ताहीमें चित दे॥

किसानका जीवन

मैंने तत्क्षण अपना भावी कार्य-क्रम निश्चित कर लिया। वाणिज्य-व्यवसायकी अपेक्षा खेती-बाड़ी मुझे अधिक रुचिकर प्रतीत हुई। नेटालमें गन्नेकी खेती सर्वोपरि समझी जाती है। मैंने अच्छे पैमानेपर गन्नेकी खेती करनेका इरादा कर लिया। इस काममें मुझे अपने एक रिश्तेदार श्रीरंगीसिंह और उनके पुत्रों, श्रीनसीबसिंह, श्रीसुन्दरसिंह, श्रीप्राणबली-

सिंह और स्वर्गीय श्रीभगवानसिंहसे अच्छी सहायता मिली। इन भाइयोंने लोअर टुगेलामें अपनी खेती-बाड़ी और दुकान अच्छी तरह जमा ली थी। मैंने श्रीकुंजबिहारीसिंह, देवीदयाल और जगन्नाथकी एक कम्पनी बनाई और लोअर टुगेलामें पच्चीस एकड़ लगी-लगाई गन्ने-की खेती खरीद ली। मुझपर कम्पनीकी व्यवस्थाका भार था और खेतके कार-बारके लिए मेरे तीनों हिस्सेदार जिम्मेदार थे। यदि इन हिस्सेदारों-का सहयोग न होता तो मैं कृषि-कार्यमें पड़नेका साहस नहीं कर सकता। ग्लेरस्टेटके हिन्दी-आश्रमसे मैंने इस्तीफा दे दिया और लोअर टुगेलामें जा बसा। वहाँ मैं दुनियाकी खटपटसे हटकर एक किसानका जीवन बिताने लगा।

: १६ :

प्रथम विश्व-युद्धके बाद भारत

टुगेलामें खेती-बाड़ीका सिलसिला जमाकर स्वदेश-यात्राकी तैयारीमें लग गया, क्योंकि जगरानीकी एक खास लालसा यह थी कि उनके पुत्र रामदत्त और भतीजे कृष्णदत्तको गुरुकुलमें प्रविष्ट कराया जाय, जहाँकी शिक्षासे वे कपिल और कणाद बनकर देश और राष्ट्रके लिए आत्मोत्सर्ग कर सकें। अभी उनका छोटा बच्चा ब्रह्मदत्त केवल चार मासका हो पाया था। उन्हीं दिनों वे ऐसी रुग्ण हो गईं कि उनके जीवनका कोई भरोसा नहीं रहा। वैसी हालतमें उनको छोड़कर सुदूर स्वदेशकी यात्रा करना मुझे पसंद नहीं था, पर जगरानी अपने प्रणपर अटल रहीं और सारा साहस समेटकर बोलीं, "आप मेरी चिन्ता छोड़ दीजिये और बच्चोंको गुरुकुल-माताकी गोदमें सौंप आइये। यही मेरे जीवनकी सर्वोपरि इच्छा है, इसे आप पूरी कर दीजिये। फिर यदि मौत भी आ गई तो मैं संतोषसे उसे गले लगा सकूँगी।"

जगरानीकी इच्छाकी उपेक्षा करना मुझे उचित नहीं जँचा; अतएव उनको मरणासन्न अवस्थामें छोड़कर रामदत्त और कृष्णदत्तके साथ सन् १९१९के मध्यमें 'काठियावाड़' नामक जहाज द्वारा हिन्दुस्थानके लिए प्रस्थान करना पड़ा। नेटालके रिचमोन्ड निवासी श्रीगुदरराम भी मेरे साथ हो लिये। डरबनकी आर्य युवक सभा, रायकोपिसकी विद्या-प्रचारिणी सभा और क्लेर इस्टेटके हिन्दी-आश्रम प्रभृति सभा-समितियों-की ओरसे मुझे विदाईके अभिनन्दन-पत्र दिये गए।

गुरुकुल वृन्दावन

छः वर्षके बाद प्यारी मातृ-भूमिके दर्शन पाकर हृदय हर्षोल्लाससे उत्फुल्ल हो उठा। जगरानीकी इच्छा पूरी हो गई, उनके बच्चे राम और कृष्ण गुरुकुल-वृन्दावनमें दाखिल हो गए। यह गुरुकुल पुण्य-सलिला यमुनाके तटपर विश्व-विख्यात प्रवासी-देशभक्त राजा महेन्द्रप्रतापजीकी प्रदत्त भूमिमें स्थापित है। भारतके लिए अभिशाप-स्वरूप अंग्रेजी शिक्षा एवं सभ्यताकी जगह वैदिक शिक्षा-पद्धति एवं आर्य-संस्कृतिके पुनरुद्धार और प्रचारके लिए संयुक्त-प्रान्तकी आर्य प्रतिनिधि सभाने इस गुरुकुलकी स्थापना की है। यहाँ विद्यार्थियोंको ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए विद्याध्ययन करना पड़ता है। शिक्षाका माध्यम हिन्दी है और उच्च-से-उच्च शिक्षा हिन्दीमें दी जाती है। सरल जीवन और उच्च विचार यहाँकी शिक्षाकी विशेषता है। अतीतकी श्रेष्ठ सामग्रियोंसे समाजकी नई इमारत बनाई जा रही है।

असल बात यह है कि इस समय हमारा देश गुलाम है। विदेशियोंके हाथमें जहाँ शासनकी बागडोर है वहाँ शिक्षा-मंदिरकी कुंजी भी। यह मानी हुई बात है कि तोप और तलवार, बंदूक और बमसे किसी राष्ट्रके शरीरको दबाया और दास बनाया जा सकता है, पर उसकी आत्माको नहीं। ब्रिटिश साम्राज्यके सूत्रधार इस तथ्यसे पूर्णतया परिचित हैं, अतएव लार्ड मेकालेने भारतमें एक ऐसी शिक्षा-प्रणालीकी बुनियाद डाली, जिससे भारतकी आत्मापर भी गुलामीका रंग चढ़ाया जा सके। मेकालेकी मनोकामना सिद्ध हो गई।

दक्षिण अफ्रिकामें अंग्रेजोंके दुर्व्यवहार और अत्याचारोंसे मेरा दिल जला हुआ था और मेरी धारणा थी कि भारतमें ब्रिटिश राज्यके प्रति सद्भाव नहीं, दुर्भाव ही फैला होगा, क्योंकि संसारमें ऐसा कौन मनुष्य है जो अपने देशपर विदेशियोंका शासन और प्रभुत्व पसंद करेगा? पर यहाँ आकर जो कुछ देखा उससे मेरा रोम-रोम काँप उठा। विश्वके और भी देश पराधीन हुए हैं, अन्य राष्ट्रोंको भी गुलामीकी यातनाएँ भोगनी

पडी हैं, पर उसे उन्होंने ईश्वरका अभिशाप ही माना है। पर यहाँ तो उल्टी गंगा बह रही थी। भारतमें ब्रिटिश सत्ताको भगवान्का आशीर्वाद समझा जा रहा था।

मानसिक गुलामी

गाँवकी पाठशालाओंमें देखा, गुरुजी बच्चोंको पढ़ा रहे हैं—"भारतमें चोर, डाकू और ठगोंके उपद्रवसे अशांति फैली हुई थी, कोई सुखकी नींद सो नहीं पाता था। ईश्वरकी दयासे यहाँ अंग्रेजी राज्य स्थापित हुआ। डाकुओंको डामल मिली, ठगोंका ठिकाना लगा, लुटेरे लुप्त हो गए और चोरोंकी चाँडाली मंद पड़ गई। देशमें सर्वत्र शान्तिका वातावरण छा गया, बकरी और शेर एक घाटपर पानी पीने लगे। अदालतमें इन्साफ होने लगा, डाकखानेसे कागज-पत्र आने-जाने लगे, रेलगाड़ियोंसे यात्राएँ होने लगीं। ऐसा धर्म-राज्य भारतवासियोंके सौभाग्यका ही सूचक है।"

इसी प्रकारकी और भी बहुत-सी वाहियात बातें बालकोंको पढ़ाई जाती थीं, जिनसे उनके कोमल मन और मस्तिष्कपर गुलामीकी गहरी छाप बैठ जाती। 'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्'का मंत्र जपने वाले भारतीयोंके मुखसे विदेशी सत्ताकी स्तुति ? मानसिक दासताका ऐसा दारुण दृश्य क्या और कहीं दृष्टिगोचर हो सकता है ? संसारके क्या और भी किसी राष्ट्र ने गुलामीको इस प्रकार स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया होगा, पराधीनताको ईश्वरका वरदान माना होगा और अपने देशपर विदेशियोंको शासन करते देखकर खुशीका इजहार किया होगा ? ट्रांसवालके बोअर भी तीन साल तक ब्रिटिश साम्राज्यसे प्रचंड युद्ध करके अन्तमें पराजित और पराधीन हो गए थे, पर वे अपनी परतंत्रताको भगवान्का सबसे कठोर दण्ड समझ रहे थे। जिन्होंने उनकी आजादीका अपहरण कर लिया था उनके प्रति बोअरोंके हृदयमें द्वेष और रोषकी प्रचंड अग्नि धधक रही थी।

पर भारतमें ब्रिटिश साम्राज्यके कर्णधारोंने शिक्षाके रूपमें ऐसे साँचे

बनाये, जिनमें पक्के गुलाम ढलने लगे। जिनको उच्च शिक्षा पानेका अवसर मिला, उनकी मनोवृत्ति और प्रवृत्ति भी देशके लिए घातक ही सिद्ध हुई। उन्होंने अंग्रेजोंकी वेदीपर अपने शरीर, स्वास्थ्य और शक्तिकी बलि चढ़ा दी—शैक्सपियरसे स्नेह बढ़ाया, मिलसे मिताई जोड़ी, बर्ककी बातें सुनी, स्पेन्सरसे सत्संग किया, मेकालेकी महफिल सजाई, कीटस्की कृतियाँ देखीं, टेनिसनकी टहल की, वर्ड्सवर्थकी विरुदावली गाई, परन्तु भारतकी अतीत और आधुनिक अवस्थापर दृष्टि डालकर भविष्यके लिए कुछ सोचना ही निरर्थक समझ लिया। परिणाम यह हुआ कि आर्योंकी यह पवित्र-भूमि गुलामोंकी जन्म-दात्री कही जाने लगी और यहाँके निवासियोंका देश और विदेशोंमें सर्वत्र तिरस्कार होने लगा।

स्वाधीनताका प्रथम संदेश-वाहक

जिस समय अंग्रेजी शिक्षाके प्रभावसे भारत की आर्य संतान अपने पूर्वज ऋषि-महर्षियोंकी शिक्षा और संस्कृतिको तिलाञ्जलि देकर हक्सले, टिन्डल, ब्रेडला आदि श्वेताङ्ग विद्वानों को अपना गुरु मानना अपने गौरवकी बात समझ रही थी, ठीक उसी समय भारत-भूमिमें ऋषि दयानन्द अवतीर्ण हुए, जिन्होंने देशवासियोंको यह संदेश सुनाया कि स्वाधीनता ही स्वर्गकी सीढ़ी है और पराधीनता है नरककी निःश्रयणी। भारत-माताको ऐसे बालकोंसे क्या लाभ, जो अंग्रेजी शिक्षा-प्रणालीके कारण कायर, गुलाम और नपुंसक बन रहे हैं। ब्रह्मचर्य-विहीन कोमल, स्थूल और विलासी शरीर स्वतंत्रताका सुख भोगने योग्य नहीं; बल्कि गुलामीका भार ढोनेका पात्र है। मातृ-भूमि तो ऐसे पुत्रोंकी कामना करती है, जिनका बदन ब्रह्मचर्यके ओजसे देदीप्यमान हो, जो साहसी, पराक्रमी, कष्ट-सहिष्णु और कर्म-निष्ठ हों, जिनकी हड्डियाँ मजबूत हों, पुट्ठे कड़े हों और लहू गरम हो।

अतएव ऋषि दयानन्दने पुरातन ऋषि-आश्रमोंके आधारपर गुरुकुल-विद्यापीठकी कल्पना की, जहाँ विद्यार्थीको ब्रह्मचर्य-व्रतका विधिवत्

पालन करते हुए विद्याध्ययन करना चाहिए। उनको विदेशी भाषामें नहीं, आर्य भाषामें उच्च-से-उच्च शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। जहाँ उनको मानसिक शक्तिके विकासके लिए विद्या पढ़नी चाहिए, वहाँ शारीरिक बलकी वृद्धिके लिए ब्रह्मचर्यका पालन एवं व्यायाम भी करना चाहिए। दण्ड-बैठक करने चाहिएँ, मुगदर और डम्बल फिराना चाहिए, लाठी चलाना और गतका खेलना चाहिए, कुश्ती और घूँसेबाजी सीखनी चाहिए, सरिता-सरोवरमें तैरना चाहिए। शिक्षा और शक्तिके साथ ही अपने जीवनको सदाचारके साँचेमें ढालना चाहिए। तात्पर्य यह कि गुरुकुलोंमें ऐसे मनुष्य तैयार करने चाहिएँ, जो भारत की गुलामीकी बेड़ी काट डालें— चाहे वह गुलामी शारीरिक हो अथवा मानसिक, और अपने राष्ट्रको विश्वके स्वतंत्र एवं महान् राष्ट्रोंकी पंक्तिमें बैठने योग्य बनावें।

आर्य समाजके अग्रनेता

ऋषि दयानंदने गुरुकुल-शिक्षा-प्रणालीकी जो कल्पना की थी उसे महात्मा मुंशीराम (बादमें स्वामी श्रद्धानंद)ने कार्यान्वित कर दिखाया। उन्होंने हरिद्वारके निकट गंगा तटपर काङ्गड़ी ग्राममें प्रथम गुरुकुलकी स्थापना की। इसके बाद भारतके भिन्न-भिन्न भागोंमें अनेक गुरुकुल खोले गए, जिनमें गुरुकुल-वृन्दावनका आसन बहुत ऊँचा है।

उन दिनों महात्मा नारायण स्वामी गुरुकुल-वृन्दावनके सूत्र-धार थे, ब्रह्मचारियोंके जीवनपर उनके महान् व्यक्तित्व,विद्वत्ता,सरलता, त्याग एवं तपस्याकी गहरी छाप पड़ रही थी। उनके सहायक स्वामी आनन्द भिक्षु थे, जो अपनी सहृदयता, मिलनसारी और क्रिया-शीलतासे बड़े लोकप्रिय हो गए थे। वे जहाँ वैदिक धर्मके अच्छे प्रचारक थे वहाँ हिन्दीके मर्मज्ञ लेखक भी। गुरुकुलोत्सवपर आर्य-जगत्के अनेक गण्य-मान्य नेता पधारे थे, उनके दर्शन और सत्सङ्गसे मुझे बड़ा लाभ हुआ। आर्य-साहित्यकारोंमें पं० घासीरामजी और पं० गंगा-प्रसादजीपर जब मेरी दृष्टि पड़ी तो मेरा मस्तक श्रद्धासे झुक गया।

उनके गवेषणापूर्ण ग्रंथोंसे आर्य समाज गौरवान्वित हुआ है । उन ग्रंथों-की भाषा बड़ी मधुर, संस्कृत-गर्भित, प्रौढ़ एवं प्रांजल है और भाव बोध-गम्य एवं हृदय-स्पर्शी । स्वामी परमानंदकी निस्पृहता एवं स्पष्ट-वादिता, श्रीमदनमोहन सेठकी कल्पना-शक्ति, नीतिज्ञता एवं दूरदर्शिता, कुँवर हुक्मसिंहकी कर्मण्यता, दृढ़ता एवं निर्भीकता, पं० शिवनारायणजी-की सौजन्यता, गंभीरता एवं सेवाकी शुद्ध भावना और गुरुकुलके नव-स्नातक पं० धर्मेन्द्रनाथकी तर्क-शैली एवं वाक्-पटुता देखकर मैं आनंद-विभोर हो उठा । इनमें कई महाभाग तो अब इस लोकमें नहीं रहे, पर उनकी स्नेहशीलता मेरी संचित-स्मृतियोंमें सुरक्षित रहेगी ।

जलियाँवाला बागमें कत्ले-आम

वृन्दावनसे विदा होकर मैं अमृतसर पहुँचा । प्रथम महायुद्धका अन्त हो चुका था, मित्रराष्ट्रोंकी विजय हुई थी । संसार शान्तिकी साँस ले रहा था, पर भारतमें अशान्तिकी आग लगी हुई थी। बृटिश साम्राज्य-के सूत्रधारोंने विश्वको विश्वास दिलाया था कि यह लड़ाई स्वा-धीनता, मानवता और लोक तंत्रकी रक्षाके लिए लड़ी जारही है और भारत-को आश्वासन एवं वचन दिया था कि युद्धके बाद वह भी बृटिश साम्रा-ज्यान्तर्गत स्वराज्य-प्राप्त देशोंकी पंक्तिमें आदरपूर्वक स्थान पा जायगा । इस प्रतिज्ञासे भारतीयोंको बड़ी प्रेरणा मिली और उन्होंने स्वाधीनता-की कामनासे बृटिश-साम्राज्यकी रक्षा और विजयके लिए सर्वस्व निछा-वर कर दिया—शोणितकी सरिता बहा दी । उनके शौर्य, साहस एवं शूरताका बखान करते अंग्रेज सेनापति नहीं अघाते थे और उनके बलि-दानके यशो-गानसे दशो दिशाएँ गूँज रही थीं। पर संग्रामकी समाप्तिपर स्वराज्यके बदले 'रौलट-एक्ट'से भारतीयोंको पुरस्कृत किया गया । यह देखकर कि सत्ताधारी अंग्रेज वचन देकर मुकर गए—थूककर चाट गए—भारतकी आत्मा कराह उठी । उसका गला दबानेके लिए एक अंग्रेज बहादुर जनरल डायरने जलियाँवाला बागके फायर कराये और सैकड़ों निहत्थे स्त्री-पुरुष और बच्चोंकी हत्या करवा डाली । भारतकी

चुनरी भारतके बच्चोंके रक्तसे रँगी गई।

अंग्रेजोंके आसुरी अत्याचार

पंजाबके तत्कालीन गवर्नर मायकल ओडायरने डायरकी पीठ ठोंकी और पंजाबमें फौजी कानून जारी कर दिया। पंजाबके देश-प्रेमी सड़कोंपर पेटके बल रेंगवाये गए और तख्तोंमें बाँधकर उनकी नंगी पीठपर चाबुक चटकाये गए। देवियोंके चीर-हरण करके उनको नग्न कर डाला गया और उनकी गुप्तेन्द्रियोंमें बंदूकके कुन्दे तक घुसेड़े गए। अंग्रेज साम्राज्य-वादियोंने भारतका ऐसा घोर अपमान किया कि संसारमें हाहाकार मच गया। पं० मदनमोहन मालवीय, पं० मोतीलाल नेहरू और देशबंधु चित्तरंजनदासकी समितिने पंजाबके इस भीषण नर-मेध और क्रूरतापूर्ण कांडकी जाँच करनेके बाद जो रिपोर्ट तैयार की थी वह भारतकी परा-धीनताके इतिहासका एक हृदय-विदारक और रोमाञ्चकारी अध्याय है।

कांग्रेसमें प्रवासी-प्रतिनिधि

अमृतसरमें इंडियन नेशनल कांग्रेसका वार्षिकाधिवेशन होने वाला था, उसमें सम्मिलित होकर प्रवासी भारतीयोंकी करुण-कथा सुनानेके लिए दक्षिण अफ्रिकाके भाइयोंने मुझे अपना प्रतिनिधि चुना था। उन दिनों दक्षिण अफ्रिका-प्रवासी भारतीयोंकी हालत भी बड़ी नाजुक हो रही थी। युद्ध-कालमें वहाँके अंग्रेज ऐसी चिकनी-चुपड़ी बातें सुनाते रहे कि मानो वर्ण-भेदका युग सदाके लिए विदा हो गया हो और भविष्यमें अंग्रेज और हिन्दुस्थानी सगे भाईकी भाँति प्रेमसे मिल-जुलकर रहेंगे,परन्तु अभी वार्साईकी संधिकी स्याही भी नहीं सूखने पाई थी कि वहाँके अंग्रेजोंका रुख बदल गया। विजयोन्मत्त होकर वे वर्ण-विद्वेषका नग्न प्रदर्शन करने लगे और भारतीयोंके साथ नीचतापूर्ण व्यवहार करना अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझने लगे। ब्रिटेनके विकराल वैरी 'जघन्य जर्मन' तो अपनी गोरी चमड़ीके प्रतापसे समानता और सम्मानके अधिकारी बन गए,पर ब्रिटिश साम्राज्यके परम भक्त भारतीय अपने भूरे रंगके अपराधमें तिरस्कारके पात्र समझे गए। भारतीयोंको

दक्षिण अफ्रिकासे निकाल बाहर करने अथवा उनको अछूतोंकी भाँति अलग बसानेकी नीयतसे एक कमीशन बैठाया गया था। इसलिए प्रवासी भाइयोंने कांग्रेसमें उनकी कष्ट-कथा सुनानेके लिए मुझे तार दिया था।

अमृतसर पहुँचकर मैं स्वामी श्रद्धानन्दजीके साथ ठहरा। स्वामीजी कांग्रेसके स्वागताध्यक्ष थे, इसलिए ऐसे कार्य-व्यस्त थे कि उनको साँस लेनेकी भी फुर्सत नहीं थी। फिर भी मुझे अपने साथ ठहराकर और प्रतिनिधित्वका टिकट दिलाकर उन्होंने मुझपर जो उपकार किया वह मैं कभी विसार न सकूँगा। स्वामीजी एक महान् व्यक्ति ही नहीं, एक प्रचण्ड शक्ति भी थे। अमृतसरकी कांग्रेस उनके अदम्य उत्साह, अद्‌भुत संगठन-शक्ति और अनुपम कार्य-दक्षताका परिचय दे रही थी। ओडायरने पंजाबके सभी राजनीतिक नेताओंको जेलमें ठेल दिया था, उनकी अनुपस्थितिमें स्वामीजीने पंजाबकी लाज रख ली और प्रान्तका नेतृत्व ग्रहण करके कांग्रेस-अधिवेशनकी ऐसी सुन्दर व्यवस्था कर दिखाई कि देश दङ्ग रह गया और ओडायरशाहीकी तो मानो नाक ही कट गई—उसकी शान धूलमें मिल गई।

शहीदोंकी समाधिपर

उस समय अमृतसरमें उत्साह और उत्तेजनाका उदधि उमड़ रहा था। जलियाँवाला बागकी दीवारोंमें गोलियोंकी निशानी और यत्र-तत्र शहीदोंके शोणितकी छींटें भी दिखाई पड़ती थीं। उन दिनों अमृतसर देश-भक्तोंके लिए राष्ट्रीय-तीर्थ बन गया था इसलिए ठहरनेका ठिकाना लगते ही मैं जलियाँवाला बागमें पहुँचा। वास्तवमें बागका वातावरण विप्लवका विस्फोट बन गया था। देशकी परवशतापर मेरे हृदयमें पश्चात्तापका पावक प्रज्वलित हो उठा, नेत्रोंसे झर-झर नीर झरने लगा और क्रोधसे शरीर थर-थर काँपने। वहाँ बैठकर बहुत देर तक रोता और सिर धुनता रहा। हृदयमें विचारोंकी आँधी चल रही थी। सोचता कि सौ-दो-सौ भेड़ोंको भी एक गड़रिया काबूमें नहीं रख सकता, पर हजारों भारतीयोंपर एक अंग्रेज शासन कर रहा है—क्या हम भेड़से

भी गये-बीते हैं ? तीस करोड़ मनुष्य यदि एक साथ थूक भी देते तो एक ऐसी नदी बह जाती, जिसमें विदेशी सत्ता डूब मरती, पर इतनी बड़ी आबादीपर समुद्र-पार विदेशसे आकर मुट्ठी-भर अंग्रेज हकूमत चला रहे हैं, इससे बढ़कर हमारे लिए शर्मकी बात और क्या हो सकती है ? पशु-पक्षी तक परवशता पसंद नहीं करते, फिर हम हैं क्या—सचमुच सजीव मनुष्य हैं अथवा मनुष्यकी आकृतिमें मिट्टीकी निर्जीव मूर्ति ? पर सच्ची बात तो यह है कि अभी इस अभागे देशमें विभीषण और सुग्रीव, जयचंद और मीर जाफरकी औलाद बरकरार हैं, जिनकी सहायता और सहयोगसे भारतपर विदेशी सत्ता अठखेलियाँ कर रही है। खैर, वर्षोंके बाद एक दिन दक्षिण अफ्रिकामें रूटरने यह खबर सुनाई कि लंडनके कॉक्सटन-हॉलकी एक भरी सभामें श्री ऊधमसिंह नामक एक पंजाबी जवानने सर मायकल ओडायर पर पिस्तौलसे गोली चलाई, जिससे उनका प्राणान्त हो गया। ऊधमसिंहको जलियाँवाला बागका बदला चुकानेके लिए फाँसीके तख्तेपर चढ़ना पड़ा।

देशके तत्कालीन नेता

इस अवसरपर मुझे देशके अनेक नेताओंके दर्शन हुए। सबसे पहले मैं महात्मा गांधीसे मिलने गया। बापूके पास मैंने श्रीहरिभाई किंकर द्वारा अपना जो परिचय-कार्ड भेजा वह अंग्रेजीमें छपा था। बापूने मुझे फौरन बुलाया और मुस्कराते हुए कहा,—"तुम हिन्दीके हिमायती और तुम्हारा कार्ड अंग्रेजीमें ?" मैं ग्लानिसे गड़ गया और सफाई देते हुए बोला, "यह कार्ड दक्षिण अफ्रिकामें ही छपा था।" इससे बापूको संतोष कहाँ ? "लेकिन यह तो हिन्दुस्थान है और यहाँ हिन्दीका ही सम्मान होना चाहिए" कहकर बापूने दूसरी बातें छेड़ीं।

इस जीवनमें प्रथम और अन्तिम बार यहीं लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलकको देखा। गेहुँआ रंग, प्रशस्त ललाट, आलोकमयी आँखें, तेज-पूर्ण मुखड़ा, अन्तरमें क्रान्तिकी आँधी और बाहरसे शान्त-गम्भीर। सिरपर मराठी पगड़ी, पैरोंमें देशी पनही, शरीरपर मिरजई और धोती,

कंधेपर अँगोछा। वे थे भारतीय क्रान्तिके अग्रदूत। महान् था उनका व्यक्तित्व, अनुपम था उनका पांडित्य और विलक्षण थी उनकी प्रतिभा। सर वेलन्टाइन चिरोलके शब्दोंमें वे 'भारतीय अशान्तिके जनक' थे। आज भी मेरी आँखोंके सामने मौजूद है उनकी वह मंजुल मूर्ति, चमकीला चेहरा और विप्लवी वेश। तिलककी देश-भक्ति, विद्वत्ता, त्याग और तपस्या भारतकी अनमोल सम्पत्ति है। उनकी क्रियाशीलता और कष्ट-सहिष्णुता युग-युगान्तर तक क्रान्तिकारियोंके दुर्गम पथमें दीप-स्तम्भका काम देती रहेगी। तिलक भारतके राष्ट्र-सूत्रधार थे, उस महानतम विभूतिपर भारतको गर्व और गौरव है।

पंजाबके भाइयोंने जिस लगनसे अमृतसरमें कांग्रेसाधिवेशनकी व्यवस्था की थी वह सर्वथा संतोषजनक थी। पंडालके अन्दर पंद्रह हजार मनुष्य आरामसे बैठ सकते थे, पर लगभग बीस हजार मनुष्योंका जमाव हो गया था। इसलिए पंडालमें कहीं तिल रखनेकी भी जगह खाली नहीं रही। प्रधान आसनपर पं० मोतीलाल नेहरू विराजे। उनका लिखित भाषण पंजाबके हत्याकांड एवं भारतकी बेबसी एवं बेकलीका शब्द-चित्र था। जनतामें इतना जोश और रोष था कि जब स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानंदजीने अपने हिन्दी-भाषणमें पंजाबके गवर्नर ओडायरके नामके आगे सम्मानसूचक 'श्रीमान्' शब्दका प्रयोग किया तो लोगोंने ऐसा हल्ला-गुल्ला मचाया कि स्वामीजीको अपने भाषणसे वह शब्द काट देना पड़ा। भाषणके बीच-बीचमें लोग चिल्ला रहे थे—'अत्याचारी ओडायर कायर है' और 'जल्लाद डायर हत्यारा है'।

जिस समय कांग्रेसका अधिवेशन हो रहा था, ठीक उसी समय पंजाबके फौजी-कानूनके बन्दी लाला हरकिशनलाल, पं० रामभजदत्त चौधरी, डाक्टर सत्यपाल, डाक्टर किचलू, लाला धर्मदास सूरी आदि जेलके सींखचोंसे निकलकर पुष्प-मालाओंसे लदे हुए वन्देमातरम्की तुमुल पुकारके साथ मंचपर पधारे। स्वामी श्रद्धानंदके स्नेह और प्रवासी होनेके कारण मुझे मंचके पास ही बैठनेकी कुर्सी मिली थी, इसलिए

नेताओंके भाषण सुनने और कांग्रेसकी कार्यवाहियाँ देखनेमें विशेष सुविधा हुई।

श्रीमती एनी बिसेन्टकी वाणी बड़ी बलवती थी। उनकी वक्तृताकी शैली बड़ी निराली थी, जिसका श्रोताओंपर गहरा असर होता था। अंग्रेजीपर उनका स्वाभाविक अधिकार था। विदेशी होते हुए भी इस देवीने भारतकी सेवामें अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया था। उस समय माननीय श्रीनिवास शास्त्री, श्री बोमनजी, श्रीरामस्वामी अय्यर, श्री तैलङ्ग, श्री व्योमकेश चक्रवर्ती, श्री कस्तूरीरङ्गा आयङ्गर, श्री वी० नरसिंह शर्मा, श्री नटराजन आदि कॉंग्रेस-वादी थे और अमृतसर-कॉंग्रेसमें मुझे उनके दर्शन भी हुए थे। पर सात मासके बाद जब कॉंग्रेसने सत्याग्रहकी शहनाई बजाई तो इन राजनीतिज्ञोंने कॉंग्रेससे नाता तोड़ लिया। इनमें-से कुछने लिबरल फैडरेशन बनाकर अपनी लीडरी बचाई, कुछने सार्वजनिक जीवनसे वैराग्य ले लिया और कुछने विदेशी सरकारकी सेवकाई स्वीकार कर ली।

बाबू विपिनचन्द्र पालका नाम सुना था, कांग्रेसमें उनको देखा भी और व्याख्यान भी सुना। वे भाषण देते तो मुझे ऐसा भासित होता कि विषय-विवेचनकी ओर कम, गरियानेकी ओर उनका अधिक ध्यान है। उस जमानेमें उनकी बड़ी प्रतिष्ठा और प्रख्याति थी—'लाल' और 'बाल' के साथ 'पाल'की गणना होती थी। कालान्तरमें उनका ऐसा पतन हुआ कि वह प्रति सप्ताह 'इङ्गलिशमैन'में लेख लिखकर कांग्रेसको गालियाँ गाते और उसके बदलेमें कुछ पैसे लेकर पापी पेटकी आग बुझाते। अमृतसर कांग्रेसमें जनाब मुहम्मदअली जिन्नाको भारतीय राष्ट्रका राग अलापते हुए और साम्प्रदायिकताको लानत देते हुए देखा। उन दिनों जिन्ना कट्टर कांग्रेसवादी थे और हिन्दू-मुस्लिम एकताके अग्रनेता। पर साल-भर बाद जब कांग्रेसने स्वराज्यकी प्राप्ति एवं खिलाफतकी रक्षाके लिए अहिंसात्मक क्रान्तिकी पुकार मचाई और कांग्रेस-कर्मियोंको जेल जानेकी नौबत आई तो जिन्ना साहब कॉंग्रेससे पिण्ड छुड़ाकर वैसे ही

भागे, जैसे बन्दूककी आवाज सुनकर मृग-शावक। कांग्रेसमें रहकर उन्होंने जो पाप कमाया था, कांग्रेसको कोसकर उसका प्रायश्चित्त कर डाला। आखिर वे मुस्लिम-भारतके खलीफा बनकर मैदानमें आये और मुसलमानोंको भारतीयोंसे अलग एक नई कौम तथा हिन्दुस्थानका कलेजा काटकर पाकिस्तान बनानेके काममें भिड़ गए। मुसलमानोंको बहकाना, हिन्दुस्थानको आजादीमें विघ्न डालना और बृटिश साम्राज्यवादियोंके इशारेपर नाचना जिन्नाका मजहब बन गया। मानवी उत्थान-पतनका नजारा देखना हो तो जिन्नाके जीवनका इतिहास देख लीजिये।

उन दिनों मौलाना हसरत मोहानी भी कांग्रेससेन थे और अमृतसरमें मुल्ककी मुकम्मिल आजादीके नारे लगा रहे थे, पर बादमें वह भी मुस्लिम लीगके मुल्ला बन गए। सैयदहुसैनको भी कांग्रेसमें चमकते हुए देखा था। वह जैसे प्रवीण पत्रकार हैं; वैसे ही वक्ता भी। उन दिनों वह पं० मोतीलाल नेहरूके दैनिक "इंडिपेन्डेन्ट"के सम्पादन कर रहे थे और प्रयागके आनन्द-भवनमें नेहरू-परिवारके साथ रहते थे। उन्हीं दिनों एक अप्रिय घटना घट जानेके बाद सैयदहुसेन एक मुस्लिम-डेपुटेशनके साथ इङ्गलैण्ड गये और वहाँसे अमेरिका चले गए। वहाँसे उन्होंने 'ओरियन्ट' नामक एक उच्चकोटिका पत्र निकाला था, उसकी कई प्रतियाँ मुझे दक्षिण अफ्रिकामें मिली थीं। यह सन्तोषकी बात है कि अभीतक उनकी कौमियत और मुल्ककी आजादीकी भावनामें कोई फर्क नहीं आया है। हकीम अजमलखाँ और श्री हसन इमामके भी दर्शन हुए, जो अपने जीवनके अन्ततक कांग्रेसवादी बने रहे।

कांग्रेसमें चित्ताकर्षक चर्चा

अमृतसर कांग्रेसमें लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधीके बीच शासन-सुधार सम्बन्धी प्रस्तावको लेकर एक अप्रिय संघर्ष हो गया। उसी समय माण्टेगू-चेम्सफोर्डके नवीन शासन-विधानकी घोषणा की गई थी, जिसे तिलक महाराज अपर्याप्त,असंतोष-प्रद और निराशा-जनक बतलाते थे,पर 'निराशा-जनक'शब्दपर गांधीजीको आपत्ति थी। वे उसे अपर्याप्त

और असंतोष-प्रद कहकर ही संतोष कर लेना चाहते थे और प्रस्तावसे 'निराशा-जनक' शब्द निकाल देना चाहते थे। इस बातपर बहस छिड़ गई। इसी प्रस्तावपर भारतके प्रायः सभी बड़े-बड़े नेताओंको बोलते हुए देखा। पर लोकमान्य और महात्माजीकी नीति और शक्तिकी परीक्षा नहीं होने पाई। पं० मदनमोहन मलवीयने बीचमें पड़कर समझौता करा दिया। प्रस्तावसे महात्माजीकी इच्छानुसार 'निराशा-जनक' शब्द निकाल दिया गया और माण्टेगू तथा चेम्सफोर्डको उनकी श्रम-शीलताके लिए धन्यवाद भी दिया गया। इसपर तिलक महाराजने मर्माहत होकर कहा था कि हम हिन्दुस्थानी ऐसे गुलाम बन गए हैं कि हमपर जो जूतियाँ चलाता है और ठोकरें लगाता है उसकी भी खुशामद करते और अहसान मानते हैं।

काँग्रेसमें प्रवासी भाइयोंकी भी अच्छी चर्चा हुई। मेरे सिवा पूर्व अफ्रिकाके श्री एम. पी. ठाकुर, जंजीबारके श्री बिहारीलाल अनन्तानी और ट्रांसवालके श्री नादिरशाह कामा भी उपस्थित थे। प्रवासियोंके प्रस्तावपर मुझे भी बोलनेका अवसर मिला। मेरे जीवनमें यह पहला ही प्रसङ्ग था, जबकि मैं देशके चुने हुए अठारह हजार प्रतिनिधियोंको प्रवासियोंकी कष्ट-कथा सुनानेके लिए खड़ा हुआ। हृदय धड़कने लगा और शरीर काँपने। फिर भी साहस बटोरकर जो कुछ कहना चाहता था—एक साँसमें कह गया।

उस समयतक काँग्रेसमें प्रतिनिधियों और दर्शकोंके बैठनेके लिए कुर्सियोंका इन्तजाम था, इसलिए स्वागत-समितिको पंडाल बनाने और कुर्सियाँ जुटानेमें बहुत हैरान होना पड़ता था। प्रतिनिधियोंकी संख्या भी सीमित नहीं थी, इसलिए सम्मति लेनेमें बड़ी दिक्कत होती थी। पीछे कांग्रेस-विधानमें परिवर्तन हुआ, प्रतिनिधियोंकी संख्या परिमित हो गई और खुले मैदानमें फर्शपर बैठनेका इन्तजाम होने लगा।

बिजौलियामें सत्याग्रह

इसी अवसरपर अमृतसरमें राजपूताना-मध्यभारत-सभाकी विशेष

बैठक बैरिस्टर गिरिधारीलालके सभापतित्वमें हुई थी। उसमें अनेक देशी रियासतोंके प्रतिनिधि शरीक हुए थे। यहीं पहले-पहल काठियावाड़ प्रजा-मंडलके प्रसिद्ध नेता श्रीमणिलाल कोठारी, राजस्थानके शेर श्रीविजय-सिंह 'पथिक' और कुँवर चाँदकरण शारदासे मेरी मुलाकात हुई। दो मास पहले जब मैं मेवाड़ गया था तो वहाँ श्री हरिभाई किङ्कर आदि कार्य-कर्त्ताओंसे पथिकजीकी वीरताकी बातें सुनी थीं। उस समय पथिकजी बिजौलियामें सत्याग्रहका संचालन कर रहे थे। उनका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था और उनकी कवितामें मुर्दोंमें भी जान डाल देनेकी शक्ति थी। वे एक देशी धुस्सा ओढ़े हुए थे; शीशपर साफा शोभ रहा था। मुखपर वीरताकी रेखा थी और आँखोंमें देश-भक्तिकी झलक। राजपूती दाढ़ी छटासे फहरा रही थी। उनसे मिलनेकी बड़ी लालसा थी, सो पूरी हो गई। वे ऐसे प्रेमसे मिले, जैसे कोई अपने सगे भाईसे मिलता है।

पथिकजीके मुखसे बिजौलियाके सत्याग्रही किसानोंकी करुण-कहानी सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए—क्रोधसे कलेजा काँप उठा। इस बीसवीं सदीमें ठिकाने वाले सत्याग्रहियोंपर जो क्रूरतापूर्ण अत्याचार कर रहे थे वह देशी रियासतोंके नामपर ऐसा कुत्सित कलंक है जिसका प्रक्षा-लन कभी न हो सकेगा। भावी इतिहासकार उनको नृशंसताके लिए धिक्कारेंगे और स्वतन्त्र हिन्दुस्थानकी सन्तान उनके कारनामोंपर घृणासे थूकेगी।

अमानुषिक अत्याचार

बिजौलियामें मध्यकालीन दण्ड-विधिके प्रयोग द्वारा पूर्ण बर्बरता-का परिचय दिया जा रहा था। सत्याग्रही किसानोंको दोनों पैरके बीचमें काफी अन्तर रखकर खड़ा कराया जाता, उनके दोनों हाथ कन्धोंकी सीधमें ऊपर उठवाये जाते और उनपर छः-छः सेरके पत्थर रख दिये जाते। पेड़पर एक डंडा बाँध दिया जाता और उसके दोनों तरफ दस-दस सेरके पत्थर लटका दिये जाते। इतनीसे नृशंस सत्ताधिकारियोंको सन्तोष कहाँ? फिर उन बेचारोंके कन्धोंपर, कोहनीपर और कलाइयों-

के जोड़पर पड़ने लगती डंडेकी मार, जिससे बदनमें ठाँव-ठाँवपर गाँठें बँध जातीं और कोहनियोंसे लहूका फव्वारा फूट पड़ता। इस पैशाचिक व्यवहारसे जब वह बिलकुल बे-दम हो जाता तब उसको काठमें ठोंक दिया जाता। इस अमानुषिक दण्डकी विधि यह थी कि एक लम्बे तख्ते-के एक छेदमें दाहिना पैर डाल दिया जाता और दूसरे छेदमें बाँया पैर, दोनों छेद इतने फासलेपर होते कि अक्सर उनकी रानें चिर जातीं। उस हालतमें उन्हें तपती हुई धूपमें दिन-भर रखा जाता और बीच-बीच-में उनकी नालदार जूतेकी ठोकरोंसे मरम्मत होती रहती।

इस सभ्यता और प्रकाशके युगमें भी देशी राज्योंमें नृशंसताकी ऐसी निहङ्ग लीला हो रही थी, जिसकी कल्पना भी मेरे लिए दुष्कर थी। कुछ दिन पूर्व मैं चित्तौड़गढ़ और उदयपुर हो आया था, वहाँ मेरा बड़ा आदर-सत्कार हुआ था। सरकारी स्कूलमें मेरा भाषण कराया गया था और यहाँतक कि मुझे सहेलिया-बाड़ी दिखलानेके लिए राज्यकी रेल-गाड़ी भी घड़ी-भर रोक दी गई थी। इसलिए मैं मेवाड़से देशी राज्यों-के लिए उच्च भावना लेकर लौटा था, पर उस दिन अमृतसरमें जो-कुछ सुना, उससे डलहौसीकी नीतिपर मेरे विचार बदल गए और मैंने सोचा कि यदि उस कमबख्तने सारी देशी रियासतोंको ब्रिटिश राज्यमें मिला लिया होता—हिन्दुस्तानके नकशेसे पीला रंग मिटा दिया होता तो उससे देशी रियासतोंकी प्रजाका हित ही होता।

जाँच-कमीशन

आखिर बिजौलियाके किसानोंकी स्थिति, उनकी शिकायतों और उनपर होनेवाले अत्याचारोंकी जाँच करनेके लिए एक कमीशन चुना गया; जिसके सदस्योंमें मैं भी एक था। बिजौलियाके किसानोंपर अनेक नाजायज कर लगाये गए थे और उसकी वसूलीमें बड़ी सख्तीसे काम लिया जाता था। अतएव जब व्यवस्थित आन्दोलन व्यर्थ गया तो प्रजा-को विवश होकर सत्याग्रहका सहारा लेना पड़ा। लोक-शक्तिको उठते देखकर राज-सत्ता उसके दमनके लिए उन्मत्त हो उठी थी। महाराणा

प्रतापके मेवाड़में यह एक ऐसी दुर्घटना थी, जिससे देश-भरमें सनसनी फैल गई थी और सभीकी दृष्टि उधर लगी थी। भारतमें सत्याग्रहका यह प्रथम प्रयोग था और इसका श्रेय था पथिकजीके नेतृत्वको।

'प्रताप'—सम्पादक पं० गणेशशंकर विद्यार्थी इस मामलेमें पूरी दिलचस्पी ले रहे थे और उनका 'प्रताप' सत्याग्रही किसानोंकी कष्ट-कथा संसारको सुना रहा था। विद्यार्थीजीने मुझे पत्र लिखकर अनुरोध किया कि कमीशनका काम अविलम्ब आरंभ हो जाना चाहिए। मैं भी इस कामसे छुट्टी पाकर दक्षिण अफ्रिका लौट जाना चाहता था, इसलिए मैंने मेवाड़के स्वर्गीय महाराणा फतहसिंहजीको एक पत्र लिखकर निवेदन किया कि मैं बिजौलियाके मामलेमें जाँच करनेके लिएमेवाड़ आरहा हूँ। उत्तरमें महाराणाजीके सेक्रटरीने तार दिया कि अभी मुझे कुछ समय तक ठहर जाना चाहिए,क्योंकि महाराणाजीने पं० रमाकांत मालवीयकी अध्यक्षतामें एक कमीशन बैठा दिया है,उसकी जाँचका परिणाम देख लेना चाहिए। यद्यपि इस कमीशनपर मुझे विश्वास नहीं था, क्योंकि इससे पहले भी श्री बिन्दुलाल भट्टाचार्यकी अध्यक्षतामें राज्यकी ओरसे एक जाँच-कमीशन बैठाया गया था, जिसकी रिपोर्ट निकली ही नहीं—दाखिल-दफ्तर हो गई; तो भी बिजौलिया पंचबोर्ड, राजपूताना-मध्यभारत-सभा, पथिकजी और विद्यार्थीजीकी यही राय ठहरी कि कुछ कालतक ठहर जानेमें कोई हर्ज नहीं। इस तरह जाँचका मेरा काम तो रुक गया, लेकिन मालवीय-कमीशनकी रिपोर्ट निकलने तक मैं भारतमें नहीं रुक सका।

एक क्रान्तिकारीकी कहानी

अमृतसरमें उन दिनों एक तो वैसे ही जाड़ेका मौसम था, तिसपर हो गई मूसलधार वृष्टि। फिर तो जाड़ा खूब रंग लाया—गजब ढाया। मेरे पास केवल दो मामूली कम्बल थे, इसलिए मेरी दुर्गतिकी सीमा नहीं रही। जब मैं सोया, मेरे घुटने मुँहको चूमने लगे और शरीर ऐसा थरथराने लगा कि मानो जूड़ी चढ़ आई हो। बगलमें एक पंजाबी महा-

शय ठहरे हुए थे, उनको मेरी दशापर दया आ गई। उन्होंने मेरे ऊपर एक गर्म कम्बल डाल दिया। उनकी सहृदयतापर मैं मुग्ध हो गया। स्वयं कष्ट उठाना और दूसरेको आराम पहुँचाना किसी विशिष्ट व्यक्तिका ही काम है। वे गौर-वर्णके लम्बे जवान थे और शील, स्नेह एवं गंभीरताके निधान।

दोपहरको उन्होंने एक पंजाबी होटलमें मुझे अपने साथ भोजन भी कराया। उनका सौजन्य देखकर मैं इस परिणामपर पहुँचा कि या तो वे कोई महान् देश-भक्त हैं अथवा विदेशी सरकारके जासूस। इसलिए उनका परिचय प्राप्त करनेके लिए मेरी उत्कंठा बढ़ गई। पूछनेपर मालूम हुआ कि वे पंजाबके एक रत्न हैं। पहले वे प्रयागके उर्दू 'स्वराज्य'के सम्पादक थे। राजद्रोहात्मक लेख लिखनेके अपराधमें अंडमनके कालेपानीके कैदखानेसे दस सालकी सजा भुगतकर लौटे हैं और उनका नाम है लाला नन्दगोपाल। नाम सुनते ही मैं उनसे लिपट गया।

इस महान् देश-भक्तने अंडमनके नरक में बड़े-बड़े कष्ट झेले, पर आत्म-सम्मानपर आँच नहीं आने दी। जब उनको कोल्हूमें जोता गया तो उन्होंने अपने सहकर्मियोंको समझाया कि आखिर हम मनुष्य हैं, बैलकी तरह तेजीसे कोल्हू नहीं चला सकते। कोल्हू मन्द गतिसे चलने लगा, परिणाम यह हुआ कि दस बजेतक चौथाई तेल भी न निकला। दस बजे खानेकी छुट्टी मिली यद्यपि जेलके नियमके अनुसार दससे बारह बजेतक खाने और आराम करनेका समय था, तो भी कैदी खाना ठूँस-ठाँस कर पाँच-सात मिनटमें ही कोल्हूके काममें लग जाते थे, क्योंकि पन्द्रह सेर तेल निकलना कोई खेल-तमाशा नहीं था। पर नन्दगोपालको भय कहाँ? जब पेटी-अफसरने उनको झटपट काममें लग जानेकी ताकीद की तब उन्होंने हँसते हुए जवाब दिया कि स्वास्थ्यके नियमके अनुसार खाना खाकर फौरन काममें लग जानेसे मेदेकी नलियोंपर जोर पड़कर पाचन-शक्ति नष्ट हो जाती है और उन्हें जब दस साल सरकार बहादुरका मेहमान रहना मंजूर है तब वे इस तरह अपनी तन्दुरुस्ती बिगाड़कर

सरकारको बदनाम करना मुनासिब नहीं समझते। इसकी रिपोर्ट जुल्मी जेलरके पास पहुँची। जेलरने आकर देखा कि नन्दगोपाल डाक्टरोंके कथनानुसार एक-एक कौरको बत्तीस-बत्तीस बार चबाकर धीरे-धीरे गलेके नीचे उतार रहे हैं। जेलरने क्रोधसे काँपते हुए गरज-गरजकर यह बात एडीटर साहबको समझाई कि यदि समयपर ठेकेका काम पूरा न हुआ तो उनको बेंतकी मार खानी पड़ेगी। वैसे ही हँसते हुए नन्दगोपालने जेलरको जवाब दिया, सुनिये जनाब! सरकार बहादुरने अपने मेहमानोंके लिए दससे बारह बजेतकका वक्त खाने-पीने और आराम करनेके वास्ते निश्चित कर दिया है, इसलिए मेरे जैसा राज-भक्त व्यक्ति सरकारके कानून और हुक्मको किसी तरह भङ्ग नहीं कर सकता। मैं तो यह भी देखता रहूँगा कि आप भी कहीं सरकारके कानूनकी अवज्ञा न करें। जेलर जल-भुनकर खाक हो गया और धमकाते हुए वहाँसे चम्पत हुआ।

खाना खाकर नन्दगोपाल उठे। पेटी-अफसरने समझा कि शायद अब एडीटर साहब काममें लग जायंगे, पर नन्दगोपाल तो एक कम्बल बिछाकर निश्चिन्त सो गए; बहुत बकने-झकने, पुकारने-चीखनेपर भी न उठे। ठीक बारह बजे उठकर उन्होंने कोल्हू चलाना शुरू किया और लगभग दो घण्टे चलाया। जब देखा कि सात सेरके करीब तेल निकल चुका तब बाकी नारियलोंको छोड़कर मजेमें बैठ गए। अफसरोंने कहा, "अभी तो आधा ही तेल निकला है, शेष आधा कौन निकालेगा?" नन्दगोपालने बेलाग जवाब दिया, "मैं क्या जानूँ कि कौन निकलेगा। मैं आखिर आदमी हूँ—कोल्हूका बैल नहीं।" जेलके अफसरोंने गर्जन-तर्जन और डराना-धमकाना आरंभ किया, पर नंदगोपाल वैसे ही मुस्कराते हुए निर्भ्रान्त महापुरुषकी भाँति उत्तर देते रहे। सुपरिन्टेन्डेन्ट और जेलरने देखा कि—

'वारि मथे बरु होय घृत, सिकतासे बरु तेल'

परन्तु नन्दगोपालसे पन्द्रह सेर तेल निकलवाना असंभव है। इस-

लिए पैरोंमें डण्डा-बेड़ी डालकर उन्हें काल-कोठरीमें बन्द कर दिया गया। उनपर नाना प्रकारके अत्याचार हुए, पर कष्ट-सहिष्णुताका अद्भुत परिचय देकर नंदगोपालने काले पानीके 'भगवान्' के छक्के छुड़ा दिये। वहाँका जेलर अपनेको कैदियोंका भगवान् समझता था।

लोकमान्यके अन्तिम दर्शन

तीसरी जनवरीको अमृतसरसे प्रस्थान करनेके लिए मैंने टिकट खरीदा और बिस्तर बाँधकर तैयार हो गया। नन्दगोपालजीसे मैं विदाई ले रहा था कि उसी समय अमृतसर होमरूल लीग के मंत्रीजीने आकर सूचना दी कि आज ही तीन बजे 'बंदेमातरम् हाल'में लोकमान्य तिलक महाराजका भाषण होगा और लोकमान्य चाहते हैं कि मैं भी सभामें शरीक होकर प्रवासी भारतीयोंकी समस्यापर कुछ बोलूँ। चूँकि लोकमान्य हिन्दीमें न बोल सकेंगे—अंग्रेजीमें ही बोलेंगे, इसलिए हिन्दी-वक्ता एवं प्रवासी भारतीयोंके प्रतिनिधिके नाते उन्होंने मुझे आमंत्रित करनेकी सम्मति दी है। यद्यपि मैं स्टेशन जानेको तैयार था तो भी तिलक महाराजकी आज्ञा और नंदगोपालजीके आग्रहकी अवहेलना करना मेरे लिए असंभव था। नन्दगोपालजीने यहाँतक कहा कि "यदि आज गाड़ी न मिली और टिकट न चला तो मैं किराया दूँगा।"

'वन्देमातरम् हाल'में प्रवेशके लिए चार आनेका टिकट लगा था तो भी हालमें कहीं तिल रखनेको जगह खाली नहीं थी। यहाँ तक कि बहुत-से लोगोंको निराश होकर लौट जाना पड़ा। मेरे साथी होनेके कारण ही भाई नन्दगोपालको टिकट मिल सका था। डाक्टर किचलू सभापति-के आसनपर विराजे। लोकमान्य तिलकके पधारनेपर तुमुल जयघोषके साथ उनकी विधिवत् पूजा हुई—आरती उतारी गई। डाक्टर किचलूके पूछनेपर तिलक महाराजने पहले मेरा ही भाषण करानेकी सम्मति दी। उस समय मैं राष्ट्र-सूत्रधारका दिव्य रूप देखनेमें ऐसा तन्मय हो रहा था कि मुझे अपने तन-बदनकी भी सुध नहीं थी। उनके मुख-मंडलसे अमर ज्योतिकी रश्मियाँ छिटक रही थीं। मैं सोच रहा था, आज मेरे

सामने वह महापुरुष बैठा है, जिसने वैभव और विलासको त्यागकर देश-हितके लिए आपदाओंको अपनाया, राष्ट्र-सेवाको ही अपने जीवनका मूल-मंत्र बनाया, देश-वासियोंको गुलामीके गर्त्तसे निकालकर स्वाधीनताका मार्ग दिखाया, भारतीय राष्ट्रको यह पाठ पढ़ाया कि स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है और उसको प्राप्त करना हमारा सर्वोत्तम धर्म; जिसने स्वराज्य-संग्राममें बार-बार बन्दी बनकर देशमें बलिदानका भाव फैलाया और अपनी वाणी, लेखनी एवं क्रियाशीलतासे भारतमें एक नया युग ला दिया। मेरा हृदय भावनाओंकी गंगामें गोता लगा रहा था। जीवनमें वह कैसी शुभ घड़ी थी जब कि मेरी आँखें देश-नायककी रूप-सुधा पीकर तृप्त हो रही थीं। वह हिमाचल-सा अचल और वारिधि-सा गंभीर था। जवानीमें उसके दिलमें आजादीकी जो आग लगी, वह जिन्दगी-भर सुलगती रही। देशाभिमानकी अग्नि-परीक्षा देकर वह स्वर्णकी भाँति निखर उठा था। स्वराज्य-प्राप्तिके प्रयत्नमें ही उनके जीवनका उत्सर्ग हुआ। इसीलिए देशवासियोंने 'भारतके भालका तिलक' और 'राष्ट्र-सूत्रधार' कहकर अपनी श्रद्धाका परिचय दिया और अंग्रेजोंने 'राज-विद्रोहका पिता' कहकर अपने दिलके गुबार निकाले।

जब सभापति किचलू साहबने मुझे बोलनेकी आज्ञा दी तब मेरा ध्यान भङ्ग हुआ। बोलनेको खड़ा तो हुआ,पर बोलता क्या ? हृदय भर आया था—कण्ठ अवरुद्ध हो रहा था। उस महा विभूतिके सामने तो कोकिलाका कंठ भी कुंठित हो जाता, फिर मेरी क्या बिसात ? खैर, कर्त्तव्यकी प्रेरणासे कुछ देर प्रवासी भारतीयोंकी समस्यापर कुछ कह गया। मेरे बाद लोकमान्य उठे। पहले उन्होंने टूटी-फूटी हिन्दीमें जनताको धन्यवाद दिया और फिर अंग्रेजीमें बोलना शुरू किया। सभा-भवन 'हिन्दी-हिन्दी'की आवाजसे गूँज उठा। लोकमान्यके यह निवेदन करनेपर कि वह हिन्दीमें अपने हृद्गत भावोंको अभिव्यक्त नहीं कर सकते, श्रोताओंने और भी हुल्लड़ मचाया। सभापति महोदय बड़ी कठिनाईसे श्रोताओंको शान्त कर पाये। लोकमान्यके बाद पं० नरसिंह

चिन्तामणि केलकर और डाक्टर बालकृष्ण मुंजे भी कुछ बोले। सभा समाप्त होते ही मैं स्टेशनकी ओर भागा और सौभाग्यवश मुझे गाड़ी भी मिल गई।

: १७ :

प्रचारकों, पत्रकारों और प्रजा-नायकोंसे परिचय

इस बार भारत-भ्रमणके सिलसिलेमें मैंने इन्दौरके श्री द्वारिका-प्रसाद सेवकके घरपर भी कुछ दिन बिताये। इन्दौरमें सेवकजीने सरस्वती-सदनकी स्थापना की थी, जहाँसे 'नवजीवन' नामक उच्चकोटिका मासिक-पत्र और प्रवासी-साहित्यका प्रकाशन हो रहा था। सेवकजी ही मेरी पुस्तकोंके प्रकाशक थे, दक्षिण अफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास' उन्होंने बड़ी सजधजसे निकाला था, इसलिए उनसे स्नेह हो जाना स्वाभाविक ही था। यदि वह प्रकाशन-कार्यपर ही संतोष करते तो जहाँ उनकी स्थिति कुछ और होती वहाँ प्रवासी भाइयोंकी भी यथेष्ट सेवा हो सकती, पर उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ इसीसे परितृप्त न हुईं, उन्होंने आर्य-महिला विद्यालय, आर्य-कन्या-विद्यालय और आर्य-सेवा-समितिकी भी स्थापना कर डाली और उनके संचालनमें घरकी पैतृक पूँजी भी स्वाहा हो गई। आखिर उनकी सारी संस्थाएँ विलुप्त हो गईं और वह कर्जदार भी बन बैठे। वह एक समाज-सुधारक हैं, उन्होंने शशिकला नामकी एक ईसाई युवतीकी शुद्धि कराके उससे विवाह किया है। संसारमें सफलताका नाम बुद्धिमत्ता और असफलताका नाम मूर्खता है। अंग्रेजीमें एक लोकोक्ति है कि No crime is greater than failure अर्थात् असफलतासे बढ़कर और कोई अपराध नहीं है। यदि सेवकजीकी महत्त्वा-कांक्षाएँ पूर्ण हो जातीं, उनकी योजनाएँ सफल हो जातीं, तो आज वे एक प्रसिद्ध पत्रकार, प्रवीण प्रकाशक और कर्म-निष्ठ कार्यकर्त्ताके गौरवसे

मंडित होते, पर असफलताने उनको 'अनुभव-शून्य, जिद्दी, शेखचिल्ली, घर फूँककर तमाशा देखने वाला' आदि उपाधियाँ दिलाकर छोड़ा। सेवकजीने अपने सार्वजनिक जीवनके आरंभमें 'प्रवासी भारतवासी,' 'दक्षिण अफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास' प्रभृति पुस्तकोंको प्रकाशित करके प्रवासी भाइयोंकी जो सेवा की थी, वह सर्वथा स्तुत्य है।

स्वामी शंकरानन्द संन्यासी

इन्दौरमें ही पहले-पहल स्वामी शंकरानंदजीके दर्शन हुए। उनसे मिलनेकी अत्यंत उत्कंठा थी वह पूरी हो गई। स्वामीजीने मुझे सूचना दी कि वे वीरपुर-काठियावाड़से खासकर मुझसे मिलने इंदौर आ रहे हैं। अनेक मित्रोंके साथ मैं निश्चित समयपर स्टेशन पहुँचा। रातकी वेला थी और रमणीय ऋतु। आकाशमें चाँदनी छिटक रही थी। गाड़ी आनेपर दूसरे दर्जेके डिब्बेसे उतरते हुए स्वामीजीपर मेरी दृष्टि पड़ी। लम्बा तगड़ा बदन, चौड़ी छाती, भव्य भाल, गेहुँआ वर्ण, चमकता चेहरा और निस्पृह नयन। शरीर स्वास्थ्य-सम्पन्न एवं शक्ति-समन्वित। धवल दंत-पंक्तिके बाहर ओजपूर्ण ओठोंकी अरुणिमा वस्तुतः चित्ताकर्षक। तनपर लम्बा चोगा, सिरपर साफा और हाथमें लम्बी लाठी। इस काषाय-वस्त्रधारी लब्ध-प्रतिष्ठ संन्यासीको देखकर मैं मुग्ध हो गया।

दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी हिन्दुओंको जगाने, उठाने और आगे बढ़ानेमें स्वामी शंकरानन्दजीने अपने जीवनके चार साल बिताये थे, इसलिए उनके प्रति मेरे हृदयमें श्रद्धा हो गई थी। उनके दर्शन और सत्सङ्गकी मेरी अभिलाषा अबतक पूरी नहीं होने पाई थी। सन् १९१२के अन्तमें जब मैं नेटाल गया तो वह ट्रांसवालमें प्रचार कर रहे थे। जब मैं ट्रांसवाल पहुँचा तो वह वहाँसे केप प्रांतके लिए प्रस्थान कर चुके थे। अब वह केपसे नेटाल लौटे और खबर पाकर मैं भी ट्रांसवालसे नेटाल पहुँचा तो वहाँ पहुँचकर सुना कि स्वामीजी अचानक अज्ञात रूपसे स्वदेशको चले गए। मेरी इच्छा पूरी न हुई—मैं मन मसोसकर रह गया।

इंदौरमें स्वामीजीके केवल दर्शन ही नहीं हुए, बल्कि लगभग महीना-भर उनके सहवास और सत्संगका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस दरम्यान मैंने उनके व्यक्तित्वका अच्छा अध्ययन किया। दक्षिण अफ्रिकामें जैसा उनका बखान सुना था, वैसा ही उनको पाया भी। जितना निकटसे उनको देखा, उतना ही स्नेह और सम्मान बढ़ता गया। स्वामीजीसे अनेक बातोंमें मेरा मतभेद बना रहा। मैं कांग्रेसवादी हूँ, स्वामीजी हिन्दू महासभाके पक्ष-पोषक थे। गांधीजीको मैं अपना राजनीतिक गुरु मानता हूँ, वह गांधीजीके विचारोंके विरोधी थे। मुसलमानोंके मुकाबलेमें हिन्दुओंका संगठन वह उचित समझते थे, मैं हिन्दू-मुस्लिम विग्रहको भारतके लिए अभिशाप मानता हूँ और सारे भारतीयोंके राष्ट्र-संगठनको श्रेयस्कर समझता हूँ। संक्षेपमें वह पहले आर्य-हिन्दू और बादमें हिन्दुस्थानी थे, मैं अपनेको पहले हिन्दुस्थानी, बादमें हिन्दुस्थानी और अन्तमें हिन्दुस्थानी (Indian first, Indian next and Indian last) मानता हूँ।

स्वामी शंकरानन्द एक विश्रुत विद्वान् थे और विलक्षण वक्ता। हिन्दी और अंग्रेजीमें धारावाही व्याख्यान देते थे। उनकी वाणी जैसी बलवती थी, उनका व्यक्तित्व वैसा ही विलक्षण था। एक दिन हम रास्तेमें टहल रहे थे, अकस्मात् मोटरपर गुजरते हुए इंदौरके महाराजकी उनपर दृष्टि पड़ गई। उनका भव्यरूप देखकर महाराज ऐसे मोहित हुए कि उन्होंने तुरंत धावन भेजकर स्वामीजीको राज-महलमें बुलवाया। स्वामीजीका उपदेशामृत पान करके तुकोजीराव छक गए, यहाँ तक कि समयपर भोजनकी भी सुध न रही। राज-महलमें तहलका मच गया। आखिर स्वामीजीको उनसे विदा माँगनेपर मजबूर होना पड़ा। महाराजने तीन सौ रुपया और एक दुशाला स्वामीजीको भेंट किया। स्वामीजीने स्वदेश और विदेशमें वैदिक-धर्म—आर्य संस्कृतिकी जो सेवा और रक्षाकी है उसपर 'स्वामी शंकरानंद संदर्शन' नामक साढ़े चारसौ पृष्ठोंका एक बृहद् ग्रंथ मैंने लिखा है जो 'प्रवासी-भवन'से प्रकाशित भी हो

चुका है। स्वामीजी अब इस संसारमें नहीं रहे, पर उनका नाम अमर रहेगा।

पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी

इन्दौरमें ही पं० बनारसीदास चतुर्वेदीसे भी भेंट हुई। उन दिनों वह वहाँके कालेजमें हिन्दी-अध्यापक थे। प्रवासी भारतीयोंके प्रश्नमें काफी दिलचस्पी ले रहे थे। तीन सालके लगातार परिश्रमसे उन्होंने एक वृहद् ग्रन्थ भी तैयार किया था, जिसका नाम था—'प्रवासी भारतवासी।' इस ग्रंथके प्रणेता 'एक भारतीय हृदय' और कोई नहीं, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ही थे। इसके जोड़का दूसरा ग्रंथ हिन्दी तो क्या, हिन्दुस्थानकी अन्य किसी भी भाषामें नहीं था। वास्तवमें चतुर्वेदीजीकी यह अनुपम कृति वृहत्तर-भारतका शब्द-चित्र है, गिरमिटकी गुलामीकी गीतिका है, दासताके कारण दुनियामें फैली हुई भारतकी अपकीर्ति-कथा है और हिन्दी साहित्योद्यानमें खिला हुआ प्रवासी-प्रसून है।

पहले दिन चतुर्वेदीजी बड़े ठाट-बाटसे मिलने आये। शरीरपर चूड़ीदार पाजामा और अंगरखा, सिरपर रेशमी पगड़ी। लम्बा कद, पतली काठी, सौम्य स्वभाव और वेगवती वाणी। प्रथम मिलनमें ही उनसे स्नेह हो गया। शिष्टाचारके अनुसार दूसरे दिन मैं भी उनके घर पहुँचा। सोचा था, कालेजके प्रोफेसर हैं, ढङ्गसे रहते होंगे। पर वहाँ पहुँचकर जो कुछ देखा, उससे 'ऊँची दुकान फीका पकवान'की कहावत याद हो आई। मकान तो काफी बड़ा था, पर उसमें शायद महीनोंसे झाड़ू नहीं लगी थी। कहीं सफाई दिखाई नहीं पड़ी, चारों तरफ कूड़ा-कर्कटके ढेर लगे थे। उनकी लापर्वाही इस बातकी गवाही दे रही थी कि वह प्रोफेसर हुए तो क्या, आखिर हैं तो फ़ीरोजाबादके चौबे ? और उनका दफ्तर ? उसकी तो बात ही मत पूछिये। घर-भरमें कागज बिखरे पड़े थे—इधर हेनरी काटनकी तो उधर एण्ड्रूजकी चिट्ठियाँ पड़ी हैं; यहाँ फिजीकी तो वहाँ मॉरीशसकी सामग्रियाँ फैली हुई हैं। उस कागज-सागरमें डुबकी लगाकर वही कुछ रत्न पा सकता था, जो कुशल कागजी-गोताखोर हो।

बीचमें चतुर्वेदीजीसे मेरा कुछ मतभेद भी हो गया। इस यात्रामें मैंने 'ट्रांसवालमें भारतवासी' नामकी एक पुस्तक लिखी थी, जिसमें महात्मा गांधीकी नीतिकी कड़ी आलोचना की थी और बापूसे मैंने यह पूछनेकी धृष्टता की थी कि जब ट्रांसवालके एशियाटिक एक्टके अनुसार उँगलियों-का निशान देना बापूने पहले अनुचित एवं अपमानपूर्ण बतलाया था तो बादमें स्वेच्छापूर्वक उँगलियोंकी छाप देना कैसे उचित और सम्मानपूर्ण हो गया ? इस विषयपर तेरहवें अध्यायमें मैं संक्षेपमें प्रकाश डाल चुका हूँ। जब ट्रांसवालमें चोर, डाकू और बदमाशोंकी भाँति प्रत्येक हिन्दु-स्तानीको दस उँगलियोंकी अलग-अलग और चार-चार उँगलियोंकी एक साथ निशानी देना कानूनसे अनिवार्य ठहराया गया तो ट्रांसवालमें सबसे पहले सत्याग्रहकी लड़ाई छेड़ी गई। साढ़े-तीन हजार हिन्दुस्थानी और चीनी जेलके मेहमान बने। भारतका लोकमत प्रक्षुब्ध हो उठा, साम्राज्य-सरकार तक विचलित हो उठी। संसारका रुख देखकर जनरल स्मट्स-का भी आसन डोला। उन्होंने बापूको बुलाकर समझाया कि यदि आप कानून मान लें तो मैं कानून रद्द कर दूँगा। बापूने जवाब दिया कि उसमें बलात् उँगलियोंके निशान देनेका विधान है जिसे स्वीकार करना भारतीयोंके आत्म-सम्मानके प्रतिकूल है। स्मट्स पैंतरा बदलकर बोले, "अजी बलात् नहीं, स्वेच्छासे आप दे दीजिये। आप कानूनका पालन कर दें, मैं कानूनका ही अन्त कर दूँगा।" महात्माजी बातमें आ गए, धोखा खा गए। हिन्दुस्थानियोंने बापूके समझानेपर उँगलियोंकी छाप दे डाली, पर स्मट्स अपने वचनसे मुकर गए। कानून कायम रहा, सत्या-ग्रह विफल हो गया।

मैं आजतक इसका मर्म नहीं समझ पाया कि यदि बलात् उँग-लियोंकी छाप देना अपमान-जनक है तो स्वेच्छासे दे देना सम्मानपूर्ण कैसे हो सकता है ? इसलिए मैंने बापूको पत्र लिखकर पूछा भी कि अगर कोई जबर्दस्ती हमें नंगा करके नाच नचावे तो कम-से-कम इतना सन्तोष तो हो सकता है कि हमसे बलात् यह कुकृत्य कराया गया है,

पर स्वेच्छासे नंगा होकर नाचने लगना नैतिक दृष्टिसे कैसे औचित्यके अन्तर्गत आ सकता है ? इसी प्रकार यदि बलात् उँगलियोंकी छाप लगाना हिन्दुस्थानका अपमान था, हमारी मनुष्यतापर प्रहार था; उसके विरोध-में हजारों भारतीय जेल गये, सैकड़ों देशसे निर्वासित हुए तो फिर वही काम स्वेच्छासे कर डालना कैसे श्रेयस्कर हो गया। इसके स्पष्टीकरणमें बापूने एक ही वाक्य लिख भेजा और वह था—'महादेवने स्वेच्छासे नग्न-नृत्य किया था।'

इससे मुझे सन्तोष कहाँ ? मेरी ही विवेक-बुद्धिका इसमें दोष हो सकता है। ऐसी ही बातोंपर मैंने अपनी पुस्तकमें कुछ टीका-टिप्पणी की थी। उन्हीं दिनों श्रीरल्लाराम भल्लाने अपने 'धर्मवीर'में मेरी एक खानगी चिट्ठी छाप डाली थी,जिसमें बापूकी नीतिपर कुछ कटु बातें थीं, इसपर भारतमें मेरे विरुद्ध एक आन्दोलन चल पड़ा। कानपुरके 'प्रताप' और पटनाके 'देश' प्रभृति पत्रोंने मेरी बातोंकी बड़ी कड़ी आलोचनाएँ कीं और बन्धुवर बनारसीदास चतुर्वेदी तो मुझे अपनी करनीका फल चखानेको ही कटिबद्ध हो गए। उन्होंने मेरे-जैसे व्यक्तिको सार्वजनिक क्षेत्रमें विचरने देना खतरनाक समझा। मुझे दयाका पात्र समझकर वह क्षमा नहीं कर सके। अतएव जहाँ कहीं जाते, मेरे विरुद्ध लोकमत बनाने-से बाज नहीं आते। यहाँ तक कि मेरी शिकायत लेकर वह महात्मा गांधी तक पहुँच गए। मेरी पोथीका एक अंश पढ़कर उन्होंने बापूको सुनाया, जहाँ आलोचना मर्यादाकी सीमा लाँघ गई थी। बापू सारी बातें सुनकर बोले,'भवानीदयालने समझकी भूल अवश्य की है,पर उनकी नेकनीयतीमें सन्देह करना ठीक नहीं है।' बापूका यह निर्णय सुनकर चतुर्वेदीजी दंग रह गए। उन्होंने ही मुझे पत्र लिखकर यह बातें बतलाई थीं। मुझे अपनी भद्दी भूलपर बड़ी आत्म-ग्लानि हुई और मैंने बापूको पत्र लिखकर क्षमा माँग ली।

नेहरू और दास

भारतके भिन्न-भिन्न स्थानोंका पर्यटन करते हुए मैं बिहार पहुँचा।

इसी प्रान्तके आरा जिलेका मैं निवासी हूँ। जिलेका दौरा करते समय मुझे यह अनुभव हुआ कि जनताको जगानेके लिए आरा-कांग्रेस-कमेटी-का संगठन आवश्यक है। इसी अभिप्रायसे मैंने पं० मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु चितरंजनदाससे मुलाकात की! उन दिनों वे दोनों महाभाग आरामें विराजमान थे। डुमराँवके महाराज सर केशवप्रसादसिंह और रायबहादुर श्री हरिहरप्रसादसिंहसे बर्माकी एक रियासतके बारेमें मामला चल रहा था। महाराजकी ओरसे देशबन्धुदास और हरिजीकी ओरसे नेहरूजी वकील थे। जब मैं नेहरूजीके डेरेपर पहुँचा तो उनका साहबी ठाट-बाट देखकर ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो वह किसी अंग्रेज लार्डके भारतीय संस्करण हैं, पर दास साहबको उनसे भिन्न स्थितिमें पाया। बंगालियोंकी भाँति वह धोती और कुर्ता पहने आराम-कुर्सीपर बैठे हुए गुड़गुड़ीकी निगालीसे तम्बाकूका धुआँ खींच रहे थे। नेहरूजी और दास साहबको प्रवासी भारतीयोंकी गाथा सुनाकर जब मैंने आरामें कांग्रेस-कमेटीके संगठनकी चर्चा उठाई तो मुझे यही उत्तर मिला कि इस विषय-पर स्थानीय नेताओं और कार्य-कर्त्ताओंसे ही बातचीत करनी चाहिए। मैं दास महोदयसे मिलकर बाहर निकला तो श्री अनुग्रहनारायणसिंहसे मुलाकात हो गई, जो कुछ वर्षोंके बाद बिहारके प्रथम श्रेणीके एक नेता तथा कांग्रेस-सरकारके मन्त्री बने। अनुग्रह बाबूने मुझे समझाया कि बिहारमें कांग्रेस सम्बन्धी कार्योंमें श्रीराजेन्द्र बाबूसे सलाह-मशविरा करना चाहिए।

राजेन्द्र बाबू

राजेन्द्र बाबूका नाम तो जान लिया, पर उनसे मिलनेका मौका नहीं मिला। यह भी सुना कि वे पटनाके एक नामी वकील हैं। मेरे एक रिश्तेदारको पटना हाईकोर्टमें एक मामला दायर करना था। उन्होंने वकील रखनेकेलिए जब मेरी राय पूछी तो मैंने राजेन्द्र बाबूका नाम बता दिया और उनके नामसे एक चिट्ठी भी लिख दी। मेरे नातेदार महाशय एक मशहूर मुकदमेबाज थे, जाल बनानेमें कमाल करते थे। वह भी

शायद जालसाजीका मामला रहा होगा। पटनासे लौटकर उन्होंने मुझे खूब फटकार बताई और व्यङ्ग करते हुए कहा, "आपने मुझे वकीलके पास भेजा था अथवा महात्माके पास?" असल बात यह थी कि राजेन्द्र-बाबूने झूठा मुकदमा लेनेसे इन्कार कर दिया था और उनको समझा-बुझाकर घर लौटा दिया था।

अब तो राजेन्द्र बाबूके दर्शनकी उत्कंठा और भी तीव्र हो उठी। दैव-योगसे सन् १९२०के प्रारम्भमें पटनामें ही हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन होने वाला था। राजेन्द्र बाबू ही उसके स्वागत-मन्त्री थे। मित्रवर पीर मुहम्मद मूनिसने मुझे सम्मेलनमें शरीक होनेके लिए आग्रहपूर्वक आमंत्रित किया। मैंने भी सोचा कि चलो 'एक पंथ दो काज' हो जायगा। सम्मेलनमें प्रवासी भाइयोंकी चर्चा भी हो जायगी और राजेन्द्र-बाबूसे मुलाकात भी।

पटना पहुँचकर देखा कि मूनिसजीने एक बंगलेमें मेरे ठहरनेकी बड़ी अच्छी व्यवस्था कर रखी है। स्वागत-समितिके दफ्तरमें एक व्यक्तिपर मेरी दृष्टि जा गड़ी। लम्बा डील-डौल दुबला-पतला गात, पिचके गाल घनी भृकुटी, ऊँचा ललाट, लम्बी नाक, मूँछके बाल बिखरे हुए और आँखें ओजमयी, वस्त्र अस्त-व्यस्त, देहपर धोती, कुर्ता और गमछा, पाँवमें मामूली पनही और सिरपर सफेद गांधीनुमा टोपी। चेहरेपर न विद्याकी झलक, न अहंकारकी रेखा और न नेतृत्वकी निशानी। सरल स्वभाव, बे-तकल्लुफ सबसे बातचीत और स्नेहपूर्ण व्यवहार। वेशसे यही जान पड़ता था कि वह दफ्तरके कोई मुंशी हैं। पर विस्मयकी बात तो यह थी कि उसका व्यक्तित्व लौह-चुम्बककी भाँति मेरे मनको अपनी ओर बरबस खींच रहा था। सोचा, ऐसा क्यों हो रहा है? इसमें कौन-सी विशेषता है, कौन-सा आकर्षण है? उसी समय मूनिसजी आ गए। उन्होंने परस्पर परिचय कराते हुए मुझे बताया; "आप ही राजेन्द्र बाबू हैं।" मैं चौंक-पड़ा। मैंने राजेन्द्र बाबूके रूप-रङ्ग और वेश-भूषाकी जैसी कल्पना कर रखी थी वह हवा हो गई। यही राजेन्द्र बाबू हैं, इन्हींके

हाथमें बिहारकी बागडोर है ? नेहरू, दास, जिन्ना आदि अनेक नेताओं-को देख चुका था और उनकी शानको ही नेतृत्वका निशान समझता था। पर राजेन्द्र बाबूको उनसे नितान्त भिन्न पाया। उनमें न बड़प्पनका गर्व था, न नेतृत्वका नशा। सादगी, सचाई और साधुताका सजीव स्वरूप।

राजेन्द्र बाबूसे बातचीत करनेपर मुझे यह पता लग गया कि यह कोई साधारण व्यक्ति नहीं, एक प्रचंड शक्ति हैं। वह केवल चम्पारनका इतिहास ही नहीं लिखेंगे, बल्कि हिन्दुस्थानका इतिहास भी बनावेंगे। इनके पास वह दिल है, जिसमें भारतकी दासतापर दर्द है, इनके पास वह दिमाग है, जो देशका नकशा बदलनेकी शक्ति रखता है। राजेन्द्र बाबू सचमुच बिहारके प्राण हैं और हिन्दुस्थानके अभिमान। एक बार स्वर्गीय मौलाना मजहरुल हक साहबने एक पत्रकारसे पूछा, "क्या तुम बतला सकते हो कि भारत क्यों स्वराज्यके योग्य है ?" पत्रकारको जितनी दलीलें सूझीं, कह गया। पर हक साहबको सन्तोष न हुआ। जब पत्रकारने यही सवाल मौलाना साहबसे किया तो उन्होंने झट जवाब दिया—"India has proved her fitness because she has produced a gem like Rajendra Prasad." अर्थात् हिन्दुस्थानने राजेन्द्रप्रसाद जैसे नर-रत्नको उत्पन्न करके स्वराज्यकी अपनी योग्यता सिद्ध कर दी है।

इससे एक दशाब्दीके बाद राजेन्द्र बाबूके नेतृत्वमें काम करने और उनके निकट सम्पर्कमें आनेका मुझे अवसर मिला, जिसका वर्णन यथा-स्थान इस ग्रंथमें होगा। मैंने बिहारकी इस विभूतिमें पाया—एक दर्द-भरा दिल, दिग्गज दिमाग, दूर-दर्शिनी दृष्टि, चारु चरित्र एवं नेतृत्व-की निशानी।

हिन्दी-साहित्यकार

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके पुण्य प्रसंगपर साहित्य-सेवियोंके सत्सङ्ग-से हृदयमें उमङ्गकी गङ्गा उमड़ आई। साहित्य-रसिकोंके चेहरेपर 'एकइ धरम एक व्रत नेमा'के भाव झलक रहे थे। कहीं श्री श्यामसुन्दरदास

अपने मित्र पं० रामचन्द्र शुक्ल, श्री बालमुकुन्द वर्मा, श्री रामचन्द्र वर्मा और श्री अम्बिकाप्रसाद गुप्तके साथ पाटलिपुत्रके खंडहरोंमें अतीत युगकी झलक देख रहे थे तो कहीं पं० विष्णुदत्त शुक्ल अपने साथी पं० माधवराव सप्रे, पं० माखनलाल चतुर्वेदी और सेठ गोविन्द-दासके साथ आधुनिक पटनाकी छटासे मन बहला रहे थे। जिस समय श्री पुरुषोत्तमदास टंडन, श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल, पं० गोविन्द-नारायण मिश्र, श्रीमती हेमन्तकुमारी चौधुरानी, पं० माधव शुक्ल प्रभृति आगन्तुक साहित्यकार पटनाकी सड़कोंपर टहलते हुए दृष्टिगोचर होते थे उस समय महाकवि तुलसीदासकी 'विहरहिं वन चहुँओर, प्रति-दिन प्रमुदित लोग सब' की उक्ति स्मृति-पटलपर अंकित हो जाती थी। श्रीदेवदास गांधी और श्रीहरिहर शर्माकी सौम्य मूर्ति सुदूर द्रविड़ देशमें हिन्दीके सिंहासनारूढ होनेका संदेश सुनाती थी। कहाँ तक कहें, इन साहित्य-महारथियोंके दर्शन और सत्सङ्गके सुखका वर्णन करते समय 'गिरा अनयन नयन बिनु वाणी' की अवस्था हो आती है।

मध्यप्रांतके नेता पं० विष्णुदत्त शुक्ल सम्मेलनके सभापति थे और स्वागताध्यक्ष थे—पं० विजयानन्द त्रिपाठी! बाबू राजेन्द्रप्रसादजी मंत्री थे और सहायक मंत्री थे—आचार्य बदरीनाथ वर्मा। मेरे व्याख्यानसे सम्मेलनमें प्रवासी भारतीयोंकी भी काफी चर्चा हुई। यहींपर गो-रक्षा परिषद्में मौलाना मजहरुल हकके भी दर्शन हुए। बिहारके मुसलमानों-में उनके जोड़का त्यागी देश-भक्त दूसरा कोई न था।

हिन्दी-पत्रकार

बिहारसे सन् १९२०की जुलाईमें मैं कलकत्ता पहुँचा और वहाँके अखबारोंमें प्रवासी भारतीयोंकी चर्चा चलाई। उस समय हिन्दी-संसार-में कलकत्ताके 'भारत-मित्र'का सितारा चमक रहा था। वह सर्व-साधन-सम्पन्न एक पुराना दैनिक पत्र था और अपनी निर्भीक नीति एवं गम्भीर विचारोंके कारण हिन्दी-भाषी जनतापर अधिकार जमा चुका था। पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी उसके सम्पादकीय विभागसे विदा ले चुके थे

और उनके आसनपर विराज रहे थे पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे। 'भारत-मित्र'में प्रवासी भारतीयोंके प्रश्नपर पर्याप्त प्रकाश पड़ा करता था, इसलिए उपनिवेशोंमें भी उसकी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि थी!

श्रीमूलचन्द्र अग्रवाल

साल-भर पहले जब मैं कलकत्तेमें जहाजसे उतरा था, तभी 'भारत-मित्र'के पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, पं० वासुदेवजी और श्रीकार्त्तिकेय-चरण मुखोपाध्याय आदिसे मेरा परिचय होगया था और 'भारत-मित्र'-से मुझे अपने आन्दोलनमें अच्छी सहायता मिली थी। उन्हीं दिनों जब मुझे यह खबर मिली कि एक अग्रवाल युवकने 'भारत-मित्र' के मुकाबलेमें 'विश्वमित्र'नामक दैनिक निकाला है तो मेरे आश्चर्यकी सीमा न रही। मैंने सोचा कि वह युवक या तो सनकी है या किसी लखपतीका वैसा लाडला, जो बाप-दादेकी कमाईमें दियासलाई लगाये बिना दम नहीं लेता अथवा है कोई साहसका सजीव पुतला। अतएव 'विश्वमित्र'-के सूत्रधारसे मिलनेकी मेरी कामना बड़ी बलवती हो उठी।

एक दिन अचानक मैं 'विश्वमित्र' कार्यालयमें जा पहुँचा। इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई तो वह एक तरुणपर जा अटकी। गौर-वर्ण, छरहरा शरीर, दिव्य कान्ति, आँखोंमें प्रतिभाकी ज्योति एवं मुखपर साहसकी रेखा। शरीरपर सादी पोशाक और सिरपर सफेद टोपी। वह अपने कार्यमें बहुत व्यस्त थे, पर मेरे प्रवेश करनेपर उनका ध्यान भङ्ग हुआ और जब मुझपर उनकी नजर पड़ी तो "आइये", एक कुर्सीकी तरफ इशारा करके, "बैठिये, आप कहाँसे पधारे? आपकी मैं क्या सेवा कर सकता हूँ?" एक ही साँसमें वह यह सब कुछ-कह गए। मेरे यह कहनेपर कि "मैं श्रीमूलचन्द्रजी अग्रवालसे मिलना चाहता हूँ," जवाब मिला, "आप उनके ही सामने विराजमान हैं और उन्हींसे बातचीत कर रहे हैं।" मूलचन्द्रजीके प्रथम मिलनसे ही मेरी धारणा बदल गई। मुझे साफ दिखलाई पड़ा कि यह युवक, जिसे मैं सनकी अथवा कोट्याधीश-का कुमार समझे बैठा था, एक निर्धन परन्तु साहसी युवक है, जो अपने

परिश्रम और पुरुषार्थसे अपना जीवन-पथ प्रशस्त करनेमें प्रयत्नशील है। उसी समय मुझे निश्चय हो गया कि यह तरुण व्यक्तिगत उन्नतिके साथ हिन्दी-पत्रकारों एवं राष्ट्र-सेवकोंमें गौरवास्पद स्थान उपलब्ध करेगा।

'भारत-मित्र' जैसे साधन-सम्पन्न पत्रके मुकाबलेमें एक साधन-हीन तरुणका अखबार चलाना कोई हँसी-खेल नहीं था। दैनिक पत्रमें ताजी-से-ताजी खबरें देना अनिवार्यतः आवश्यक है, क्योंकि बासी खबर पढ़नेके लिए कौन अखबार मोल लेगा ? उन दिनों रूटर और एसोसियेटेड प्रेसकी खबरें खरीदना 'विश्वमित्र'के बूतेकी बात नहीं थी, पर ताजी खबरोंके बिना काम भी नहीं चल सकता था। यह बड़ी विकट समस्या थी, जिसे मूलचंद्रजीने बड़ी खूबीसे हल कर लिया। सौभाग्यसे उनको पं० मातासेवक पाठक जैसे सहकर्मी मिल गए थे। पाठकजी सवेरे ढाई-तीन बजे ही 'विश्वमित्र'के दफ्तरमें आ बैठते। ऐसा प्रबंध कर लिया गया था कि प्रेससे निकलते ही 'स्टेट्समैन'की कापी शीघ्रातिशीघ्र 'विश्वमित्र'-कार्यालयमें पहुँच जाया करे। उसके आते ही पाठकजी भूखे भेड़ियेकी भाँति टूट पड़ते और ताजे समाचारोंपर चलाने लगते पैन्सिलके पंजे। तत्पश्चात् आवश्यक अंशोंका अनुवाद आरंभ हो जाता और सवेरे 'विश्वमित्र' ताजे-से-ताजे समाचारोंसे सुसज्जित होकर, जब बाजारमें पहुँचता तो लोग देखकर दङ्ग रह जाते और सोचने लगते कि साधन-हीन 'विश्वमित्र'को ताजी खबरें मिलती हैं तो कैसे और कहाँसे ? 'विश्वमित्र' अपने संचालककी विलक्षण सूझ, प्रतिभा एवं लगनके सहारे आगे बढ़ता गया। मूलचंद्रजीने अपने जीवनसे यह सिद्ध कर दिखाया कि एक निर्धन और साधन-हीन युवक भी साहस, उत्साह, क्रियाशीलता और प्रबंध-पटुतासे संसारमें क्या नहीं कर सकता। दो साल बाद दक्षिण अफ्रिकामें 'हिन्दी' अखबारका प्रकाशन प्रारंभ करते समय मेरी स्थिति भी मूलचंद्रजीसे मिलती-जुलती थी, मेरे सामने भी कठिनाइयोंका महार्णव था, उसे पार करनेमें मूलचंद्रजीके साहसिक दृष्टान्तसे मुझे बड़ी प्रेरणा

और स्फूर्ति मिली थी।

इस समय हिन्दी-संसारमें मूलचंद्रजीके जोड़का दूसरा पत्रकार मिलना दुर्लभ ही है। एक चौथाई सदीके अन्दर उनके उद्योग और परिश्रमसे 'विश्वमित्र'की कल्पनातीत उन्नति हुई है। भारतीय भाषाओंके अखबारोंकी तो बात ही क्या, अंग्रेजीके समृद्ध एवं साधन-सम्पन्न अखबारोंके भी एक साथ तीन-तीन स्थानोंसे तीन संस्करण नहीं निकलते। 'स्टेट्समैन' और 'अमृत बाजार पत्रिका'के दो-दो संस्करण निकलते हैं—एकका कलकत्ता और नई दिल्लीसे तथा दूसरेका कलकत्ता और प्रयागसे। पर 'विश्वमित्र' दैनिकके तीन संस्करण—कलकत्ता, बम्बई और नई दिल्लीसे निकल रहे हैं। इसके अतिरिक्त 'विश्वमित्र'के साप्ताहिक और मासिक संस्करण भी निकलते हैं और खूबी यह कि सब-के-सब हिन्दीके प्रमुख पत्र-पत्रिकाओंसे टक्कर ले सकते हैं।

एक महा कंगाल बालक किस प्रकार उद्योग और परिश्रम करके सर्वश्रेष्ठ पत्रकार और मालदार बन सकता है, मूलचंद्रजीका जीवन इसका जीता-जागता उदाहरण है। मेरे विशेष आग्रहसे उन्होंने 'पत्रकार-की आत्मकथा' नामक पुस्तककी रचना की है जिसमें उनके जीवनकी घटनाएँ संकलित हैं। यह ग्रंथ भारतीय नवयुवकोंके जीवन पथमें दीप-स्तंभका काम देगा।

: १८ :

नेटाल-इंडियन-कांग्रेस और प्रत्यागमन योजना

सन् १६२०की जुलाईके अंतमें कलकत्तासे 'काठियावाड़' नामक स्टीमरपर सवार होकर मैंने दक्षिण अफ्रिकाके लिए प्रस्थान कर दिया। कोलम्बो तक तो कुशलपूर्वक यात्रा हुई, पर वहाँसे आगे बढ़नेपर ऐसी आफत आई कि यात्रियोंको जीवनका भरोसा न रहा।

जहाजमें आग

बात यह हुई कि जहाजमें आग लग गई। उस जहाजमें ऐसी अनेक वस्तुएँ लदी हुई थीं, जिनका आगसे प्राकृतिक वैर है। छोटा सा वह जहाज अपनी मस्तानी चालसे शान्त समुद्रकी छातीपर अठखेलियाँ करता चला जा रहा था, पर नीचे उसके फलकेमें आग लगी हुई थी। आगका सुराग लगनेपर जब फलका खोला गया तो उसकी लपटें और चिनगारियाँ आकाश चूमनेकी चेष्टा करने लगीं। वह दृश्य बड़ा ही भयानक एवं त्रास-दायक था। शान्त समुद्रमें अचानक तूफान आ गया। "हरि प्रेरित तेहि अवसर वहा पवन उनचास"—एक तो यों ही प्रक्षुब्ध सागर, जहाजको गेंदकी भाँति उछाल रहा था, तिसपर वायुका वेग ऐसा बढ़ा कि आगको काबूमें लाना कठिन हो गया। मल्लाहोंने आग बुझानेमें कोई कोर-कसर नहीं की,अग्नि जल और पवनकी संयुक्त शक्तिके सामने उनका कोई वश न चला। आखिर लाचार होकर वे फलके ढाँप दिये गए, जिनमें आग लग चुकी थी और अन्य फलकोंका माल निकालकर समुद्र में फेंका जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि

भारके न्यूनाधिक्यसे जहाजका एक पलड़ा आकाशसे बातें करने लगा और दूसरा पलड़ा पातालसे। जिन्दगी बचाने वाली डोंगियाँ लटका दी गईं और यात्रियोंको तैयार रहनेकी सूचना मिली। जहाजकी स्थिति ऐसी डाँवाडोल थी कि किसी भी समय उसे समुद्रके गर्भमें समा जानेकी आशंका होने लगी। यात्रियोंमें भय और त्रासका संचार हो आया। स्त्रियाँ ऐसी छाती पीटतीं, बच्चे ऐसे चिल्लाते कि हृदय हिल जाता। श्वेतांगोंमें उतना आतंक नहीं फैला था जितना हमारे देश-वासियोंमें। प्राणका मोह भी हमारी पराधीनताका एक कारण है। हमारे भाई इस तरह दैया-मैया मचाये हुए थे कि शर्मसे गड़ जाना पड़ता था। मैंने सोचा कि यदि मरना ही होगा तो डरनेसे क्या लाभ? कायरकी भाँति क्रंदन करते हुए मरनेकी अपेक्षा वीरकी भाँति हँसते हुए मर-मिटना अधिक श्रेयस्कर और शोभाजनक है। उस समय 'रिव्यू ऑफ रिव्यूज'के संपादक श्री स्टेडकी जल-समाधिका स्मरण हो आया। मैंने गीताका पाठ करते हुए मरनेकी पूरी तैयारी कर ली,पर मरने नहीं पाया। पवनका वेग घटा, सागर शान्त होगया और जहाज लुढ़कते-लुढ़कते छत्तीस घण्टे-में कोलम्बो लौट आया। वहाँ आग बुझाने और जहाजको सँवारने-सुधारनेमें एक सप्ताह बीता। इस बार मैं डेढ़ मासमें कलकत्तासे नेटाल पहुँचा और ज्योंही नेटालकी भूमिपर पैर रखा त्योंही यह दुःखद समाचार मिला कि लोकमान्य तिलक पहली अगस्तको इस विश्वसे विदा हो गए और महात्मा गांधीने उसी दिन उन प्रचण्ड पापियोंसे असहयोग करनेकी घोषणा कर दी है जिन्होंने भारतमाताकी छातीपर उसके बच्चों-का रक्त बहाया था।

कृषि-कर्म

मैं नेटाल लौटकर खेती-बाड़ीके काममें जुट गया। टुगेलामें खेती हो रही थी,पर वहाँ अधिक जमीन मिलनेकी गुंजाइश नहीं थी। इस-लिए श्री टी०गुदरकी मददसे फ्रेजरमें पचास एकड़की एक जमीन पट्टे-पर ले ली। उस जमीनमें एक सुंदर बँगला भी था; कुछ जमीनमें गन्ना

भी लहलहा रहा था और कुछमें गन्ना बोना बाकी था। काम बढ़ गया, चिन्ता भी बढ़ गई। हल-कुदाल और गाड़ी-बैलके सिवा मजदूर जुटानेका झंझट लगा रहता। सवारीके लिए एक तेज घोड़ा रख लिया था। स्टेशनसे तीन मीलपर समुद्रके किनारे यह जमीन थी। सोचा कि अब सार्वजनिक काम छोड़ दूँगा और सारा समय खेतीकी उन्नतिमें लगाऊँगा। मगर मन कहाँ मानता, वह मचल पड़ा। आखिर यह निश्चय करना पड़ा व्यक्तिगत काम और सार्वजनिक सेवा दोनों साथ-साथ होता रहेगा।

कांग्रेसका पुनर्जन्म

उस समय नेटालमें प्रवासी भारतीयोंकी कोई राजनीतिक सभा नहीं थी; अलग-अलग डफली बज रही थी और अलग-अलग राग अलापा जा रहा था। अतएव सन् १९२१के आरंभमें नेटाल-इंडियन-कांग्रेसको पुनर्जीवित करनेकी चर्चा चली। यह कांग्रेस प्रवासी भारतीयोंकी सबसे पुरानी सभा है और महात्मा गांधीकी सबसे पहली कृति। इसकी स्थापना हुई थी सन् १८९४में २२ मईको। इससे एक दशाब्दी पूर्व सन् १८८४में भारतमें इंडियन-नेशनल-कांग्रेसकी बुनियाद पड़ी थी और उसके प्रतापसे देशमें एक नवीन राष्ट्रीय युगका आरंभ हो चुका था। सन् १८९४से १९१२तक नेटाल-इंडियन-कांग्रेस प्रवासी भारतीयोंकी स्वत्व-रक्षामें सन्नद्ध रही। इसके बाद वह कुछ अवांछनीय आदमियोंके अधिकारमें चली गई, जिन्होंने उसके प्रवर्त्तक बापूके ही विरोधमें आवाज उठाना उचित समझा। गांधीजीने कांग्रेससे नाता तोड़ लिया और सन् १९१३के सत्याग्रहके समय उन्होंने 'नेटाल-इंडियन-एसोसियेशन' नामकी एक सभा बनाकर काम चलाया। सन् १९१४में जब गांधीजी वहाँसे सदाके लिए विदा हो गए तो कांग्रेसके कुछ सदस्योंने सुप्रीम कोर्टमें दरख्वास्त देकर उसको जब्त करा दिया। उसकी लाखों रुपयेकी सम्पत्ति सरकारके कब्जेमें चली गई और आजतक भारतीयोंको वापस नहीं मिली। इस फूटके कारण नेटालके प्रवासी भारतीय छः सालतक राजनीतिक

संगठन और संघसे वंचित रहे और उनके अधिकारोंका अपहरण होता रहा। यह अभाव सभीको खटक रहा था।

सन् १६२१में नेटाल-इंडियन-कांग्रेसको पुनर्जीवित किया गया और इस कार्यमें मैंने विशेष रूपसे भाग लिया था। निर्वाचनके समय सदस्यों-ने बहुमतसे मुझे उसका उपप्रधान चुना। इसके बाद सर्वानुमतसे अठा-रह साल तक इस पदपर मेरा निर्वाचन होता रहा और सन् १६३८में मुझे प्रधानके पदपर प्रतिष्ठित किया गया।

स्वेच्छापूर्वक प्रत्यागमन

मैं भारतसे लौटकर जब नेटाल पहुँचा, तभीसे स्वेच्छापूर्वक प्रत्या-गमन योजना-(Voluntary Repatriation Scheme) के विरुद्ध आन्दोलन कर रहा था। अब कॉंग्रेसके जरिये इस आन्दोलनको आगे बढ़ाया। यह योजना कोई नई चीज नहीं थी, पर इसपर नया रोगन चढ़ाया गया था। जिस समय सन् १८६०में भारतसे नेटालके लिए मजदूर भेजनेका सिलसिला जारी हुआ था उसी समय नेटालकी सरकार-से यह करार करा लिया गया था कि गिरमिटकी अवधि पूरी होनेपर जो भारतीय नेटालमें रहना पसन्द न करें उनको सरकारी खर्चसे स्वदेश लौटा दिया जाय। सन् १६१४के इंडियन रिलिफ एक्टमें भी इस योजनाको बहाल रखा गया।

जबतक विश्व-व्यापी युद्धकी आग धधक रही थी तबतक नेटालका वातावरण शान्त रहा। युद्ध-कालमें हिन्दुस्थानकी सहायता और भार-तीय सेनाकी वीरताकी सराहना करनेमें अंग्रेजोंकी वाणी और लेखनी थकती ही नहीं थी। पर महासमरका अन्त होते ही अंग्रेजोंका रुख भी बदल गया। अंग्रेजोंने हल्ला मचाया कि गन्दे भारतीयोंको अंग्रेजोंके मध्यमें रहने देना श्वेताङ्ग सभ्यताके लिए भारी खतरा है, अतएव अछूतों-की भाँति उनकी अलग बस्ती बसानी चाहिए। अंग्रेजोंकी इच्छानुसार यूनियन-सरकारने जाँच-कमीशन बैठाया। कमीशनने जाँच-पड़ताल करके यह राय दी कि भारतीयोंको अलग बसाना तो उचित नहीं है, पर उनकी

संख्या अवश्य घटानी चाहिए और अभीष्ट सिद्धिके लिए स्वेच्छापूर्वक प्रत्यागमन योजनाको आकर्षण बनाना चाहिए।

जिस समय कमीशनकी रिपोर्ट निकली उस समय मैं हिन्दुस्थानमें था और मित्रवर एंड्रूज साहब थे दक्षिण अफ्रिकामें। इस प्रसंगमें एंड्रूज साहबसे एक ऐसी भूल हो गई, जिसके लिए पीछे उनको घोर पश्चात्ताप करना पड़ा। हमारे एक जोशीले भाई बेनी सिंगामनीने भाषण देकर भोले-भाले मजदूरोंको उभारा और उनको सिखा-पढ़ाकर एंड्रूज साहबके सामने ला खड़ा किया। मूर्ख मजदूरोंने गुहार मचाई, "साहब, इस देशमें हमारी मुसीबतोंकी इंतहा नहीं है, इसलिए हमें देश भिजवा दीजिए।" साधुका सरल हृदय इससे द्रवित होगया और उन्होंने कमीशनसे सिफारिश कर दी कि बहुत-से मजदूर स्वेच्छापूर्वक स्वदेश लौटनेको तैयार हैं उनकी यात्राकी व्यवस्था सरकारी खर्चसे कर देनी चाहिए। 'रोगी भावे सो वैद बतावे' यही तो यूनियन-सरकार चाहती थी। एंड्रूज साहबके इजहारसे उसे एक अच्छा हथियार मिल गया। प्रत्यागमनकी नई योजना बनाई गई और यह घोषणा कर दी गई कि नेटालको अन्तिम नमस्ते कर देने वाले भारतीयोंको रेल और जहाजका किराया, खान-पानका खर्च और ऊपरसे फी आदमी पाँच पौण्डके हिसाबसे इनाम भी मिलेगा। भारतीयोंको बहकानेके लिए दलाल भी नियुक्त किये गए, जो उल्टी-सीधी बातें समझाकर अपने भाइयोंको प्रत्यागमन योजनाके फन्देमें फँसाते और उनको जहन्नुममें भेजकर स्वयं नेटालमें गुलछर्रे उड़ाते।

महात्मा गांधी और साधू एंड्रूजको इस योजनामें कोई दोष दिखाई न दिया, इसलिए उन्होंने इसका समर्थन करना ही ठीक समझा। उन दिनों मैं कलकत्तामें था और मटियाबुर्जमें प्रत्यागत प्रवासियोंकी दुर्दशा अपनी आँखों देख चुका था। मटियाबुर्जकी गन्दी नालियाँ, दुर्गन्धसे भरे परनाले सूअरके खोबार जैसे झोंपड़े और मलेरियाके मच्छरोंका मारू राग? अभागे प्रवासियोंके शरीरका रक्त-मांस गलकर केवल हाड़-चामका

बाँचा रह गया था ? फोड़े-फुंसियोंसे बेहाल उपनिवेशोंमें जन्मे हुए उनके नन्हें-नन्हें बच्चे, वस्त्र बिना अर्द्ध-नग्न अवस्थामें दिन काटने वाली उनकी अभागिनी औरतें ! हा ! उनकी दुर्गति देखकर कौन ऐसा दिल है, जो दहल न उठे ? मेरी आँखोंसे बे-इख्त्यार आँसू निकल पड़े थे और हृदयमें विद्रोहकी आग लग गई थी। अतएव प्रत्यागमन योजनापर महात्माजी और एंड्रूज साहबकी राय अखबारोंमें पढ़कर मैं प्रकम्पित हो उठा। मैं योजनाके विरुद्ध एक वक्तव्य तैयार करके एसोसियेटेड-प्रेसके दफ्तरमें पहुँचा, पर हिन्दुस्थानमें मुझ-जैसे अज्ञात और अप्रसिद्ध आदमीकी रायका मूल्य और महत्त्व ही क्या ? एसोसियेटेड-प्रेस वालोंने मेरे वक्तव्यको स्वीकार और प्रचार करनेसे साफ इन्कार कर दिया। आखिर मैंने 'भारत-मित्र' की शरण ली और उसके जरिये इस योजनाके विरुद्ध यथेष्ट प्रचार भी किया। 'भारत-मित्र'ने भी मेरे कथनका समर्थन करते हुए महात्मा गांधी और साधु एंड्रूजकी रायको प्रवासी भारतीयोंके लिए अहितकर बतलाया। कुछ कालके बाद जब साधु एंड्रूजने प्रत्यागत प्रवासियोंकी दुर्गति स्वयं देखी तब उनको अपनी भूलपर गहरा पश्चात्ताप और सन्ताप हुआ और उन्होंने सार्वजनिक रूपसे प्रत्यागमन योजनाके विरुद्ध आवाज उठाई।*

मैंने नेटालमें इस योजनाके विरुद्ध प्रचार करनेमें कोई बात उठा न रखी। बड़े-बड़े शहरों और छोटे-छोटे गाँवों, कोयलेकी खानों, चायके बगानों, गन्नोंकी कोठियों और भिन्न-भिन्न प्रकारकी फैक्टरियोंमें काम करने वाले प्रवासी भाइयोंको समझाया कि प्रत्यागमन योजनाके जालमें फँसाना मानो जान-बूझकर आत्म-घात करना है और अपने स्त्री-बच्चोंका गला घोटना है। इसका फल सन्तोष-जनक हुआ। अनेक प्रवासी

*I deeply regret that at such a critical time I should have personally added one pang to the Indian humilation by weakly countenancing repatriation from South Africa—C. F. Andrews.

भाई, जो विस्तर बाँधकर सरकारी खर्चसे स्वदेश जानेको तैयार थे, वे मेरी बातें सुनकर रुक गए। मेरे इस कार्यसे सरकार बहुत नाराज हुई। इस प्रत्यागमन योजनाको अमलमें लाने और सफल बनानेके लिए एक स्पेशल अफसर नियुक्त हुए थे, जिनका नाम था—श्री विलकोल। उन्होंने एक आम बयान देकर मुझे बे-जिम्मेदार आन्दोलनकारीकी उपमासे अलंकृत किया। सरकारकी नीति तो नहीं बदली, पर मेरी प्रवृत्तिसे योजनाकी कमर टूट गई। जब सरकारको और कोई उपाय न सूझा तो इनाम पाँच पौण्डसे बढ़ाकर दस पौण्ड कर दिय गया। सरकारकी इस चालसे मैं विचलित नहीं हुआ बल्कि मेरे आन्दोलनका रूप और भी उग्र हो उठा।

इस प्रत्यागमन योजनाको आकर्षक बनाकर प्रवासी भारतीयोंकी संख्या घटानेके लिए सरकारकी तरफसे लगातार प्रयत्न होते रहे, पर साथ ही मेरे विरोधमें भी कोई अन्तर न आया। इसकी शेष कहानी आगे कही जायगी।

: १६ :

'हिन्दी'का प्रकाशन और जगरानीका निधन

उन्हीं दिनों (सन् १६२२में) एक ऐसी घटना घटी, जिससे मेरे जीवनका पथ ही पलट गया। मैं नित्य सवेरे फ्रेजरके अपने बँगलेके बरामदेमें बैठकर चाय पिया करता और सामने लहराते हुए समुद्रकी उठती हुई लहरोंको देखकर नेत्र-रञ्जन किया करता था। एक दिन नित्यकी नाईं जब मैं बरामदेमें आ बैठा तो मेरी पत्नी मुझे चायकी प्याली थमाकर एक तरफ खड़ी हो गईं। यह नई बात थी, इससे मुझे कौतूहल हुआ, क्योंकि वह चायकी प्याली देकर मेरे सामनेसे हट जाया करती थीं; मेरे मनोभावोंसे परिचित होनेके कारण वह कभी मेरी तल्लीनतामें बाधा नहीं डालती थीं। अतएव उस दिन उनके व्यवहारमें अंतर देखकर मुझे आश्चर्य हुए बिना न रहा। "क्या कुछ कहना चाहती हो?" मैंने उत्सुकतासे पूछा।

"यदि आप मेरी ढिटाई माफ करें तो एक बात कहूँ" उन्होंने सकुचाते हुए जवाब दिया।

"हाँ-हाँ, खुशीसे कहो, मैं सुननेको तैयार हूँ" कहकर मैंने उनके मुँहकी ओर आश्चर्यपूर्ण दृष्टि डाली। मैंने तो यह स्वप्नमें भी नहीं सोचा था कि जीवनकी गति बदलने वाली घड़ी आ पहुँची है।

जगरानीकी अन्तर्भावना

"अच्छा तो सुनिये, यदि मेरी बात अनुचित जँचे तो मुझे क्षमा कर दीजिये," वह स्वभावतः कुछ गंभीर होकर बोलीं, "यह खेती-बाड़ीकी

खटपट, हल-बैलका बखेड़ा और मजदूरोंसे माथा-पच्ची करना क्या आपके लिए शोभा-जनक है ? कहाँ तो आप जनता-जनार्दनके पुजारी थे और कहाँ अब नगद-नारायणके आराधक बन गए। कहाँ वह परोपकारकी प्रवृत्ति और कहाँ यह स्वार्थ-सिद्धिकी संसक्ति। कहाँ वह सार्वजनिक सेवाकी सात्विक भावना और कहाँ यह व्यक्तिगत वित्त-वृद्धिकी राजसिक कामना ! कितना अन्तर ! कैसा भेद !''

उनकी इन बातोंसे मेरे हृदयपर बड़ा आघात पहुँचा। मैंने सोचा, 'जिसके लिए चोरी की, वही कहे चोर'। फिर व्यग्र भाव से मैंने पूछा, ''तब तुम्हारी समझमें मुझे क्या करना चाहिए ?''

''आपके लिए कामकी कौन कमी है,'' वह कुछ सहमकर बोलीं, ''पर मेरी रायमें आपको एक अखबार निकालना चाहिए, जिसके जरिये जनताको जगाने और आगे बढ़ानेमें आपको विशेष सुविधा और सफलता हो सकेगी। मैं जानती हूँ कि आपके पास पैसे नहीं हैं और खेती-बारी करनेके कारण आप कर्जदार भी हो गए हैं, पर आपके पास ऐसी संकल्प-शक्ति तो है, जो सारी विघ्न-बाधाओंको पार कर सकती है। गन्नेकी खेतीसे कुछ रकम मिलेगी ही, इधर-उधरसे कुछ और हाथफेर (उधार) लेकर एक छोटा-सा छापाखाना खोलना और हिन्दीमें एक साप्ताहिक अखबार निकालना चाहिए। सम्पादन तो आप करेंगे ही, कम्पोजीटरका काम मैं करूँगी। मैं टाइप जोड़नेका काम थोड़ा-बहुत जानती हूँ, कुछ और अभ्यास बढ़ा लूँगी। यदि धनाभावके कारण कम्पोजीटर रखनेकी गुंजाइश न हुई तो सप्ताहमें छोटे आकारके छः पन्ने कम्पोज करना मेरे जिम्मे रहा— दो पन्ने विज्ञापनके रहेंगे। इस तरह हम ही दोनों प्राणी आठ पन्नेका एक छोटा-सा साप्ताहिक पत्र मजेमें चला लेंगे। यदि जनतासे प्रोत्साहन मिला तब तो कोई चिन्ता ही नहीं रहेगी अन्यथा हमारा काम द्रव्याभावके कारण रुकेगा नहीं।''

मैं तो सन्न रह गया। चित्तपर ऐसी चोट लगी कि मैं छटपटा उठा। कुछ सँभलकर बोला, ''आज तुम यह क्या कह रही हो ? तुम्हारे ही

सुखके लिए तो मैंने यह जाल पसारा। मेरी तो इस काममें कोई दिलचस्पी नहीं है। मैं तो अब तक भ्रममें भटक रहा था और सोच रहा था कि तुम्हारा मुँह नहीं तो मन अवश्य कहता होगा कि तुम्हें ऐसा निठल्ला पति मिला, जिसे न घर-गृहस्थीका फ़िक्र है और न बाल-बच्चोंकी पर्वाह। इसी खयालने मुझे यह जंजाल उठानेको मजबूर किया। पर आज तुम्हारी बातें सुनकर मेरे तो होश उड़ गए।"

मेरी मनोवृत्तिका परिचय पाकर जगरानीका चेहरा उतर गया। वे व्यथित होकर बोलीं, "आपने तो मेरी भलाईके विचारसे ही यह भार उठाया है, पर मुझे कंचनकी किंचित् भी कामना नहीं है। आप जैसा देश-भक्त पति पा लेनेके बाद मुझे और किसी वस्तुकी इच्छा नहीं रही। मेरे सारे मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं। अब तो मुझे चाहिए—सालमें केवल मोटे-गाढ़ेके दो जोड़े कपड़े और दिनमें रूखी-सूखी दो रोटियाँ।"

जेकब्समें प्रवास

यह सन् १६२२की जनवरीके प्रथम सप्ताहकी बात है। बस उसी दिन छापाखाना खोलने और अखबार निकालनेके विचारसे मैं घरसे निकल पड़ा। मेरी जेबमें केवल पन्द्रह शिलिङ्गकी पूँजी थी, जो टोङ्गाटसे डरबन तक रेल-यात्रामें ही खतम हो गई। प्रेस खोलनेके लिए सैकड़ों पौण्डकी जरूरत थी, पर मैं हताश न हुआ—भगवान्‌पर मेरा पूरा भरोसा था। डरबन पहुँचकर मैंने अपने एक मित्र (स्वर्गीय) श्री ए० हुसनसे अपनी योजनाकी चर्चा की और उनसे डेढ़ सौ पौण्ड हथ-फेर (उधार) लेकर अखबार छापनेके लिए सिलेण्डर मशीन खरीद ली। डरबनके सिटी हॉलसे सात-आठ मीलके फासलेपर जेकब्समें मेरी पाँच एकड़ जमीन थी, उसीमें मैंने छापाखाना खोलनेकेलिए लकड़ी और टीनका एक बड़ा-सा भवन और रहनेके लिए एक बँगला बनवाया। इस गृह-निर्माण-कार्यमें मुझे (स्वर्गीय) श्री सी० जीवनसे बड़ी सहायता मिली, उन्होंने घोर परिश्रम करके तीन महीनेमें मकानका काम पूरा कर दिया। इसी बीच शनैः-शनैः प्रेसकी सारी सामग्रियाँ भी इकट्ठी हो गईं और

यह भी निश्चय हो गया कि मईके प्रथम सप्ताहसे अखबार निकाला जायगा। फलस्वरूप 'हिन्दी' नामक साप्ताहिक पत्र हिन्दी और अंग्रेजीमें निश्चित समयपर ही निकला, पर शोक कि जगरानी उसे देख न सकीं—एक मास पहले ही वह इस लोकसे सदाके लिए विदा हो गई। मुझे सबसे अधिक सन्ताप इस बातका हुआ कि मैं उनकी रुग्णावस्थामें अपने कर्त्तव्यका पालन न कर सका।

नेटालमें हड़ताल

भावी बड़ी ही प्रबल होती है। ठीक उसी समय हिन्दुस्थानसे महात्मा गांधीको राज-द्रोहके अपराधमें छः साल कैदकी सजा मिलनेकी खबर वहाँ पहुँची। इससे प्रवासी भाइयोंमें बड़ा क्षोभ फैला। नेटाल-इंडियन-कांग्रेसकी ओरसे विरोध-प्रदर्शनके लिए श्री सोराबजी-रुस्तमजी-के साथ मैंने सारे प्रदेशका दौरा करके प्रवासी भारतीयोंमें मुकम्मिल हड़ताल करानेकी कोशिश की। अर्द्ध-रात्रिके बाद केवल दो-तीन घण्टे हम झपकियाँ ले लेते थे, शेष सारा समय मोटरपर सड़कोंकी धूल फाँकने और दूकानदारोंको हड़तालके लिए समझानेमें बीतता था। जब निश्चित तिथिपर प्रदेश-भरमें पूरी हड़ताल होगई तब हमें दम लेनेका अवसर मिला। इस दौड़-धूपमें ऐसी हरारत मालूम हुई कि सोराबजीने मुझे जेकब्स लौटकर कार्य-व्यस्त होने देना उचित न समझा, उन्होंने मुझे बापूके फिनिक्स-आश्रमपर पहुँचाया और वहाँ दो-तीन दिन विश्राम कर लेनेके लिए इतना आग्रह किया कि मैं उनके अनुरोधकी उपेक्षा न कर सका। 'मतिरुत्पद्यते तादृक् यादृशी भवितव्यता' अर्थात् जैसी भावी होती है वैसी ही मति फिर जाती है। वहाँ दो दिन विश्राम करके तीसरे दिन जब मैं डरबन लौटा तो श्री रणछोड़ भाई केपिटानके चाय-घरमें लोगोंको जगरानीकी बीमारीकी चर्चा करते हुए पाया। मेरा माथा ठनका; मैं चाय पीनेके लिए भी नहीं ठहरा, स्टेशन पहुँचते ही गाड़ी मिल गई, जेकब्स स्टेशनसे दौड़ता हुआ घर पहुँचा। वहाँ जो कुछ देखा, उससे मेरे होश उड़ गए। जगरानी उस रेलापर

पहुँच चुकी थीं, जहाँ जीवन-मरणकी संधि है। मैंने उनकी सेवा-शुश्रूषा एवं औषधोपचारमें कोई बात उठा नहीं रखी, पर 'का वर्षा जब कृषी सुखाने'—वास्तवमें बहुत विलम्ब हो चुका था। जगरानी मौतसे बातें कर रही थीं। सारा उद्योग व्यर्थ गया।

जगरानीका स्वर्गवास

सन् १९२२के ८ अप्रैल को साँझके समय जगरानीने मुझसे बड़ी विनती की कि मैं प्रेसमें जाकर कुछ समय सो लूँ, क्योंकि कई रातके जागरणसे मेरी आँखोंमें लाली छा रही थी। पर उनके पाससे टलनेकी इच्छा और हिम्मत नहीं होती थी। आखिर उनकी लगातार टेरको टालना कठिन हो गया। बहन राजदेवी और अनुज देवीदयालको उनकी सेवा-टहल सौंपकर मैं विश्राम करने चला गया। खाटपर लेटते ही मैं ऐसा सोया कि मेरी नींद तब टूटी, जब मेरे कानोंमें रुलाईकी भनक पड़ी। यह सोचकर मैं अनुतापकी आगसे जल उठा कि मैं जगरानीको छोड़कर सोने क्यों चला आया—अन्त समय उनसे दो-चार बातें भी नहीं कर पाया।

बस तुरन्त ही उठा और मरण-शय्याके पास पहुँचकर देखा—जगरानीकी पलकें बन्द हो चुकी हैं, नाड़ियोंकी गति रुक गई है और प्राण-वायुका भी पता नहीं है। बहन राजदेवी और भाई देवीदयालसे मालूम हुआ कि प्राणान्त हुए दस मिनट बीत चुके हैं। मैं पागलकी भाँति चिल्ला उठा—"जगरानी!" उस समय एक ऐसी विलक्षण एवं विस्मय-जनक घटना घटी, जिसकी अणु-मात्र भी आशा नहीं थी। मेरी आवाज-से जगरानीके शरीरमें पुनः चेतना आगई, साँस तेजीसे चलने लगी, आँखें अनायास खुल गईं। वाचा-शक्ति तो नहीं लौटी, पर दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने अंतिम नमस्ते किया। उनकी मुखाकृति मानो यह कह रही थी—"मैं आपको जीवन-संग्राममें अकेला छोड़कर जाना तो नहीं चाहती थी, पर क्या करूँ?"

लाई हयात आई कजा ले चली चले।
अपनी खुशी न आये न अपनी खुशी चले॥

मैं विकल होकर बोला, "तुम शान्तिसे प्राण-विसर्जन करो। बच्चोंकी चिन्ता छोड़ दो, उनकी जिम्मेदारी मुझपर रही। जबतक तुम्हारे बच्चोंको पाल-पोस और पढ़ा-लिखाकर स्वावलम्बी न बना दूँगा तबतक मैं तुम्हारे ऋणसे मुक्त न हो सकूँगा। मैं तुम्हारी आखिरी विदाईकी घड़ीमें यह भी शपथ करता हूँ कि इस जीवनमें पुनर्विवाह न करूँगा। तुम्हारी 'हिन्दी' भी समयपर निकल जायगी। तुम्हारी इच्छा तो अवश्य पूरी होगी, पर अफसोस यही है कि तुम उसे देख नहीं पाईं।"

मैं इतना ही कह पाया था कि उन्होंने फिर हाथ जोड़े और आँखें बंद कर लीं। वे चल बसी, मैं तड़पता रह गया। दूसरे दिन अमगेनी नदीके तटपर हिन्दू-श्मशानमें उनके पार्थिव शरीरकी अन्त्येष्टि-क्रिया वैदिक विधिसे की गई। श्मशानमें भारतीय जनताकी, जिसमें हिन्दू-मुसलमान, पारसी और ईसाई सभी सम्प्रदायके व्यक्ति थे—ऐसी भीड़ हुई थी, जैसी उससे पहले कभी देखनेमें न आई थी।

जगरानीकी जुदाईकी वेदनासे मैं चेतना-हीन हो गया, मेरे हौसले पस्त हो गए, अरमानोंकी लड़ी टूट गई। इस वज्राघातको मैं बरदाश्त न कर सका और ऐसा बीमार पड़ा कि बचनेकी कोई आशा न रह गई। पर भाई सोराबजी और (स्वर्गीय) डाक्टर हीरा माणिकने मुझे मौतके मुँहसे बचा लिया। इन पारसी मित्रोंका मैं चिर-कृतज्ञ रहूँगा।

हाँ, उन्हीं दिनों मुझपर एक और विपदा आ पड़ी। सच है कि मुसीबत अकेली नहीं आती। डरबनमें श्री एस. डी. शंकर नामके मेरे एक तरुण मित्र थे, जो सच्चरित्र, धर्म-निष्ठ, देश-भक्त और अंग्रेजीके विद्वान् थे। उन्होंने 'हिन्दी'के सम्पादनमें सहायता करनेका संकल्प कर लिया था और उनकी कार्य-क्षमता एवं कार्य-पटुतापर मुझे बहुत भरोसा था। पर जगरानीके साथ ही भगवान्के दरबारसे शंकरका भी बुलावा आ गया। उन दोनोंके विछोहसे मेरी दोनों बाहें टूट गईं, उमंग-विहंगके पंख कट गए।

'हिन्दी'—पत्र और जगरानी-प्रेस

फिर भी निर्धारित तिथिपर मईके प्रथम सप्ताहमें 'हिन्दी'का प्रथमाङ्क निकल गया। उसके उद्घाटनोत्सवमें डरबनके प्रायः सभी प्रतिष्ठित नागरिक और जन-नायक सम्मिलित हुए थे, पर मैं स्वयं उनका स्वागत-सत्कार करनेके सौभाग्यसे वंचित रहा। उस दिन मेरी बीमारी ऐसी भयंकर हो उठी थी कि मैं मौतकी घड़ियाँ गिन रहा था। जगरानीके वियोगकी वेदनासे मैं मरणासन्न हो चुका था, जीवित रहनेकी इच्छा ही नहीं थी। पर कुछ विरति-विवेकके उदय होनेपर शोकका आवेग घटने लगा, व्याधियाँ भी धीरे-धीरे हटती गईं। जगरानीको खोकर मैं जीवित तो रह गया, पर मेरे जीवनकी प्रेरक-शक्ति न रही।

मैंने दिवंगत आत्माकी पुण्य-स्मृतिमें छापेखानेका नाम 'जगरानी-प्रेस' रखा। उसमें मुद्रित होकर साप्ताहिक रूपसे 'हिन्दी' चलने लगी। 'हिन्दी'के अनेक सुन्दर और सचित्र विशेषाङ्क निकले, जिनका विदेशोंके अंग्रेजी अखबारों तथा भारतके हिन्दी-संसारमें बड़ा सम्मान और बखान हुआ। सन् १६२३के मोटे दिवाली-अङ्कमें तो १७८ चित्र छापे थे। 'हिन्दी' में हिन्दीके साथ ही अंग्रेजी भाषाका भी प्रयोग होनेके कारण दक्षिण अफ्रिकाके सत्ताधिकारियों और श्वेताङ्ग नागरिकोंपर भी उसकी धाक जम गई थी। प्रवासी भारतीयोंमें तो वह ऐसी लोकप्रिय हुई कि नेटालके सिवा ट्रांसवाल, केप, रोडेसिया, मोज़म्बिक, टंगेनिका, यूगाण्डा, केनिया, मॉरिशस, फिजी, डमरारा, ट्रिनीडाड, जमैका, ग्रनेडा, सुरीनाम, आस्ट्रेलिया, कनाडा, न्यूजीलेण्ड आदि उपनिवेशोंमें उसकी खासी खपत होने लगी। 'हिन्दी' अपने समयमें प्रवासी भारतीयोंकी मुखपत्रिका बन गई थी। उसमें प्रायः (स्वर्गीय) साधु एण्ड्रूज, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, राजा महेन्द्रप्रताप, डाक्टर तारकनाथ दास, श्री हेनरी पोलक, डाक्टर सुधीन्द्र बोस प्रभृति प्रवासी-समस्याके विशेषज्ञोंके लेख निकलते रहते थे। उसके विशेषाङ्कोंमें दक्षिण अफ्रिकाकी यूनियन-सरकारके मंत्रियों, पार्लमेण्टके सदस्यों, अंग्रेजीके प्रसिद्ध पत्रकारों,

डरबन सिटीके मेयर और कौन्सिलरों तथा प्रवासी भारतीयोंके प्रमुख नेताओंके लेख और संदेश भी छपा करते थे।

'हिन्दी'के सम्पादन और प्रबन्धमें मुझे नित्य लगातार अठारह घण्टे काम करना पड़ता था। मैं ही उसका मालिक था और मैं ही मैनेजर सम्पादक और क्लर्क भी। कभी-कभी मुझे चपरासी और चाकर भी बनना पड़ता था। सप्ताहमें केवल रविवार ही विश्रामके लिए निश्चित दिन था, पर रविवारको भी मेरे लिए आराम कहाँ? उस दिन अक्सर सभा-समितियोंमें भाषण देनेका काम आ पड़ता था। सच पूछिये तो उन दिनों मैं अपने शारीरिक स्वास्थ्यके साथ घोर अत्याचार कर रहा था, जिसका फल मुझे आगे चलकर भोगना पड़ा और आजतक भोग ही रहा हूँ। किन्तु इतनेपर भी मुझे यही संतोष है कि दक्षिण-अफ्रिकामें 'हिन्दी' द्वारा हिन्दी-प्रचारका काम बड़ी सफलताके साथ हुआ और आज भी जहाँ कहीं प्रवासी भारतवासी हैं उनमें हिन्दी-भाषियोंको 'हिन्दी'का अभाव अखर रहा है।

: २० :

देश–दर्शन

सन् १९२२में मुझे अपने परिवारके कई प्राणियोंकी वियोग-व्यथा सहनी पड़ी। अभी जगरानीकी जुदाईका घाव बिलकुल ताजा ही था कि उसपर कालने नाखून मारकर और भी क्षत-विक्षत कर दिया। बिहारसे यह दुःखदायी खबर आई कि मेरी विमाताका देहान्त हो गया और साथ ही उनकी इकलौती विवाहिता पुत्री रामदासी और इकलौता पुत्र रामनरेश भी इस लोकसे चल बसे। जमीन-जायदाद हड़प जानेके लिए रिश्तेदारोंका गिरोह गिद्धकी भाँति मँडरा रहा है। इसलिए मुझे फौरन हिन्दुस्थानको प्रस्थान कर देना पड़ा। मेरे साथ श्री ए० दुखन, श्री तिलकधारी और श्री नारायण बोधासिंह भी स्वदेश-दर्शनके लिए रवाना हुए। यह तीनों प्रवासी भाई अब इस संसारमें नहीं रहे। उनके साथ मैं कुशलपूर्वक बम्बई पहुँचा और वहाँ उस सरदार-गृहमें ठहरा जहाँ लोकमान्य तिलकका शरीरान्त हुआ था। नवसारीसे श्री रणछोड़ केसूर केप्टिन मेरे लिए खादीके कुछ कपड़े बनवाकर बम्बई लाये थे, जिससे गया-कांग्रेसमें शरीक होनेमें मुझे सहूलियत हो गई, क्योंकि कांग्रेसाधिवेशनका समय अत्यन्त समीप आ गया था और विदेशी वस्त्र पहने हुए मेरे लिए वहाँ जाना शर्मकी बात होती।

बम्बईकी सफेद गली

इस बार मैंने दोस्तोंके दबावमें आकर बम्बईकी वह सफेद गली भी देख ली, जहाँ वासनाका बाजार लगता है। इस बाजारमें भारतकी

हजारों पुत्रियाँ पापी पेटके लिए अपनी लाज बेचती हैं और कामी पुरुष कुछ टके देकर मुँह काला किया करते हैं। वहाँ छोटी-छोटी ऐसी कोठरियां थीं, जिनमें लोहेकी छड़ें लगी हुई थीं। भीतर बैठी हुई वेश्याएँ वैसी ही मालूम देतीं, जैसी पिंजरेके अन्दर बन्द चिड़ियाँ। वे राहगीरोंसे छेड़-छाड़ करतीं, कमीना हाव-भाव दिखातीं और गन्दी-से-गन्दी बोलियाँ बोलतीं। वहाँ कुछ भँड़ुवे भी मिले, जो पापकी दलालीसे उदर-दरी भरते हैं। वे उस गलीमें भटकते हुए व्यक्तियोंके पास पहुँच जाते और बेशर्म होकर बोलते, "सेठजी ? जैसा माल चाहिए, वैसा हाजिर कर दूँगा। आपको चाहिए कैसी—फिरंगिन चाहिए या कश्मीरन, पारसिन चाहिए या बंगालिन ?" ऐसी बात सुनकर मेरे तन-बदनमें आग लग जाती और मैं उनको फटकारते हुए कहता, "अगर तुमको खानेके लिए दाना नहीं मिलता है तो डूब मरनेके लिए क्या चुल्लू-भर पानी भी नहीं मिलता ?'- मेरे प्रवासी मित्रोंके लिए तो यह एक तमाशा था, पर मेरे लिए लज्जा, ग्लानि एवं दुःखका एक दारुण दृश्य ? मैं सोचता यह हमारे ही घरकी बहन-बेटियाँ तो हैं जिनको समाजने घसीटकर इस बाजारमें ला बैठाया है; धिक्कार है ऐसे समाजको ? लानत है ऐसी जातिपर।

गया-कांग्रेस

बम्बईसे मैंने बिहारके लिए प्रस्थान किया। रेलगाड़ीमें भारत-कोकिला श्रीमती सरोजिनीदेवी और स्वर्गीय श्री विट्ठल भाई पटेलसे परिचय हुआ और दक्षिण अफ्रिकाकी स्थितिपर वार्तालाप भी। गयामें कांग्रेस-की चहल-पहल थी। बिहारके बच्चे-बच्चे में उत्साह उमड़ रहा था। प्रतिनिधियोंके आगत-स्वागतका काम भागलपुरके रईस स्वर्गीय श्री दीपनारायणसिंहको सौंपा गया था। दीप बाबू अतिथि-सत्कारमें बड़े होशियार व्यक्ति थे। वे कई बार पृथ्वीकी परिक्रमा कर आये थे, इसलिए पूर्वीय एवं पश्चिमीय रहन-सहन और आचार-विचारके पूरे जानकार थे। इतनी बड़ी संख्यामें प्रतिनिधियों और दर्शकोंके खान-पान और आराम-

का इन्तज़ाम करना कोई आसान काम नहीं था। दीप बाबूने हमें एक धर्मशालामें ठहराया, जहाँ श्रीविजयराघवाचार्य, पं० नरसिंह चिन्तामणि केलकर, सेठ जमनालालजी बजाज, श्रीरामदास गांधी आदि अनेक गण्य-मान्य सज्जन ठहरे हुए थे।

उस धर्मशालासे कांग्रेस-पंडाल तीन-चार मीलके फासलेपर था, सवारी मिलनेमें बड़ी कठिनाई होती थी, और धूल-गर्दसे भरी हुई उस ऊबड़-खाबड़ सड़कपर मनुष्योंकी भीड़में धक्के खाते पैदल चलना मेरे प्रवासी मित्रोंके लिए बड़ी कठोर क्रिया थी। एक दिन हम लोग वस्त्र परिधान कर धर्मशालाकी तीसरी मंजिलसे नीचे उतरे और सड़कपर खड़े होकर इक्केका इन्तजार करने लगे। घंटा-भर बीत गया, पर सवारी-की सबील न लगी। सामने एक मोटर खड़ी थी, उसीपर उनकी टक-टकी बँध गई। एकने कहा, "क्या ही मजा आता, यदि यह मोटर हमें पण्डाल तक पहुँचा आती।" दूसरे भाई व्यङ्ग-भावसे बोले, "यह क्या कोई टैक्सी है, जिसपर पैसेके प्रतापसे आप अधिकार जमा सकें? वास्तवमें किसी महाभागकी प्रतीक्षामें यह खड़ी है। इसपर दृष्टि गड़ाना मानो मनका मेवा खाना है।"

सेठ जमनालाल बजाजकी मोटर

मुझे अचानक एक अजीब मज़ाक सूझा। मैं चहल-कदमी करता हुआ मोटरके पास पहुँचा और ड्रायवरसे पूछा कि यह मोटर किसके-लिए खड़ी है? जवाब मिला कि सेठ जमनालाल बजाजके-लिए। मैंने जमनालालजीका नाम तो सुना था, पर उनको देखा नहीं था। आज उनको देखनेकी ही नहीं, परखनेकी भी ठान ली। मैं ड्रायवरके पास मोटरमें बैठ गया और अपने साथियोंको बुलाकर पीछेकी सीटपर बैठा लिया। ड्रायवरपर हुक्म चलाया—ले चलो स्वराज्यपुरी। मेरी ज्यादती देखकर बेचारा सोफर तो सन्न रह गया और बड़ी नम्रतासे बोला, "हजूर? आप क्या कह रहे हैं? सेठजी नीचे आवेंगे तो मुझे गैरहाजिर पाकर क्या कहेंगे?"

"मैं तो साफ-साफ कह रहा हूँ कि मुझे स्वराज्यपुरी ले चलो," मैंने उस पर रोब जमाते हुए कहा, "क्या तुम ठेठ हिन्दी भी नहीं समझते ? मैं तो अब इस मोटरसे उतरने वाला नहीं। रही तुम्हारे सेठजीकी बात, सो अगर तुमको डर लग रहा है तो जाकर उनको खबर दे आओ।" सोफर बेचारा एकदम सिटपिटा गया, ऐसी ज्यादती शायद कभी उसने देखी भी नहीं थी। क्या करे, क्या न करे ? आखिर वह अपनी जिम्मेदारीसे बरी होनेके विचारसे हिम्मत बाँधकर बोला, "हजूर भी साथ चलें तो इस गरीबपर बड़ी दया होगी।"

मैं सोफरके साथ सेठजीके कमरेमें पहुँचा। वहाँ सामने बैठी हुई एक दिव्य मूर्तिपर मेरी दृष्टि ठहरी। कद लम्बा, रङ्ग गेहुँआ और ललाट ऊँचा। आला दिमाग, दयार्द्र दिल और मीठी बोली। नेत्रोंमें प्रतिभाका प्रकाश और चेहरेपर चतुराईकी चमक। उनके आस-पास अनेक आदमी बैठे हुए थे और देशकी सामयिक स्थितिपर चर्चा चल रही थी। हमारे प्रवेश करनेपर जमनालालजीकी निगाह मुझपर पड़ी। सोफर उनकी ओर मुखातिब होकर बोला, 'यह साहब अपने तीन साथियोंको लेकर मोटरमें बैठ गए हैं और कहते हैं कि हमें पहले कांग्रेस-पंडाल तक पहुँचा आओ।" यह विचित्र बात सुनकर जमनालालजीके मुखपर कुछ तो विस्मय और कुछ कौतूहलकी ईषत् रेखा झलक आई और उन्होंने मुसकराते हुए मुझसे पूछा, "क्या मैं आपका परिचय पा सकता हूँ ?" ज्यों ही मैंने अपना नाम बतलाया त्योंही वे "बस-बस और कुछ बतलानेकी जरूरत नहीं' कहते हुए उठ खड़े हुए और इस स्नेहसे मिले कि मानो वर्षोंका पारस्परिक परिचय हो। फिर सोफरसे हँसते हुए बोले, ' भाई यह बहुत दूरसे आये हैं—समुद्र-पारके देशसे। इसलिए हम सबके मेहमान हैं। पहले तुम इनको पहुँचा आओ, फिर आकर हमें ले चलना।" मैं शिष्टाचारके अनुसार उनका आभार मानकर विदा हुआ। उनके सौजन्य और सौहार्द पर मुग्ध हुए बिना न रहा। जमनालालजी अब इस संसारमें नहीं रहे, पर देशकी आजादीके इतिहासमें उनकी

वीर-गाथाएँ स्वर्णाक्षरोंमें अंकित रहेंगी।

कांग्रेसमें फूट

उस समय गया-कांग्रेसमें नेताओंका जो वाग्युद्ध देखा, वह देशके स्वाधीनता-संग्राममें दुःखदायी दलबंदीका उपक्रम था। देशबंधु चित्तरंजनदास कांग्रेसके प्रधान थे और बिहारके वयोवृद्ध नेता श्री व्रजकिशोरप्रसाद स्वागताध्यक्ष। श्री राजेन्द्रप्रसादपर मंत्रित्वका भार था और श्री दीपनारायणसिंहपर अतिथि-सत्कार का। इस अधिवेशनमें पं० मदनमोहन मालवीय, हकीम अजमल खाँ, श्रीनिवास आयङ्गर, डाक्टर अन्सारी, श्री विजयराघवाचार्य, श्री सत्यमूर्ति, मौलाना मजहरुल हक, श्री अब्बास तैयबजी, मौलाना हसरत मोहानी, श्रीमती सरोजिनी देवी, पं० नरसिंह चिन्तामणि केलकर प्रभृति नेताओंके दर्शन हुए। कांग्रेसकर्मियोंमें दो दल हो गए थे—परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी। कांग्रेसके प्रधान परिवर्तनवादी थे और स्वागताध्यक्ष अपरिवर्तनवादी। पं० मोतीलाल नेहरू, श्री चित्तरंजनदास, श्री विट्ठल भाई पटेल प्रभृति कौन्सिलोंपर कब्जा करनेके पक्षमें थे और उसके विपक्षमें थे—श्रीराजगोपालाचारी, श्रीराजेन्द्रप्रसाद, श्री जमनालाल बजाज प्रभृति। अपरिवर्तनवादियोंकी बहुमतसे विजय हुई, पर परिवर्तनवादियोंने अपनी टेक नहीं छोड़ी और कौन्सिलोंपर धावा बोलनेके लिए 'स्वराज्य-दल' बनाकर ही दम लिया। राष्ट्रीय एकताका गयामें श्राद्ध किया गया।

खैर, मुझे तो प्रवासी भाइयोंके कामसे मतलब था। कांग्रेसका जो नया विधान बना था, उसमें प्रवासियोंको प्रतिनिधित्वसे वंचित कर दिया गया था। अतएव मैंने नेताओंसे कह-सुनकर एक विशेष प्रस्ताव पास कराया, जिसके अनुसार नेटाल-इंडियन-कांग्रेस, ट्रांसवाल-ब्रृटिश-इंडियन-एसोसियेशन और केप ब्रृटिश-इंडियन-कौन्सिलके दस प्रतिनिधियोंको कांग्रेसके वार्षिकाधिवेशनमें भाग लेनेका अधिकार मिला।

त्यागका फल

गया-कांग्रेसके कार्यसे निबटकर सन् १९२३की जनवरीमें जब मैं

अपने 'बहुआरा' गाँवपर गया तो अपने घरका सारा माल-असबाब गायब पाया। केवल भूमि बच गई थी क्योंकि उसको हड़पना कोई हँसी-ठट्ठा नहीं था। विमाताके निधनके बाद घरमें लूट मच गई थी, जिसने जो कुछ पाया, वही हथियाया। मैंने आराके कलक्टरकी कचहरी-में दाखिल-खारिजकी दरखास्त दी और सारी जमींदारीपर अपना नाम दर्ज कराया। इस घटनासे मुझे बहुत-कुछ शिक्षा मिली और मुझे निश्चय हो गया कि बेईमानी कभी फूलती-फलती नहीं। विमाताने मुझे बपौती जायदादसे महरूम तो किया, लेकिन वह दौलत न उनके काम आई और न उनके इकलौते पुत्रके। आखिर घूम-फिरकर वह मेरे ही पास लौट आई।

चार साल पहले जब मैं भारत आया था तो विमाताके दर्शनके लिए 'बहुआरा' भी गया था। उस समय उनकी दशा देखकर मुझे दुःख हुआ था। वास्तवमें अपने कृत्यपर उन्हें घोर पश्चात्ताप हो रहा था, वे बिलख-बिलखकर बहुत रोई थीं। उनकी इच्छा यह थी कि मैं सारी जमींदारी-पर नाम दर्ज करा लूँ और उनके तथा उनके बच्चेके लिए केवल भोजन वस्त्रकी व्यवस्था कर दूँ। इससे उनका मनस्ताप मिट सकेगा, पश्चा-त्तापकी आग बुझ सकेगी। मैंने उनको बहुत-कुछ समझाया, एवं सान्त्वना दी और विश्वास दिलाया कि मेरे मनमें उनके प्रति जरा भी दुर्भाव नहीं है—श्रद्धा और स्नेह अवश्य है। अचानक धनापहरणके कारण प्रारम्भ-में कुछ क्लेश-जनित क्रोध अवश्य हो आया था, पर वह शीघ्र ही विलुप्त हो गया। मैंने यह भी बतलाया कि उन्होंने मेरा जो उपकार किया है, उससे इस जीवनमें मैं कभी उऋण न हो सकूँगा। यदि वह मुझे जिम्मेदारीसे बरी न कर देतीं तो मैं उनको और उनके बच्चोंको छोड़कर हर्गिज बाहर न जा सकता और नतीजा यह होता कि मेरी जिन्दगी उसी गाँवमें जमींदारीके झँझटमें बीत जाती। फिर जो कुछ प्रवासी भाइयोंकी मैं सेवा कर पाया हूँ अथवा आगे करनेका इरादा रखता हूँ, उसके लिए मौका कहाँ मिलता?

गाँवका बन्दोबस्त करके मैंने अपने जिलेका भी दौरा किया। आरा, ब्रह्मपुर, रघुनाथपुर, नासरीगंज, अँकोढ़ी, राजपुर, नोखा, डिहरी सहसराम, कुदरा, मोहनिया, भाँकरी, भभुआँ आदि नगरों और कस्बोंमें सभाएँ हुईं और सत्याग्रहपर मेरे भाषण हुए। सहसरामकी सभा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी, जिसमें देश-रत्न राजेन्द्र बाबू भी शरीक हुए थे। वह जोशीला जुलूस और वह शानदार सभा! राजेन्द्र बाबूका वह गंभीर गवेषणापूर्ण एवं हृदय-स्पर्शी भाषण! उस समय मुझे ऐसा भासित हुआ कि भारतीयोंके अन्तर्चक्षु खुल गए हैं और गुलामी उनको ऐसी अखरने लगी है कि वे आजादीके लिए भारी-से-भारी कुरबानी करनेको तैयार हैं। यद्यपि उस समय बापूके कारावास और कांग्रेसमें कलह एवं दलबन्दीके कारण देशमें शिथिलता आ गई थी सही, तथापि जनतामें उत्साहका अभाव न था; यह धारणा दृढ़ होती जा रही थी कि देशकी समस्त व्याधियोंकी स्वराज्यमें ही एक-मात्र औषधि है।

कानपुरमें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

बिहार-विचरणके बाद मैं गुरुकुल-वृन्दावन और हाथरसकी सार्वजनिक सभाओंमें भाषण देकर कानपुर पहुँचा। वहाँ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनका वार्षिकोत्सव था। स्वागताध्यक्ष थे—हिन्दीके भीष्म पितामह आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और प्रधान थे—हिन्दीके भालकी बिन्दी श्रीपुरुषोत्तमदास टंडन। साहित्यिकों, लेखकों, कवियों और पत्रकारोंके समागमसे कानपुर वास्तवमें तीर्थ बन गया था। श्रीलक्ष्मणदास चम्पाराम धर्मशालामें प्रतिनिधियोंको ठहराया गया था। सबसे ऊपरकी मंजिलपर एक छोटी-सी कोठरी थी, उसीमें ठहरना मुझे पसन्द आया। इसी कोठरीमें साहित्याचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे और पं० बनारसीदास चतुर्वेदी भी दिन-भर धूनी रमाये रहते थे। शर्माजी और गर्देजीसे मेरा वयसाम्य या गुणसाम्य तो नहीं, व्यसन-साम्य अवश्य था। मैं चाय-पान करता हूँ और धूम्र-पान भी। शर्माजी और गर्देजी भी चाय-बीड़ीके पुजारी थे, केवल चतुर्वेदीजी ऐसे निर्व्यसनी महात्मा थे,

जो व्यसनियोंके बीच बराबर बने रहते थे। अब तो चतुर्वेदीजीको भी चायका ऐसा चस्का लग गया है कि वे 'अधिकस्य अधिकं फलम्'का मन्त्र-पाठ करने लगे हैं।

वे चार दिन बड़े आमोद-प्रमोदमें बीते थे। दिनमें कई बार चायकी प्यालियाँ ढलती थीं और धूम्र-पान-से कोठरी धुँधली बनी रहती थी। कोठरीमें एक तरफ शर्माजी कागज-पेन्सिल थामे बैठे हैं, कुछ देर तक लेखनी चलती है और कुछ देर वाणी। दूसरी तरफ गर्देजीकी गद्दी लगी है, वे अपने 'भारत-मित्र'के लिए खुराक जुटानेमें मस्त और व्यस्त हैं। उधर चतुर्वेदीजीको यह चिन्ता व्याप रही है कि प्रवासी भारतीयोंमें हिन्दी-प्रचारके लिए सम्मेलनमें किस प्रकारका प्रस्ताव रखना चाहिए। इधर मैं अपनी 'हिन्दी'के लिए कागज रँगनेमें लगा हूँ, पर फिक्र यह लगी हुई है कि शर्माजी और गर्देजीके लिए चाय-बीड़ीकी कमी न होने पावे।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और पं० गोविन्दनारायण मिश्र जैसे वयोवृद्ध साहित्य-महारथियोंके दर्शनसे मेरी चिरभिलाषा पूर्ण हो गई। पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदीकी विनोदमयी वक्तृता और पं० उदित-मिश्रकी प्रमोदपूर्ण बातें श्रोताओंको गुदगुदाये और हँसाये बिना नहीं रहती थीं। चतुर्वेदीजीकी व्यङ्गोक्ति कभी-कभी शिष्टताकी सीमा लाँघ जाती थी। एक बार विषय-निर्धारिणी-समितिमें प्रधान श्री पुरुषोत्तम-दासजी टंडनको विवश होकर उनको स्मरण दिलाना पड़ा था कि यह साहित्यकारोंका सम्मेलन है, भाँडोंकी गोष्ठी नहीं। बिहारके मुस्लिम साहित्यकार श्री पीर मुहम्मद मूनिस और श्री लतीफ हुसेन वस्तुतः रहीम और रसखानका प्रतिनिधित्व कर रहे थे। श्री श्यामसुन्दरदास, श्री रामदास गौड़, श्री कृष्णकान्त मालवीय, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, श्री वियोगी हरि, पं० जयचन्द्र विद्यालंकार, पं० लक्ष्मीधर बाजपेयी, पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, पं० हरिहर शर्मा प्रभृति महानुभावोंकी साहित्यिक प्रतिभासे सम्मेलनका कोना-कोना उद्भासित हो रहा था।

इन शिरसावन्द्य महाभागोंके दर्शनसे स्वभावतः मेरा हृदय श्रद्धासे परिप्लावित हो उठा था। पं० श्रीकृष्णविहारी मिश्र और लाला भगवानदीन 'कवि देव'के गुण-दोष-विवेचनमें ऐसे व्यस्त और व्याकुल थे कि मानो इसीके निर्धारणपर हिन्दी काव्य-कलाका भविष्य निर्भर है। पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा, पं० माधव शुक्ल, आचार्य बदरीनाथ वर्मा, पं० रूपनारायण पाण्डेय-आदि हिन्दीके हिमायतियोंकी विद्यमानतासे सम्मेलनकी शोभा बढ़ गई थी। 'प्रताप'के प्राणेश श्री गणेशशंकर विद्यार्थीकी अनुपस्थिति बहुत खटकती थी, उन दिनों स्वदेशकी वकालत करनेके अपराधमें विदेशी-सत्ताने उनको कैद कर रखा था।

इसी सम्मेलनमें पहला मंगलाप्रसाद-पारितोषिक पं० पद्मसिंह शर्माको प्रदान किया गया था। प्रवासी भारतीयोंके प्रश्नपर भी अच्छी चर्चा हुई। इस विषयपर मेरे सिवा पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और पं० लक्ष्मणनारायण गर्देके भी भाषण हुए। एक प्रस्तावमें जगरानीके निधनपर परिताप प्रकट किया गया और दूसरे प्रस्तावमें दक्षिण अफ्रिका-प्रवासी हिन्दी-भाषियोंमें हिन्दी-प्रचार सम्बन्धी कार्योंकी प्रशंसा की गई। मेरे 'हिन्दी' अखबारको भी सम्मेलनने पाँच सौ रुपये देकर उसकी सेवाओंपर स्वीकृतिकी मुहर लगा दी।

: २१ :

विलक्षण बातें

उपन्यासों और कहानियोंमें जासूसोंकी करामातकी बातें पढ़कर मैं उनको मानवी मस्तिष्ककी कल्पना ही समझता था, पर हिन्दुस्थानमें जासूसोंकी चालबाजीके मुझे जो व्यक्तिगत अनुभव हुए, वह मेरे भ्रम-भञ्जनके लिए पर्याप्त सिद्ध हुए।

जासूसोंके करिश्मे

बिहारमें आरा जिलेके दौरेके दरम्यानमें एक ऐसा खद्दरधारी खुफिया मेरे दलमें आ मिला, जिसके जूते तक खादीके थे। वह अंग्रेजोंके खिलाफ ऐसा लेक्चर झाड़ता कि युवकोंके रोम-रोम फड़क उठते। निरा अनजान व्यक्ति होते हुए भी उसकी देश-भक्तिपर मुझे पूरा इतमीनान हो गया। मैं उसे तब पहचान पाया, जबकि मेरे एक भाषणसे प्रभावित होकर उसने खुद एलान किया—"मैं एक सरकारी जासूस हूं। पेटके लिए यह अधम कर्म कर रहा हूं। आपकी प्रवृत्तिपर दृष्टि रखनेके लिए मेरी नियुक्ति हुई थी, पर आज मेरी ड्यूटीकी अवधि पूरी हो गई। मैं तो जाता हूँ, पर मेरी जगहपर दूसरा गुप्तचर आ चुका है।" उसकी चालाकीपर मैं तो मुग्ध रह गया और उसे प्रेम-पूर्वक विदा किया। वह था तो मुसलमान, पर ऐसी संस्कृतमयी हिन्दी बोलता था कि उसे ब्राह्मण मान लेनेमें किसीको आपत्ति नहीं हुई। मेरे गाँव बहुआरामें एक ऐसा जासूस आया था, जिसने पागल और गूँगेका पार्ट अच्छी तरह निभाया। जब मैं किसीसे कुछ बातचीत करता तो वह समीप आकर

बड़े ध्यानसे सुनता। इसपर मुझे कुछ सन्देह हुआ और ज्योंही मेरे मुँहसे यह बात निकली कि "यह जासूस तो नहीं है ?" त्योंही वह ऐसा गायब हुआ कि गाँव-भरमें ढूँढनेपर भी कहीं पता न लगा। पर इस बारकी यात्रामें जासूसोंकी कारस्तानीका जो परिचय मिला, वह पहलेसे नितान्त भिन्न, विस्मय-जनक और कौतूहल-वर्द्धक है।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनकी समाप्तिपर मैं इन्दौर जाना चाहता था, पर भाई बनारसीदास चतुर्वेदीकी प्रेरणा और पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा एम० ए०के आग्रहसे फीरोजाबाद जाना पड़ा। वहाँ पं० मोतीलालजी नेहरू आने वाले थे, उनके आगत-स्वागत और अभिभाषणके लिए जो सभा होने वाली थी, मुझे उसका सभापति वरण किया गया था। कानपुरसे फीरोजाबाद जानेमें जासूसोंके करिश्मे देखकर मैं दंग रह गया। कानपुर स्टेशनपर मैं सीधा गाड़ीमें जा बैठा। फीरोजाबादके एक महाशय तीसरे दर्जेका टिकट ले आये और गाड़ी छूट जानेपर उसे मेरे हवाले कर गए। जब मैं फीरोजाबादमें गाड़ीसे उतरा तो स्टेशनपर जनताकी भारी भीड़ मिली। मैं स्टेशन-मास्टरके दफ्तरमें बैठकर इन्दौर भेजनेके लिए एक तार लिखने लगा और उस भीड़-भड़क्केमें अपना टिकट देना भूल गया।

मैंने देखा कि रेलवे-कर्मचारियोंमें बड़ी बेचैनी फैल गई है—तहलका मच गया है। पूछनेपर मालूम हुआ कि ११७ नम्बरका एक टिकट गायब है, जिसके बारेमें स्टेशन-मास्टरको कानपुरसे पुलिसका तार मिला है कि यदि उस नम्बर वाले टिकटका यात्री वहाँ उतरे तो फौरन फीरोजाबादकी पुलिसको इत्तला कर देनी चाहिए। लेकिन वह टिकट ही लापता था, इसीलिए गड़बड़ी मची थी और बेचारे टिकट-कलेक्टरपर झिड़कियाँ पड़ रही थीं। मुझे ख़याल आ गया कि मेरा टिकट भी तो जेबमें ही पड़ा है—न किसीने माँगा, न मैंने दिया। जेबसे टिकट निकालकर उसका नम्बर देखा तो मेरे विस्मयकी सीमा नहीं रही; वास्तवमें मेरा ही टिकट ११७ नम्बरका था। "ओह ! आप नाहक ही इतने हैरान हुए,

यह लीजिये ११७ नम्बरका टिकट," मैंने स्टेशन-मास्टरको टिकट थमाते हुए कहा। वे बेचारे बड़े लज्जित हुए। उनको क्या खबर थी कि मैं ही ११७ नम्बर वाला व्यक्ति निकल पड़ूँगा, जिसकी प्रवृत्तिपर खुफिया विभागकी ऐसी कड़ी दृष्टि है।

जासूसोंका यह चमत्कार देखकर मैं चकित हुए बिना न रहा। सच बात तो यह है कि हिन्दुस्थानकी सरकार अपने जासूसोंसे मेरा एक जीवन-चरित्र तैयार करा रही थी, जो उन दिनों होम-डिपार्टमेन्टमें सुरक्षित था। उसे पढ़कर एक बार एक उच्च अमलदारने मुझसे कहा था कि "सरकारी फाइलमें आपका वृत्तान्त पढ़कर मैं इस नतीजेपर पहुँचा था कि आप एक उग्र स्वभावके खतरनाक क्रान्तिकारी हैं, पर आपके सम्पर्कसे मेरी वह धारणा बदल गई।

पं० मोतीलालजीका क्रोध

उस दिन पं० मोतीलालजी नेहरू आगरासे फीरोजाबाद आये। कार्य-क्रमके अनुसार उनको शामको छः बजे आ जाना चाहिए था, पर वह आये रातको आठ बजे। फीरोजाबादके निवासियोंने अपने घर-बार और बाजारको खूब सजाया था। वे पंडितजीको एक जलूसके साथ कस्बेका पर्यटन कराते हुए डाक-बँगलेमें ले जाकर ठहराना चाहते थे। जिस सड़कसे पंडितजी आगरासे आने वाले थे,कस्बेके बाहर उस सड़कपर जनताकी भारी भीड़ लग गई थी। पंडितजी बहुत देरसे आये और वह भी किसी कारणवश क्रोधके आवेशमें। जनताका जमाव देखकर वह अपने क्रोधको काबूमें न रख सके। पं० ठाकुरप्रसाद और मुझको उन्होंने अपने पास मोटरमें बिठा लिया और ड्राइवरको हुक्म दिया—"हाँको मोटर तेजीसे, चाहे कोई दबे या मरे।" पंडितजीका रोषपूर्ण रुख देखकर जनता हताश हो उठी, उसके सारे हौसले हवा हो गए।

पंडितजीको मोटर तेजीसे दौड़ी, उसके पीछे-पीछे 'कुछ लोग भी दौड़े। मोटर एक सेठके दरवाजेपर जाकर खड़ी हुई, पंडितजीने कोठीके अन्दर प्रवेश किया और दरवाजा बन्द कर लिया गया, क्योंकि दर्शकोंके

भीड़-भड़क्केका भारी भय था। नेहरूजीके इशारेसे बावर्चीने झटपट चाय बनाई और ज्योंही वह तैयार होकर मेजपर आई त्योंही सेठजीके नौकरने केले और सन्तरे छीलकर पंडितजीके सामने ला रखे। बस, पंडितजीकी क्रोधाग्निमें घृताहुति पड़ गई, उनका चेहरा तमतमा उठा, आँखें रंजसे लाल हो आईं। मेरी तरफ मुखातिब होकर वह बोले—"क्या आप मानते हैं कि ये गधे स्वराज्य पाने और भोगनेके लायक हैं, जिनको इतनी भी तमीज नहीं है कि छिले हुए फल किसी भले आदमीके सामने खानेके लिए ला रखना तहज़ीबके खिलाफ है?" मैंने बड़ी नम्रतासे समझाया कि "आपका कहना बिलकुल सही है, लेकिन आपको इनकी नादानीपर नहीं, भक्ति-भावपर ध्यान देना चाहिए। फलके छिलके उतारकर लाना शिष्टाचार तो नहीं, पर उनका विचार तो कुछ और ही है, वे तो बस यही सोचते हैं कि छिलके उतारनेमें पंडित-जीको तकलीफ होगी।"

मेरे कथनसे पंडितजीको कहाँतक संतोष हुआ, यह तो पता नहीं, पर वह स्थानीय कार्यकर्त्ताओंपर शेरकी तरह टूट पड़े और गरजकर बोले, "भले आदमियो! तुम्हें कुछ हया-शर्म है या नहीं? तुम मुझे यहाँ क्यों लाए? क्या यह इन्सानके ठहरने लायक जगह है, जहाँ न हवा है, न रोशनी! मैंने तुम्हें पहलेसे खबर दे दी थी कि डाक-बँगलेमें मेरे ठहरनेका इन्तजाम करना, फिर तुमने मुझे इस जेलखानेमें क्यों बन्द कर रखा है?" वास्तवमें डाक-बँगलेमें ही उनके ठहरानेकी व्यवस्था की गई थी—केवल नाश्ता-पानीके लिए ही उन्हें सेठजीकी कोठीपर उतारा गया था। पंडितजीकी अकारण फटकारसे वहाँके कार्यकर्त्ताओं-की व्यथा और निराशाकी सीमा न रही। वे पंडितजीको बुलाकर पछता रहे थे और भविष्यमें इस भूलकी पुनरावृत्ति न करनेकी सौगंध खा रहे थे।

रातको एक बजे पंडितजीका भाषण हुआ। मैंने सभापतिकी हैसि-यतसे श्रोताओंको नेहरूजीका परिचय देते हुए उनके व्यवहारकी मीठी चुटकी भी ली, जिसके जवाबमें उन्होंने यूरोपकी एक बड़ी दिलचस्प

कहानी सुनाई---"जब मैं जर्मनी गया था तो वहाँ एक ही कतारमें सात कब्रें देखीं। पूछनेपर मालूम हुआ कि वे कब्रें एक ही आदमीकी सात औरतोंकी हैं, जो उनको एक-एक करके मौतके घाट उतारता गया। मैंने सोचा कि वह इन्सान था या खूनी हैवान, जिसने बेरहमीसे अपनी सात बीबियोंको कब्रमें दफनाया। मैंने पूछा---कानून कहाँ था? पुलिस कहाँ थी? क्या किसी पड़ोसीने भी उसको हत्या करनेसे रोका नहीं? इसके उत्तरमें मुझे बताया गया कि उसने किसी हथियारसे हत्याएँ नहीं की थीं बल्कि वह हँसानेकी ऐसी कला जानता था कि जब किसी औरतसे उसकी तबियत भर जाती तो उसे हँसाते-हँसाते मार डालता और फिर किसी नई औरतको अपने जालमें फँसाता। मेरे ताज्जुबकी हद नहीं रही, कहाँ हँसी-विनोद और कहाँ मौतकी गोद? उसी आदमीकी तरह आपका अनुशासन-हीन और संयम-शून्य प्रेमानुराग और उत्साह है। वह हँसा-कर मार डालता था, आप अति प्यारसे मुझे मार डालेंगे। सब चीजोंकी एक हद होती है।"

दूसरे दिन सवेरे डाक-बँगलेपर पहुँचकर मैं पंडितजीसे मिला। आज उनका सौम्य रूप और विनोदपूर्ण व्यवहार देखकर मैं सोचने लगा कि मनुष्यका स्वभाव कितना परिवर्तनशील है। कल जिसने दुर्वासाका रूप धारण कर लिया था, वही आज विनोदकी सजीव मूर्ति बन गया है। पंडितजी चाय-पानके बाद धूम्र-पान कर रहे थे। आज उनकी जिन्दा-दिलीसे तबियत फड़क उठती थी। बात-बातमें हँसी-मजाकके ऐसे फुहारे छोड़ते कि हँसते-हँसते पेटमें बल पड़ जाते थे। अवसर पाकर मैंने कहा कि, "पंडितजी! आप जा तो रहे हैं, लेकिन यहाँके बाशिन्दोंके दिलपर चोट पहुँचाकर। रातकी बातसे उनको हार्दिक सन्ताप हुआ है। मेरा तो खयाल है कि आपको घड़ी-दो-घड़ीमें कस्बेमें घूम लेना चाहिए और लोगोंसे मिल-जुलकर और सबको खुश करके यहाँसे जाना चाहिए।" मेरी बातपर वह फौरन राजी हो गए। यद्यपि उनको दस बजे आगरा पहुँच जाना आवश्यक था, तो भी परिस्थितिपर ध्यान देकर वह रुक गए।

मोटरपर पंडितजी कस्बेमें घूमने निकले। निराश जनता आज उनके प्रेमपूर्ण व्यवहारसे मुग्ध होगई। हर गलीमें मोटर रुकती, देवियाँ पंडितजी-की आरती उतारतीं, तिलक लगातीं और पुष्प-हार पहनातीं। जनताकी श्रद्धा देखकर पंडितजी भी प्रेम-विह्वल हो रहे थे। कस्बेका चक्कर लगाकर वह चूड़ियोंके कारखाने भी देख आये। फीरोजाबादमें बड़ी अच्छी और सुन्दर चूड़ियाँ बनती हैं। लगभग दिनमें बारह बजेके उपरान्त पंडितजी वहाँसे प्रस्थान कर सके।

एक धर्म-धुरीण महात्माने मुझसे पूछा—"पंडित मोतीलाल नेहरू तो डबलरोटी और अण्डे खाते हैं, अतएव वह देशके नेता कैसे हो सकते हैं?" मुझे अपने देशके बुद्धुओंपर बड़ी दया आई। मैंने उस महात्मा-को समझानेकी चेष्टा की कि नेहरूजी सनातन धर्मके नहीं, भारतीय राष्ट्र-के नेता हैं और राष्ट्रके नेतृत्वके लिए सचाई, ईमानदारी एवं जन-सेवाकी कामना ही अपेक्षित गुण हैं।

आर्यसमाजके सूत्रधार

मैं फीरोजाबादसे इन्दौर होकर जब मथुरा पहुँचा तो एक नवीन आन्दोलन दृष्टिगोचर हुआ। वहाँ मलकानोंकी शुद्धि हो रही थी और सदियोंसे सोये हुए हिन्दुओंमें जागृतिकी ज्योति जगमगाने लगी थी। अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्दजी और त्यागमूर्ति महात्मा हंसराजजी इस जागरणके जनक थे। स्वामीजीसे मेरा परिचय पुराना था। उनका तेजो-मय स्वरूप और त्यागमय जीवन आर्यजातिका अनमोल धन था। संन्यासी होते हुए भी वह कर्मवीर थे और त्यागी होते हुए भी राष्ट्रीय स्वार्थोंके रक्षक। आर्यसमाजके प्राण थे और आर्यजातिके अभिमान। राष्ट्रीय शिक्षाके आदि-प्रवर्त्तक थे और हिन्दू-हितके कट्टर हिमायती। महात्मा गांधीकी राजनीतिसे वह सहमत नहीं थे और खानगी बातचीतमें उनके विचारोंकी तीव्र आलोचना भी किया करते थे, फिर भी उनकी धारणा थी कि भारतवर्षमें गांधीजीके जोड़का दूसरा कोई नेता नहीं है। जनता-पर उनका विलक्षण प्रभाव है। इसलिए उन्होंने मुझसे स्पष्ट कहा।

कि खुले-आम महात्माजीका विरोध करना मानो देशकी शक्ति घटाना और प्रगतिके पथमें काँटे बिछाना है। स्वामीजीका मुझपर ऐसा स्नेह था कि मैं उनसे बे-तकल्लुफ बातें किया करता था—उनके सामने हृदय खोलकर रख देनेमें मुझे जरा भी झिझक न होती थी। वास्तवमें उन्हींके दर्शनके लिए मैं मथुरा गया भी था।

सौभाग्यवश महात्मा हंसराजके भी दर्शन हो गए। मुझे अपना परिचय देना न पड़ा, उन्होंने स्वयं कहा,—"स्वामीजीसे आपकी तारीफ सुन चुका हूँ।" उनकी लम्बी और सफेद दाढ़ी, चमकता चेहरा, त्यागमय तपस्वी जीवन, सरल स्वभाव, मधुर वाणी, नम्रता और विनयशीलता देखकर मुझे ऐसा भास हुआ कि मानो वह प्राचीन ऋषियोंके आधुनिक अवतार हैं। आर्यसमाजके कार्य-क्रममें स्वामी श्रद्धानन्दजी और महात्मा हँसराजजी परस्पर मतभेद रखते थे और इसीलिए पंजाबके आर्यसमाजमें दो दल भी हो गए—गुरुकुल-पार्टी और कालेज-पार्टी। फिर भी दोनों एक ही धर्मके अनुयायी थे, एक ही गुरुके शिष्य और एक ही समाजके दो स्तम्भ थे। हिन्दुस्थानके राष्ट्र-निर्माणके कार्यमें दोनों महाभागोंने अपना जीवन निछावर कर दिया था।

उन्हीं दिनों मथुरामें एक विराट सभा भी हुई थी। पहले स्वामीजीका भाषण हुआ और उसके बाद मेरा। पर सभाके संयोजकोंके आग्रहसे एक भजनीक महाशय बीचमें आ टपके। तबलेके तड़कने और करतालके खड़कनेपर भजनीक महाशय ऐसे भड़क उठे कि उनकी चिल्लाहटसे कानके पर्दे फटने लगे। गीतकी एक कड़ी गाते तो आध-घड़ी लैक्चर सुनाते और श्रोताओंको अपने संगीत-सूत्रका अर्थ और भावार्थ समझाते। भजन भी कैसा? उसके सामने महाकवि शङ्करके पद्य भी मात खा जाते। उसकी एक कड़ी मुझे अबतक याद है। वह यह कि,

"तुम्हें हाँ समाजमें आना पड़ेगा,
अजी आना पड़ेगा, आना पड़ेगा।

दाढ़ी मुड़ाना पड़ेगा,
हाँ, चोटी रखाना पड़ेगा।"

इस कहखेसे हिन्दू श्रोता मस्त होकर झूमते और तालियाँ पीट-पीट-कर दाद देते और खुशीका इज़हार करते थे।

एक भजन गाने और उसका गूढ़ार्थ समझानेमें संगीताचार्य महोदयको घड़ी-भर माथा-पच्ची करनी पड़ी। उनके बाद. जब ऋषि-कल्प महात्मा हंसराजजी बोलनेको उठे तो वह मूर्ख श्रोता-मंडली चिल्लाने लगी,—"बैठ जाइये। लैक्चर नहीं चाहिए। बस भजन होने दीजिये।" उन बेवकूफोंको फटकारकर सभाका काम आगे बढ़ानेमें स्वामीजीको बड़ी जहमत उठानी पड़ी। मैं तो अवाक् रह गया। कहाँ महात्माकी सुधामयी वाणी और कहाँ गँवार-गवैयेका गर्दभ-राग? कहाँ राजा भोज, कहाँ गँगुआ तेली? जहाँकी जनतामें इतनी भी समझ नहीं है, उस देशका महेश ही रक्षक है।

मलकानोंसे मिलाप

आगरा और मथुरा जिलेमें मलकाने राजपूतोंकी बहुत बड़ी आबादी है। सदियों पहले परिस्थितिके प्रभावमें पड़कर वे मुसलमान हो गए थे, पर अब वे अपने पूर्वजोंकी भूलका प्रायश्चित्त कर अपनी पुरानी बिरादरीमें वापस आ रहे थे। सैकड़ों सालके बाद हिन्दुओंके जातीय-जीवनमें यह नई ज्योति दिखाई पड़ी थी। जो हिन्दू मालाके बिखरे हुए मनकोंकी तरह और मशीनके टूटेहुए पुर्जोंकी तरह इधर-उधर पड़े पदाघात सह रहे थे, वे अब संगठनकी आवश्यकता समझकर एक झंडेके नीचे एकत्र होनेकी आवश्यकता महसूस करने लगे। हिन्दुओंमें न वीरताकी कमी है, न विवेककी; यदि कमी है तो जातीय जीवनकी—सङ्घशक्तिकी। इसीके अभावसे उनका सर्वनाश हुआ, राज-पाट गया, गुलामी गले पड़ी। पिथौरा और साँगाकी वीरताके सामने गोरी और गजनीकी बहादुरी झख मारती थी, पर दुःखकी बात यही है कि हिन्दुओंमें राष्ट्रीय-जीवन एवं संगठनका अभाव था। वे सैकड़ों सम्प्रदाय और सहस्रों उप-

जातियोंमें विभक्त थे। ऐसी कोई आवाज नहीं थी, जो राष्ट्रीयताकी द्योतक हो, ऐसा कोई झंडा न था, जिसके नीचे सारा राष्ट्र एकत्र होने और प्रसंगानुसार प्राणोत्सर्ग करनेको प्रस्तुत हो। एक वर्ग दूसरे वर्गको गिरानेके लिए देशद्रोह जैसा घोर पाप करनेमें भी न हिचकता था, इसीसे तो मुट्ठी-भर विदेशियोंने सहज ही हिन्दुस्थानपर दखल जमा लिया और हमारी ही सहायतासे हमें गुलाम बनाकर सदियों हमपर हुक्म चलाया।

मैंने स्वामीजीसे निवेदन किया कि उनके इस कामसे देशमें कुहराम मच गया है और हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्यकी आग सुलग उठी है। उत्तर-में स्वामीजीने जो कहानी सुनाई वह उन्हींकी वाणीमें सुनिये,—"पहले-पहल मुझसे कहा गया कि कुछ जन्म-जात मुसलमान शुद्ध होनेको तैयार हैं। इसलिए भारतीय हिन्दू शुद्धि-सभाकी स्थापना की गई। जब मैंने गाँवोंमें जाकर मलकानोंको देखा तो मेरे विस्मयकी सीमा न रही। उनकी चाल-ढाल और रहन-सहनको देखकर कौन कह सकता है कि वे मुसलमान हैं। जब कुछ मलकाने राजपूत मेरे पास आये तो मैं उनको पहचान ही न सका और उन्हींसे पूछ बैठा कि आप लोग अपने भाइयोंको बिरादरीमें मिला लेनेसे क्यों हिचक रहे हैं? इसपर मुझे बतलाया गया कि यही तो शुद्ध होने वाले मलकाने हैं। मैं तो सन्न रह गया। सोचा, अगर ये मुसलमान हैं तो हिन्दुओंका बेड़ा डूब चुका। इनको मुसलमान मानना वास्तवमें विवेकका अपमान करना है। इनके केवल तीन रिवाज मुसलमानोंसे मिलते-जुलते हैं। एक तो मुर्दे गाड़ना। कहा जाता है कि जब बादशाहके भयसे इन्होंने मुसलमानोंका छुआ पानी पी लिया तो हिन्दुओंने रुष्ट होकर इनको अपने श्मशानमें मुर्दे जलानेसे रोक दिया। अतएव इनको मुर्दे दफनानेपर मजबूर होना पड़ा। फिर भी ये समाधिपर पिण्ड चढ़ाते हैं। दूसरा रिवाज है—निकाह। यह भी बड़ा विचित्र है। पहले जनेऊ पहनाकर हिन्दू-विधिसे विवाह होता है और फिर दो दिन बाद कोई मौलवी आकर निकाह

कहा जाता है। उसे कुछ दक्षिणा दे देते हैं, पर न तो उसका छुआ पानी पीते हैं और न उसे अपने बर्तनमें खाना देते हैं। तीसरा रिवाज है—खतना। इसकी कहानी सुनकर तो मेरी हैरानीकी हद तक न रही। खतनेकी विधि यह है कि बच्चेकी मूत्रेन्द्रियपर एक धागा बाँधकर उसीको काट देते हैं—बस खतना हो गया। मैं कहना चाहता हूँ कि यह इनकी शुद्धि नहीं है बल्कि उनकी शुद्धि हो रही है, जिन्होंने इनको तीन सौ सालतक बिराना बनाकर रखा, मुसलमान कहकर दुरदुराया। हिन्दुओंने जो महापाप कमाया था, उसीका आज प्रायश्चित्त हो रहा है। वास्तवमें यह शुद्धि नहीं; भरत-मिलाप है।"

प्रवासी हिन्दुस्थानियोंके हितैषी

मथुरासे प्रस्थान कर बिहारका चक्कर लगाता हुआ मैं बम्बई पहुँचा। वहाँ साधु एंड्रूज और भाई परमानन्दजीके दर्शन हुए। भाईजीने प्रवासी भारतीयोंकी जो सेवा की है, उसके लिए स्वभावतः उनपर मेरी श्रद्धा है। उनको देखकर वे दिन याद हो आये, जब वह फाँसीकी कोठरी में बैठकर मृत्युञ्जयका मंत्र-पाठ कर रहे थे और उसके बाद कालेपानी अन्डमनके कारागृहमें उन्होंने ऐसी घोर तपस्या की कि विदेशी सत्ताको उनको बन्धन-मुक्त करनेपर विवश होना पड़ा और देशने उनको 'देवता' कहकर पूजित किया। पर मानवी स्वभाव कैसा विचित्र है? क्रान्तिकारी भाई परमानन्द कालेपानीसे लौटकर सम्प्रदायवादी बन गए। क्रियाके बाद कैसी प्रतिक्रिया? कांग्रेसको कोसना गांधीजीको गालियाँ देना ही भाईजीका एक-मात्र कर्त्तव्य हो गया। फल यह हुआ कि सन् १६४२के केन्द्रीय धारा सभाके चुनावमें भाईजीकी जमानत तक जब्त हो गई। क्रान्तिकारी भाई परमानंदको जिस जनताने देवता बनाया था, उसी जनताने सम्प्रदायवादी भाई परमानन्दको अपना प्रतिनिधि बनानेसे साफ इन्कार कर दिया।

आजादीकी लहर

सन् १६२३की जुलाईमें मैंने 'कारागोला' जहाजपर सवार होकर

बम्बईसे नेटालको प्रस्थान कर दिया। इस बार मुझे यह अनुभव हुआ कि भारतको अब विदेशी शासन अखरने लगा है और वह गुलामीका जूआ उतार फेंकना चाहता है। देशके दुर्भाग्यसे कायर, देशद्रोही, स्वार्थी और खुशामदियोंकी कमी नहीं है, जिनकी हरकतोंसे आजादीकी लड़ाई-में बाधा पड़ती रहती है। यदि देशवासियोंने विदेशी शासनसे असह-योग कर दिया होता तो एक वर्ष तो क्या, एक सप्ताहमें स्वराज्य हो जाता। असहयोग तो एक ऐसा मंत्र है कि उसके प्रयोगसे शासन-यंत्र-का अन्त हो जाना अनिवार्य है। पर भारतीय अपने कर्त्तव्यसे चूक गए, अन्यथा महात्मा गांधीका यह वचन कि साल-भरके अन्दर स्वराज्य हो जायगा—व्यर्थ न जाता। सारे सरकारी नौकर या तो असहयोग आंदो-लनसे तटस्थ रहे अथवा उसके शत्रु बन बैठे। गरीब किसानों और मज-दूरोंकी सेना जब सत्याग्रह-संग्राममें अपने जीवनका बलिदान चढ़ानेको आगे बढ़ी, उसी समय 'चौरीचौरा'में हत्याकाण्ड हो गया। सन्तप्त होकर सेनापतिने सत्याग्रहको ही स्थगित कर दिया। अहिंसाके अग्रदूत-को ही विदेशी सरकारने गिरफ्तार करके छः सालके लिए जेलमें ठेल दिया। इसके बाद सत्याग्रहकी स्थितिकी जाँचके लिए एक कमेटी बैठी, जिसकी रिपोर्टसे सिपाहियोंका हौसला टूट गया—निराशा छूट गई। सेना-नायकोंमें मतभेद हो गया। गयामें कांग्रेसकी युद्ध-नीतिका श्राद्ध होगया।

बम्बईसे विदा होते समय मेरे मुँहसे सहसा निकल पड़ा—"हे ईश्वर हमारे देशको गांधी जैसा तपस्वी तो तूने दिया, पर लेनिन जैसा क्रान्ति-कारी, डीवेलरा जैसा वीर और कमाल अतातुर्क जैसा राष्ट्रपति और देकर इसका उद्धार कर दे।"

: २२ :

नेटालमें नई बलाएँ

नेटाल लौटकर देखा कि यहाँकी हालत दिन-पर-दिन खराब होती जाती है और हिन्दुस्थानियोंकी हस्ती मिटानेके लिए नये-से-नये कानूनी हथियार तैयार किये जा रहे हैं। स्वेच्छापूर्वक प्रत्यागमन (Voluntary Repatriation) का काम बहुत ढीला पड़ गया था; इसलिए विदेश-बसेराकी योजना (Colonization Scheme) ढूँढ निकाली गई। इस योजनाको कार्यान्वित करनेके लिए ब्रिटिश गायना चुना गया। कुछ भारतीय विभीषण भी सरकारसे जा मिले और अपने भाइयोंका गला घोटनेके लिए उतारू हो गए। इसके बदलेमें उनको चाँदीके कुछ टुकड़े मिलनेकी आशा थी। मैं तो प्रत्यागमन-योजनाके दुष्परिणामसे ही परेशान था, अतएव अब विदेश-बसेरेके रूपमें उसकी नई आवृत्तिकी बात सुनकर तो और भी हैरान हो उठा। इस विषयपर विचार करनेके लिए डरबनमें जो सार्वजनिक सभा हुई थी, वह जनताके जोश और रोषका प्रत्यक्ष प्रदर्शन था। मेरे जैसे प्रत्यागमन और विदेश-बसेरेकी योजनाओंके वैरीको सभापतिके आसनपर बैठाना ही जनताको उचित जँचा। इस योजनाके सम्बन्धमें प्रवासी भारतीयोंकी प्रतिक्रियासे परिचित होनेके लिए सरकारके प्रतिनिधि भी सभामें पधारे थे। एक प्रस्ताव द्वारा यह स्पष्ट घोषणा कर दी गई कि नेटालके प्रवासी भारतीय विदेश-बसेरेकी योजनाको किसी भी हालतमें स्वीकार करनेको तैयार नहीं हैं। यदि उनकी इच्छाके विरुद्ध इस योजनाको कार्यान्वित करने की कोशिश की.

गई तो उसके विरोधमें वे अपनी सारी शक्ति लगा देंगे। जिन भारतीय विभीषणोंने अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी दृष्टिसे सरकारकी इस योजनाका समर्थन किया था, उनपर भरी सभामें धिक्कारोंकी ऐसी बौछार पड़ी कि उनको मुँह दिखलाना तक मुश्किल हो गया और फिर कभी जन-सभामें उनकी सूरत नहीं दिखाई पड़ी। इस सभामें उस योजनाका जनाजा ही निकल गया।

मताधिकारपर प्रहार

पर इससे क्या ? सरकारके अस्त्रागारमें हथियारोंकी कमी कहाँ ? प्रवासी भारतीयोंपर कानूनी कुठार चलाना तो यूनियन-सरकारका सनातन धर्म ही ठहरा। सन् १६२४में नेटालके प्रवासी भाइयोंपर ऐसा क्रूर प्रहार हुआ कि उनका बचा-खुचा अधिकार भी जाता रहा। सन् १८६६में ही उनका पार्लमेण्टरी मताधिकार छीन लिया गया था और इसका कारण यह बतलाया गया था कि जिस देशके निवासियोंको अपने देशमें ही स्वराज्य प्राप्त नहीं है और शासन-व्यवस्थामें मत देनेका अधिकार नहीं है, उनको नेटालमें भी पार्लमेण्टरी मताधिकारसे वंचित रहना पड़ेगा। भारतके निरंकुश और स्वेच्छाचारी विदेशी शासनका फल नेटालके प्रवासी भारतीयोंको भोगना पड़ा। वे अपने देशकी दासता और परवशतापर आहें भरकर और मन मसोसकर रह गए। पर अबतक उनका म्युनिसिपल मताधिकार सुरक्षित था, वे पिछले चौंसठ सालसे यह अधिकार भोग रहे थे। इस साल उसपर भी चौका फिर गया। डरबनकी ढाई लाखकी आबादीमें करीब नव्वे हजार भारतीय हैं। उनसे म्युनिसिपल टैक्स वसूल करनेमें कोई रिआयत नहीं की जाती है, श्वेताङ्गोंकी भाँति उनको भी टैक्स देना पड़ता है, पर उसकी व्यवस्थामें भारतीयोंको कुछ कहनेका अख्तियार नहीं रहा। संसारका यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि 'मताधिकारके विना मालगुजारी नहीं' (No taxation without representation) पर दक्षिण अफ्रिकाके श्वेताङ्गोंने 'तीन लोकसे मथुरा न्यारी'की कहावतको चरितार्थ कर दिखाया। एक कानून बनाकर

भारतीयोंका म्युनिसिपल मताधिकार हड़प लिया गया और 'कर भरो पर चूं मत करो'की नीति अमलमें लाई गई। इस कानूनसे नेटालके भारतीय सर्वथा मूक और वाचा-विहीन बना दिये गए।

पृथक्करण-विधान

इस ताजे घावपर यूनियन-सरकारके तत्कालीन आन्तरिक-मंत्री (Minister of Interior) श्रीपेट्रिक डङ्कनने 'क्लास एरियाज़ बिल' (Class Areas Bill) नामक एक कानूनी मसविदा यूनियन पार्लमेण्टमें पेश करके बिच्छूकी तरह ऐसा डङ्क मारा कि प्रवासी हिन्दुस्थानी मर्माहत हो उठे—देश-भरमें हाहाकार मच गया। इस बिलका उद्देश्य यह था कि नेटालमें सभी वर्गके व्यक्तियोंके लिए अलग-अलग क्षेत्र निर्धारित कर दिया जाय; एक वर्गके व्यक्ति दूसरे वर्गकी बस्तीमें न बसने पावें। इसका साफ मतलब यह था कि जो भारतीय गौराङ्गोंके मुहल्लेमें जा बसे हैं, उनको वहाँसे निकाल बाहर किया जाय और हिन्दुस्थानके अछूतोंकी भाँति नेटालमें भारतीयोंकी बस्तियाँ अलग बसाई जायं।

इस आफतके सामने भारतीयोंसे म्युनिसिपल मताधिकार छीने जानेकी दुर्घटना फीकी पड़ गई। इस बिलसे उनके सामने जिन्दगी और मौतका सवाल आ गया। उन्होंने इस नई मुसीबतका मुकाबला करनेका मनसूबा बाँधा। मुझे सारे नेटालका दौरा करना पड़ा। नेटालके सभी शहरों और कस्बोंमें सभाएँ हुईं, जिनमें जनताको इस खतरेसे आगाह किया गया, उन दिनों अर्द्ध-रात्रिके बाद दो-तीन घण्टेसे अधिक सोनेका समय मुझे नहीं मिलता था। एक ओर तो 'हिन्दी'का सम्पादन एवं संचालन ; दूसरी ओर प्रान्तका पर्यटन और सभाओंमें दो-दो घण्टे भाषण। ऐसी दशामें विश्रामके लिए अवकाश कहाँ ?

दक्षिण अफ्रिकाकी सरकारकी इस अन्याय-मूलक नीति एवं प्रवृत्तिसे हिन्दुस्थानमें भी बड़ा क्षोभ फैला। इण्डियन नेशनल कांग्रेस (भारतीय राष्ट्रीय महासभा) ने श्रीमती सरोजिनी देवी और पं० बनारसी-

दास चतुर्वेदी को पूर्वीय और दक्षिणीय अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंकी दशा की जाँच करनेके लिए प्रतिनिधि चुना। चतुर्वेदीजी तो केनिया, यूगाण्डा, जंजीबार और टंगेनिक्यामें ही अटक गए—पूर्वी अफ्रिकासे आगे न बढ़ने पाये। उनकी देहाती धोती, ग्रामीण मिरजई, गांधी टोपी, देशी पनही और लोटा-डोरकी गठरी दक्षिण अफ्रिकाके मार्गमें बाधक बन गई। चौबेजीको पूर्व अफ्रिकामें ही छोड़कर देवीजी स्वयं दक्षिण अफ्रिका पहुँच गई। महात्मा गांधीने भी उनको देश लौट आनेकी सलाह दी। चतुर्वेदीजी दक्षिण अफ्रिकाके पर्यटनसे वंचित रह गए और वहाँके प्रवासी भाई चतुर्वेदीजीके दर्शनसे। विस्मयकी बात तो यही है कि देवीजीके संसर्गसे भी उनके 'चौबेपन'में कोई अन्तर न आया और उन्होंने विलायती रोटी-मास्खन की जगह मथुराके पेड़ेको ही अधिक स्वादिष्ट समझा। मैं चतुर्वेदीजीके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहा था, इसलिए मुझे इस बातसे बड़ी निराशा हुई कि वह पूर्वी अफ्रिकासे ही स्वदेश लौट गए।

हिन्दुस्थानकी कोकिलाकी कूक

श्रीमती सरोजिनी देवी वहाँ ऐन मौकेपर पहुँच गईं। उनका आगमन प्रवासी भारतीयोंके लिए भगवान्‌का वरदान बन गया। भारत-कोकिलाकी कूकसे दक्षिण अफ्रिकाका नन्दन-वन गूँज उठा। जो गौराङ्ग हिन्दुस्थानको केवल कुली-कबाड़ियोंकी जननी समझ रहे थे, उनके नयन-कपाट खुल गए। भारतमें भी ऐसी प्रखर प्रतिभाशालिनी कवयित्री और वाग्मी महिला हो सकती हैं,यह उनकी कल्पनासे भी बाहरकी बात थी। दक्षिण अफ्रिकाकी सीमापर पहुँचते ही जब एक अंग्रेज पत्रकारने देवीजीसे कहा कि जनरल स्मट्स एक जबर्दस्त व्यक्ति हैं तो उसको तत्क्षण जवाब मिला, "मैं भी एक ऐसी शक्ति हूँ जिसके साथ चालीस करोड़ भारतवासी हैं। यदि उचित जँचेगा तो भारत ब्रिटिश राष्ट्र-संघमें रहेगा और यदि आवश्यकता हुई तो वह उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेगा। इसका निर्णय करना है जनरल स्मट्स और उनकी सरकारको।

दक्षिण अफ्रिका-प्रवासी भारतीयोंकी समस्यापर ही ब्रिटिश साम्राज्यका भविष्य निर्भर है।"

डरबन पधारनेपर देवीजीसे मेरी बड़ी घनिष्टता और मित्रता होगई। मुझे वह स्नेहकी दृष्टिसे देखती थीं और मैं उनको श्रद्धाकी दृष्टिसे। उस समय जो स्नेह-सूत्र बँधा, वह कभी ढीला न हुआ, और भी दृढ़ होता गया। मैंने देवीजीको वहाँके किसानों और मजदूरोंकी समस्याएँ समझानेके लिए विशेष रूपसे प्रेरणा की और उन्हें भी इस प्रश्नमें बड़ी दिलचस्पी हो गई। एक दिन जेकब्समें मैंने उनको एक विलक्षण भोज भी दिया था, वह भोज उनको सदा स्मरण रहेगा। बम्बईके ताजमहल होटलमें रहने वाली और नाना प्रकारके देशी-विदेशी पकवान खाने वाली देवी सरोजिनी जब मेरा आमंत्रण स्वीकार कर जेकब्समें खाने बैठीं तो उनके सामने सबसे पहले मकईकी नमकीन लपसीकी थाली आई। चखकर उन्होंने पूछा, "यह क्या है ?" मैंने बतलाया, "यही यहाँके किसानों और मजदूरोंका कलेवा है।" फिर दूसरी थाली आई, जिसमें मोटे चावलका भात, सोयाबीनकी दाल और लाल मिर्चकी चटनी थी। "यही प्रवासी किसानों और मजदूरोंके मध्याह्नका भोजन है," कहकर मैंने थाली उनके सामने सरका दी। तीसरी और अंतिम थाली आई, उसमें था—मकईका मोटा लिट्ट और घी भुनी हुई जंगली भाजी। उस लिट्टको उन्होंने छुरीसे टुकड़ा काटकर खानेकी कोशिश की। ऐसा निराला खाना भला वह क्या खा सकती थीं, किसी तरह ठेल-ठालकर दो-चार ग्रास उन्होंने गलेके नीचे उतार लिये।

भोजनके बाद देवीजीने भाषण देते हुए कहा कि "मैं दुनियाके सभी बड़े-बड़े मुल्कोंमें जाचुकी हूँ और नाना प्रकारके पकवान खा चुकी हूँ, उनमेंसे बहुत कम भोजोंकी याद रह गई है, पर आजका यह भोज मुझे कभी न भूलेगा; मेरे दिलमें हमेशा यह ताजा बना रहेगा।" फिर वे मेरी तरफ मुखातिब होकर बोलीं, "यहाँके गरीब प्रवासी किसानों और मजदूरोंको खाने-पीनेकी तकलीफ तो जरूर है, पर हमारे देशमें तो करोड़ों

आदमियोंको ऐसा खाना भी मयस्सर नहीं होता।''

देवीजी भारतकी आदर्श दुहिता हैं, उनकी वाणी बड़ी बलवती है। जब वे व्याख्यान-मंचपर खड़ी होकर कोकिलाकी तरह चहकने लगतीं तो जहाँ प्रवासी भारतीयोंके मस्तक गर्व और गौरवसे उठ जाते वहाँ गोरे दाँतों तले उँगली दबाकर दङ्ग रह जाते। पीटर मेरिस्सबर्गके सिटी हॉलमें कुछ बदमाश गोरोंने हुल्लड़ मचाने और सभाके काममें बाधा पहुँचानेकी चेष्टा की थी, पर देवीजीका भाषण आरंभ होते ही उनकी सब सिट्टी गुम गई। देवीजीने उनके अशिष्ट व्यवहारपर ऐसी चुटकी ली कि शर्मसे उनके सिर झुक गए और किसीने फिर चूँ तक करनेका साहस न किया।

देवी सरोजिनीके शुभागमनसे पुराने ढर्रेके प्रवासी भारतीयोंके विचारोंमें भी परिवर्तन हुए बिना न रहा। जो बेचारे अपने गाँवसे बाहर निकलकर शहरकी सीमामें प्रवेश करते ही आरकाटियोंके जालमें फँस गए थे और गिरमिटका पट्टा लिखाकर नेटालमें आ पहुँचे थे उनको भारतकी परिस्थिति और प्रगतिकी भला क्या खबर? उनके लिए तो उनका गाँव ही हिन्दुस्थान था और उनके गाँवमें जो अच्छी-बुरी रूढ़ियाँ प्रचलित थीं, उनको ही वे भारतकी रीति एवं संस्कृति समझ बैठे थे। वे नेटालमें बैठकर जन्म-प्रवासियोंके सामने हिन्दुस्थानके नामपर अपने गाँवकी गाथा गाते और बड़े फख्रसे फरमाते कि देशमें तो कन्याओंको पढ़ाना-लिखाना वर्जित है, उनको पढ़ाना मानो पापका पथ दिखाना है। पर देवी सरोजिनीको देखकर और उनके भाषणको सुनकर पुरानी रूढ़ियोंके पुजारियोंको अपनी अज्ञानताका पता लग गया। प्रवासी महिलाओंको तो एक नया संदेश मिला, प्रगति-पथपर आगे बढ़नेकी प्रेरणा मिली और मिल गई आत्म-विश्वासकी कुञ्जी।

दैवयोगसे उसी समय यूनियन-पार्लमेन्टके एक पुनर्निर्वाचनमें जनरल स्मट्सके दलके उम्मीदवारकी करारी हार हुई।। इससे खिन्न होकर स्मट्सने पार्लमेण्ट ही भङ्ग कर दी और नवीन निर्वाचनकी

घोषणा। उसके साथ ही 'क्लास एरियाज बिल'का भी अन्त आ गया। प्रवासी भारतीयोंको कुछ कालके लिए भारी बलासे छुट्टी मिली और देवी सरोजिनीका परिश्रम भी सार्थक हुआ। उनके उद्देश्यकी पूर्ति हो गई और वह अपने मिशनमें सफल होकर भारत लौटीं।

: २३ :

दक्षिण अफ्रिकामें दयानन्द शताब्दी

उन्हीं दिनों ऋषि दयानन्दकी जन्म-शताब्दी आगई। यह कहना ऐतिहासिक सत्यकी ही पुनरावृत्ति करना है कि ऋषि दयानन्द एक नवीन युगके निर्माता थे। उन्होंने भारतमें वेदोक्त धर्म एवं आर्य-संस्कृति-का प्रचार किया और आर्यजातिका पुनरुद्धार। अतएव उनकी पुण्य-स्मृतिमें श्रद्धाञ्जलि अर्पित करनेके लिए भारतके आर्योंने ऋषिकी शिक्षा-भूमि मथुरामें जन्म-शताब्दी-महोत्सव मनानेका संकल्प किया। दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भाई भी इस अवसरको क्यों हाथसे जाने देते? ऋषि-के भक्तोंने ही वहाँ भारतीयताकी रक्षा की है। उस समय तक वहाँ वैदिक धर्मका इतना प्रचार हो चुका था कि आर्यसमाजके प्रति वैर-विरोधकी भावना मिट गई थी। जहाँ पहले सनातन धर्मके रक्षक लट्ठ लेकर सभाओंमें मेरी मरम्मत करनेके लिए जुटते थे, वहाँ अब वे मान-पत्र एवं पुष्प हारसे मेरा स्वागत-सत्कार करने लगे थे।

आर्य-युवक सभा और आर्य-अनाथाश्रम

मैंने अपने 'हिन्दी' अखबारमें लगातार लेख लिखकर दयानन्द शताब्दीकी ओर जनताका ध्यान खींचा। डरबनकी आर्य-युवक सभा कार्य-क्षेत्रमें अग्रसर हुई। डरबनमें आर्य-समाजकी कमीकी पूर्ति सन् १९१२से ही यह सभा कर रही थी। इसने युवकोंमें विशेष रूपसे वैदिक धर्मका प्रचार किया और उनको विधर्मियोंके जालमें फँसनेसे बचाया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सभा वहाँके आर्योंका एक कीर्ति-स्तम्भ

है। इसने डरबनके मेविल मुहल्लेमें एक आर्य-अनाथाश्रमकी स्थापना भी की है, जिसका उद्घाटन सन् १९२१में मेरे ही हाथोंसे हुआ था। इस आश्रममें जहाँ एक ओर अनाथ बालक-बालिकाओंका रक्षण-पोषण होता है वहाँ दूसरी ओर अनाश्रित वृद्ध, अपङ्ग और रोगियोंका पालन एवं चिकित्सा भी। आश्रितोंके सम्बन्धमें न वर्णका भेद माना जाता है और न धर्मका। मानवताकी दृष्टिसे सबकी सेवा और रक्षा की जाती है, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, पारसी हो या कृस्तान। इसलिए इस आश्रमके प्रति सभी वर्ग और धर्मके भारतीयोंकी सहानुभूति है और सबसे आर्थिक सहायता मिलती रही है। सरकारने भी समय-समयपर आर्थिक सहायता देकर कार्यकर्त्ताओंका उत्साह बढ़ाया है। सभाके अधीन एक इमदादी स्कूल भी है।

शताब्दी-समिति

इसी आर्य-युवक सभाकी ओरसे १९२४की दूसरी नवम्बरको हिन्दुओं-की एक सार्वजनिक सभा डरबनमें हुई, जिसमें यह निश्चय हुआ कि दक्षिण अफ्रिकामें भी ऋषि दयानन्दकी जन्म-शताब्दी मनाई जाय और इस कार्यको सुचारु रूपसे संचालित करनेके लिए एक स्वतन्त्र-समिति बनाई जाय। इस निश्चयके अनुसार 'दक्षिण अफ्रिकाकी ऋषि दयानन्द-शताब्दी-महोत्सव-समिति' (Rishi Dayanand Centenary Celebration Committee of South Africa)की स्थापना हुई, जिसके सभापतित्वका भार मुझपर ही आ पड़ा। मैंने अपने 'हिन्दी'पत्र-के द्वारा इस महोत्सवको लोकप्रिय बनानेकी चेष्टा की और मुझे सन्तोष है कि मेरा परिश्रम निष्फल नहीं गया।

यह महोत्सव सन् १९२५में १६ से २२ फरवरी तक डरबन नगरमें मनाया गया। एक सप्ताह तक बृहद् वैदिक यज्ञ हुआ। नेटालमें उससे पहले वैसा यज्ञ कभी नहीं हुआ था। व्याख्यान और भजन हुए, जुलूस निकले, स्त्रियोंकी गोष्ठी हुई, बच्चोंका मेला लगा। सप्ताह-भर शताब्दी महोत्सवकी धूम मची रही। इस अवसरपर साधु सी. एफ. एंड्रूजने

पं० बनारसीदास चतुर्वेदीके द्वारा मथुराके शताब्दी-महोत्सवपर और दक्षिण अफ्रिका-प्रवासी भारतीयोंके नामसे जो संदेश भेजा था वह आर्य-समाजके इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें अंकित रहेगा। उसका हिन्दी-अनुवाद हम यहाँ देते हैं—

सन्तका सन्देश

"विदेशोंमें प्रवासी भारतीयोंके कल्याणके लिए आर्यसमाज जो-कुछ कर रहा है उससे मेरे हृदयपर गहरा प्रभाव पड़ा है। आर्यसमाज ही एक ऐसी संस्था है, जो मातृ-भूमि भारत की, राष्ट्र-भाषा हिन्दीकी और पुरातन आर्य-संस्कृतिकी रक्षापर विशेष ध्यान रखती है। केनिया और जंजीबार, यूगाण्डा और टंगेनिक्या, रोडेसिया और दक्षिण अफ्रिका, फीजी और मारीशस, सिंगापुर और मलाया प्रभृति सभी प्रदेशोंमें आर्य-समाज-द्वारा भारतीय संस्कृतिकी रक्षा हुई है। कई वर्षोंसे अखबारोंमें लेख लिखकर मैंने यह तथ्य प्रकट करनेकी चेष्टा की है। इन लेखोंका मैंने हिन्दी तथा भारतकी अन्य भाषाओंमें अनुवाद कराके प्रकाशित कराया है ताकि केवल अंग्रेजीके पाठक ही नहीं बल्कि सारी जनता इस बातसे परिचित हो जाय। आर्यसमाजने सबसे महत्त्वका जो काम किया है वह है शिक्षा-प्रचारका काम। मैंने आर्यसमाज द्वारा स्थापित और संचालित बालकों और कन्याओंकी पाठशालाओं, स्त्रियोंकी शिक्षा-श्रेणियों और पुरुषोंकी गोष्ठियोंको देखा है। इन संस्थाओंका कार्य सुचारु रूपसे चल रहा है और वे प्रगतिशील हैं। आर्यसमाजमें जीवन है, शक्ति है और है उत्साह; अतएव मुझे विश्वास है कि उसका भविष्य आशा-प्रद है। जिस बातपर मैं सबसे अधिक जोर देता आया हूँ वह है अफ्रिका-के आदिम निवासियोंमें शिक्षाका प्रचार और मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि मेरे पिछली बार अफ्रिकासे लौट आनेपर आर्यसमाज-ने पूर्वी अफ्रिकाके आदिम निवासियोंमें शिक्षाका कार्य बड़ी मुस्तैदीसे आरंभ कर दिया है। दक्षिण अफ्रिकामें पं० भवानीदयाल और उनकी पूजनीया पत्नी श्रीमती जगरानी देवीने जो कार्य किये हैं वह विशेष

उल्लेख-योग्य हैं। देवी जगरानीके निधनसे दक्षिण अफ्रिका-प्रवासी भारतीयोंकी बड़ी हानि हुई है ।

"मैं इस बातके लिए बहुत उत्सुक हूँ कि ऋषि दयानन्दकी शताब्दीकी मुख्य विशेषता यह होनी चाहिए कि उपनिवेशोंके प्रवासी भारतीयोंमें शिक्षा-प्रचारका विशेष प्रबन्ध हो। यदि संभव हुआ तो मैं स्वयं शताब्दी-महोत्सवमें उपस्थित होकर प्रवासी भारतीयोंकी तरफसे यह बतलाऊँगा कि उन्हें भारतीयोंकी सहायताकी कितनी आवश्यकता है। भारतके जो समाज प्रवासी भारतीयोंकी सेवा कर सकते हैं उनमें आर्यसमाजसे बढ़कर क्रियाशील शक्तिशाली और उत्साही दूसरा कोई नहीं है। मेरा विश्वास है कि शताब्दी-महोत्सवमें इस कार्यके लिए विशेष आयोजनका प्रबन्ध किया जायगा और देश-भक्त तरुण इस महत्कार्यके लिए अपनी सेवा समर्पित करेंगे।"

नेटालमें आर्यप्रतिनिधि सभा

महोत्सवके अन्तमें शिवरात्रिके पवित्र दिन नेटालमें आर्य प्रतिनिधि सभाकी स्थापना हुई। नेटालकी अनेक सभा-समितियोंके प्रतिनिधियोंने इसका स्थापनामें योग दिया था। मुझको ही आर्य प्रतिनिधि सभाका प्रथम प्रधान चुना गया, जिससे मेरा उत्तरदायित्व और कार्य-भार बहुत बढ़ गया। मैंने प्रतिनिधि सभाको लोक-प्रिय बनानेका पूर्ण उद्योग किया और इसमें मुझे बहुत कुछ सफलता भी हुई। इसी साल सभाकी ओरसे लेडीस्मिथ नगरमें मेरी ही अध्यक्षतामें एक वैदिक परिषद् भी हुई, जिसमें लगभग एक हजार नर-नारियोंने भाग लिया था। स्वल्प-कालमें आर्य प्रतिनिधि सभा एक जीवित, जाग्रत और प्रतिष्ठित संस्था बन गई। सरकारने भी उसकी महत्ता मंजूर कर ली और उसके मनोनीत उपदेशकोंको नेटालके भिन्न-भिन्न जेलखानों तथा पीटर मेरित्सबर्गके पागलखानेमें ईसाई पादरियोंकी भाँति रविवारको वैदिक धर्मका प्रचार करनेकी इजाजत मिल गई। फाँसीपर लटकानेसे पहले हिन्दू कैदियोंको धर्मोपदेश देनेके लिए जेलके कर्मचारियोंकी तरफसे प्रतिनिधि सभाके प्रचारकोंको

बुलाया जाने लगा। 'हिन्दी' द्वारा सभाके कार्योंका निरन्तर प्रचार होता रहा।

मेरा धर्म

यहाँ मैं यह स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि 'भगवान्'के बाद 'हिन्दुस्थान' ही मेरा सर्वस्व है। यही मेरी मातृ-भूमि है, यही मेरी पितृ-भूमि है। इसीकी मैं पूजा करता हूँ और इसीकी आराधना। भारतकी सेवा मेरा कर्म है, भारतकी भक्ति मेरा धर्म। मैं इसीके लिए जीना चाहता हूँ और इसीकी लिए मरना भी। आर्यसमाजपर इसलिए मेरा अनुराग है कि वह भारतके पुरातन धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृतिका रक्षक और प्रचारक है। उससे मुझे केवल आध्यात्मिक प्रेरणा ही नहीं मिली है बल्कि भारतसे स्नेह करनेकी शिक्षा भी। मैं हजरत ईसा और पैगम्बर मुहम्मदको आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ और उनके प्रति अशिष्ट व्यवहारको बरदाश्त नहीं कर सकता। एक बार बिहारके आरा शहरमें हिन्दुओंकी एक विशाल सभाका मैं सभापतित्व कर रहा था। उन दिनों देश-भरमें हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे थे। उधर हिन्दुओंको गालियाँ बकना मतान्ध मुसलमानोंका मजहब बन गया था, इधर कांग्रेसको कोसना और मुसलमानोंको भला-बुरा कहना हिन्दुओंका धर्म। ऐसी स्थितिमें जब एक 'आर्य मुसाफिर' भाषण देनेको खड़े हुए तो हिन्दुओंने तालियाँ पीट-पीटकर खुशीका इजहार किया। पर जब वक्ता महोदयने मुहम्मद साहबके व्यक्तित्वपर हमला किया तो मैं शान्त न रह सका और सभापतिकी हैसियतसे उनको आगे बढ़नेसे रोक दिया। इसपर सारी सभा बिगड़ पड़ी और मुझपर धिक्कारोंकी बौछार होने लगी। कुछ लोग मुझे सभापतिके आसनसे हटा देना चाहते थे, पर मैं अपनी बातपर डटा रहा। आखिर वक्ता महोदयके यह वायदा करनेपर कि मुहम्मद साहबकी शानके खिलाफ वह फिर कुछ न कहेंगे, सभाकी कार्रवाई आगे बढ़ने पाई।

मुस्लिम-मतान्धता

आर्यसमाजी होते हुए भी मुझे खण्डनकी खँजड़ी बजाना पसन्द नहीं। किसीका दिल दुखानेके खयालसे कोई बात कहना मैं अपराध समझता हूँ। पर उन दिनों एक ऐसी बात हो गई, जिससे कुछ चालबाजोंको मुसलमानोंमें भ्रान्ति फैलानेका अवसर मिल गया। मैं अपने 'हिन्दी' पत्रमें हास्यरसकी एक लेख-माला लिख रहा था, उसके एक परिच्छेदमें मैंने देशकी दुर्गतिका दिग्दर्शन कराते हुए लिख दिया कि 'जो द्रव्य बीबी फातमाके नचानेमें सार्थक हो सकता है उसे खुरदरा खद्दर खरीदनेमें खर्च करना कहाँकी बुद्धिमानी है?' बस, इसी बातपर विरोधका बवंडर उठ पड़ा और मतांध मुसलमानोंको बहकाने और उभारनेकी कोशिश होने लगी। कहा जाने लगा कि मैंने पैगम्बरकी पुत्रीके चरित्रपर हमला किया है। मुस्लिम अखबार 'इंडियन व्यूज' (Indian Views) ने तो इस आन्दोलनका नेतृत्व ही ग्रहण कर लिया और लेख लिख-लिखकर मुझे कोसने और मुसलमानोंको भड़कानेमें कोई बात उठा न रखी। एक लम्बे अग्रलेखमें कहा गया,—"पंडितजीकी विद्वत्ताके प्रति हमारे हृदयमें आदर था। हम यह सोचकर प्रसन्न हो रहे थे कि ऐसे विद्वान् व्यक्तिका अखबार भी विचारपूर्ण होगा और शान्ति-पूर्ण नीतिका अवलम्बन कर कौमको लाभ पहुँचावेगा, लेकिन हाय री आशा?

अरब समझे थे हम जिसको वो कम सरपटका खच्चर था।
जिसे शायस्तगी समझे थे आखिर कुरकुरी निकली॥

यह तो एक नमूना-मात्र है। इसी प्रकारके विषाक्त मसालेसे मुसलमानोंके मगज फिरा दिये गए। मैं सफाई देता ही रहा कि भाई साहब, देशमें आज कितनी ही वेश्याओंके नाम सीता, सावित्री और फातमा हैं तथा कितने ही भँडुओंके नाम राम, कृष्ण और मुहम्मद हैं। इसलिए कहाँ पैगम्बरकी पुत्री फातमा और कहाँ यह नाचने-गाने वाली फातमा? मेरा लेख तो भारतकी वर्तमान स्थितिका निर्देशक है, उसे पुराने जमानेके

पैगम्बरकी पुत्रीपर घटाना जहाँ अपनी नादानीका डंका बजाना है वहाँ उस स्वर्गीया आत्माका भी अपमान करना है। सच बात तो यह थी कि विहारमें मेरे एक रिश्तेदारके विवाहमें नाचनेके लिए जो वेश्या आई थी उसका नाम फातमा था। इसलिए लेख लिखते समय वही नाम मुझे याद आ गया था। मेरी सफाईका कुछ फल न हुआ। जो समझना ही नहीं चाहता उसे कोई क्या समझा सकता है। मतांध मुसलमान मेरे खूनके प्यासे बन गए।

वस्तुतः इस आन्दोलनकी तहमें राजनीतिक दलबंदीकी भावना थी। मुसलमानोंका एक दल नेटाल इंडियन कांग्रेसका विरोधी बन बैठा था और काँग्रेसका नम्र सेवक एवं प्रबल समर्थक होनेकी वजहसे मैं उनकी निगाहमें बुरी तरह खटक रहा था। पर असली कारण बतलाने-पर शायद ही मुझपर हमला करनेके लिए कोई तैयार होता। इसलिए मजहबका सहारा लिया गया और मूर्ख एवं मतान्ध मुसलमानोंको भड़-कानेके लिए 'हिन्दी'का मेरा लेख अच्छा साधन बन गया। एक दिन मैं बाल कटानेके लिए एक मुसलमान हज्जामकी दूकानमें गया। वहाँ चार-पाँच मुसलमान बैठे हुए मेरी ही चर्चा कर रहे थे और मुझे भद्दी-से-भद्दी गालियाँ दे रहे थे। खैरियत यही हुई कि उनमेंसे कोई मुझे पहचानता न था अन्यथा उनका क्रोध ऐसा भड़क उठा था कि मेरी मरम्मत हुए बिना न रहती।

पठानका हमला

यद्यपि इस आन्दोलनके अग्रनेता गुजराती मुसलमान थे, पर मुझपर हमला करनेके लिए 'गरीबुल्ला खाँ' नामक पठानको तैयार किया गया। एक दिन मैं विक्टोरिया स्ट्रीटमें जा रहा था। डरबनकी इस सड़कपर अबकी-सी उन दिनों भीड़ न होती थी। पहर-भर दिन चढ़ चुका था, पर सड़क सुनसान दिखाई पड़ती थी। अचानक एक बरामदेके खंभेकी आड़से एक हट्टा-कट्टा जवान निकलकर फुट-पाथपर मेरे सामने आ खड़ा हुआ। उसके शरीरपर अंग्रेजी पोशाक थी और सिरपर अंग्रेजी टोपी।

वेशसे न वह मुसलमान मालूम पड़ता था, न पठान। उसका चेहरा क्रोधसे तमतमा रहा था और आँखोंमें खून उतर आया था। "तू ही इस्लामका दुश्मन भवानीदयाल है ?" उसने डपटकर पूछा।

"हाँ, यह नाम तो मेरा ही है; लेकिन मैं इस्लाम तो क्या दुनियाके किसी भी मजहबसे दुश्मनी नहीं रखता," मैंने दिलेरीसे जवाब दिया। पर मेरी बात पूरी भी न होने पाई थी कि उसने कूदकर मेरे बायें गाल पर वज्र-सा तमाचा जमाया। मेरी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया और मैं तिलमिलाकर धरतीपर गिर पड़ा। पठानने पाकेटसे पिस्तौल निकाली। मुझे ईसा-मसीहकी वह बात याद हो आई कि जो तेरे बायें गालपर थप्पड़ मारे—तू दायाँ भी उसकी ओर फेर दे। मैं झटपट उठ पड़ा, पठानका हाथ पकड़ लिया और धीर-गंभीर होकर बोला, "एक चपतसे तुम्हारी मुराद पूरी नहीं हो सकती। लो यह दाहिना गाल भी; और जितना चाहो चपत लगाओ।" इसके बाद मैंने कोट और कमीजके बटन खोलकर उसकी पिस्तौलके सामने छाती बढ़ाते हुए कहा, "लो मेरी खुली छाती, इसपर गोली मारकर अपने दिलका दाह बुझा लो।"

उस समय मुझमें एक दैवी शक्तिका संचार हो आया। मृत्युका भय जाता रहा, मैं वीरकी भाँति मरनेको तैयार हो गया। पर यह क्या ? उस पठानकी क्रूरता कहाँ गई ? उसकी विस्मयभरी दृष्टि मुझपर गड़ी हुई थी। वह अपराधीकी भाँति थर-थर काँप रहा था; उसकी सूरत बदल गई थी; क्रोधकी जगह लज्जाकी झलक थी और पाशविकताकी जगह मनुष्यताकी। "भाई साहब, मुझे मारनेसे अगर तुम्हारे मजहब और पैगम्बरकी कुछ भी खिदमत होती हो तो यह सवाब हाथसे मत जाने दो। जल्दी मेरा काम-तमाम करके अपना रास्ता देखो, अन्यथा कोई आ पहुँचेगा तो तुम नाहक ही आफतमें फँसोगे," कहते हुए मैंने उससे शीघ्र ही इस अभिनयका अन्त कर डालनेकी प्रार्थना की। अब तो उसका एक क्षण भी वहाँ ठहरना कठिन हो गया; वह पिण्ड छुड़ाकर भागा और एक गलीमें घुसकर गायब हो गया।

इस घटनासे डरबन शहरमें सनसनी फैल गई। हिन्दुओंमें ऐसा जोश उमड़ा कि वे बदला चुकानेपर उतारू हो गए। यदि मैं लोगोंको समझा-बुझाकर शान्त न करता तो हिन्दू-मुस्लिम दङ्गेकी नौबत आजाती। पुलिसने पठान गरीबुल्लाको गिरफ्तार कर लिया उसपर मार-पीटका जुर्म लगाया। पर जब मुझसे बयान माँगा गया तो मैंने गरीबुल्लाके खिलाफ बयान देनेसे इनकार कर दिया। मैं सत्याग्रहका प्रयोग कर उसको परास्त कर चुका था; अब अदालतकी शरणमें जाना और उसे दण्ड दिलाना मानो अपने ही सिद्धान्तका मजाक उड़ाना था। मेरे इस व्यवहार-से गरीबुल्लाको बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। जिस दिन मैं भारतको प्रस्थान कर रहा था, वह बन्दरगाहपर आकर मुझसे मिला। गैरतसे गड़कर गुस्ताखीके लिए बार-बार माँफी मागी। उसका कोई अपराध नहीं था, वह दूसरोंकी बातमें आकर मुझपर हमला कर बैठा था। इसलिए उसके प्रति मेरे हृदयमें द्वेष और रोष नहीं था।

पर विधिका विधान तो देखिये। सन् १९२७में रामनवमीकी पुण्य-तिथिपर भारतमें मैंने संन्यास ग्रहण किया, ठीक उसी दिन नेटालमें गरीबुल्लाका देहांत हो गया। उसे बड़ी बुरी बीमारी हो गई थी—शरीर सड़ गया था, उसमें कीड़े पड़ गए थे। उसके देहांतकी खबर पाकर मुझे दुःख हुए बिना न रहा। मैंने भगवान्से उसकी आत्माकी शान्तिके लिए प्रार्थना भी की थी।

: २४ :

विलायतके युवराज

सन् १९२५में 'विलायतके तत्कालीन युवराज—प्रिन्स ऑफ वेल्स' (बादके बादशाह अष्टम एडवर्ड और अबके ड्यूक ऑफ विन्डसर) दक्षिण अफ्रिकाके दौरेके सिलसिलेमें डरबन पधारने वाले थे। दक्षिण अफ्रिकाके शहरोंमें डरबन विशुद्ध अंग्रेजी शहर है। इसलिए अपने युवराजके शुभागमनके उपलक्ष्यमें अंग्रेज महोत्सव मनानेमें 'न भूतो न भविष्यति' की लोकोक्ति चरितार्थ कर दिखाना चाहते थे। उनके हृदयमें उत्साहका उदधि उमड़ रहा था, उनके मनमें आनन्दकी तरंगें लहरा रही थीं। महीनोंसे वे आगत-स्वागतकी तैयारीमें व्यस्त थे। नगरके म्युनिसिपल-कारपोरेशनने भी स्वागत-सत्कार की समुचित व्यवस्था करनेमें कोई कोर-कसर नहीं रखी थी। उसकी ओरसे सार्वजनिक स्वागत, प्रीति-भोज और नृत्योत्सवका विशेष आयोजन हुआ था। नेटाल इंडियन कांग्रेसको भी निमंत्रण मिला कि युवराजके सार्वजनिक स्वागत-समारोहमें पाँच भारतीय प्रतिनिधियोंको चुनकर भेजना चाहिए।

भारतीय कांग्रेसका असहयोग

इस बातपर विचार करनेकेलिए डरबनमें काका रुस्तमजीके मकानपर कांग्रेस कमेटीकी बैठक बैठी। इस मामलेमें कांग्रेस-कर्मियोंमें मतभेद हो गया। मैं इस पक्षमें था कि कारपोरेशनका आमंत्रण स्वीकार कर लेना चाहिए अन्यथा अंग्रेजोंमें भारतीयोंके प्रति दुर्भावना एवं कटुता फैले बिना न रहेगी, पर सोराबजी इसके विपक्षमें थे। उनकी दलील यह थी

कि यद्यपि हमें नगरके स्वागत-समारोह (Civic Reception) में सम्मिलित होनेका आमंत्रण मिला है, तो भी भारतीय होनेके कारण हमें नगर-भोज (Civic Dinner) और नगर-नृत्योत्सव (Civic Ball) में बहिष्कृत किया गया है। अतएव हमारे राष्ट्रीय मान एवं आत्म-सम्मानकी यह प्रेरणा है कि हमें कारपोरेशनका निमंत्रण नामंजूर कर देना चाहिए और सार्वजनिक स्वागत-समारोहमें भी शरीक नहीं होना चाहिए। यद्यपि भाई सोराबका कथन प्रामाणिक था और उनका दावा न्यायोचित, पर वर्ण-विद्वेषके उस दुर्गम दुर्गमें व्यावहारिक दृष्टिसे भारतीयोंके लिए सर्वथा अहितकर था।

सोराबजीमें संगठनकी अद्भुत शक्ति है। उन्होंने कॉंग्रेसकी उस बैठकमें अपने मतके समर्थकोंको जुटा लिया था। मुझे कोई खबर नहीं थी कि इस विषयपर बखेड़ा मचेगा। अतएव कमेटीकी बैठकसे पूर्व मैंने किसीसे इसकी चर्चा ही नहीं की थी और न किसीको अपने मतके अनुकूल बनानेकी चेष्टा ही। फिर भी जब वोट लिये गए तो मुझे यह देखकर विस्मय हुए बिना न रहा कि इतनी तैयारी करनेपर भी केवल एक वोटके बहुमतसे सोराबजीके विचारोंकी विजय हो पाई। यह कोई मामूली सवाल तो था नहीं, इस प्रस्तावके कार्यान्वित होनेपर नेटालके समग्र प्रवासी भारतीयोंका अहित होनेकी सम्भावना थी; इसलिए मैंने चुनौती दी कि इसका अन्तिम निर्णय कांग्रेसके अन्तर्गत सार्वजनिक सभामें होना चाहिए।

मेरी चुनौतीके अनुसार कांग्रेसकी ओरसे सार्वजनिक सभाकी आयोजना की गई। डरबनमें रावतका सिनेमा-हॉल प्रवासी भारतीयोंसे खचाखच भर गया। मैंने प्रस्ताव पेश किया कि डरबन कारपोरेशनने नगर-भोज और नगर-नृत्योत्सवमें भारतीय नागरिकोंको आमंत्रित न करके उनके नागरिक अधिकारोंकी जो अवहेलना की है उसका प्रचण्ड प्रतिवाद करते हुए भी भारतीयोंकी यह सभा केवल युवराजके लिहाजसे सार्वजनिक स्वागत-समारोहमें शरीक होनेका निमंत्रण स्वीकार करती है।

इस प्रस्तावके प्रतिकूल सोराबजीने संशोधन पेश किया कि चूँकि भारतीय नागरिकोंको नगर-भोज और नगर-नृत्योत्सवमें आमंत्रित न करके उनका तिरस्कार किया गया है अतः उसके विरोधमें यह सभा सार्वजनिक स्वागत-समारोहका आमंत्रण भी अस्वीकार करती है। प्रस्ताव और संशोधनपर उभय पक्षके वक्ताओंके भाषण हुए। जब जनताकी राय ली गई तो सोराबजीका संशोधन भारी बहुमतसे गिर गया। पर सोराबजी कहाँ हार माननेवाले? उन्होंने अपने संशोधनका रूप बदलकर फिर उसे पेश किया जो पूर्ववत् भारी बहुमतसे अस्वीकृत हो गया। इस प्रकार पाँच बार उनके संशोधनके रूप-रंग बदले, पर पाँचों बार जनताके दरबारमें उनकी पराजय हुई। उनके इस हठ एवं दुराग्रहसे मुझे इतनी व्यथा हुई कि मैं सभासे उठकर चला गया। तीन बजे सभा शुरू हुई थी और चार घण्टे तक माथा-पच्ची करनेके बाद सात बजे मैं वहाँसे चला गया। जिस समय मैं सभासे उठा, तबतक जनता भी थककर उठ चुकी थी, सिर्फ सोराबजीकी हाँ-में-हाँ मिलाने वाले पचास-साठ आदमी रह गए थे। मेरे चले जानेपर मैदान साफ हो गया, सोराबजीका संशोधित प्रस्ताव पास हो गया, फिर भी सर्वानुमतिसे नहीं—बहुमतसे ही।

दूसरे दिन सबेरे सोकर उठनेपर जब अंग्रेजोंके दैनिक अखबारपर मेरी दृष्टि पड़ी तो प्रवासी भारतीयोंके अनिष्टकी आशंकासे मैं प्रकम्पित हो उठा। उन अखबारोंके शीर्षक जहाँ निराधार, असत्य और भ्रमात्मक थे वहाँ अंग्रेजोंमें सनसनी, जोश और रोष पैदा करने वाले भी। शीर्षकोंमें यह स्पष्ट कहा गया था कि भारतीयोंकी कांग्रेसने युवराजका बहिष्कार करनेका निश्चय कर लिया है, यद्यपि यह बात नितान्त मिथ्या थी। कांग्रेसके प्रस्तावमें युवराजके बहिष्कारकी कोई बात नहीं थी, उसका आशय तो यह था कि चूँकि कारपोरेशनने नगर-भोज और नृत्योत्सवमें सम्मिलित होनेके नागरिक अधिकारसे भारतीयोंको वंचित कर दिया है इसलिए कांग्रेस सार्वजनिक स्वागत-समारोहमें सम्मिलित होनेके लिए कारपोरेशनके निमंत्रणको नामंजूर करना उचित समझती है।

बस, इसी बातपर अंग्रेज अखबारोंने ऐसा रंग चढ़ाया, शीर्षकोंमें ऐसा मिर्च-मसाला लगाया कि अंग्रेजोंका खून खौल उठा। उनमेंसे कुछ अंग्रेज तो अपने युवराजके अपमानपर जामेसे बाहर हो गए और उन्होंने अपने भारतीय नौकरोंको मौकूफ करके इसका बदला चुकाया।

कांग्रेसकी इस कार्रवाईसे मुझे बड़ा खेद हुआ और मैंने उसके उपसभापतित्वसे उसी दिन इस्तीफा दे दिया। मेरे साथ ही श्री बी०ए० मेघराज और एम० त्रिवेदी महाराज भी कांग्रेससे अलग हो गए। हमारे सम्बन्ध-विच्छेदकी भी अखबारोंमें बड़ी चर्चा हुई और 'नेटाल मरक्युरी'-ने तो अपने अग्रलेखमें यहाँतक लिख मारा कि इन व्यक्तियोंके पृथक् हो जानेसे कांग्रेसके प्रतिनिधित्वके दावेमें बट्टा लग गया है। यद्यपि प्रवासी भारतीयोंकी हित-दृष्टिसे कांग्रेसकी यह नीति मुझे पसंद नहीं आई और उससे मैं इस्तीफा देकर अलग हो गया, पर उसके निर्णयकी मैंने उपेक्षा नहीं की और सत्ताधिकारियों तथा कांग्रेस-विरोधियोंका सतत प्रयत्न करनेपर भी युवराजके स्वागत-समारोहमें भाग लेनेसे साफ इन्कार कर दिया।

पर भारतीयोंमें एकमत कहाँ? एक दूसरे को गिरानेके लिए तो हम हिन्दुस्थानसे हाथ धो बैठे। वैर और फूट भारतीयोंकी सर्वोपरि न्यामत है, चाहे वे देशमें हों या विदेशमें। डरबनके मेयरने कांग्रेससे नाराज होकर उन व्यक्तियोंको आमंत्रित किया, जो काँग्रेसमें मनोवांछित पद-प्रतिष्ठा न पा सकनेके कारण उसके विरोधी बन बैठे थे। वे युव-राजसे हाथ मिलानेका ऐसा अच्छा अवसर क्यों हाथसे जाने देते, मेयर-की सभी बातसे सहमत हो गए। उनको तो कांग्रेसको नीचा दिखाने और अपना महत्त्व बढ़ानेसे मतलब था, भारतीयोंकी राष्ट्रीय प्रतिष्ठासे नहीं। उनको दो-चार आदमी जहाँ सार्वजनिक स्वागत-समारोहमें उप-स्थित हुए, वहाँ कारपोरेशनके खर्चेसे उन्होंने एक अलग उत्सव भी कर डाला, जिसमें लगभग पचीस हजार हिन्दुस्थानी औरत-मर्द और बच्चे शरीक हुए थे। कांग्रेसकी नीति और प्रवृत्तिका क्या परिणाम होगा, यह

बात मैंने सोराबजी प्रभृति कांग्रेस-कर्मियोंको अच्छी तरह समझा दी थी और मेरी कही हुई बातें बिलकुल सत्य निकलीं। उस समय उनको मेरी राय और सलाह नहीं जँची, लेकिन जब मौका हाथसे निकल गया और विपक्षियोंने उससे लाभ उठाया तब उनको अपनी भूल मालूम हुई और वे सोचने लगे कि किस तरह राज-भक्तिकी घुड़दौड़में विरोधियोंका मुकाबला करना चाहिए।

राज-भक्तिमें होड़ा-होड़ी

मैं तो ब्रिटिश साम्राज्यको सदासे भारतीयोंके लिए अभिशाप मानता आया हूँ, अतएव उसके प्रतीक इङ्गलैण्डके बादशाह या युवराज अथवा उस राजघरानेके किसी भी व्यक्तिके प्रति भक्ति प्रकट करना मेरी दृष्टिमें मानो अपनी दास्य-मनोवृत्तिका प्रदर्शन करना है। जिस दिन डरबनमें युवराजके आगत-स्वागतकी धूम मची हुई थी उस दिन मैं जेकब्सकी अपनी झोंपड़ीमें बैठकर ईश्वरको याद कर रहा था—शान्तिका स्वाद ले रहा था। पर शेर-मर्द सोराबजी अब भीगी बिल्ली बनकर अंग्रेजोंको अपनी राज-निष्ठा दिखानेका उपाय ढूँढ़ रहे थे। इसमें सन्देह नहीं कि दक्षिण-अफ्रिकाके भारतीय नेताओंमें सोराबजी एक विलक्षण व्यक्ति हैं, साहस और उत्साहकी साक्षात मूर्ति हैं। उन्होंने विरोधियोंको अपनी शक्ति और प्रतिभा दिखानेके लिए बड़ी दौड़-धूप मचाई, पानीकी तरह पैसे बहाये और ऐसा दाव-पेंच लगाया कि जिस मार्गसे युवराज प्रवासी भारतीयोंके उत्सवमें जाने वाले थे, ऐन मौकेपर वह मार्ग ही बदल गया। सभीने आश्चर्यसे देखा कि युवराजकी मोटर भारतीयोंके जलसेमें आनेसे पूर्व फिल्ड स्ट्रीटमें सोराबजीके मकानके सामने पहुँचकर खड़ी हो गई। सोराबजीने युवराजके गलेमें पुष्प-माला पहनाई, सिरपर पगड़ी बाँधी और भारतीय ढंगसे स्वागत-सत्कार कर अपनी राज-निष्ठाका इजहार किया। इस प्रकार जहाँ अंग्रेजोंको सोराबजीकी राज-भक्तिका परिचय मिल गया वहाँ विरोधियोंको उनके पौरुष एवं प्रभावका भी।

उन्हीं दिनों कांग्रेस-विरोधियोंनेएक नई राजनीतिक सभा बनाली,

जिसका नाम था—'नेटाल इंडियन एसोसियेशन'। कांग्रेसकी ओरसे मेरी उदासीनता देखकर एसोसियेशनके अधिकारियोंने मुझे अपने मंडल-में मिलानेका सतत उद्योग किया, किन्तु उन्हें सफलता न हुई। मैंने 'हिन्दी'के अग्रलेखमें अपनी स्थितिका स्पष्टीकरण करते हुए साफ लिख दिया था कि यद्यपि मैं कांग्रेससे अलग हो गया हूँ "तथापि इसका यह मतलब निकालना भारी भूल है कि उसके प्रतिनिधित्वमें कोई अन्तर पड़ गया। कांग्रेस ही प्रवासी भारतीयोंकी एक-मात्र राजनीतिक सभा है और उसीकी छत्रच्छायामें रहनेपर उनका हित हो सकता है। कांग्रेससे विद्रोह करना अथवा उसकी शक्ति घटाना मानो अपने ही पैरोंपर कुल्हाड़ी चलाना है।

एक दिन अचानक मेरे दरवाजेपर एक मोटर-बस आ खड़ी हुई। उसमेंसे सोराबजीके नेतृत्वमें कोई एक दर्जन कांग्रेस-नेता उतरे। मैंने उनका यथोचित आदर-सत्कार किया। प्रवासी भारतीयोंकी सामयिक स्थितिपर खूब बातें हुईं। उन्होंने मुझसे 'बीती ताहि बिसारि दे, आगेकी सुधि ले'की नीतिपर अमल करनेका अनुरोध किया। आखिर आपसमें सुलह हो गई, हमारे मध्यमें जो भेदका परदा पड़ गया था, वह हट गया। मेरा इस्तीफा अबतक मंजूर नहीं हुआ था। मैंने उसको वापस ले लिया और फिर पूर्ववत् कांग्रेस-कार्यमें संलग्न हो गया।

इस मामूली बातपर सोराबजीके विरोधियोंने खूब रङ्ग चढ़ाया और जनतामें यह अफवाह उड़ाई कि "सोराबजी जेकब्स पहुँचकर पंडितजी-के पैरोंपर गिर पड़े और घिघियाकर उनसे क्षमा माँगी। पंडितजीको दया आ गई, उन्होंने माफ कर देना उचित समझा और इसलिए अब वह कांग्रेसमें वापस आ गए हैं।" वास्तवमें यह बात सर्वथा निराधार थी। सोराबजीने ऐसी कोई कमजोरी नहीं दिखाई थी, जिससे उनके आत्म-सम्मानपर आँच आने पावे। पर हमारे भाइयोंकी प्रकृति कैसी विचित्र है, वे अपने विचारके विरोधियोंको जनताकी दृष्टिसे गिरानेके लिए असत्य-का आश्रय लेनेमें भी संकोच नहीं करते।

: २५ :

पृथक्करण नीतिके विरुद्ध भारतको शिष्ट-मंडल

सन् १६२४में यूनियन-पार्लमेण्टका नया चुनाव होगया। जनरल स्मट्सकी 'साउथ अफ्रिकन पार्टी'की गहरी हार हुई और जनरल हर्टजोगकी 'नेशनलिस्ट पार्टी'की शानदार जीत। सन् १६११में जबसे दक्षिण अफ्रिकाकी संहति (Union of South Africa) बनी, तबसे जनरल बोथा और जनरल स्मट्सके हाथोंमें शासन-सूत्र रहा। पर इस बारके चुनावमें पासा पलट गया। लोकतंत्रात्मक विधानके अनुसार जनरल हर्टजोगकी राष्ट्रीय सरकार कायम हुई। सरकार तो बदल गई, पर हिन्दुस्थानियोंकी हालत नहीं बदली। उनके लिए तो 'जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ'—जैसे स्मट्स वैसे हर्टजोग। दोनों एक ही वृक्षकी दो शाखा हैं, एक ही नदी की दो धाराएँ हैं। सन् १६२४में पार्लमेण्टकी पहली बैठकमें ही राष्ट्रीय सरकारके आन्तरिक मंत्री (Minister of Interior) डाक्टर मलानने प्रवासी भारतीयोंके विरुद्ध एक बिल पेश कर दिया, जो वस्तुतः पेट्रिक डङ्कनके 'क्लास एरियाज बिल'-(Class Areas Bill) की ही पुनरावृत्ति थी। इस बिलका नाम था—'एरियाज रिजर्वेशन बिल' (Areas Reservation Bill), पर तत्त्वतः पहले बिलमें और इसमें कोई फर्क नहीं था। इसका भी उद्देश्य था, भारतीयोंका पृथक्करण (Segregation)।

पृथक्करणका प्रतिवाद

इस नवीन प्रहारसे फिर भारतीयोंमें हाहाकार मचा, फिर आन्दोलन-

की आँधी उठी। मुझे फिर कार्य-क्षेत्रमें कूदना पड़ा। इस शहरसे उस शहर और इस कस्बेसे उस कस्बेकी दौड़ लगाना और सभाओंमें घण्टों गला फाड़कर चिल्लाना। समयपर न भोजनका ठिकाना और न घड़ी-दो-घड़ी कहीं विश्राम करनेका ही। इससे जहाँ स्वास्थ्यको हानि पहुँची वहाँ 'हिन्दी'को भी नुकसान उठाना पड़ा, क्योंकि मैं ही उस अखबारका स्वामी भी था और सम्पादक भी, मैनेजर भी था और रिपोर्टर भी। वास्तवमें मैं ही उसका पीर, बावर्ची, भिश्ती, खर—सब कुछ था।

नेटाल इंडियन कांग्रेसकी ओरसे हिन्दुस्थानियोंका एक डेपुटेशन डाक्टर मलानसे मिला और उनसे यह अनुरोध किया कि एक गोल-मेज-परिषद्की व्यवस्था होनी चाहिए, जिसमें दक्षिण अफ्रिका और हिन्दुस्थानके प्रतिनिधि बैठकर प्रवासी भारतीयोंकी समस्या हल कर डालें। पर डाक्टर मलानने साफ जवाब दे दिया कि भारतीयोंका प्रश्न हमारा घरेलू प्रश्न है, हम जिस ढंगसे ठीक समझेंगे, इस प्रश्नका निपटारा करेंगे—इस मामलेमें किसी दूसरे देशकी दस्तन्दाजी हम बर्दाश्त नहीं कर सकते।

शिष्ट-मण्डलके सात सदस्य

इससे स्थिति बड़ी गम्भीर हो गई। साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसकी ओरसे केपटाउनमें तात्कालिक परिषद् बुलाई गई, जिसमें नेटाल, ट्रांसवाल और केप प्रदेशके प्रतिनिधियोंने भाग लिया था। तीन दिन इस गम्भीर स्थितिपर विचार होता रहा और अन्तमें यही निश्चय हुआ कि अब हिन्दुस्थानमें गुहार मचानी चाहिए और एक शिष्ट-मंडल तत्क्षण वहाँ जाना चाहिए। मैं उस परिषद्में शामिल नहीं हो सका था, पर हिन्दुस्थान भेजनेके लिए शिष्ट-मंडलके केप, ट्रांसवाल और नेटालसे जो सात सदस्य चुने गए थे, उनमेंसे मैं भी एक था। मेरे सिवा डाक्टर अब्दुर्रहमान, श्री सोराबजी रुस्तमजी, श्री अमद भयात, बैरिस्टर जे० डब्ल्यू गोडफ्रे, श्री वी०एस०सी०पत्तर और श्री ए०ए०

मिर्जा निर्वाचित हुए थे। केपटाउनसे ही मुझे कांग्रेसका तार मिला कि एक सप्ताहके अंदर बिस्तर बाँधकर अगले जहाजसे हिन्दुस्थान जानेके लिए तैयार हो जाना चाहिए।

'हिन्दी'का अन्त

मैं इस आकस्मिक सूचनासे अत्यंत चिन्तित एवं किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया। यदि मैं कांग्रेसका आदेश मान लेता हूँ और स्वदेश जाता हूँ तो 'हिन्दी'का क्या हाल होगा, उसको कौन संभालेगा? पिछली बार जब मैं स्वदेश गया था तो देवीदयालने 'हिन्दी'को सँभाल लिया था। अब तो वह भी दक्षिण अफ्रिकामें नहीं रहे, सदाके लिए स्वदेश चले गए। दूसरा यहाँ कौन है—ऐसा विश्वास-पात्र, अनुभवी और जिम्मेदार आदमी, जिसको 'हिन्दी'की बागडोर थमाई जा सके।' कैसी विकट समस्या सामने आ पड़ी है? क्या जगरानी-प्रेसमें ताला लगा दूँ, क्या 'हिन्दी'का प्रकाशन स्थगित कर दूँ? दूसरा तो कोई उपाय सूझता ही नहीं। इससे मुझे जो आर्थिक हानि होगी, उसकी तो पर्वाह नहीं है। पर प्यारी 'हिन्दी'—प्राणाधिक प्रिय 'हिन्दी'—जगरानीकी मधुर-स्मृति 'हिन्दी'की क्या हालत होगी? यह लहलहाता वृक्ष, जिसको मैंने अपने हृदय-शोणितसे सींचकर हरा-भरा बनाया और जिसकी छत्र-छायाके नीचे हजारों प्रवासी भारतीयों और विशेषतः हिन्दी-भाषियोंको आश्रय मिल रहा है, क्या इसी अल्पायुमें मुरझा जायगा? यह कटु कल्पना मेरे कलेजेमें कटारी सी चुभने लगी। सोचते-सोचते मेरा सिर चकराने लगा। जिस 'हिन्दी'का प्रकाश फैलानेके लिए मैंने अपने तनका दीया, मनकी बाती एवं रक्तका तेल बनाया, उसको बुझानेके लिए कहाँसे शक्ति आवेगी? यह 'हिन्दी' मुझे अपने बच्चोंसे भी अधिक प्रिय है। जगरानीकी प्रेरणासे इसको मैंने ही जन्माया, पाल-पोसकर इस अवस्थामें पहुँचाया; अब मैं उसे कफन ओढ़ाकर समाधिमें सुलानेका साहस कैसे कर सकूँगा? मैं कमरेमें चहल-कदमी करते हुए गंभीर विचारमें डूब गया। हृदयमें भिन्न-भिन्न भावों और विचारोंका द्वन्द्व होता रहा। 'हिन्दी'के भविष्यके विचारसे

मेरे चित्तपर ऐसा आघात पहुँचा कि मैं मर्माहत और मूर्च्छित होकर खाटपर गिर पड़ा।

मूर्च्छा भङ्ग होनेपर चित्त कुछ स्थिर हुआ। सोचा कि एक तरफ तो 'हिन्दी'का विचार है और दूसरी तरफ है प्रवासी भाइयोंकी पुकार। इन्हीं देश-वासियोंकी सेवा करनेके लिए 'हिन्दी'का जन्म हुआ था, फिर यदि दक्षिण अफ्रिकामें हिन्दुस्थानी कौम ही मर जायगी तो 'हिन्दी' जीकर क्या करेगी? अतएव छातीपर पत्थर रखकर 'हिन्दी'को स्थगित करना ही पड़ेगा, यही ईश्वरकी मनोगत प्रेरणा है।

आखिर व्यथित हृदयसे 'हिन्दी'का प्रकाशन स्थगित कर और जग-रानी प्रेसका दरवाजा बंद करके सन् १६२५के नवम्बरके अन्तमें मैंने शिष्ट-मंडलके साथ भारतको प्रस्थान कर दिया। मेरे साथ लगभग एक दर्जन प्रवासी बच्चे भी थे जो पढ़नेके लिए भारत आ रहे थे। भारतकी भिन्न-भिन्न संस्थाओंमें उनकी शिक्षाकी व्यवस्था हो गई।

बम्बईमें शिष्ट-मण्डलकी सफलता

बम्बईमें जहाजसे उतरते ही श्रीमती सरोजिनीदेवीके उद्योगसे हमारा अपूर्व स्वागत-सत्कार हुआ। दक्षिण अफ्रिकाकी समस्यापर अखबारोंमें बड़ी चर्चा हुई, जिससे भारतका लोकमत जाग्रत हो उठा। देवीजीने ताजमहल होटलमें हमें एक पार्टी भी दी थी, जिसमें सरकारी सचिव, धारा-सभाके सदस्य, हाईकोर्टके जज और शहरके गण्य-मान्य रईस शरीक हुए थे। देवीजीने डेपुटेशनके सदस्योंका परिचय देते हुए एक व्यक्तिके सम्बन्धमें कहा कि "इस शिष्ट-मंडलमें एक ऐसा भी व्यक्ति है जिसका शरीर दुबला-पतला और कद मँझोला है, पर उसमें ऐसी प्रचंड शक्ति है कि नेटालके किसानों और मजदूरोंपर उसका प्रभाव देखकर मैं दङ्ग रह गई थी।" उनकी काव्यमयी उक्तिकी पुनरावृत्ति करना तो कठिन है, पर आशय यही था। इसपर सभी महानुभाव उस व्यक्तिको देखनेके लिए उत्कंठित हो उठे। दुर्भाग्यवश वह व्यक्ति मैं ही था, जो सबकी दृष्टि बचाकर एक कोनेमें दबककर बैठा था और अब देवीजीके कथनपर संकोचसे

और सिकुड़ गया था। आखिर सभापतिकी आज्ञासे विवश होकर मुझे उठना ही पड़ा और अपनी शक्ल-सूरत दिखाकर सबको संतुष्ट करना पड़ा।

बापूके मुखपर अमर-ज्योति

तत्कालीन वायसराय लार्ड रीडिङ्गसे मिलने और दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंको कष्ट-कथा सुनानेके लिए हम बम्बईसे कलकत्ताके लिए रवाना हुए। हमारी गाड़ी सबेरे वर्धा पहुँची। महात्मा गांधी समय-पर स्टेशन पहुँच गए थे। वे लङ्गोटी बाँधे, चादर ओढ़े और खड़ाऊँ खटखटाते हुए हमारे डिब्बेमें चढ़ आये। उनके साथ श्री महादेव भाई देसाई और श्री जमनालाल बजाज भी थे। जाड़ेकी ऋतु थी, बाहर घना अन्धेरा था। डिब्बेमें महात्माजीकी मुखाकृतिपर जब विद्युत्का प्रकाश पड़ा तो मेरी अद्‌भुत् अवस्था हो गई। मैं बापूको देखनेमें तन्मय था, मुझे ऐसा भासित हुआ कि उनके माथेपर सूर्यकी किरणें बिखर रही हैं। चित्रोंमें कलाधर कृष्ण और गौतम बुद्धके मुख-मंडलपर ऐसी ज्योति छिटकती देखी थी, पर आज तो बापूके मुखपर उसे प्रत्यक्ष देख रहा था। उस समय मेरी श्रवण-शक्ति लुप्त-सी हो गई थी,केवल दृष्टि बापूके चेहरे-पर गड़ी हुई थी। करीब पाँच-छः मिनट मेरी यह मनोदशा रही होगी। मेरे सामने न डिब्बा था, न उसमें बिखरी हुई चीजें और न उसमें बैठे हुए यात्री थे। यदि कुछ थी तो बापूकी मुखाकृति और उसपर छिटकी हुई ज्योति-रश्मियाँ। जब होशमें आया तो चकित होकर आँखें मलने लगा।

गाड़ी खुलनेका समय बीत चुका था। गार्ड और ड्राइवर बाहर खड़े थे और बापूके उतरनेका इन्तजार कर रहे थे। सहसा बापूने पूछा, "क्यों महादेव! समय तो हो गया होगा?" यह जवाब मिलनेपर कि गाड़ी लेट हो रही है,बापू हमें आशीर्वाद देकर गाड़ीसे उतर पड़े। बापू-की शुभकामनासे हमें बड़ी शक्ति मिली। वहाँसे आगे बढ़नेपर नागपुर स्टेशनपर हिन्दू महासभाके स्तम्भ डाक्टर बालकृष्ण मुंजेके दर्शन हुए। उनसे मालूम हुआ कि बोअर-युद्धके समय अंग्रेज-सेनाके साथ वह नेटाल

और ट्रांसवाल देख आए हैं।

सादी रहनी-ऊँची करनी

नेटालके हम पाँच प्रतिनिधि दूसरे दर्जेके एक डिब्बेमें आसन जमाये हुए थे और केपके डाक्टर अब्दुर्रहमान तथा ट्रांसवालके श्री मिर्जा दूसरे डिब्बेमें। उनके डिब्बेमें कोई बंगाली बाबू चढ़ आये, उनकी ढीली धोती और भद्दा कुर्ता देखकर डाक्टरकी नाक-भौं चढ़ गई। उनकी दृष्टिमें बंगाली बाबूकी पोशाक असभ्यताकी निशानी थी। डाक्टर साहब स्टेशन-पर गाड़ी खड़ी होनेपर दौड़े हुए हमारे डिब्बेमें आये और बिगड़कर बोले, "तुम लोगोंकी चालबाजी मैं खूब समझता हूँ। तुम नेटालवाले पाँचों आदमी एक डिब्बा हथियाये बैठे हो और हमें—केप तथा ट्रांस-वाल वालोंको—एक ऐसे डिब्बेमें तुमने डाल दिया है, जिसमें जो चाहे चढ़ आवे। अभी एक ऐसा असभ्य और जंगली आदमी उस डिब्बेमें आ बैठा है कि मेरी तो तबियत घबरा उठी है।" हमने डाक्टरको सम-झानेकी कोशिश की, पर वे क्रोधसे बड़बड़ाते हुए चले गए। किसी तरह रात कटी, बिहान होते ही डाक्टर साहब फिर आये। हमने सोचा कि शायद झगड़नेके ही लिए आये हैं, इसलिए खामोश रहे; पर वह बिना कुछ पूछे ही बोले, "अजी, यह हिन्दुस्थान बड़ा विचित्र देश है, यहाँ पोशाकसे किसीकी पहचान नहीं हो सकती। जिसे मैं असभ्य, गन्दा और गँवार आदमी समझ बैठा था, वह तो ऐसा विद्वान्, विचारक और तत्त्वज्ञानी (फिलॉसफर) निकला, जैसा कि मैंने अपने जीवनमें पहले कभी नहीं देखा था। उसकी अगाध विद्वत्ता, दार्शनिक विचार एवं अंग्रेजी बोलने-की विलक्षण योग्यता देखकर मैं तो दङ्ग रह गया। अर्द्ध-रात्रि तक उसकी बातें सुनता रहा, फिर भी मेरी तृप्ति नहीं हुई।"

वायसरायकी रक्षाकी चिन्ता

हम लोग कलकत्ता पहुँचे। स्टेशनपर एक मनोरञ्जक घटना हो गई। प्लेटफॉर्मके एक ओर हमारी गाड़ी खड़ी होने वाली थी और उसके दूसरी ओर जमशेदपुर सेआने वाली वायसरायकी स्पेशल गाड़ी। पुलिस-

कर्मचारियोंको बड़े लाटकी रक्षाकी चिन्ता थी। अतएव सभीको प्लेट-फॉर्मसे पुलिस बाहर निकालने लगी। कलकत्ताकी मेयरेस श्रीमती नेली सेनगुप्त, बिशप फिशर, डाक्टर दत्त, श्री गोस्वामी प्रभृति अनेक गण्य-मान्य व्यक्ति प्लेट फॉर्मपर हमारे आगमनकी प्रतीक्षामें खड़े थे। पुलिस-ने उनको भी बाहर निकल जानेकी आज्ञा दी, पर किसीने उसपर ध्यान नहीं दिया। पुलिसकी इस प्रकार उपेक्षा होते देखकर स्वयं पुलिस-सुपरिन्टेन्डेन्ट छड़ी घुमाते हुए वहाँ आ पहुँचे, पर किसीने उनकी पर्वाह न की। जब उन्होंने रोष दिखाते हुए वायसरायके आगमनकी सूचना देकर नागरिकोंको वहाँसे हट जानेका हुक्म दिया तो गोस्वामीजीकी भृकुटी चढ़ आई और वे कुपित होकर बोले, "वायसरायको इस प्रकार सार्व-जनिक विघ्न (Public nuisance) बननेका कोई अधिकार नहीं है। हम यहाँसे हटेंगे नहीं; चाहे परिणाम कुछ भी हो।" इस ललकारसे साहब बहादुर सन्न रह गए, उनके चेहरेका रङ्ग उड़ गया और उन्होंने लाचार होकर कर्त्तव्य-पालनके विचारसे लोगोंके इर्द-गिर्द पुलिसका घेरा डालकर संतोष कर लिया।

कलकत्तामें शिष्ट-मंडलका सत्कार

कलकत्ताके चौरङ्गीपर 'कोन्टिनेन्टल होटल' में डेपुटेशनका डेरा पड़ा। वहाँके तत्कालीन डिप्टी मेयर (अब सन् १९४६ में बंगालके मुस्लिम-लीगी प्रधान-मंत्री) श्री सुहरावर्दीने म्युनिसिपल-कौन्सिल-चेम्बरमें हमें एक चाय-पार्टी दी थी, जहाँ कलकत्ताके प्रायः सभी प्रमुख नागरिकोंसे मिलने और उनको दक्षिण अफ्रिकाकी कष्ट-कथा सुनानेका हमें अच्छा अवसर मिल गया था।

बिशप फिशरने हमारे शिष्ट-मंडलकी बड़ी सहायता की थी। वे अमेरिकाके एक नागरिक हैं, भारतीयोंसे उनका स्नेह और सहानुभूति है। वे दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंकी दशा अपनी आँखों देख आये थे और उनके विषयमें उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी थी। नेटाल-में ही उनसे और उनकी पत्नीसे मेरा परिचय हुआ था। डॉक्टर एस. के.

दत्त एक पंजाबी ईसाई थे, लाहौरके क्रिश्चियन कालेजके प्रिन्सिपल एवं यङ्गमैन क्रिश्चियन एसोसियेशनकी राष्ट्रीय समितिके सभापति थे। प्रवासी भारतीयोंके प्रश्नमें दत्त साहबकी बड़ी दिलचस्पी थी। श्री श्यामसुन्दर चक्रवर्तीसे भी जान-पहचान हुई। उनका नाम तो मैं उस समयसे जानता था, जब वे स्वदेशी-आन्दोलनके प्रसंगमें अंग्रेज नौकर-शाहीके कोप-भाजन बनकर श्रीकृष्णकुमार मित्रके साथ बारीसालमें नजर-बन्द किये गए थे। उन दिनों वे कलकत्तासे 'सर्वेन्ट' नामक एक दैनिक अखबार अंग्रेजीमें निकाल रहे थे, जो सभी दैनिकोंसे सस्ता—केवल एक पैसेमें बिकता था। उन्होंने 'सर्वेण्ट'के एक अङ्कमें हमारा पूरा वक्तव्य छापा था, जिसकी हजारों प्रतियाँ खरीदकर हमने देश-विदेशोंमें मुफ्त बाँटी थीं।

वाइसरायसे भेंट

हमारा शिष्ट-मंडल वायसरायसे मिलनेके लिए निश्चित समयपर उनके राज-महलपर पहुँचा। वहाँकी रौनक निराली थी—सत्ता और प्रभुताका बोल-बाला था। अभी उस दिन (सन् १९४६ में) जब दक्षिण अफ्रिकाके शिष्ट-मंडलके साथ दिल्लीमें मैंने वायसराय लार्ड वेवलसे मुलाकात की तो मुझे यह देखकर आश्चर्य हुए बिना न रहा कि बीस वर्षमें भारतकी स्थिति कितनी बदल गई! उन दिनों वायसरायसे भेंट करनेके समय दरबारी नियमोंका पालन करना पड़ता था। हमें एक बड़े कमरेमें बैठाया गया। कुछ देर बाद फरमाबरदार आये और उन्होंने एलान किया कि वायसराय महोदय आ रहे हैं। हम सब उठकर खड़े हो गए। वायसराय लार्ड रीडिङ्ग साहब आकर ऊँचे चबूतरेपर धरी हुई कुर्सीपर विराजे। उनके पीछे रक्षक खड़े थे और चबूतरेके एक किनारे प्रवास-विभागके सदस्य सर मुहम्मद हबीबुल्ला बैठे हुए थे।

हमने विधिवत् अपना वक्तव्य पेश किया। वक्तव्यकी पेशगी कापी वायसरायको पहले ही दी जा चुकी थी, इसलिए उन्होंने उसका लिखित उत्तर पढ़ सुनाया, जिसमें प्रवासी भारतीयोंके साथ सहानुभूति

प्रकट की गई थी।

अन्तमें शिष्टाचारके अनुसार वायसरायका आभार मानते हुए उनसे यह कहकर हम विदा हुए कि अब हम भारतीय नेताओं एवं जनताके सामने अपना मामला पेश करने जा रहे हैं और आशा रखते हैं कि जन-जागृतिसे सरकारकी शक्तिमें और भी वृद्धि होगी और वह प्रवासी भारतीयोंके संकट-मोचनमें कोई बात उठा न रखेगी।

: २६ :

भारत और दक्षिण अफ्रिकाकी सरकारोंमें संधि

कलकत्तेसे हमने कानपुरको कूच किया—कांग्रेसमें अपनी कष्ट-कथा सुनानेके लिए। कानपुर पहुँचनेपर स्टेशनपर ही पं० मोतीलाल नेहरू और पं० जवाहरलाल नेहरूके दर्शन हुए। पिता-पुत्र नेहरूजीने कांग्रेस-की तरफसे हमारा आगत-स्वागत किया और स्टेशनके पास ही 'सिविल एण्ड मिलिटरी होटल'में हमें ठहराया। कांग्रेसके नेता जानते थे कि हम लोग प्रवासी हैं, हमारे खान-पान और रहन-सहनमें अन्तर आ गया है, इसलिए कांग्रेस-कैम्पमें ठहरानेपर हमें तकलीफ होगी।

कानपुर-कांग्रेसमें

उस समय महात्मा गांधी ही कांग्रेसके प्रधान (राष्ट्रपति) थे और कानपुर-अधिवेशनके लिए श्रीमती सरोजिनीदेवी उनकी उत्तराधिकारिणी चुनी गई थीं। जब हम विषय-निर्धारिणी-समितिमें उपस्थित हुए तो प्रधानकी हैसियतसे स्वयं बापूने हमारे शिष्ट-मंडलका स्वागत किया, भारतकी ओरसे प्रवासी भारतीयोंके संकटमें सहानुभूति प्रकट की और यह आश्वासन दिया कि कांग्रेस हमारे आन्दोलनमें यथाशक्ति सहायता पहुँचावेगी।

जब मैं बम्बईमें जहाजसे उतरा था तो अक्सर ताजमहल होटलमें श्रीमती सरोजिनीदेवीसे मिला करता था। जब साल-भर पहले वह दक्षिण अफ्रिका गई थीं, तभी उनसे मेरी मित्रता हो गई थी। एक दिन चाय-पानके समय बातचीतके सिलसिलेमें मुझे मालूम हुआ कि देवीजी

कांग्रेसके लिए अपना भाषण तैयार कर रही हैं। मैंने उनसे निवेदन किया कि यदि आप कांग्रेसके मंचसे सभानेत्रीके रूपमें अपने भाषणका मंगलाचरण हिन्दीमें करें तो इससे जहाँ जनतामें राष्ट्रीय भावनाओंका संचार होगा वहाँ राष्ट्रभाषाका उपकार और प्रचार भी। देवीजीको मेरी बात जँच गई। उन्होंने वचन दिया कि कानपुर-कांग्रेसमें हिन्दीमें ही उनके भाषणका श्रीगणेश होगा।

अतएव जब महासभाका अधिवेशन आरम्भ हुआ, स्वागताध्यक्षका भाषण हो चुका और सभानेत्रीके अभिभाषणकी बारी आई तो मुझे यह सन्देह हो आया कि कहीं यह बात देवीजीके जेहनसे उतर न गई हो। इसलिए ज्योंही वह भाषण देनेके लिए मंचकी ओर बढ़ीं, त्योंही मैंने एक चिट लिखकर उनको थमा दी, जिसमें उनको अपनी प्रतिज्ञाकी याद दिलाई गई थी। यह देखकर मैं आनन्दसे उछल पड़ा कि देवीजीने राष्ट्रभाषामें ही राष्ट्र-भारतीकी वन्दना, सामयिक स्थितिकी समालोचना और स्वाधीनताके पथमें अग्रसर होनेकी योजना प्रस्तुत की। वस्तुतः देवीजीकी वाणीमें असाधारण शक्ति है।

स्वागताध्यक्ष थे डाक्टर मुरारीलालजी और स्वागत-मंत्री थे—पं० गणेशशंकर विद्यार्थी। कांग्रेसकी प्रथम दिनकी बैठकमें ही स्वयं महात्मा गान्धीने दक्षिण अफ्रिकाके सम्बन्धमें प्रस्ताव पेश किया, जिसमें यूनियन-सरकारकी अन्याय-मूलक नीति एवं प्रवृत्तिका प्रतिवाद करके प्रवासी भारतीयोंके साथ सहानुभूति प्रकट की गई थी। मौलाना मुहम्मदअलीने प्रस्तावका समर्थन करते हुए एक जोरदार भाषण दिया। हमारे डेपुटेशनके नेता डा० अब्दुर्रहमान जब बोलनेको उठे तो उत्तेजनासे उनकी वाणी प्रकंपित हो उठी। वास्तवमें इतनी बड़ी सभा उन्होंने अपने जीवनमें पहले कभी नहीं देखी थी। किसी प्रकार अपना विचार व्यक्त करके उन्होंने कर्त्तव्यका भार उतार दिया।

इसी अधिवेशनमें मेरे विशेष आग्रहसे सभानेत्री श्रीमती सरोजिनीदेवीने इस आशयका एक और प्रस्ताव पास कराया कि कांग्रेसके अन्तर्गत

एक प्रवासी-विभाग खोला जावे जो प्रवासी भारतीयोंकी हित-रक्षामें निरन्तर प्रयत्नशील रहे। इस प्रस्तावसे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ।

देश-नेताओंके दर्शन

कानपुर-कांग्रेसमें जिन राष्ट्र-नेताओंके दर्शन हुए, उनमें पंजाब-केसरी लाला लाजपतरायका नाम विशेष उल्लेखनीय है। लालाजीको मैंने पहले कभी नहीं देखा था, अमृतसर-कांग्रेसमें भी उनके दर्शनसे वंचित ही रहा। उस समय वह स्वदेशसे दूर अमेरिकामें दिन काट रहे थे। कानपुरमें ही प्रथम और अन्तिम बार लालाजीसे भेंट हुई और प्रवासियोंकी परिस्थिति-पर बातचीत भी। राष्ट्रीय-जागरणके प्रथम प्रहरमें लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंहका निर्वासन भारतके इतिहासमें एक अपूर्व घटना थी। उसी समयसे वे देश-वासियोंके स्नेह, सम्मान एवं श्रद्धाके पात्र हो गए थे। लालाजीकी प्रखर प्रतिभा, अद्भुत तर्क-शक्ति, देशानुराग और त्यागकी भावना देशकी अनमोल निधि थी। स्वाधीनताके युद्धमें वह सदा अगले मोर्चेपर रहे। क्रान्तिकी आगसे खेलते हुए साइमन-कमीशनके बहिष्कारके प्रसंगमें एक अंग्रेज-अफसरके लट्ठ-प्रहारसे वह वीर-गतिको प्राप्त हुए। इसका बदला सरदार भगतसिंहने चुकाया। उस अंग्रेजको मारकर वह फाँसीके तख्तेपर चढ़ गए।

मशहूर अलीबन्धुओंसे भी मुलाकात हुई जहाँ मौलाना मुहम्मदअलीमें मैंने गम्भीरता, विद्वत्ता और नीतिज्ञताकी झलक देखी, वहाँ शौकतअली-में उच्छृंखलता, उन्माद और उत्तेजनाकी निशानी। कानपुर-स्टेशनके एक बेंचपर बैठे हुए हम लोग मौ० मुहम्मद अलीके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। मौ० शौकतअली भी उसी बेंचपर हमारे बीचमें आ बैठे। इधर-उधरकी बातें हो रही थीं, अचानक मौलानाका जोश उमड़ आया। फिर क्या कहना? वे लगे मस्त हाथीकी तरह झूमने, सनकीकी भाँति हाथ-पैर पटकने और जोर-जोरसे चिल्लाने—"मैं एक बागी हूँ, खतरनाक बागी? मैं ब्रिटिश सल्तनतको जड़से उखाड़ दूँगा, नेस्त-नाबूद कर डालूँगा। आजादीके जङ्गमें लाखों सिर कटवा दूँगा, खूनकी नदियाँ

बहा दूँगा ?" मैं तो आश्चर्यमें आकर उनका मुँह ताकने लगा। मुझे सन्देह हुआ कि इनका दिमाग दुरुस्त है भी या नहीं ? कुछ दिनोंके बाद यही शौकतअली इन्कलाबसे नाता तोड़कर जिन्नाके शागिर्द, मुस्लिम-लीगके मुल्ला, कांग्रेसके वैरी और ब्रिटिश राज्यके वफादार भगत बन गए। जिन्ना और शौकतअलीके चरित्र मानवी उत्थान-पतनके सजीव इतिहास हैं।

मौलाना हसरत मोहानी कांग्रेसकी तत्कालीन नीतिसे सहमत न थे; 'कांग्रेस औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) माँग रही थी, पर मोहानी साहब मुकम्मिल आजादीके लिए तड़प रहे थे। मालूम पड़ता था कि वह अपने इस पवित्र संकल्पपर अपनी जिन्दगी कुर्बान कर देंगे और हिन्दुस्थानकी आजादीके इतिहासमें अपना नाम अमर बना लेंगे। पर कालान्तरमें मोहानी साहब भी साम्प्रदायिक शराब पीकर ऐसे मतवाले हुए कि मुस्लिम-लीगका मुँड़िया बनकर लगे मजहबी तराना गाने, फूट और वैरके पौधे लगाने और हिन्दुस्थानके खूनसे पाकिस्तानका नक्शा बनाने।

कानपुर-कांग्रेसमें पं० जवाहरलालजी स्वयं-सेवकोंके सरदार थे। उनके चेहरेकी वह कान्ति, सेनापतिकी भांति उनकी वह फौजी वर्दी और वह बाँके घोड़ेकी सवारी दर्शकोंको बरबस मोह लेती थी। बेगम हसरत मोहानीके पास प्रवेश-पत्र नहीं था, वे बलात कांग्रेस-पंडालमें प्रविष्ट होना चाहती थीं। जब इस बेजा हरकतपर उनको रोका गया तो वह बुर्काधारी बेगम जवाहरलालजीपर थप्पड़ चला बैठीं। यदि किसी पुरुषने ऐसा दुस्साहस किया होता तो जवाहरलालजी ब्याज सहित बदला चुका लेते, पर एक महिलाके अपराधको क्षमा कर देना ही उनको उचित जँचा।

सोराबजीका धन-मद

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी प्रवासी भारतीयोंकी सेवामें सन्नद्ध थे। वे जिनसे मिलते, उनसे प्रवासियोंकी चर्चा अवश्य करते। उन्होंने

कांग्रेसमें एक प्रस्ताव पेश करनेकी भी सूचना दी थी, जिसका आशय यह था कि कांग्रेस एक शिक्षा कमीशन चुने, जो उपनिवेशोंका दौरा करके प्रवासियोंकी शिक्षा सम्बन्धी स्थितिकी जाँच करे और रिपोर्ट देवे। इस कमीशनके सदस्य चुननेके लिए चतुर्वेदीजीने साधु एण्ड्रूजके साथ मेरे नामकी भी सिफारिश की थी। सच पूछिये तो प्रवासी भारतीयोंको चतुर्वेदीजी-तुल्य निःस्पृह, निस्स्वार्थ एवं निष्णात सेवक और शुभचिन्तक मिलना दुर्लभ ही है। फिर भी भाई सोराबजी रुस्तमजीने धन-मदमें आकर उनका अपमान कर ही डाला—

"वातुल भूत विवस मतवारे।
ते नहिं बोलहिं वचन सम्हारे॥"

की लोकोक्ति चरितार्थ कर दिखाई। उन दिनों चतुर्वेदीजीकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी, वे गुजरात विद्यापीठसे स्तीफा दे चुके थे और अपने निर्वाहका भार भगवान्पर छोड़कर प्रवासियोंकी सेवामें तल्लीन थे। किसी बातपर बिगड़कर सोराबजीने उनसे कह दिया कि, "पहले घरमें चिराग जलाकर पीछे आप मंदिरमें जलाइयेगा। आप पहले अपने पेटकी चिन्ता करें, पीछे प्रवासियोंकी चिन्ता करना आपको शोभा देगा।" इस कटु-वाणीसे चतुर्वेदीजीको जो ग्लानि हुई होगी, उसकी कल्पना आसानीसे की जा सकती है, पर उनसे भी अधिक दुःख मुझे हुआ, क्योंकि मैं भी एक निर्धन व्यक्ति हूँ। मेरी धारणा है कि सार्वजनिक जीवनकी कसौटी है सेवा; पैसा नहीं। सोराबजीको अपने पिताका अर्जित एवं संचित धन मिल गया था, जिससे वह गुलछर्रे उड़ा रहे थे। वह शायद भूल गए कि "सब दिन जात न एक समान।" लक्ष्मी किसीके पास स्थिर होकर नहीं रहती—आज एकके पास है तो कल दूसरे-के साथ।

"चपला यह न रहीम थिर, साँच कहत सब कोय।
पुरुष पुराननकी वधू, क्यों न चंचला होय॥"

भाग्यके फेरसे सोराबजीका भी अहंकार चूर-चूर हो गया, धनका

नशा उतर गया और प्रवासियोंने उन्हींसे पूछना शुरू कर दिया कि, "भाई साहब ! आप अपने पेट और बाल-बच्चोंकी फिक्र क्यों नहीं करते ? प्रवासियोंकी चिन्तामें क्यों दुर्बल हो रहे हैं, उनका पिण्ड क्यों नहीं छोड़ देते ?" सच है,संसारमें न किसीका गर्व रहा और न रहेगा ।

विद्यार्थीजीका व्यवहार

कानपुरके जिस 'सिविल एण्ड मिलिटरी होटल'में हमें ठहराया गया था वहाँ नहाने-धोने, खाने-पीने और बैठने-सोनेका बड़ा आराम था, पर एक बातकी तकलीफ थी और वह थी कांग्रेसमें आने-जानेके लिए सवारीकी। स्टेशनसे कांग्रेस-मंडप बहुत दूर था। इस दिक्कतको दूर करनेके लिए मैंने स्वागत-मंत्री पं० गणेशशंकर विद्यार्थीका आश्रय लेना उचित समझा। मैं सोराबजीके साथ उनके खेमेपर पहुँचा। विद्यार्थीजी-को पहले कभी देखा न था। सन् १९२३में जब हिन्दी-साहित्य-सम्मे-लनमें शरीक होनेके लिए कानपुर आया था तो उन दिनों विद्यार्थीजीका बन्दी-घरमें बसेरा था, अतएव उनके दर्शनसे वंचित ही रहा।

छोलदारीके अन्दर जाकर उनको देखा। कृश-काय, भव्य-भाल, कम्बु-ग्रीव, उन्नत वक्ष, ओजमयी आँखें, तेजस्वी रूप, मेधावी मस्तिष्क और सेवा-सिक्त हृदय। शरीरपर सफेद खादीका कुर्ता और धोती तथा सिरपर गांधी टोपी। उनको अत्यन्त कार्य-व्यस्त देखकर कुछ कहनेमें मुझे संकोच हो रहा था, पर वह स्वयं मेरा नाम पूछ बैठे। जब मैंने अपना परिचय दिया तो वह उठे और मुझसे लिपट गए। मालूम होता था कि मानो कोई वर्षोंसे बिछुड़े अपने भाईसे मिल रहा हो। कुशल-क्षेम-के बाद उन्होंने पूछा—"कहिये क्या आज्ञा है ?" मैंने होटलसे कांग्रेस-पंडाल तक आने-जानेकी दिक्कतें बतला दीं और उनसे एक मोटरकी व्यवस्था कर देनेकी विनती की। यह भी कहा कि किराया देनेको हम तैयार हैं।

"बस,इस जरा-सी बातके लिए इतनी परेशानी उठानी पड़ी आपको। इसका इन्तजाम अभी किये देता हूँ। किरायेकी बात भी खूब रही। यह

यूरोप तो है नहीं, भारतवर्ष है। आप हैं हमारे मेहमान। मेहमानसे खान-पान, मकान और सवारीका दाम वसूल करना हिन्दुस्थानकी संस्कृतिका काम नहीं है।"

खेमेमें हँसीका फव्वारा फूट पड़ा। इसी बीचमें एक स्वयं-सेवक कुछ पर्चे लेकर पहुँचा। वह पर्चा हिन्दु सभाकी कृति थी और उसमें राष्ट्र-नेत्री सरोजिनी देवीको गालियाँ दी गई थीं। मैंने कहा कि ऐसे गन्दे पर्चे बाँटने वालेको कांग्रेसके अहातेसे बाहर निकाल देना चाहिए। इतना कहना था कि विद्यार्थीजी स्वयं उठ पड़े। मैं भी उनके साथ ही बाहर निकला। उस समय उनका क्रोध देखकर मैं चिन्तित हो उठा। मैंने यह कहकर उनको रोकनेकी कोशिश की कि "यहाँ अनेक वालंटियर हैं, जो आपका हुक्म पाते ही उस आदमीको बाहर निकाल देंगे।" लेकिन विद्यार्थीजी कहाँ रुकने वाले थे ? वे बड़ी तेजोसे पर्चे बाँटने वालेके पास पहुँच ही तो गए और उसे गर्दन पकड़कर झकझोरते हुए फाटकसे बाहर कर आए।

फिर कभी उस महान् पत्रकार और देश-भक्तसे मुलाकात न हुई और अब तो पुनर्मिलनकी कोई आशा ही नहीं रही। वह साम्प्रदायिक शैतानके शिकार हो गए; मतान्ध मुसलमानोंने इस राष्ट्र-धर्मीकी छातीमें छुरा भोंककर इस्लामपर वह कलंक लगाया, जो किसी भी उपायसे मिटाये न मिटेगा। जैसा उनका जीवन महान् था, वैसी ही उनकी मृत्यु भी इतिहासकी अमर घटना बन गई। युग-युगांतर तक हिन्दुस्थानियोंको उनके आत्म-बलिदानसे प्रेरणा मिलती रहेगी और स्वतंत्र हिन्दुस्थानमें शहीद्के रूपमें उनकी पूजा होती रहेगी।

सभा-नेत्रीका प्रीति-भोज

राष्ट्र-नेत्री सरोजिनी देवीने हमारे शिष्ट-मंडलको एक प्रीति-भोज देकर सम्मानित किया था। इस अवसरपर अभ्यागतोंका एक संगीत-सम्मेलन भी जम गया था। प्रसिद्ध धारा-शास्त्री पं० मुकुन्दराव जयकर, जो बादमें प्रिवी-कौन्सिलके जज हुए थे, और दिल्लीके राष्ट्र-नेता बैरिस्टर आसफ-

अलीको जो इस समय संयुक्त राज्य अमेरिकामें हिन्दुस्थानके राजदूत हैं; तबला बजाते हुए देखकर मुझे इस बातपर विस्मय हुआ कि कानूनके ऐसे महापंडित भी संगीतमें क्रियात्मक भाग ले सकते हैं ? देवी सरोजिनी-की छोटी बहन, जो उसी समय जर्मनीसे लौटी थीं, अपने कोमल कण्ठ-स्वरसे मधुर संगीत अलापतीं तो श्रोताओंके हृदय-सितारका एक-एक तार झंकृत हो उठता। जहाँ हर्षका प्रवाह था वहाँ हास्यका भी अभाव नहीं था। जब मौ० मुहम्मदअली और शौकतअलीकी बेगमें वहाँ पधारीं तो उनकी नकाबपोशी देखकर रोकनेपर भी हमारी हँसी रुकी नहीं। प्रवासियोंके लिए वह विस्मयकी वस्तु थी। इतने बड़े नेताओंकी बीबियाँ, जागरणके इस युगमें भी परदे और बुर्केसे पिण्ड न छुड़ा सकीं, यह हमारे लिए अचरज और अफसोसकी बात थी।

कांग्रेस-अधिवेशनके बाद मैंने युक्तप्रान्त, बिहार और बंगालका दौरा किया, डाक्टर अब्दुर्रहमान और सोराबजीने पंजाब और गुजरातका तथा बैरिस्टर गोडफ्रे और पत्तरजीने मद्रासका। हमारे अतुल उद्योगसे भारतका लोकमत ऐसा जाग्रत और क्षुब्ध हो उठा कि केवल भारत-सर-कारका ही नहीं, यूनियन-सरकारका भी आसन डोले बिना न रहा। हिन्दुस्थान-सरकारकी ओरसे शुभेच्छा-मंडल (Goodwill Mission) दक्षिण अफ्रिका गया और यूनियन-सरकारका शिष्ट-मंडल भारत आया। इससे परस्पर सद्भावनाकी सृष्टि हुई, सन्धिका मार्ग प्रशस्त हुआ।

केपटाउनकी संधि

निदान सन् १९२६के अन्तमें केपटाउनमें गोलमेज-परिषद् बैठी। भारत-सरकारकी ओरसे सर मुहम्मद हबीबुल्ला, माननीय श्रीनिवास शास्त्री, सर फीरोज सेठना, सर जॉर्ज पेडीसन, सर डी आर्की लिन्डसे, सर सी० कार्बेट और सर गिरिजाशंकर बाजपेयी परिषद्में शरीक हुए थे और यूनियन-सरकारकी ओरसे आंतरिक मंत्री (Minister of Interior) डाक्टर मलानके नेतृत्वमें दक्षिण अफ्रिकाके सभी राज-नीतिक दलोंके नुमाइन्दे। इस ऐतिहासिक परिषद्में परस्पर विचार-

विनिमयके बाद भारत और दक्षिण अफ्रिकामें संधि हो गई। यह संधि 'केपटाउनकी संधि'के नामसे मशहूर है। यूनियन-सरकारने जहाँ अपना पृथक्करण कानूनका बिल वापस ले लिया वहाँ दक्षिण अफ्रिकाकी अन्य प्रजाकी भाँति उसने प्रवासी भारतीयोंके विकास और उत्कर्षका उत्तरदायित्व भी स्वीकार किया। संधिमें यही उत्थानकी धारा (Upliftment Clause) हिन्दुस्थानियोंके हितमें सर्वोत्तम बात थी। इसके बदलेमें भारत-सरकारके प्रतिनिधियोंने यह शर्त मंजूर कर ली कि जो हिन्दुस्थानी दक्षिण अफ्रिकामें रहना पसंद करें, उनको यूरोपियन ढंगकी चाल-ढाल ग्रहण करनी चाहिए और जो ऐसा न कर सकें उनको दक्षिण-अफ्रिकाका पिण्ड छोड़ देना चाहिए और प्रत्यागमन योजनाके अनुसार स्वदेश लौट जाना चाहिए। पहले जहाँ नेटालको सदाके लिए त्यागकर भारत लौटने वाले व्यक्तिको मार्ग-व्ययके अतिरिक्त दस पौण्ड (१३२ रु० ८ आना) नकद पुरस्कार मिलता था, वहाँ इस योजनामें बीस पौण्ड (२६५ रु०) देनेकी व्यवस्था की गई। एक मार्केकी बात और हुई। पहले सरकारी खर्चसे देश लौटने वाले व्यक्तिको फिर किसी भी स्थितिमें नेटालमें प्रवेश करनेका अधिकार न था, पर इस नवीन योजनामें यह विशेषता थी कि सरकारसे राह-खर्च और इनाम लेकर देश लौटने वाला आदमी यदि हिन्दुस्थानकी स्थिति अपनी प्रकृतिके अनुकूल न पावे और वहाँ स्थायी रूपसे बसना हितकर न समझे तो वह एक सालके बाद और तीन सालके अन्दर नेटाल वापस जा सकता है बशर्ते कि वह मार्ग-व्यय और इनामकी पूरी रकम वापस कर दे। इसमें सबसे बड़ी अड़चन यह थी कि यदि योजनाके अनुसार एक परिवारके दस प्राणी देश आये हों तो दसोंको एक साथ ही लौटना चाहिए। जब यह योजना कार्यान्वित हुई तो देखा गया कि नेटाल लौटनेकी इस सुविधासे प्रतिशत केवल दो व्यक्ति लाभ उठा सके। इस प्रत्यागमन योजना (Assisted Immigration Scheme) के विधाता यह अच्छी तरह जानते थे कि न नौ मन तेल होगा, न राधाजी नाचेंगी, पर इससे सस्तेमें ही

यूनियन-सरकारको नेक-नीयतीका सर्टिफिकेट मिल जाता है। प्रत्यागमन-के चक्करमें पड़ने वाले प्रवासियोंकी जो दुर्गति हुई उसका वर्णन प्रसंगानुसार आगे किया जायगा।

यह भी परिषद्‌में तय हुआ कि दक्षिण अफ्रिकामें हिन्दुस्थानका एक राजदूत (Agent-General) भी रहे, जो केपटाउन-समझौते-को कार्यान्वित करनेमें यूनियन-सरकारकी सहायता करे और प्रवासी भारतीयोंके स्वत्वोंकी रक्षा। महात्मा गान्धीकी प्रेरणासे माननीय श्रीनिवास शास्त्री भारतके प्रथम राजदूत होकर दक्षिण अफ्रिका पहुँचे। जनरल स्मट्‌सने जो आग लगाई थी वह तीन सालके आन्दोलनके बाद इस रूपमें बुझ पाई और प्रवासी भारतीयोंको दम लेनेका अवसर मिल सका।

: २७ :

सेवाके लिए संन्यास

सन् १९२६में मैंने अपने गाँवमें एक प्रवासी-भवन बनवाया। इमारत पक्की बनी, जो उस देहातमें अपने ढंगकी एक ही थी। उसमें एक 'दयाल पुस्तकालय' था और एक 'दुखन पाठशाला'। शिक्षा-प्रचारके लिए डरबन (नेटाल)के एक रईस श्री ए० दुखनने मुझे दो सौ पौण्ड (२६२० रु०) भेंट किये थे, अतएव उनकी स्मृतिमें पाठशालाका नाम मैंने 'दुखन लोअर प्रायमरी स्कूल' रखा था। उसमें देहातके बच्चोंको निःशुल्क हिन्दीकी शिक्षा दी जाती थी। उसके साथ ही एक रात्रि-पाठशाला भी खोली गई थी, जिसमें किसान और मजदूर युवकोंके पढ़नेकी व्यवस्था थी। पुस्तकालयमें प्रवासी-साहित्यके सिवा भिन्न-भिन्न विषयके ग्रंथोंका अच्छा संग्रह था। दूर-दूरके गाँवोंके लोग पुस्तक ले जाते थे, और पढ़कर प्रायः वापस कर दिया करते थे, पर बहुत-सी पुस्तकें गायब भी हो गईं।

मेरे गाँवमें राजेन्द्र बाबू

प्रवासी-भवनका उद्घाटन हिन्दुस्थानकी शान और बिहारके प्राण डाक्टर राजेन्द्रप्रसादके कर-कमलोंसे हुआ था। राजेन्द्र बाबू साबरमतीसे सीधे कुदरा आये थे और अपने साथ महात्मा गान्धीका सन्देश भी लाये थे। जेठका महीना था, गर्मीका मौसम। कुदरा स्टेशनसे बहुआरा गाँव करीब चार कोसके फासलेपर है। तीन कोस तक ऊबड़-खाबड़ कच्ची सड़क और कोस-भर पगडंडी। ऐसा संयोग आ पड़ा कि गौने-विवाहकी

धूमके कारण उस दिन इक्केकी सवारी भी नहीं मिली, लाचार होकर बैलगाड़ीका आश्रय लेना पड़ा। एक तो राजेन्द्र बाबू रेलगाड़ीकी लम्बी यात्राके कारण थके-माँदे और उनींदे, तिसपर सारी रात बैलगाड़ीका हचकोला। उनके कष्टोंका अनुमान करके मैं ग्लानिसे गड़ गया, लेकिन राजेन्द्र बाबूने कोई शिकायत नहीं की। वे परम योगीकी भाँति सुख-दुःखकी भावनासे परे थे। रात कष्टसे कटी थी, पर दिनमें भी विश्राम कहाँ ? सबेरेसे दर्शनार्थियोंकी भीड़ जुटने लगी। तीसरे पहर उन्होंने 'प्रवासी-भवन'का उद्घाटन किया और एक विशाल जन-समूहके सामने घण्टा-भर भाषण भी दिया। आपकी वक्तृता भोजपुरी बोलीमें हुई बड़ी मर्म-स्पर्शी। ग्रामीणोंपर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। शामको राजेन्द्र बाबू बहुआरासे विदा हो गए।

संन्यास-ग्रहण

इसके साल-भर बाद सन १९२७में चैतकी रामनवमीको मैंने संन्यास ग्रहण कर लिया। यह मेरे वर्षोंके गंभीर विचारका परिणाम था। जगरानीके निधनके बाद मेरे हित्-मित्रोंको यही चिन्ता सता रही थी कि किसी तरह मेरा पुनर्विवाह हो जाना चाहिए। तीस सालकी आयुमें मैं विधुर होगया था, छोटा बच्चा ब्रह्मदत्त केवल तीन सालका था। अतएव लोग मुझे समझाते—"अजी, अभी आपकी उम्र ही क्या है ? सच पूछो तो यही उम्र है शादी करनेकी। अक्सर लोग साठ सालकी आयुमें शादी कर लेते हैं। कहावत है—'साठा सो पाठा' पुरुषको सुख-दुःखमें, सम्पत्ति-विपत्तिमें, हर्ष-विषादमें एक जीवन-सहचरीकी जरूरत होती है, इसके बिना जीवन मरुस्थलकी भाँति बंजर और पथरीली भूमिकी भाँति रस-हीन एवं निस्तत्त्व बन जाता है। छोटे बच्चेको कौन पालेगा ? आप घरमें बैठकर बच्चेको देखेंगे या बाहर जाकर कोई काम-धन्धा करेंगे ? यदि उम्र ढल जानेपर शादीकी इच्छा हुई तो अफसोसके सिवा और कुछ हाथ न लगेगा—

"गया वक्त फिर हाथ आता नहीं,
सदा दौर-दौरा दिखाता नहीं ।"

इस तरहकी बातें कहकर—दलीलें देकर मुझे डिगानेकी कोशिश की जाती । बात यहाँ तक बढ़ती गई कि मेरे सामने सुघर, सौन्दर्यमयी एवं शिक्षित कन्याएँ भी पेश की जाने लगीं । हितू-मित्रोंकी इन हरकतों-से कभी-कभी मेरा मन डिगने लगता, पर मृत्यु शय्यापर जगरानीसे की हुई प्रतिज्ञा याद हो आती और मैं काँप उठता । विमातासे बच्चोंको सुख नहीं, दुःख ही होगा, यह मैं अनुभवसे जानता था।

जिन भावनाओंसे प्रेरित होकर मैंने संन्यास ग्रहण किया, उनमें सर्वोपरि थी—पुनर्विवाहकी चर्चासे छुट्टी पा जानेकी तमन्ना । सोचा कि गेरुवा वस्त्र पहन लेनेपर फिर न तो किसीको पुनर्विवाहकी चर्चा चलाने-की हिम्मत पड़ेगी और न मेरे मनको कभी डाँवाँडोल होनेकी आशंका रहेगी । आखिर मैंने अपना जीवन जन-सेवामें निछावर करनेका संकल्प कर ही लिया, इसलिए काषाय-वस्त्र पहन लेनेमें हर्ज ही क्या है ? मैं न तो घर-बार छोड़कर वनमें जाना चाहता हूँ और न दूसरोंकी कमाईपर गुलछर्रे उड़ाना चाहता हूँ । मेरा तो एक-मात्र उद्देश्य है जन-सेवामें अपना सारा समय और अपनी सारी शक्ति लगाना और इसीको भग-वान्‌की सच्ची उपासना समझना ।

संन्यासाश्रममें प्रवेश करनेसे एक पखवारा पूर्व सहसराम स्टेशनपर महात्मा गांधीसे भेंट हो गई थी । उन्होंने मुझसे पूछा, "सुनता हूँ कि तुम संन्यास लेना चाहते हो । संन्यास है मोक्ष-प्राप्तिकी साधना । संसार-संग्रामसे विरक्त होकर मोक्षकी कामना करना क्या तुम्हारे लिए उपयुक्त है ? इस समय भारतको संन्यासियोंकी नहीं, कर्मयोगियोंकी जरूरत है ।" मैंने बापूसे नम्रतापूर्वक निवेदन किया—"बापू ! मैं व्यक्तिगत मुक्ति नहीं चाहता । जब तक भारत-माता बंधनमें बँधी है—परवश और पराधीन है, करोड़ों देश-बन्धु गुलामीके नरकमें गरक हैं तबतक किसी भारतवासीको व्यक्तिगत मुक्तिके लिए इच्छा और उद्योग करना मेरे

विचारमें केवल स्वार्थ-परता ही नहीं, असभ्य अपराध भी है। दासता-से देशको मुक्ति मिले, इसी उद्योगमें मेरी सारी शक्ति लगेगी—यही मेरे संन्यासका लक्ष्य होगा। देशकी आजादीके दीवाने संन्यास ले सकते हैं—माँकी गुलामीकी बेड़ी काटनेके लिए जानपर खेलने वाले भगवा वस्त्र पहन सकते हैं। देशकी छातीपर भार बनकर जनताकी कमाईपर ताग़ड़-धिन्ना करने वाले वास्तवमें संन्यासी नहीं,सर्वनाशी हैं।"

उस दिनकी कृतियाँ मेरे जीवनकी संचित स्मृतियोंमें सदा सुरक्षित रहेंगी। शाहाबाद जिलेके अनेक कांग्रेस-नेता और कार्यकर्ता उपस्थित थे, ग्रामीण जनताकी अपार भीड़ थी। स्वामी शिवानन्दजी, स्वामी मुनीशानन्दजी और पं० वेदव्रतजी वानप्रस्थी (अब स्वामी अभेदानन्दजी) ने वेद-मन्त्रोंसे एक बृहद् यज्ञ करके मुझे विधिपूर्वक संन्यासाश्रममें प्रविष्ट कराया। मेरे सामने जीवनका नया नकशा था, कार्यका एक विशाल क्षेत्र था। मनमें जन-सेवाकी स्फूर्ति थी, हृदयमें उत्सर्गकी अनुरक्ति। मैंने गेरुवा वस्त्र धारण किया—संसार-त्यागके लिए नहीं, संसार-सेवाके लिए। मैंने घर बार और परिवार नहीं त्यागा, उनके साथ रहते हुए भी जन-सेवामें जीवनोत्सर्ग करनेका व्रत लिया।

सामाजिक क्रान्ति

उस दिन उस छोटेसे गाँवमें एक विलक्षण बात हो गई थी। उस देहातमें जात-पाँत, छुआछूत, ऊँच-नीच और कच्ची-पक्कीका प्रचण्ड प्रभेद एवं प्रभाव है। यहाँ तक कि एक ब्राह्मण या राजपूत दूसरे ब्राह्मण या राजपूत को अपनेसे कुछ नीच समझकर उसके यहाँ दाल-भात नहीं खाता, फिर दूसरी जातियोंके यहाँ खाना-पीना तो मानो जाति गँवाना और धर्म डुबाना है। अतएव देशाचारके विचारसे मैंने समागत सज्जनोंके आहारके लिए पूरी-कचौरी और तरकारी तैयार कराई थी। मध्याह्नमें तो पक्कीसे काम चल गया, पर साँझकी बेला कुछ लोगोंने कच्ची खानेकी इच्छा प्रकट की। थोड़ी-सी कच्ची रसोई पकाई गई। जब खानेका समय हुआ तो मैंने सोचा कि कौन कच्ची खायगा और कौन पक्की, लोगोंसे यह

पूछते फिरना उचित न होगा। इसलिए मैंने मनादी करा दी कि पहले दाल-भात खाने वाले जीमने चलें, उसके बाद पक्की खाने वालोंको बुलावा होगा। जो दृश्य देखा, उसपर विश्वास न हुआ। सोचा, स्वप्न देख रहा हूँ या आँखें धोखा दे रही हैं। शीतल जलसे आँखें धोकर फिर देखा, तथ्य सामने था, सन्देहकी गुञ्जाइश कहाँ थी? देखा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, तेली, कलवार, बढ़ई, लोहार, बनिया, कुम्हार और यहाँ तक कि पासी, दुसाध और चमार तक एक ही पाँतिमें सटकर बैठे हुए थे और बड़े प्रेमसे भात-दाल का भोग लगा रहे थे। मैंने अनुमानसे केवल तीस-चालीस व्यक्तियोंके लिए भात-दालका इन्तजाम किया था, पर वहाँ तो पाँतिमें आ बैठे कोई डेढ़ सौ आदमी। हाँडी खुरचनेपर भी एक-एक मुट्ठीसे अधिक भात परसनेकी सबील कहाँसे लगती? आखिर पूरीसे काम चलाना पड़ा। उधर लोग भात-दाल खा रहे थे, इधर मैं विचार-वारिधिमें गोते लगा रहा था। मुझे उस दिनकी याद आ रही थी, जिस दिन जातके जानवरोंने मुझे कुजात समझकर यह फतवा दिया था कि मेरा छुआ भात खाना मानो जात गँवाना है। पर आज एक चौथाई सदीके अन्दर समाजमें ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन! परम्परागत रूढ़ियोंका इस तीव्र गतिसे विनाश। मुझे भारतके उज्ज्वल भविष्यमें सन्देह नहीं रहा।

राजनीतिमें बिरादरीका भूत

उन्हीं दिनों बिहारकी धारा-सभाके लिए सदस्योंके चुनावकी धूम मची हुई थी। सहसराम इलाकेके दो उम्मीदवारोंमें बाजी लग गई थी—एक थे सूर्यपुराके कुमार राजीवरञ्जनप्रसादसिंह और दूसरे जगदीशपुरके श्रीहीराजी। मैं इस संघर्षमें तटस्थ रहना ही उचित समझता था, लेकिन परिस्थितिने मेरा पिण्ड न छोड़ा—वह मुझे बीचमें घसीट ही लाई। सहसराममें गोपाष्टमीका मेला लगा था, उसमें शरीक होनेके लिए सहसराम-निवासियोंने मुझे आमंत्रित किया था। उसी मेलेमें दोनों उम्मीदवारोंसे मेरी मुलाकात हुई और दोनोंने मुझसे मदद माँगी। मैंने

उनको अपने-अपने राजनीतिक विचार, सिद्धान्त एवं कार्य-क्रम जनताके सामने प्रकट करनेके लिए आवाहन किया।

कुमार साहबने एक चतुर धारा-शास्त्रीकी भाँति अपनी वक्तृतामें देशकी स्थितिपर राष्ट्रीय दृष्टिकोणसे प्रकाश डाला, पिछली कौन्सिलमें अपनी क्रियाशीलताकी कथा सुनाई और भावी कार्यक्रमकी रूपरेखा खींचकर मतदाताओंसे मदद माँगी। यह भी मालूम हुआ कि कुँवरसाहब यद्यपि कांग्रेसवादी नहीं हैं तो भी कांग्रेसके आदेशसे कौन्सिल त्याग चुके हैं। उनके बाद हीराजी उठे। उन्होंने सनातन धर्मकी दुहाई दी, फिर इधर-उधरके दोहे, सवैये और श्लोक सुनाकर बड़े गर्वसे फरमाया कि हमारे सनातन धर्ममें ईश्वर-भक्ति और राज-भक्तिमें कोई भेद नहीं माना गया है। राजा-ईश्वरका ही अंश है। यदि भारतपर आज अंग्रेज-सरकारका शासन न होता तो सुधारक लोग सनातन धर्मको मटियामेट करके ही दम लेते। अतएव राज-द्रोह फैलाने वाले जहाँ कानूनकी दृष्टिसे अक्षम्य अपराध करते हैं वहाँ धर्मकी दृष्टिसे घोर पाप भी।

बीसवीं सदीके प्रथम चरणके समाप्ति कालमें ऐसी विकट वक्तृता सुनकर मैंने तो कपाल ठोक लिया। सोचा, इस देश-घातक मनोवृत्ति वाले व्यक्तिको कौन्सिलमें जाने देना हमारे सहसरामके लिए शर्मकी बात होगी इसलिए मैंने उनका विरोध करनेका संकल्प कर लिया। जब हीराजीको मेरे इरादेका पता लगा तो वह विचलित हो उठे और अपने एक दर्जन मित्रों तथा मुसाहिबोंकेसाथ मेरे गाँवपर आ धमके। पहले मुझे यह समझानेकी चेष्टा की गई कि वे सन् १८५७के बिहारी वीर जनरल कुँवरसिंहके नातेमें भतीजे हैं इसलिए उनकी मदद करना मेरा कर्त्तव्य है। पर जब मैंने उनको सहसरामके भाषणकी याद दिलाई तो वे पैंतरा बदलकर बोले, "आखिर मैं क्षत्रिय हूँ, बिरादरीके नाते आपका भाई हूँ। क्या मेरी पगड़ीकी लाज रखना आपका धर्म नहीं है? आप कुँवरकी मदद कैसे कर सकते हैं? वह तो कायस्थ हैं।" इस दलीलसे मैं दङ्ग रह गया। सोचा, यह जात-पाँतका ढकोसला हिन्दुत्वके लिए तो घातक है ही, पर

भारतीय राजनीतिके लिए तो और भी नाशक जहर है। मैंने कह दिया कि कौन्सिलमें जानेके लिए जाति नहीं योग्यता ही कसौटी है। किसीको अपने मामलेमें वकीलकी जरूरत पड़ती है तो वह वकीलकी जाति नहीं, लियाकत देखता है। हमारे सहसराममें ही कितने क्षत्रिय वकील मक्खी मारते हैं और क्षत्रिय मुवक्किलोंके पैसेसे कायस्थ और मुसलमान वकील गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। कौन्सिलमें तो कौमी वकालत करनी पड़ती है, वहाँ सिर्फ उन्हींको जानेका अधिकार है, जो राजनीतिके पंडित और राष्ट्रीय स्वार्थोंके रक्षक और पक्ष-पोषक हैं। वहाँ हाथ उठाने और सरकारकी हाँ-में-हाँ मिलाने वालेको भेजना मानो जान-बूझकर लोक-हितकी हत्या करना है।

मेरे रुखसे हीराजीको निराशा तो हुई, पर उन्होंने अन्तिम दाव भी आजमा लेना चाहा। मेरे छोटे बच्चे ब्रह्मदत्तको मना करनेपर भी उन्होंने मुट्ठी-भर रुपया थमा दिया और उनके एक मित्रने मुझे एकान्तमें ले जाकर कहा कि "अगर कुछ रुपये लेकर आप बैठ जायं और किसीके पक्षमें न बोलें तो भी हमें सन्तोष हो जायगा। इस बातको भी मत भूलिये कि हीराजी आपके दरवाजेपर आ गए हैं और शिष्टाचारका आपसे क्या तकाजा है?" मैंने उत्तरमें निवेदन किया कि, "हीराजीकी तो क्या औकात है? बादशाहके खजानेमें भी इतने रुपये नहीं हैं, जिनसे मेरी आत्माकी आवाज खरीदी जा सके। मैं हीराजीकी उम्मीदवारीका विरोध अवश्य करूँगा, पर चूँकि वे मेरे दरवाजेपर आ गये हैं, इसलिए मैं उनके साथ यह रिआयत कर सकता हूँ कि कि जहाँ-जहाँके मतदाता मेरे विचार जाननेके लिए सभाएं करें वहाँ या तो हीराजी स्वयं उपस्थित होकर अथवा अपना प्रतिनिधि भेजकर अपने पक्षका समर्थन कर सकते हैं।

मैंने चाँद, चैनपुर, भभुआँ, मोहनिया, कुदरा, सहसराम, डिहरी, नासरीगंज, नोखा आदि कस्बोंमें मतदाताओंके समक्ष भाषण दिये और उनको समझाया कि कांग्रेस-उम्मीदवारके अभावमें हीराजीकी अपेक्षा कुँवर साहबको कौन्सिलमें भेजना लोक-हितके लिहाजसे अधिक

श्रेयस्कर है। हीराजीके वकील श्रीनागेश्वरप्रसादसिंह इस दौरेमें बराबर मेरे साथ रहे और मैंने प्रतिज्ञानुसार उनको हीराजीके पक्षमें बोलनेकी पूरी सहूलियत और आजादी दे रखी थी। वहाँके विषैले राजनीतिक वातावरणमें मेरा दम घुटने लगा और देशका भविष्य मुझे तिमिराच्छन्न दिखाई पड़ा। उम्मीदवारोंके राजनीतिक विचार और सिद्धान्त, उसकी विद्वत्ता और योग्यता मानो कोई महत्त्वकी चीज ही नहीं है, बिरादरी वालोंसे केवल उसकी 'जाति' की दुहाई देकर वोट पानेका दावा किया जा रहा था। सनातन धर्म और क्षत्रियत्वका सर्टिफिकेट दिखाकर हीराजी कौन्सिलमें जानेकी अपनी योग्यता सिद्ध कर रहे थे मानो वह कोई धर्मका मंदिर या बिरादरीकी पंचायत हो। जिस दिन वोट लिये गए, उस दिन करगहर पोलिङ्ग-स्टेशनपर लोगोंकी हालत देखकर मैंने दाँतों-तले उँगली दबा ली। एक ओर मतदाताओंको पूरी-कचौरी और मिठाई खिलाकर वोट खरीदे जा रहे थे और सच पूछिये तो इसी दामपर बहुतसे वोट बिक भी रहे थे और दूसरी ओर कुछ लोग पोलिङ्ग-स्टेशनके सामने गला फाड़कर चिल्ला रहे थे—"जो असल क्षत्रीके बोजका होगा वह हीराजीको ही वोट देगा। जिसकी नसलमें फरक होगा वही कायस्थ-कुमार को वोट देगा।" वोट माँगनेका यह गर्हित ढङ्ग ? राजनीतिक क्षेत्रमें जातके जानवरोंका यह हुड़दङ्ग ?

कूटनीतिज्ञ मिण्टोकी हिन्दू-मुस्लिम पृथक् निर्वाचन-पद्धति ही भारतके राजनीतिक जीवनके लिए जहरकी पुड़िया बन गई है, तिसपर हिन्दुओंमें यह जात-पाँतका पचड़ा राष्ट्रीयताकी छातीमें कटार भोंक रहा है। जहाँ धर्म और सम्प्रदाय, जात और बिरादरीका बोल-बाला है वहाँ राष्ट्रीयता एवं लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणालीका विकास कैसे हो सकता है ? दोनोंमें जमीन-आसमान-सा अन्तर है। भगवान् ही भारतको इन बलाओंसे बचा सकते हैं, मनुष्यकी यहाँ तो बिसात ही क्या है ? दो-चार घाव होते तो इलाज भी हो सकता; यहाँ तो सारा शरीर ही घावोंसे भरा पड़ा है, कहाँ नश्तर लगाया जावे और कहाँ मरहम-पट्टी की जावे ?

आखिर कुमार साहबकी ही जीत हुई; हीराजी हार गए। कहा जाता है कि इस चुनावकी लड़ाईमें दोनों पक्षके दो लाख रुपये स्वाहा हो गए। कुमार राजीवरंजनप्रसादसिंह सूर्यपुराके प्रसिद्ध हिन्दी-साहित्य-सेवी राजा राधिकारमणप्रसादसिंहके अनुज हैं। राजा साहबकी कृतियाँ हिन्दी साहित्यकी अनमोल निधि हैं। सन् १९३५में नवीन इंडिया-एक्टके अनुसार जब प्रांतोंमें शासन-सुधार हुआ और नई धारा-सभाएँ बनीं तो कुमार साहब बिहारकी लेजस्लेटिव कौन्सिलके प्रधान चुने गए।

: २८ :

नेटालमें नया युग

सन् १९२७के अन्तमें मैं फिर नेटाल लौट गया। जिस दिन मैं स्टीमरसे उतरा, उसी दिन माननीय श्रीनिवास शास्त्रीका भोजनके लिए आमंत्रण मिला। बिरिया-पहाड़ीपर पारख सेठके बँगलेमें वह रहते थे। वहीं उनके प्रथम दर्शन हुए। उनका तेजस्वी रूप देखकर मैं मुग्ध हो गया। कर-स्पर्शसे ऐसा भासित हुआ कि कोई अदृश्य शक्ति मुझे उनकी तरफ खींचे लिये जा रही है। मुझे अपने पूर्व-कृत्यपर बड़ी लज्जा आई। मैं शास्त्रीजीके विचारोंका निर्मम समालोचक था; कभी-कभी मेरी समालोचना मर्यादाकी सीमा लाँघ जाती थी। एक बार 'हिन्दी'के विनोद-स्तम्भमें शास्त्रीजीकी आस्ट्रेलिया-यात्रापर मैंने एक तुकबन्दी छापी थी जिसका बानगीके तौरपर एक पद यहाँ उद्धृत करना ही काफी होगा—

"पोपी बनकर पूँछ हिलाते भूँक रहा इंगलिश बुलडॉग।
जूठा हाड़ चाटकर कहते बराबरीका हुआ संयोग॥"

पहली मुलाकातमें ही मुझे अपनी भूलका पता लग गया। उनकी सहृदयता और साधुताकी मुझपर गहरी छाप पड़ी। यद्यपि उनके राजनीतिक विचारोंसे मैं सहमत न हो सका, पर उनके त्याग और तपस्याके सामने मेरा शीश बलात् झुक गया।

शास्त्रीजी का सत्सङ्ग

इस संसारसे वह चल बसे, पर उनका नाम भारत और दक्षिण अफ्रिकामें अमर रहेगा। संसारके सर्वोपरि वक्ताओंमें वह एक थे।

उनकी वाणीमें ऐसी अमोघ शक्ति थी कि जब मंचपर खड़े होकर वह अपना विचार व्यक्त करने लगते तो उनके विचारोंके समर्थक और समालोचक सभी स्तब्ध रह जाते थे। वे केवल विलक्षण वाग्मी ही नहीं, विशिष्ट विचारक भी थे। उनके विचारमें मौलिकता और नवीनता होती थी। उनमें सर्वोपरि विशेषता यह थी कि वह एक त्यागी महात्मा थे। वह चाहते तो सम्मानके साथ ही सम्पद्शाली भी बन सकते थे, पर यौवनके उठानमें ही वे साधु बन गए, सेवा और त्यागका उन्होंने कठोर व्रत धारण किया और भारत-सेवा-समितिकी छत्र-छायामें देशोद्धारके काममें अपने जीवनको उत्सर्ग कर दिया। देशवासियोंके साथ ही प्रवासी भारतीयोंकी उन्होंने जो सेवाएँ की हैं वह चिर-स्मरणीय रहेंगी। आस्ट्रेलिया, कनाडा, केनिया प्रभृति देशोंके प्रवासी भारतीय उनकी सेवाओंको कभी भूल न सकेंगे और दक्षिण अफ्रिकाके इतिहासमें तो उनका नाम स्वर्णाक्षरोंमें अंकित रहेगा। दक्षिण अफ्रिका वर्ण-विद्वेषकी रङ्ग-भूमि है। जहाँ इन्सानके गुणकी कद्र नहीं, चमड़ेका रङ्ग ही बड़प्पनकी निशानी है, वहाँ भी शास्त्रीजीने अपनी वक्तृता, नीतिज्ञता, बुद्धिमत्ता और विचारशीलतासे वह प्रतिष्ठा पाई, जो आज तक किसी भी एशियावासीको नहीं मिली। इस महान् साधु पुरुषने अंग्रेज और बोअर-प्रजाका यह भ्रम भञ्जन कर दिया कि भारतमाता केवल कुली-कबाड़ियोंकी जननी है। गौराङ्ग प्रजा उनके दार्शनिक एवं राजनीतिक विचार सुनकर मंत्र-मुग्ध हो जाती और उनसे हस्त-मिलाप, वार्त्तालाप और परिचय प्राप्त करनेमें गौरव समझती।

शास्त्रीजीने मुझे इसलिए स्मरण किया था कि जब भारतमें केपटाउन-संधिका मजमून प्रकाशित हुआ तो मैंने स्वदेश-प्रत्यागमन धाराका चंड विरोध किया था; उसमें मुझे हजारों प्रवासी परिवारोंके सर्वनाशकी झलक दिखाई पड़ी थी। मेरे विचार केपटाउन-संधिकी उस धाराके प्रतिकूल थे, इसलिए शास्त्रीजी कुछ चिन्तित हो उठे। भोजनकी मेजपर बातचीतके दौरानमें उन्होंने कहा कि, "इस समय केपटाउन सम-

झौतेको अमलमें लानेकी कोशिश की जा रही है। इसीलिए मैंने एजेन्ट-जनरलका पद स्वीकार किया है। इस स्थितिमें नवीन प्रत्यागमन योजना (Assisted Immigration Scheme) के विरोधमें आपको कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए, जिससे भारतीयोंपर सन्धि-भङ्ग करनेका दोषारोप किया जा सके। जब कि यहाँके श्वेताङ्ग भी समझौतेके परीक्षणके लिए अवसर देनेको प्रस्तुत हो गए हैं तब हमारे देशवासियोंकी तरफसे ऐसी कोई भी बात नहीं होनी चाहिए, जिससे संधिकी कोई भी शर्त्त भङ्ग होती हो।''

मैं धर्म-संकटमें पड़ गया। एक तरफ तो शास्त्रीजीका आदेश, जो व्यावहारिक दृष्टिसे माननीय था। उस समय प्रत्यागमन योजनाके विरुद्ध आवाज उठाना सचमुच ही केपटाउन-संधिको दफनाना था। यदि कोई और होता तो कोई बहाना भी बन सकता, पर मैं तो कांग्रेस-कर्मीके रूपमें प्रसिद्ध हो चुका था, अतएव मेरी प्रवृत्तिसे कांग्रेसकी स्थितिपर आँच आती थी। दूसरी तरफ वे अभागे प्रवासी-परिवार थे, जिनकी इस माया-जालमें फँसकर अपना सर्वनाश कर डालनेकी आशंका थी। कैसे उनको गठरी-मोटरी बाँधे औरत-बच्चोंके साथ नेटाल छोड़नेका नजारा देख सकूँगा? कैसे उनको आगमें कूदकर छटपटाते और जलते हुए देखा करूँगा और मुँहमें ताला लगाये बैठा रहूँगा?

पर शास्त्रीजीकी युक्तियाँ अकाट्य एवं तथ्यपूर्ण थीं। भविष्यके अमङ्गलकी आशंकासे सामयिक स्थितिकी उपेक्षा करना क्या बुद्धिमानीकी बात है? यद्यपि हृदयमें विद्रोहकी आँधी चल रही थी, पर विवेकने शास्त्रीजीकी बात मान लेनेपर मजबूर कर दिया। यह कहकर कि ''मैं केपटाउन-समझौतेको कार्यान्वित करनेमें बाधक न बनूँगा,'' मैंने उस महापुरुषसे विदा ली।

उत्तरीय नेटालमें नई उलझन

इस बार मैं दिल्लीकी आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभाके प्रतिनिधि और प्रचारकके रूपमें दक्षिण अफ्रिका गया था। केपटाउन-संधिके कारण

वहाँका वातावरण शान्त था, अतएव मैंने सभाकी तरफसे वैदिक धर्मका प्रचार करना प्रारंभ कर दिया। जहाँ दक्षिण अफ्रिकामें मौखिक प्रचार करता था वहाँ सभाके मुखपत्र 'सार्वदेशिक'में प्रवासी भारतीयोंकी स्थितिपर लेख भी लिखा करता था। यदि उन लेखोंका संग्रह किया जाय तो एक पोथी तैयार हो सकती है।

सन् १६२७में भारतसे प्रस्थान करनेसे पूर्व मैंने 'दक्षिण अफ्रिकाके मेरे अनुभव' नामक एक बृहद् ग्रन्थ लिखा था, जो प्रयागके प्रसिद्ध 'चाँद कार्यालय'से प्रकाशित हुआ था। उसकी प्रतियाँ नेटाल पहुँच गई थीं और खासी खपत हो रही थी। अतएव मैंने यह सोचा कि धर्म-प्रचारके साथ ही प्रवासी-साहित्य-सृजनका काम भी होता रहेगा, पर मेरी इच्छा पूरी न होने पाई। उन्हीं दिनों व्राइहेड और यूट्रेकके जिले नेटालसे निकालकर ट्रांसवालमें मिला दिये गए और वहाँ बसे हुए भारतीयोंके लिए एक नया कानून बनाया गया। इस कानूनका आशय यह था कि जो भारतीय वहाँ लगातार तीन साल रह चुके हैं, वे यदि वहाँ स्थायी प्रवासका अधिकार प्राप्त करना चाहें तो उनको अर्जी देनी चाहिए। उनकी अर्जीकी सूचना 'सरकारी गजट'में छपेगी और यदि किसीने आपत्ति न की तो वे मंजूर कर ली जायंगी। वहाँ बसनेकी सनद इस शर्तके साथ मिलेगी कि उनको न वहाँ जमीन खरीदनेका अख्तियार होगा और न फिर नेटाल लौटनेका। जो वहाँ केवल नौकरी करनेके अभिप्राय-से रहना चाहते हैं और नेटालका प्रवासाधिकार बनाये रखना चाहते हैं, उनको एक पौण्ड फीस देकर मिआदी-परवाना (Temporary Permit) लेना चाहिए। इस परवानेकी अवधि उतने ही दिनोंके लिए होगी, जितने दिनों तक वे अपने मौजूदा मालिकके यहाँ नौकरी करते रहेंगे। नौकरी छूट जानेपर उनको फौरन नेटाल वापस जाना अनिवार्य होगा।

व्राइहेड और यूट्रेकके जिलेमें लगभग पाँच सौ प्रवासी भारतीय आबाद थे। उनमें दो-चारके सिवा शेष सभी मेहनत-मजदूरीसे गुजर-

बसर करते थे। इस कानूनसे उनमें हाहाकार मच गया। कितने बसं-बसाये घर उजड़ गए और कितनोंने बिस्तर समेटकर हिन्दुस्थानकी राह पकड़ी। उस समय मैं डेनहाउसरमें था। वहाँ एक कोयलेकी खानमें आग लग जानेसे अनेक भारतीय हताहत हुए थे। उन दिनों साधु एंड्रूज वहीं पर थे, उन्होंने स्वयं इस दुर्घटनाकी जाँच की थी। जो मर गए थे उनके परिवारको 'श्रमजीवी प्रतिदान विधान' (Worksmen's Compensation Act) के अनुसार पाँच सौ पौण्ड हर्जानेके तौर-पर मिला था। पीटर मेरित्सबर्गके दैनिक 'नेटाल विटनेस'ने भी इन आपद-संकुल परिवारोंके लिए अपने पाठकोंसे साढ़े चार सौ पौण्ड इकट्ठे किये थे। यह रकम आश्रितोंमें यथायोग्य बाँट देनेके लिए नेटाल इंडियन कांग्रेसको सौंप दी गई थी और कांग्रेसने मृत व्यक्तियोंके वारिसोंकी जाँच करके उस रकमको बाँटनेका काम मेरे सुपुर्द कर दिया था। इस कामसे फरागत होकर मैं डरबन लौटने ही वाला था कि उसी समय मुझे साउथ अफ्रिकन इण्डियन कांग्रेसका एक तार मिला, जिसमें यह हिदायत थी कि मुझे कांग्रेस-प्रतिनिधिकी हैसियतसे फौरन ब्राइहेड जाना चाहिए और वहाँके प्रवासी भारतीयोंको नये कानूनकी बारीकियाँ समझाकर उनकी सहायता करनी चाहिए।

उस समय मेरी तबियत भी अच्छी नहीं थी, फिर भी इस कौमी कामसे इनकार करना मेरे लिए असंभव था। मैं अपने व्यक्तिगत-सेक्रेटरी श्री शिवचन्द्र गुरुदीनके साथ वहाँ जा पहुँचा। वहाँ ठहरनेका सवाल सामने आया। होटल तो अनेक थे, पर भारतीयोंके लिए उनके दरवाजे बन्द। वहाँ हिन्दुस्थानियोंकी वही हालत है जो हिन्दुस्थानमें हरिजनोंकी। होटलोंके अधिकांश मालिक यहूदी हैं, पर वे चमड़ेके रङ्गकी बदौलत श्वेताङ्ग बन गए हैं और भारतीयोंसे घृणा करनेमें यूरोपियनोंसे भी दस कदम आगे हैं। हम बड़े असमंजसमें पड़ गए, पर श्री मोटाला नामक एक भारतीय भाईने हमारी दिक्कत दूर कर दी। उन्होंने अपना एक-मात्र कमरा मेरे हवाले कर दिया और खुद अपनी बीबीके साथ दूकानमें जा

डेरा जमाया। मोटाला भाई मजहबसे मुसलमान थे और दर्जीका धन्धा करते थे। रहनेके लिए उनके पास एक छोटा-सा कमरा था और धन्धेके लिए एक छोटी-सी दूकान। मकान और दूकान दोनों किरायेपर, क्योंकि वहाँ हिन्दुस्थानियोंके लिए जमीन खरीदना कानूनसे वर्जित था।

यूनियन-सरकारके प्रतिनिधि मिस्टर डोबसन भी अपने भारतीय क्लार्क रिटवन्सके साथ पहुँच गए। डोबसनके साथ मोटरपर मैं प्रतिदिन सौ मीलके हिसाबसे दौरा करता था। कोयलेकी कोई खान बचने नहीं पाई, जहाँ पहुँचकर मैंने अपने देशवासियोंको नवीन कानूनका मर्म न समझाया हो। अब तक केवल जमीनकी तह खोदकर कोयला निकालते हुए देखा था, पर इस इलाकेमें तो कोयलेकी बड़ी-बड़ी पहाड़ियाँ दृष्टि-गोचर हुईं।

मैंने अपने भोले-भाले भाइयोंको बहुत समझाया कि वे वहाँका प्रवासा-धिकार प्राप्त करनेमें न चूकें अन्यथा उनको पछताना पड़ेगा। पर उनकी हालत कुछ और ही थी। अबतक वे जिले नेटाल प्रान्तके अन्त-र्गत थे, अतएव यहाँके प्रवासियोंके नाते-रिश्तेका सम्बन्ध प्रान्तके अन्य भागोंमें बसने वाले भाइयोंसे बना रहा। कुछ लोगोंने यहाँ नौकरी करते हुए भी नेटालके अन्य भागोंमें थोड़ी-बहुत जमीन मोल ले ली थी और मकान बनवा लिये थे, क्योंकि इन दोनों जिलोंमें पहलेसे ही भारतीयों-को जमीन खरीदनेमें कानून बाधक था। इस नूतन व्यवस्थासे वे बेचारे बड़े चक्करमें पड़े। इधर खाई थी, उधर खन्दक। यहाँ स्थायी रूपसे बसते हैं तो नेटालसे नाता टूटता है; यदि मिआदी सनद लेते हैं तो नौकरी छूट जानेपर नेटालमें बेकारी गले पड़नेकी आशङ्का है। कई तो वहीं जन्मे और पले थे तथा वयस्क होनेपर वहीं नौकरी-चाकरी करते आये थे। वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे। उनपर अचानक वज्र टूट पड़ा था, उनकी हस्ती खतरेमें पड़ गई थी, उनकी रोजीपर ग्रहण लग गया था। आखिर उनको मेरी सलाह अच्छी नहीं जँची, दो-चारको छोड़कर सभीने नेटाल लौटनेके खयालसे मिआदी परमिट लेना ही ठीक समझा।

पीछे अपनी भूलपर उनको पछताना पड़ा, हाथ मलना और सिर धुनना पड़ा, पर गया -वक़्त कब हाथ आया है ? मुझे यही सोचकर सन्तोष करना पड़ा कि मैंने अपना कर्त्तव्य-पालन कर दिया ।

सन् १९१०में दक्षिण अफ्रिकाका संघ (Union of South Africa) बना जिसमें नेटाल, ट्रांसवाल, ऑरेंज फ्रीस्टेट और केप प्रान्त सम्मिलित हुए । संघकी एक ही पार्लमेण्ट है, एक ही शासन-पद्धति है, एक ही न्याय-विधान है । प्रान्तोंकी स्वाधीनता सीमित है, अधिकार परिमित । केन्द्रमें ही सर्वोच्च सत्ता सन्निविष्ट है। पर भारतीयों-के लिए चारों प्रान्तोंमें भिन्न-भिन्न कानून हैं । केपमें भारतीयोंको पार्ल-मेण्ट, प्रान्तिक कौन्सिल और म्युनिसिपल चुनावमें वोट देनेका अधिकार है, पर नेटाल, ट्रांसवाल और फ्रीस्टेटमें नहीं । नेटाल और केपमें भार-तीय जमीन मोल ले सकते हैं, पर ट्रांसवाल और फ्रीस्टेटमें नहीं । भार-तीयोंको एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तमें जाकर बसने और व्यापार करनेकी बात तो दूर रही, प्रवेश तक करनेका अख्तियार नहीं है । एक प्रान्तके भारतीयको अपने हित्-मित्रोंसे मिलने अथवा सैर-सपाटा करनेके इरादेसे दूसरे प्रांतमें जानेके लिए पहले अर्जी देकर परमिट लेना पड़ता है, जिसकी अवधि केवल छः सप्ताहकी होती है, जरूरत पड़नेपर अवधि बढ़ा दी जाती है, पर सबूत देकर सत्ताधीशोंको सन्तुष्ट करनेपर ।

साम्प्रदायिक संघर्ष

उन्हीं दिनों नेटालमें दो धर्मोपदेशक पहुँच गए थे—एक सनातन धर्मके और दूसरे आर्यसमाजके । पं०रामगोविन्द त्रिवेदी सनातन धर्मके सन्देश-वाहक थे और डॉक्टर भगतराम सहगल आर्यसमाजके अधिनायक। त्रिवेदीजी मारिशस द्वीपमें सनातन धर्मका डंका बजाकर आये थे और सहगलजी पूर्व अफ्रिकामें वैदिकधर्मकी पताका फहराकर। त्रिवेदीजी हिन्दी-के अच्छे लेखक थे और सहगलजी आर्यभाषाके जोशीले वक्ता । एक अकेले थे और दूसरे स्त्री-बच्चोंके साथ । एक तो अफ्रिकामें सनातन धर्म-की सुर-सरि बहाकर कलियुगी भागीरथ बन जाना चाहते थे और दूसरे

महाभागकी तमन्ना यह थी कि यदि वह किसी तरह अमेरिका पहुँच पाते तो मिस मेयोंके मुकाबलेमें अपनी देवीजीको खड़ी करके अमेरिकनोंके छक्के छुड़ा देते, पर यहाँ "नाम तो कंचन-प्रभा, चमक काँचकी भी नहीं" वाली कहावत ठीक-ठीक घट रही थी।

इधर सहगलजीके सिरपर आर्यसमाजोंकी संख्या बढ़ानेकी धुन सवार थी। बरसाती मेंढकोंकी भाँति समाजोंकी सृष्टि और वृद्धि होने लगी। जहाँ कहीं भी वह पहुँच जाते, वहीं एक समाज बन जाता। ऐसे सदस्य बना लिये जाते, जिनको आर्य-सिद्धान्तका ककहरा भी नहीं मालूम होता। नतीजा यह होता कि सहगलजीकी उपस्थितिमें समाज बन जाता और उनकी बिदाईके बाद उसका निशान भी मिट जाता। उनकी प्रेरणा और प्रयत्नसे कई सभाओंके नाम बदलकर आर्यसमाज रख दिये गए। पीटर मेरित्सबर्गकी पुरातन वेद-धर्म-सभाका नाम बदलवानेके प्रयत्नमें उनको अपमानित भी होना पड़ा, पर वह हतोत्साह नहीं हुए। उन्होंने वेद-धर्म-सभाके दस-बारह सदस्योंको अपने मतमें मिलाकर आर्यसमाज बनाये बिना दम न लिया। सहगलजी नेटालमें अपने बनाये हुए आर्य-समाजोंकी संख्या गिनाकर भारतमें नाम कमाना चाहते थे।

उधर त्रिवेदीजी कहाँ किसीसे कम थे? वह इतने बड़े पंडित और प्रचारक थे कि नेटालके शहरों और कस्बोंमें छोटी-छोटी सभाएँ खोलना अपनी शानके खिलाफ समझते थे। उन्होंने एकदम 'दक्षिणीय अफ्रिका सनातन धर्म महामण्डल' बना डालनेकी ठानली।

आखिर दोनों प्रचारकोंमें संघर्ष होकर ही रहा। पुराण-पंथी त्रिवेदीजीके पक्षमें हो गए और सुधारक सहगलजीके पक्षमें। साम्प्रदायिक-धनुषसे वाक्य-शर छूटने लगे—घोर घमासान मच गया। वातावरण विषाक्त हो उठा, फूट और बैरकी खेती लहलहाने लगी। साम्प्रदायिक शराब मनुष्योंको मतवाला बना डालती है—इन्सानको हैवान। जोश और रोषमें होश कहाँ? भाई-भाईमें और मित्र-मित्रमें द्वेष फैल जाता है, स्नेह और सद्भावकी हत्या हो जाती है।

मुझसे दोनों महोपदेशक असन्तुष्ट और रुष्ट थे । त्रिवेदीजी मुझे सनातन धर्मका शत्रु समझते थे और सहगलजी मुझे आर्यसमाजकी अप-कीर्ति । मेरा अपराध यही था कि साम्प्रदायिक कलहाग्निमें घृताहुति डालना मैं उचित नहीं समझता था । त्रिवेदीजीको यूनियन-सरकार-ने निर्वासित कर दिया । देश-भरमें यह अफवाह उड़ाई गई कि मेरी ही प्रेरणासे सरकारने उनको नेटालसे निकाल दिया है । सहगलजी भी मुझसे मुँह फुलाये हुए थे और कुछ आर्यसमाजियोंको मेरे विरुद्ध उभार भी रहे थे । त्रिवेदीजी तो सनातनियोंसे दान-दक्षिणा लेकर भारत लौट आये, और सहगलजी आर्योंकी आर्थिक सहायतासे इङ्गलैण्ड गये । दोनों प्रचारक तो चले गए, पर प्रवासियोंके लिए फूट और वैरके फल चखने-को छोड़ गए ।

: २६ :

शिक्षा-कमीशन और मेरे पेटका आपरेशन

सन् १९२८ में नेटाल-प्रवासी भारतीयोंके इतिहासमें एक नया अध्याय आरंभ हुआ। माननीय शास्त्रीजीके उद्योगसे केपटाउन संधिके अनुसार भारतीयोंमें शिक्षा-प्रचारकी ओर सत्ताधिकारियोंका ध्यान आकृष्ट हुआ। नेटालकी प्रांतिक कौन्सिलने एक शिक्षा-कमीशन बैठाया। भारत-सरकारकी तरफसे भी दो शिक्षा विशेषज्ञ वहाँ पहुँचे—श्री कैलासप्रसाद किचलू और कुमारी गोर्डन। नेटाल-इंडियन-कांग्रेसने कमीशनके सामने लिखित वक्तव्य और मौखिक बयान देनेके लिए आठ व्यक्तियोंकी एक समिति बनाई थी, उनमें एक मैं भी था। इस प्रसंगमें मैंने नेटाल-भरका दौरा किया; न्यूकासल, टाग्रगर्स-ल्लूफ, डेनहाउसर, ग्लक्को, डंडी, लेडी-स्मिथ, पीटर मेरित्सबर्ग, डरबन, माउन्ट एजकम्ब, वेरूलम, टोङ्गाट, चाकस-काल, स्टेङ्गर, ननौटी, डारनल, क्लेरउड, इस्पिङ्गो आदि स्थानों-के स्कूल देखे, पाठ्य-विधिपर दृष्टि डाली, अध्यापकोंसे बातचीत की और विद्यार्थियोंके सामान्य ज्ञानकी परीक्षा भी ली। उनमें कुछ पाठशालाएँ तो सरकारी थीं, कुछ इमदादी और कुछ खानगी भी। सरकारी स्कूलके सिवा इमदादी और खानगी स्कूलोंकी हालत अच्छी नहीं थी। कुल नौ सरकारी पाठशालाएँ थीं और चवालीस इमदादी। इमदादी स्कूलोंकी इमारतें अपनी किस्मतको कोस रही थीं—सड़ी-गली टीनकी दीवारें और टूटे-फूटे छप्पर। उनको विद्या-मंदिरके बजाय अभागोंके झोंपड़े कहना अधिक उपयुक्त होगा। उनमें न पवनका प्रवेश होता और न प्रकाश का।

जिन भारतीयोंकी श्रमशीलतासे नेटाल 'दक्षिण अफ्रिकाका सरसब्ज बाग' कहलाया, उनके बच्चोंकी शिक्षाकी यह दशा ?"

नेटाल-सरकारकी डकैती

इस जाँच-पड़तालके सिलसिलेमें नेटालकी प्रांतिक सरकारकी डकैती-का ऐसा भण्डा फूटा कि सारी दुनिया दङ्ग रह गई। यूनियनकी केन्द्रीय सरकारकी तरफसे भारतीयोंकी शिक्षाके मदमें जो रकम मिलती थी उसमें-से आधी रकम नेटालकी प्रांतिक सरकार ऐसी सफाईसे हजम कर जाती थी कि डकारनेकी भी जरूरत नहीं पड़ती थी। भारतीय शिक्षाकी लूटी हुई रकम श्वेताङ्गों और उनकी वर्ण-संकरी सन्तानकी शिक्षामें खर्च की जाती थी। नेटालके गोरोंकी दृष्टिमें शिक्षा पानेके अधिकारी वे ही हैं जिनके चमड़ेका रंग सफेद है; भारतीयोंको तो मानो भगवान्‌ने उनकी गुलामी करनेके लिए ही सिरजा है। इसपर टीका करते हुए 'नेटाल एडवर्टायजर'ने ठीक ही कहा कहा था कि "यह तो मानो मोहनको लूट कर सोहनको देना है" (Robbing Peter to pay Paul.)

आखिर कमीशनको भी यही राय देनी पड़ी कि भविष्यमें यह लूट बन्द हो जानी चाहिए और भारतीय शिक्षाकी रकम उसी मदमें खर्च होनी चाहिए। यही नहीं, बल्कि इस रकममें अभिवृद्धि भी होनी चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि केपटाउन-संधिके बाद भारतीय शिक्षाके क्षेत्रमें आशातीत प्रगति हुई। जहाँ इस मदमें पहले सालाना केवल सत्ताईस हजार पौण्ड खर्च होता था वहाँ यह रकम बढ़कर अब एक लाख पौण्ड (सवा तेरह लाख रुपये)से ऊपर पहुँच गई है। जहाँ पहले केवल नौ हजार बच्चे प्रारम्भिक शिक्षा पाते थे वहाँ उनकी संख्या तीस हजार-से अधिक हो गई है। शिक्षाकी इस प्रगतिका सारा श्रेय सरकारको नहीं है। स्वयं भारतीयोंने इस क्षेत्रमें स्वावलम्बनके सिद्धान्तको कार्यान्वित कर दिखाया और अपने त्याग, सेवा एवं श्रमसे सरकारको इस मदमें खर्च करनेके लिए मजबूर कर दिया है। उन्होंने जगह-जगहपर अपने ही धनसे इमारतें बनवाईं; उनमें पाठशालाएँ खोलीं, बच्चे जुटाये, अध्यापकों-

को साल-दो-साल अपनी गाँठसे वेतन दिये। जब स्कूल अच्छी तरह चल निकले तब कहीं उनको सरकारी इमदाद मिली। आज भी सरकारी स्कूलोंसे इमदादी स्कूलोंकी ही संख्या अधिक है।

डरबनमें शास्त्री-कालेज

शिक्षा-क्षेत्रमें शास्त्रीजीने एक और महत्त्वका काम किया। उन्होंने सेठ-साहूकार और मालदार भारतीयोंसे लगभग बीस हजार पौण्ड (दो लाख पैंसठ हजार रुपये) इकट्ठे किये। धन-संग्रहमें मैंने भी यथाशक्ति मेहनत की थी। इस द्रव्यसे डरबनमें एक महाविद्यालयकी इमारत बनवाई गई और संचालनके लिए वह सरकारको सौंप दी गई। दानियोंने शास्त्रीजीकी स्मृतिमें उसका नाम रखा—'शास्त्री-कालेज'। यद्यपि नाम तो इसका 'कालेज' है, पर इसमें हाईस्कूलोंकी भाँति मैट्रिक तक ही शिक्षा दी जाती है। यहाँ टीचर्स-ट्रेनिङ्ग विभाग भी है, जिसमें सुयोग्य शिक्षक तैयार किये जाते हैं।

इस विद्यालयने एक विकट समस्या पैदा कर दी है। दक्षिण अफ्रिका-में भारतीयोंको किसी भी सरकारी महकमेमें नौकरी नहीं मिलती है। कुछ शिक्षित भारतीय स्कूलोंमें शिक्षक हैं—वह भी खालिस इंडियन स्कूलोंमें। इने-गिने वकीलोंके दफ्तरमें क्लर्क हैं—केवल उन वकीलोंके दफ्तरमें, जिनके यहाँ भारतीय मवक्किल आते हैं। पुलिस विभागमें चौकी पहरा देनेवाले मुट्ठी-भर भारतीय सिपाही हैं। इन थोड़ेसे अपवादोंको छोड़कर समग्र भारतीयोंका निर्वाह होता है—छोटी-बड़ी दूकानदारी, खेती-बाड़ी और मेहनत-मजदूरीसे। अतएव शास्त्री-कालेजसे जो विद्यार्थी मैट्रिक पास करके निकलते हैं उनकी दशा बड़ी दयनीय हो जाती है। न उनको सरकारी नौकरी मिल सकती है, न उनमें व्यापारकी लियाकत होती है। न तो वे खेतीके काममें खप सकते हैं, न मजदूरोंकी भाँति मशक्कत कर सकते हैं। भविष्य उनपर अट्टहास करता है।

भाषाकी समस्या

उन्हीं दिनों शास्त्रीजीसे एक बातपर मेरा गहरा मतभेद हो गया।

कमीशनके कार्यारंभसे पूर्व किम्बर्लीमें साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसकी परिषद् हुई। उसमें मैंने यह प्रस्ताव पेश किया कि नेटालमें जो भारतीय शिक्षा-जाँच-कमीशन (Indian Education Enquiry Commission) बैठने वाला है उससे बलपूर्वक यह अनुरोध किया जाय कि भारतीय पाठशालाओंमें अंग्रेजीके सिवा एक विषयके तौरपर प्रत्येक विद्यार्थीको अपनी मातृ-भाषा पढ़ना अनिवार्य कर दिया जाय। शास्त्रीजीके संकेतसे मित्रवर अब्दुल्ला इस्माइल काजीने मेरे विचारके विरुद्ध बड़ा जोरदार भाषण दिया और मेरे प्रस्तावके प्रतिकूल संशोधन सभाके सामने रखा। संशोधनके पक्षमें शास्त्रीजी स्वयं डेढ़ घण्टा बोले और प्रतिनिधियोंको सलाह दी कि "जैसा देश, वैसा ही भेष" बनाना और वैसी ही भाषा अपनानी चाहिए। केपटाउन-समझौतेमें जब हमने अपने जीवनको पश्चिमीय रहन-सहनके साँचेमें ढालनेकी शर्त स्वीकार कर ली है तब यह मातृ-भाषाका मलार गाना उलटी गंगा बहाना है। यह कहाँकी बुद्धिमत्ता है? शास्त्रीजीकी बलवती वाणीसे परिषद्के प्रतिनिधि वैसे ही मस्त होकर झूमने लगे जैसे मदारीकी बीणा-ध्वनिसे साँप। जब वोट लिये गए तो प्रस्तावके पक्षमें १४ और विपक्षमें ६४वोट आये। मैं अपने भाइयोंकी इस मनोवृत्तिपर मर्माहत हो उठा और यह चुनौती देकर परिषद्से बाहर निकल गया कि मैं बहुमतके सामने सिर नहीं झुका सकता, सिद्धान्तकी हत्या नहीं कर सकता। मैं जाता हूँ नेटालकी भारतीय जनताके समने। यदि वह परिषद्के प्रस्तावको अपनी पीढ़ी-दरपीढ़ीके लिए अहितकर समझेगी तो मैं इस कांग्रेसके प्रति अविश्वासका प्रस्ताव पास कराऊँगा। यदि जनता अपनी मातृ-भाषाको तिलांजलि देनेको प्रस्तुत होगी तो मैं समझूँगा कि पन्द्रह सालका मेरा परिश्रम व्यर्थ गया और मुझे जो पहला स्टीमर मिलेगा उसीसे मैं इस देशको छोड़ दूँगा।

किम्बर्लीके सिटी-हॉलमें कांग्रेसकी परिषद्में ऐसी गड़बड़ी मची कि प्रधानको बैठक स्थगित कर देनी पड़ी। बाहर मूसलाधार वृष्टि हो रही थी, अतएव सिटीहॉलके दरवाजेपर मुझे रुक जाना पड़ा। शास्त्रीजीने

अपने सेक्रेटरी मिस्टर टायसनको दौड़ाया—मुझे समझाकर परिषद्‌में वापस ले आनेके वास्ते। वे दरवाजेपर ही मुझे पा गए और लगे मुझे बहुमतका महत्त्व समझाने;पर मैंने यह कहकर कि "यदि तुम्हें अंग्रेजीको छोड़कर संस्कृतको अपनी मातृ-भाषा बना लेनेको कहा जाय तो यह बात कैसी लगेगी तुमको" ऐसी फटकार बतलाई कि उनकी सिट्टी गुम होगई। ठीक उसी समय भाई सोराबजी वहाँ पहुँच गए। वह प्रस्तावपर मत लिये जानेके समय परिषद्‌में नहीं थे—किसी आवश्यक कामसे बाहर गये हुए थे। जब उनको मुझसे सारी हकीकत मालूम हुई तो उन्होंने मेरी बाँह पकड़कर कहा, "चलिये, एक बार और आजमा देखें। यदि हमारी चेष्टा विफल हुई तो मैं भी आपके साथ विद्रोहका झण्डा खड़ा करूँगा।"

श्री सोराबजीने इस प्रश्नपर पुनर्विचारके लिए एक आवेदन-पत्र (Requisition) तैयार किया जिसपर नब्बे प्रतिनिधियोंने हस्ताक्षर कर दिये। शास्त्रीजीकी वशीकरण वाणीका प्रभाव शिथिल होते ही प्रतिनिधियोंको अपने मति-भ्रमपर पश्चात्ताप हो रहा था। शामको सात बजे फिर परिषद्‌में मेरे प्रस्तावकी चर्चा शुरू हुई और अर्द्ध-रात्रिको उसका अन्त आया। शास्त्रीजी अस्वस्थ होनेके कारण अपने डेरेपर आराम करने चले गए थे, पर उनको जब यह खबर मिली कि मेरे अस्वीकृत प्रस्तावपर पुनर्विचार हो रहा है तो वह फौरन परिषद्‌में आ पहुँचे। यह देखकर उनके विस्मयकी सीमा नहीं रही कि परिषद्‌में पासा ही पलट गया है। एकके बाद दूसरा वक्ता उठता है और शास्त्रीजीकी नीतिकी कड़ी-से-कड़ी समालोचना करता है, जिनमें उनके श्रद्धालु भक्त भी थे। अर्द्ध-रात्रिको जब वोट लिये गए तो मेरे प्रस्तावके पक्षमें पचानवें और विपक्षमें केवल पन्द्रह वोट आये। शास्त्रीजीको बड़ी वेदना हुई और वे नाराज होकर चले गए।

मेरे सिद्धान्तकी विजय तो हो गई, प्रस्ताव बहुमतसे पास होगया, पर उसे कार्यान्वित करना कैसे संभव हो सकता था, जबकि स्वयं

शास्त्रीजी उसके विरुद्ध थे। यद्यपि साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसमें प्रस्ताव पास हुआ और हमने नेटाल-इंडियन-कांग्रेसकी तरफसे कमीशन-को जो वक्तव्य दिया था उसमें भी मातृ-भाषाकी शिक्षाकी माँग की थी, पर शास्त्रीजीका अभिमत प्रकट हो जानेपर कमीशनने हमारी माँगकी उपेक्षा करना ही उचित समझा। नेटालकी भारतीय पाठशालाओंमें केवल अंग्रेजी भाषा पढ़ाई जाती हैं। और अब शनैः-शनैः 'अफ्रिकान भाषा'का भी प्रवेश हो रहा है। नतीजा यह हो रहा है कि हिन्दुस्थानी बच्चे अपनी मातृ-भाषाको भूलते जाते हैं। अगली दो-तीन पीढ़ीके बाद वहाँकी स्थिति ऐसी बदल जायगी कि वे केवल शरीरसे हिन्दुस्थानी रह जायंगे, आत्मासे नहीं—फूल रह जायगा, सुगंध उड़ जायगी।

पेटका आपरेशन

जिन दिनों मैं नेटालके उत्तरीय जिलोंमें दौरेपर निकला, मेरी आँतमें असह्य पीड़ा उठने लगी। डेनहाउसरके डाक्टरोंने परीक्षा करके बतलाया कि मेरे पेटमें 'अपेन्डिसाइटिस' (Appendicites) नामक रोग हो गया है, जिसका एक-मात्र इलाज है अस्त्र-क्रिया अर्थात् आप-रेशन। मैं बड़े असमंजसमें पड़ा; क्योंकि लेडीस्मिथ और पीटर मेरित्स-बर्गमें मेरे व्याख्यानोंका प्रोग्राम बन चुका था। वहाँकी जनताको मैं निराश करना नहीं चाहता था। आखिर मैंने यही निश्चय किया कि निर्धारित कार्य-क्रमके अनुसार दौरा समाप्त करके डरबन लौटनेपर आप-रेशन होगा। पर लेडीस्मिथमें हालत बहुत खराब होगई। डिस्ट्रिक्ट-सर्जनने देखकर कहा कि "यदि आपकी जगह मैं होता तो आपरेशनमें एक दिनकी भी देर न होने देता, क्योंकि यदि फोड़ा अन्दर फूट गया तो मौत निश्चित है—बचनेकी कोई आशा नहीं।"

उसी वक्त मैंने टेलीफोन उठाया और सभाके सूत्रधारोंको कारण बताकर कार्य-क्रम रद्द कर दिया। डरबन लौटकर 'सेन्ट एेडन्स अस्प-ताल'में दाखिल हो गया। यह अस्पताल ईसाई-मिशन द्वारा परिचालित होता है। मेरे लिए एक खास कमरेकी व्यवस्था हो गई। कमरा छोटा

था, पर था स्वच्छ और हवादार। दीवारोंपर ईसा मसीहके चित्र लटक रहे थे, जो उस महान् आत्माके पवित्र बलिदानकी याद दिलाते थे।

आपरेशनके दिन बड़े सवेरे सिस्टर प्राटके दर्शन हुए। सिस्टर मुझे 'एनिमा' देने आई थीं। मैं संकोचमें पड़ गया। वह बोलीं, "स्वामी! यह शर्म करनेकी जगह नहीं है। मुझे अपनी बहन समझो और कोई संकोच न करो।" मेरी भारतीय संस्कृति कैसे विस्मृतिकी वस्तु बन सकती थी? पर "समय करे नर क्या करे, समय-समयकी बात।" मुझे सिस्टरकी बात मानना ही उचित जँचा। पहले उसने एनिमा देकर पेटकी सफाई की, फिर छुरेसे मेरे पेट और पेड़ूके बाल काटकर और उसपर कोई औषधि लगाकर पट्टी बाँध दी। श्वेताङ्ग सिस्टरकी शुद्ध सेवाकी भावना देखकर मैं चकित रह गया।

ठीक नौ बजे डाक्टर गोल्डबर्ग आये और उनके साथ डाक्टर स्मिथ भी। सिस्टरने मुझे आपरेशनके खटोलेपर उत्तान लिटाया, पैरमें गर्म मोजे और सिरमें गर्म टोपी पहना दी। चीर-फाड़के सब औजार तैयार थे। मेरी नाकपर नकटोप रखकर उसपर डाक्टर गोल्डबर्गने क्लोरोफॉर्म चुआना शुरू किया और डाक्टर स्मिथने नाड़ियोंकी गति परखना। पहला साँस खींचनेपर क्लोरोफॉर्मकी दुर्गन्धिसे चित्त मिचला उठा; दूसरे साँसमें आँखोंके सामने गहरी लाली छा गई और अपूर्व आनन्दकी अनुभूति हुई; तीसरे साँसमें ऐसा भासित हुआ कि मेरा शरीर सुन्न और चेतना-शक्ति लुप्त हो रही है। मैंने डपटकर डाक्टरसे कहा, "तुम यह क्या कर रहे हो?" चौथे साँसमें बिलकुल बेहोश हो गया।

दोपहर तक मैं संज्ञा-हीन रहा। इस बीचमें मेरा पेट चीरा गया, आँतकी नाड़ीका व्याधित पुछल्ला काटा गया और आपरेशनके घावकी सिलाई भी हो गई। जब होश आया,आँखें खुलीं, तो देखा कि मैं अपने कमरेमें खाटपर पड़ा हूँ। सामने श्री रणछोड़ केसूर केपिटान कुर्सीपर बैठे हैं। "क्यों आपरेशन हो गया," मैंने उनसे पूछा? "हाँ, हो गया और सफल हुआ। आप चुपचाप आराम करें," उन्होंने जवाब दिया।

उस समय मुझे इतनी भी चेतना नहीं थी कि मेरा पेट चीरा गया है। बेहोशीकी हालतमें मुझे खूब उल्टी हुई थी। यह अच्छी बात हुई क्योंकि होश आनेपर उल्टीके समय असह्य पीड़ा होती थी।

सिस्टरोंकी सेवा

डाक्टरोंका काम खत्म हो गया, अब सिस्टरोंकी बारी आई। इंजेक्शन लगाना, दवा पिलाना, तेल मलना, गर्म पानीमें तौलिया भिगोकर बदन धोना, कपड़े पहनाना, बिस्तर लगाना और यहाँ तक कि मल-मूत्र भी उठाना उनका नित्य कर्म था। इन बहनोंकी सेवामें मुझे मसीहकी शिक्षाकी झलक दिखाई पड़ी। एक दिन मैंने सिस्टर ग्राट और सिस्टर होर्टसे कहा भी कि, "तुम्हारे गिरजेमें तो नहीं, पर तुम्हारी निस्स्वार्थ सेवामें ईसाके उपदेशकी झलक अवश्य है।" दोनों सिस्टर सवेरे और शाम मेरे कमरेके दरवाजेपर घुटने टेककर पिता-पुत्र और पवित्रात्माकी वंदना करतीं और उनसे मेरी आरोग्यताके लिए विनीत याचना। योगी जिस तन्मयतासे योग साधता है, सेवाकी साधनाके लिए भी उसी तल्लीनताकी आवश्यकता होती है। गौराङ्ग बहनोंकी निस्स्वार्थ सेवाएँ और उच्चतम भावनाएँ उनके जीवनकी सर्वोत्तम विभूतियाँ थीं।

एक दिन मेरी मौजूदगीमें एक मद्रासी महिला अस्पतालमें लाई गई। वह गर्भवती थी, प्रसव-काल समीप था। पेटमें बच्चा उलट गया था, उसे बड़ी वेदना हो रही थी। वह पीड़ासे छटपटाती और चिल्लाती थी। उसके करुण-क्रन्दनसे मेरा तो हृदय हिल गया। सिस्टरने झटपट उसे खाटपर लिटाकर 'मोर्फिया'का इंजेक्शन लगा दिया। बस, उसका दर्द घट गया—वह सो गई। पर सिस्टरको चैन कहाँ? वह उसे आराम पहुँचानेमें व्यस्त रही। फिर उसे कोई कष्ट न होने पाया और दूसरे दिन बच्चा भी पैदा हो गया। सिस्टरने उसी क्षण जच्चाका शरीर गरम पानीसे धोया, कपड़े पहनाये और बिस्तर बदले। बच्चेको भी नहलाया, पाउडर लगाया और गरम कपड़ेमें लपेटकर एक खटोलेपर सुला दिया। सात-आठ दिनके बाद वह स्त्री गोदमें बच्चा लेकर राजी-खुशी घर गई।

हमारे देशकी दाई

उस समय मुझे अपने देशकी याद आये बिना नहीं रही। प्रत्येक भारतीय नारीको अपनी प्रसव-पीड़ाकी घड़ीमें जिसकी मदद लेनी पड़ती है वह है 'दाई'। बिहारमें यह धन्धा 'चमाइन' करती हैं। जब किसी घरसे उसको बुलावा आता है तो इस प्रसंगके लिए वह सुरक्षित ऐसे वस्त्र परिधान कर लेती है कि उनकी दुर्गन्धिसे किसी साफ-सुथरे आदमीको उल्टी आये बिना न रहेगी। यदि अणुवीक्षण यंत्रसे देखा जाय तो उसके कपड़ोंपर असंख्य कीटाणु रेंगते हुए दिखाई देंगे। ओझा बुलाकर झाड़-फूँक कराना, अभिमंत्रित पानी पिलाना और साँपकी केंचुल जलाना तो प्रारंभिक उपचार है। इससे कार्य सिद्ध न हुआ तो फिर दाई अपनी करामात दिखाती है। वह जच्चाके पेड़ूको अपने पैरके तलुवेसे दबाती है और जब यह क्रिया भी कारगर नहीं होती तो फिर योनिमें अपना गन्दा हाथ घुसेड़कर इस बेरहमीसे बच्चेको खींचती है कि बस, प्रभुकी पनाह! जहाँ बच्चेकी हड्डी-पसली टूट जाती है वहाँ जच्चाकी रान भी फट जाती हैं। कभी-कभी दाईकी इस निर्दय क्रियासे जच्चा-बच्चा दोनों भव-बन्धन-से मुक्त हो जाते हैं।

जच्चाको पाँच दिन उसी गंदी हालतमें रहना पड़ता है, छठे दिन नहाकर 'छठी' मनाई जाती है। जच्चाको ऐसे कमरेमें रखा जाता है जहाँ न हवाकी गुंजाइश होती है और न रोशनी की। उसको वर्षोंकी पड़ी हुई टूटी-फूटी खाट और मैले-कुचैले वस्त्र तथा बिस्तर दिये जाते हैं। इस कंजूसीका कारण यह है कि सौरसे निकलनेपर जच्चाके वस्त्र, बिस्तर और खाटपर दाईका अधिकार हो जाता है। जच्चाके कमरेमें बोरसीके अन्दर धानकी भूसीकी आग सुलगती रहती है। कहीं-कहीं यह भी रिवाज है कि बच्चेकी नाल काटकर बोरसीमें डाल देते हैं वह धीरे-धीरे जलकर घर में और भी बदबू फैलाती है। नाल काटनेके लिए कभी बाँसकी खपच्ची और कभी मुरचा-मंडित हँसुआ काममें लाये जाते हैं। नालका बाहरी सिरा बिना मरहम-पट्टीके यों ही छोड़ दिया जाता है या

उसपर गोबर अथवा मिट्टी थोप दी जाती है जिसका नतीजा बहुत बुरा होता है।

भारतीय शिशुके शुभागमनपर जहाँ उसका पूर्ण स्वागत होना चाहिए वहाँ उसे अपने जीवनका प्रभात विषाक्त वायु-मंडलमें बितानेके लिए बाध्य किया जाता है। जब भारतके भावी नागरिकके जन्मकी घड़ी आती है तो उसकी माता चिथड़े पहनकर बदबूदार अंधेरी कोठरीमें प्रवेश करती है। वह अशुद्ध समझी जाती है, इसलिए किफायतके लिहाजसे उसको इस्तैमालके लिए केवल ऐसी ही वस्तुएँ दी जाती हैं, जो फेंकने या दाईके देनेके योग्य हों।

कभी-कभी प्रसव-वेदना कई दिनों तक होती रहती है। इस मौकेपर दाई अपनी सारी तरकीबें आजमाती है, जच्चाका पेट बे-दर्दीसे मसलती हैं, दीवारके सहारे खड़ी करके उसके पेटमें अपने सिरसे टक्करें लगाती है। यदि नाल निकलनेमें जरा भी देर हुई कि छल्लों और कड़ोंसे लदा हुआ दाईका गन्दा हाथ अन्दर पहुँच जाता है और आँवल नालको तोड़-कर बाहर खींच लाता है। भारतीय नारियोंके सिवा शायद ही किसी देशकी स्त्रियोंकी ऐसी दुर्गति होती हो।

सन् १९१२में जब मेरे ज्येष्ट पुत्र रामदत्तका जन्म हुआ था और मैंने इन प्रचलित रूढ़ियोंको हटाकर जात-कर्म संस्कार कराया था, तब बिहारके देहातियोंने मुझे 'पतित-कृस्तान' कहकर अपने दिलके गुबार निकाले थे। दक्षिण अफ्रिकामें तो मेरे सभी नाती-पोते अस्पतालमें ही जन्मे हैं। वास्तवमें हमें इस विकट समस्यापर गंभीर विचार करना चाहिए और उन रूढ़ियोंको तिलांजलि दे देनी चाहिए जिनसे मानवी जीवन खतरेमें पड़ जाता है। एक हाथमें मशाल और दूसरे हाथमें झाड़ू लेकर हमें अपने घरका कूड़ा-करकट साफ कर डालना चाहिए। सबसे पहले हमें दाई तैयार करनेकी कोशिश करनी चाहिए क्योंकि दाइयोंपर हमारे देशकी करोड़ों स्त्रियों और जन्मने वाले बच्चोंका जीवन निर्भर है। छोटे-बड़े अस्पतालोंमें दाईका काम सिखानेकी व्यवस्था होनी चाहिए

और फिर ऐसा कानून बनजाना चाहिए कि जिसके पास दाईके धन्धेका सर्टि-फिकेट हो उसको ही यह नाजुक काम करनेका अधिकार हो। यह धन्धा किसी विशेष जातिके लिए नहीं छोड़ देना चाहिए, पर सभी जातिकी देवियोंको इस धन्धेको अपनानेमें कोई संकोच न करना चाहिए। जिस तरह 'लेडी डाक्टर' बननेमें प्रतिष्ठा समझी जाती है उसी प्रकार नर्स या दाई बननेमें कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। इस क्षेत्रमें जबतक हमारी मनोवृत्ति और प्रचलित रूढ़ियोंमें आमूल परिवर्तन न होगा तब-तक भारतमें प्रसूतिका एवं शिशुओंकी मौतमें कमी न होगी, जो संसार-के सब देशोंसे यहाँ अधिक होती है।

पादरी हिवर्ट वेरसे गुफ्तगू

जिन दिनोंमें अस्पतालमें था, रेवरेन्ड हिवर्ट वेरके अक्सर दर्शन होते थे। यह वयोवृद्ध पादरी एक जमानेमें दिल्लीके क्रिश्चियन कालेजके प्रिन्सिपल थे। इन्हींके इस्तीफा देनेपर यह सवाल उठा था कि उनकी जगहपर किसको प्रिन्सिपल चुनना उपयुक्त होगा—हिन्दुस्थानी श्री सुशीलकुमार रुद्रको अथवा अंग्रेज श्री सी०एफ०एण्ड्रूजको? कालिज-कमेटीके अंग्रेज-सदस्य अंग्रेज प्रिन्सिपलके पक्षमें थे, उनका दावा था कि हिन्दुस्थानी प्रिन्सिपलकी नियुक्तिसे कालेजकी प्रतिष्ठा घट जायगी; अनुशासनमें अंतर आ जायगा, पर स्वयं साधु एण्ड्रूजने यह कहकर प्रिन्सिपल बननेसे इन्कार कर दिया कि "रुद्रजी ओहदेमें मुझसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं और उनके मातहत में काम करनेको तैयार हूँ, पर यदि हिन्दुस्थानी होनेकी वजहसे उनको अपने नियमित अधिकारसे वंचित रखा गया तो मैं इस्तीफा देकर कालेजसे नाता तोड़ लूँगा।" एण्ड्रूज साहबकी दृढ़ताका फल यह हुआ कि रुद्रजी ही प्रिन्सिपल बनाये गए। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लाला हरदयालजी उन दिनों रेवरेन्ड हिवर्ट वेरके एक विद्यार्थी थे। उस महान् क्रान्तिकारीकी विद्या-बुद्धि और प्रतिभाकी प्रशंसा करते वह नहीं अघाते थे किन्तु एक अंग्रेज होनेके कारण उनके राजनीतिक विचारोंकी दाद नहीं दे सकते थे।

अस्पतालसे निकलकर मैंने डरबनमें श्रीरणछोड़ केसूर केपिटानके मकानपर आठ-दस दिन बिताये। उनकी घरकी देवियोंने जिस स्नेह एवं श्रद्धासे मेरी सेवाएँ कीं, उनको मैं इस जीवनमें भूल न सकूँगा। इस प्रकार एक भयंकर व्याधिसे मेरी जान बची।

: ३० :

शास्त्रीजीके समयमें

माननीय श्रीनिवास शास्त्रीका कार्यकाल जिस सफलतासे समाप्त हुआ वह उनकी प्रचण्ड प्रतिभाका ही परिचायक है। उनके समयमें केवल क्षमा-दान (Condonation)का तूफान मचा था। आन्तरिक सचिव डाक्टर मलानने यह एलान किया कि नेटालमें सन् १८९७के इमिग्रेशन रिसट्रिक्शन कानून (Immigration Restriction Act of 1897) पास होनेके बाद जो भारतीय चोरीसे लुक-छिपकर या झूठी गवाही दे-दिलाकर नेटालमें दाखिल हो गए हैं, वे यद्यपि कानूनके अनुसार वर्जित प्रवासी (Prohibited Emmigrants) हैं और इस अपराधका पता लगनेपर उनको निर्वासनका दण्ड दिया जा सकता है तो भी यूनियन-सरकार शास्त्रीजीकी यादगारमें उनको क्षमा-दान देनेको तैयार है;बशर्ते कि वे अमुक अवधिके अन्दर इमिग्रेशन अमलदारके सामने हाजिर होकर सच्ची हकीकत जाहिर कर दें। ट्रांसवालके भारतीयोंके सम्बन्धमें कहा गया कि जिनको 'पीस प्रेजर्वेशन परमिट' (Peace Preservation Permit) के आधारपर सन् १९०८के 'एशियाटिक रजिस्ट्रेशन सर्टिफिकेट' (Asiatic Registration Certificate) मिल चुका है, उनको क्षमा-पत्र (Condonation Certificate) लेनेकी जरूरत नहीं है—शेष सभीको क्षमा-पत्र ले लेना चाहिए अन्यथा उनके फरेबका पता लगनेपर कैद और देश-निकाले-

का दण्ड भुगतना पड़ेगा। इस बातसे प्रवासी भारतीयोंमें बड़ी बेचैनी फैल गई।

क्षमा-दानके विपक्षी

शास्त्रीजी और कांग्रेस-कर्मियोंने जनताको यही सलाह दी कि जो गैरकानूनी तरीकेसे दक्षिण अफ्रिकामें दाखिल हो गए हैं उनके लिए यह स्वर्ण-सुयोग है। उनको अवधिसे पूर्व इमिग्रेशन-अमलदारके सामने सच्चा बयान देकर क्षमा-पत्र ले लेना चाहिए अन्यथा ऐसे व्यक्तियोंपर संकट आ पड़नेपर उनकी सहायता करना दुस्तर होगा। क्षमा-दानकी तीन शर्तें थीं—पहली यह कि प्रार्थीको मिआदी सनद मिलेगी, जिसे सरकार जब चाहे रद्द कर सकती है; दूसरी यह कि क्षमा-पत्र पानेवाले व्यक्ति भविष्य-में अपने स्त्री-बच्चोंको भारतसे नहीं ला सकेंगे, पर जो ला चुके हैं उनको सरकार निकालेगी भी नहीं, और तीसरी यह कि जिसको क्षमा-पत्र मिलेगा वह जबतक कोई ऐसा अपराध न करे, जो देशके साधारण कानूनके अनुसार निर्वासन-दण्डका पात्र हो, तबतक सरकार उसका क्षमा-पत्र रद्द न करेगी।

उस समय प्रवासी भारतीयोंमें फूटाग्निकी चिनगारियाँ छिटके बिना न रहीं। श्रीकासिम आँगलियाके नेतृत्वमें कुछ भाइयोंने कांग्रेसके सामने विद्रोहका झंडा खड़ा किया और 'साउथ अफ्रिकन इंडियन फैडरेशन' नामक एक राजनीतिक संघ बना लिया। इस दलने सरकारके वचनपर विश्वास करना उचित नहीं समझा। उसका कथन था कि जो सरकार बार-बार वचन-भंग कर चुकी है उसकी बातपर विश्वास करना मानो अपने पैरोंपर आप कुल्हाड़ी मारना है। फैडरेशनके नेता शास्त्रीजी और कांग्रेसके विरुद्ध भी जनताको भड़कानेसे बाज न आये। यद्यपि फैड-रेशनमें ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति नहीं थे, जिनका जनतापर विशेष प्रभाव हो तो भी उनके कथनमें तथ्य तो अवश्य था। सरकारने शास्त्रीजीको यह भी विश्वास दिलाया था कि यदि क्षमा-दान प्राप्त करनेवाले व्यक्तियों-की संख्या अत्यधिक न होगी तो सरकार उनके स्त्री-बच्चोंको भी दक्षिण-

अफ्रिकामें आने और रहनेकी इजाजत दे देगी, पर यह प्रतिज्ञा हवामें उड़ गई।

वर्ग-युद्धकी भावना

उन्हीं दिनों श्री अलबर्ट क्रिस्टफ़र विलायतसे बैरिस्टर बनकर लौटे थे। नेटालमें जन्मे हुए वह एक ईसाई हैं और वर्ग-युद्धके पक्के हिमायती। वे मुझसे अधिक मिलने-जुलने और भारतीय व्यापारियोंके विरुद्ध बात-चीत करने लगे। उनकी मनोवृत्तिसे मुझे यह आशंका हुई कि कहीं उनके उद्योगसे व्यापारियों और मजदूरोंमें वर्ग-युद्ध न छिड़ जाय, इससे तो हमारी बिगड़ी हुई हालत और भी बिगड़ जायगी। मैंने सोचा कि उनकी शक्तिको रचनात्मक कार्यमें लगा देना ही श्रेयस्कर होगा। अतएव मैंने उनके सामने भारतीय मजदूरोंके संगठनका सुझाव रखा, वे सहमत हो गए।

उससे सत्तर साल पहले गिरमिटमें भारतीय मजदूर नेटाल आये। इस अर्सेमें दुनिया बदल गई, पर उनकी हालतमें कोई अन्तर न आया। उनका न कोई संघ था, न कोई आवाज थी। उन दिनों हब्शी मजदूरों-की संघ-शक्ति देखकर मैं दंग हो रहा था। उन्होंने अपना एक जबर्दस्त मजदूर-संघ बना लिया था, जिसका नाम था—'इण्डस्ट्रियल एण्ड कमर्शियल वर्कर्स यूनियन' (The Industrial and Commercial Workers Union) पर वह अपने सांकेतिक 'आई० सी० यू०' (I. C. U.) नामसे प्रसिद्ध हो रहा था। इन अक्षरोंके उच्चारणसे जो ध्वनि निकलती है उसका अर्थ हो जाता है—"मैं तुम्हें देखूँगा।" किसको? श्वेताङ्ग मालिकोंको। अतएव अंग्रेजोंको इस कामसे बड़ी चिढ़ थी और वे इस सांकेतिक नाममें नेटिवोंकी गुस्ताखीकी झलक पाते थे।

संघके एक सरदार श्री चेम्पियनने अपने सदस्योंको समझाया कि डरबन कारपोरेशनने नेटिवोंके लिए जो शराबखाने खोल रखे हैं, वे असलमें अपराध सिखाने वाले स्कूल हैं। वहाँसे जो पढ़-लिखकर निकलते हैं उनसे बंदी-घरकी आबादी और शोभा बढ़ती है। शराबसे हमारा

जीवन खराब हो रहा है, अतएव अपने भाइयोंको इस बुराईसे बचानेके लिए प्रचार और पिकेटिङ्ग करना जरूरी है।

हब्शियोंकी हत्या

कुछ उत्साही युवक मैदानमें आ गए और उन्होंने शराबखोरीके खिलाफ पिकेटिङ्ग शुरू कर दी और यही बात झगड़ेकी जड़ बन गई। अंग्रेज प्रभुओंका दिमाग गर्म हो उठा, पुलिस तो अलग रही, अमन और कानून (Law and order) भाड़में झोंक दिये गए, अंग्रेज नागरिकोंने पिकेटिङ्ग करनेवाले नेटिवोंको शिक्षा देनेकी ठान ली। बेचारे बाँटू क्या जाने अहिंसाका मर्म ? उन्होंने 'जो मोहि मारे तिन्हें मैं मारूँ' के सिद्धान्तपर अमल किया। फिर क्या था ? उफ ? कैसे वर्णन करूँ ? लेखनी काँपती है। वह दुःखदायक दिन और कत्लकी रात ? नर-हत्याका वह नृशंस नजारा ? पशु-बलका वह प्रचण्ड प्रदर्शन ? मनुष्यके प्रति मनुष्यकी वह क्रूरता और बर्बरता ? गोरी चमड़ी वालोंकी वह काली करतूतें ?

उस दिन मैं डरबन शहरमें ही था और अपनी आँखों वह दानवी लीला देखी थी। वैसा दारुण दृश्य पहले कभी दृष्टिगोचर नहीं हुआ था। बाँटू अपमानकी ठोकरें खाकर क्रोधसे ऐसे पागल हो रहे थे कि राहगीरोंकी जानके भी लाले पड़ रहे थे। मेरा भी कपाल फूटनेसे बच गया। बेचारे बाँटू जानवरकी भाँति हलाल किये जा रहे थे, अंग्रेजोंकी पिस्तौलके शिकार हो रहे थे; उनके लहूसे डरबनकी सड़कें लाल हो रही थीं। पिकेटिङ्ग करने वालोंका तो पता ही नहीं था, वहाँ तो राह चलते हुए निर्दोष बाँटू पकड़कर पीटे जा रहे थे। उनकी खोपड़ीपर ऐसे डण्डे बजते कि खूनके फव्वारे फूट पड़ते। गिर पड़नेपर भी पिण्ड नहीं छूटता, वह तबतक लात, घूंसों और हण्टरोंकी मार खाते, जबतक अधमरे न हो जाते। पुलिस तो सिर्फ 'आई० सी० यू०'के सदस्योंके सत्कार और गिरफ्तार करनेमें मशगूल थी, पर जो अंग्रेज नागरिक विद्रोह-दमनके लिए निकल पड़े थे, उनकी दृष्टिसे सारे बाँटू अपराधी थे,

इसलिए उन्होंने कत्ले-आम मचा दिया था। एक तरफ थे—हथियार-बंद सिपाही और उनके सहायक सशस्त्र सिविलियन; दूसरी तरफ थे निर्धन, निराधार और निहत्थे बाँटू मजदूर। अपमानसे तङ्ग आकर बाँटुओंने लाठी क्या उठाई, गोरोंको खुलकर खेलने और जुल्मका नग्न प्रदर्शन करनेका अवसर दे दिया।

दूसरे दिन श्वेताङ्ग नागरिकोंने 'आई० सी० यू०'के दफ्तरपर छापा मारा और अपनी श्वेत सभ्यताकी बानगी दिखाकर विश्वको विस्मयमें डाल दिया। कार्यालयकी किवाड़ियाँ और खिड़कियाँ तोड़ डाली गईं, फर्नीचर टुकड़े-टुकड़े कर डाला गया और सदस्योंके रजिस्टर, महत्त्वके कागज-पत्र और पत्र-व्यवहारकी फाइलें फाड़-फूड़कर फेंक दी गईं। यहाँ तक कि सभ्यताकी शेखी बघारने वाले गोरे डाकू तिजौरी (Safe) तक लूट ले गए थे; पर बाद में बदनामीके भयसे उसे थानेके हवाले कर आये। पुलिस-अमलदारोंको भी यह मंजूर करना पड़ा था कि श्वेताङ्ग सिविलियनोंकी करतूत गैर-कानूनी और आपत्तिजनक थी।

उस दिन बाँटुओंकी हौलनाक हत्या देखकर मेरा हृदय हाहाकार कर उठा था। मैं हैरतमें आकर सोचता, क्या यह गोरे शैतान उस मसीहके अनुयायी हैं, जिसका यह उपदेश था कि 'जैसे तुम अपनेको प्यार करते हो वैसे ही अपने पड़ोसीको भी करो।' आज ये श्वेताङ्ग अपने पड़ोसीके खूनसे स्नान कर रहे हैं और अपनी हैवानियतसे ईसाके नामपर कलंक लगा रहे हैं। दावा किया जाता है कि पश्चिमकी श्वेताङ्ग-सभ्यता सामयिक संसारकी सर्वोत्तम सम्पत्ति है, पर इस सभ्यताके संरक्षक दक्षिण अफ्रिकामें अपने काले कारनामोंसे इस दावेको झूठा बना रहे हैं। उनको न ईश्वर का भय है, न ईसाके उपदेशकी पर्वाह और न लोक-लाजकी चिन्ता। असभ्य और अशिक्षित बाँटू यदि भूल कर बैठें तो उनको क्षमा भी किया जा सकता है, पर इन श्वेताङ्ग-पिशाचोंको इहलोकमें न इन्सान क्षमा कर सकते हैं और न परलोकमें भगवान् ही।

सदियोंकी गुलामीके बाद बाँटुओंमें जो जीवन एवं जागरणकी

ज्योति छिटक रही थी वह इस घटनाके बहाने दानवी शक्ति द्वारा कुचल दी गई। उनका संघ टूट गया, सदस्य तितर-बितर हो गए। उनकी उठती हुई उमंगोंको दबंगोंने दबा दिया। इस प्रकार 'आई०सी०यू०'-का अन्त हो गया। इस घटनासे हमें अच्छी शिक्षा मिली। गांधीजी-का यह वचन अक्षरशः सत्य निकला कि हिंसासे हिंसकोंका नहीं, बल्कि आत्म-बलसे ही पशु-बलका मुकाबला किया जा सकता है।

भारतीय मजदूरोंकी कांग्रेस

नेटाल इंडियन कांग्रेसपर यह तोहमत लगाई जाती थी कि उसे मालदार सौदागरोंके स्वत्वकी जितनी चिन्ता रहती है उतनी गरीब मजदूरोंके हितकी नहीं। यह आरोप नितांत निराधार भी नहीं था। कांग्रेसके तत्कालीन अधिकारियोंने मजदूर-संगठनकी आवश्यकताकी ओर ध्यान दिया था और मेरे ही सभापतित्वमें कांग्रेसके अन्तर्गत एक मजदूर-समिति बनाई गई थी। अतः मैंने क्रिस्टफरको कहा कि यदि प्रवासी भाइयोंमें वर्ग-विभेद और संघर्षकी सृष्टि करनेकी अपेक्षा वह मजदूर-संघ खोलनेमें अपनी शक्ति लगावें तो मैं भी यथाशक्ति उनके काममें योग दूँगा। उनको मेरी सलाह जँच गई।

निदान प्रचारका काम आरंभ हुआ। भिन्न-भिन्न धन्धेसवालोंके संघ (Union) बनने लगे। स्वल्पकालमें ही मुद्रक-संघ, बावर्ची—बैरा-संघ, बढ़ई-संघ, लोहार-संघ, दर्जी-संघ, म्युनिसिपल-सेवक-संघ, रेलवे-नौकर-संघ-इत्यादि अनेक संघ बन गए। इन सारे संघोंको एक सूत्रमें संगठित करनेके अभिप्रायसे नेटाल-भारतीय-कर्मचारी-कांग्रेस (Natal Indian Workers Congress) की बुनियाद डाली गई।

जब क्रिस्टफर और पत्तरने शास्त्रीजीसे कांग्रेसका उद्घाटन करनेकी प्रार्थना की तो वह नामंजूर हो गई। इसपर हमारे भाई शास्त्रीजीपर बहुत खफा हुए, खरी-खोटी कहकर गुस्सा निकालने लगे। मैंने उनको रोका और यह दिलासा देकर शान्त किया कि शास्त्रीजीकी स्वीकृति

प्राप्त करनेकी जिम्मेदारी मुझपर रही। शास्त्रीजीका मुझपर बड़ा अनुग्रह था, इसलिए उनकी मंजूरी हासिल करनेमें मुझे कुछ भी दिक्कत न हुई। वस्तु-स्थितिका परिचय पाकर शास्त्रीजीने सहर्ष उद्घाटन करना स्वीकार कर लिया।

इस मजदूर कांग्रेसकी स्थापना डरबनके विशाल सिटी हॉलमें बड़ी शानसे हुई। उस समय लगभग चार हजार मजदूरों और उनके हित-चिन्तकोंका जमाव हुआ था। इस अवसरपर शास्त्रीजीने वक्तृता दी थी, वह वास्तवमें भारतीय मजदूरोंकी दुर्गतिपर उनके अन्तरतमकी पीड़ाकी प्रतिध्वनि थी। शास्त्रीजीकी वैसी मर्म-स्पर्शी स्पीच मैंने पहले कभी नहीं सुनी थी।

कांग्रेसकी नियमपूर्वक नींव पड़ गई। क्रिस्टफरको ही इसका सभापति बना दिया गया। आशा थी कि वह मजदूरोंके हितमें कुछ कर दिखावेंगे, पर उनकी अकर्मण्यतासे जन्मते ही संघका गला घुट गया। व्यापारियोंके विरुद्ध दुर्भाव फैलानेमें वह जितनी तत्परता दिखा रहे थे उसका दशांश भी यदि मजदूरोंके संगठनमें दिखाते तो कुछ काम हो जाता। पर इस कांग्रेसको दाईकी हैसियतसे शैशवमें ही जहरकी घुट्टी पिलाकर उन्होंने मार डाला। स्थापनाके बाद न कभी उसकी बैठक हुई और न उसके द्वारा मजदूरोंकी कोई सेवा ही। क्रिस्टफर अपनी विध्वंसात्मक प्रवृत्तिसे बाज न आये, आगे चलकर उन्होंने प्रवासी भारतीयोंमें ऐसी फूट फैलाई जिसकी दूसरी मिसाल मिलनी मुश्किल है।

शास्त्रीजी अपने देश-वासियोंके लिए देव-तुल्य पूज्य थे, पर श्वेताङ्गोंने भी सर्वत्र उनका सम्मान किया। केवल क्लर्क्सडॉर्पके गोरोंने दक्षिण अफ्रिकाके नामपर कलंक लगाया, वह भी शास्त्रीजीकी विदाईके अवसरपर। क्लर्क्सडॉर्पमें शास्त्रीजीके सम्मानमें सभा हुई; मेयरने तो सभापतिका आसन ग्रहण किया, पर डिप्टी मेयरने सभाके विरोधियोंका नेतृत्व ग्रहण कर लिया। उसने खुल्लम-खुला एलान किया कि यहाँके श्वेताङ्ग एक भारतीयका, चाहे वह कितना ही प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित व्यक्ति क्यों

न हो,सम्मान करना और उसका व्याख्यान सुनना अपनी शानके खिलाफ समझते हैं। ज्योंही सभाका श्रीगणेश हुआ त्योंही बिजलीकी बत्तियाँ बुझा दी गईं; सभामें अंधेरा छा गया। एक बम-गोला फटा, जिससे फर्शपर आग सुलगने लगी और उससे ऐसी बदबू फैली कि साँस लेना भी कठिन हो गया। कहा जाता है कि वह बम 'सलफरिक एसिड' (Sulphuric Acid)से बना था। शास्त्रीजीपर सड़े अण्डे बरसने लगे, श्रोता तो जान लेकर भाग निकले। यह है श्वेताङ्ग संस्कृतिका एक नमूना? दक्षिण अफ्रिकाके गोराङ्गोंके काले करनामोंका एक दृष्टान्त? यह शास्त्रीजीके व्यक्तित्वका अपमान नहीं था, यह था भारत-सरकार और यहाँके चालीस करोड़ निवासियोंका तिरस्कार। शास्त्रीजीकी विदाई-के बाद उनकी जगह सर कूर्म वेङ्कट रेडी आये। वह मद्रासके एक प्रसिद्ध वकील तथा जस्टिस पार्टीके नेता थे। वह मद्रास-सरकारके कानून-सदस्य, सन् १९२९के इंडिया एक्टके अनुसार बनी हुई उस प्रान्तकी कामचलाऊ सरकारके प्रधान मंत्री और स्थानापन्न गवर्नर भी हुए थे। अब वे इस लोकमें नहीं रहे। उनकी मृत्युसे मद्रास प्रान्तका एक विश्रुत राजनीतिज्ञ उठ गया।

वे दक्षिण अफ्रिकामें शास्त्रीजीके पद-चिह्नोंपर चलनेकी चेष्टा करते रहे। उनके समयमें ट्रांसवाल एशियाटिक लेण्ड टेन्यूर बिल-(Transvaal Asiatic Land Tenure Bill)का गोल-माल चलता रहा और अन्तमें वह पास होकर एक्ट भी बन गया। सर कूर्मसे मेरा सद्भाव बना रहा। सन् १९२९में जब मैं भारतको प्रस्थान करने लगा तो उन्होंने एक पत्र लिखकर मेरे धार्मिक एवं सामाजिक कार्योंकी सफलता-पर बधाई दी थी।

: ३१ :

भारतमें प्रत्यागत प्रवासी

केपटाउन-संधिके दो वर्ष बीत गए, प्रत्यागमन योजनाके सम्बन्धमें शास्त्रीजीको मैंने जो वचन दिया था, उसकी अवधि भी पूरी हो गई। मैंने सोचा, भारतसे प्रत्यागत प्रवासियोंकी दुर्गतिकी जो रोमांचकारी खबरें आ रही हैं उनके सत्यासत्यकी जाँच होनी ही चाहिए। इसी विचार-से सन् १६२६के अन्तमें मैं भारतके लिए रवाना हो गया।

जहाजमें भारतीय यात्रियोंकी दुर्गति

इस यात्रामें डेक-क्लासके यात्रियोंकी दुर्दशा देखकर मैं दुःखसे काँप उठा। उनको उसी तरह फलकेमें ठूँस दिया गया था, जिस तरह भारत-में मेले-ठेलेके अवसरपर रेलगाड़ियोंमें तीसरे दर्जेके यात्री ठूँस दिये जाते हैं। रेलकी यात्रा तो एक-दो दिनकी होती है, पर जहाजकी यात्रा थी पूरे तीन सप्ताहकी। जहाजके डेकपर भारतीयोंके पास ही कुछ पशु भी बाँध दिये गए थे, जो इस बातकी गवाही दे रहे थे कि ब्रिटिश स्टीमर-कम्पनीकी दृष्टिमें भारतवासी और जानवरमें कोई भेद नहीं है उनके लिए यह दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। अफ्रिकाके अधिकांश यात्री मुझे पहचानते थे, उन्होंने छः सौ पचास यात्रियोंके हस्ताक्षरोंके साथ अपनी शिकायतोंकी सूची बनाकर मुझे भेंट की। मैंने रेडियोसे भारत-सरकार, बम्बई-सरकार, बम्बई प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी और इम्पीरियल इंडियन सिटीजनशिप एसोसियेशनको खबर दी कि जहाजपर औकातसे अधिक यात्री लाद लिये गए हैं, ऐसी भीड़ हो गई है कि कहीं बित्ता-

भर जगह नहीं बची है, यात्रियोंको पाखाना जानेमें भी दिक्कत होरही है, भीड़से राह नहीं रही। यहाँ तक कि पाखानेके दरवाजेके पास भी बिस्तर डालकर यात्री पड़े हैं। अतएव इस अमानुषिक व्यवहारकी फौरन जाँच होनी चाहिए।

बम्बईके बन्दरगाहपर 'कारागोला' स्टीमरके पहुँचते ही लोक-प्रतिनिधियोंके सिवा सरकारी अमलदारोंके भी दर्शन हुए। मुझे पोर्ट-अफसरके सामने हाजिर होना पड़ा।

"इस स्टीमरपर कितने नेटिव थे?" पोर्ट-अफसरने मुझसे पूछा?

"नेटिव? कहाँके नेटिव?" मैंने चौंककर सवाल किया।

"अजी, मेरा मतलब हिन्दुस्थानियोंसे है।" उसने सफाई देते हुए कहा।

मुझसे यह भी पूछा गया कि "क्या भारतीयोंको सचमुच पशुओंके समीप रहनेमें एतराज था?" इस अंग्रेज-अफसरकी धृष्टता और दुष्टता भारतकी परवशताको याद दिला रही थी। बम्बईके 'इंडियन डेली न्यूज' 'बाम्बे क्रानिकल' तथा भारतीय भाषाके अखबारोंमें ब्रिटिश इंडिया स्टीम नेविगेशन कम्पनीकी नादिरशाही और पोर्ट-अफसरकी बद-तमीजीपर बड़ी कड़ी टीकाएँ हुई थीं। पर पराधीन प्रजाकी पुकारका प्रभाव ही क्या? जाँच ही क्या हुई, कम्पनीके दुष्कर्मपर परदा डाल दिया गया। मुझे तो यही अनुभव हुआ कि—

"जोरदार मर्द नाहर, घर रहे चाहे बाहर।
कमजोर मर्द बिल्ली, घर रहे चाहे दिल्ली॥"

वास्तवमें पराधीन प्रजाकी न घरमें इज्जत होती है, न बाहर। कोई भी राष्ट्र गुलामीका बिल्ला बाँधकर प्रतिष्ठाका पात्र नहीं हो सकता।

प्रत्यागत प्रवासियोंकी दशाकी जाँच

देशमें आकर मैंने प्रत्यागत प्रवासियोंकी दशाकी जाँच शुरू कर दी। बम्बई, युक्तप्रांत, बिहार, बंगाल और मद्रासमें हजारों प्रत्यागत प्रवासियोंसे मिला, उनकी जबानी उनकी दुःख-भरी कहानी सुनी और उनकी

दशा अपनी आँखों देखी। बम्बई-पुलिसके चीफ कमिश्नर, कलकत्ताके इमिग्रेशन अमलदार और मद्रासके स्पेशल अफसरसे मुझे अच्छी सहायता मिली। मद्रासमें दक्षिण अफ्रिकाके प्रत्यागत प्रवासियोंके आगत-स्वागतके लिए भारत-सरकारने एक खास महकमा खोल रखा था। उन दिनों इस महकमेके अमलदार थे—रायसाहब कुन्हीरमण नैयर। वह बड़े सहृदय एवं क्रियाशील व्यक्ति थे, पीड़ित प्रवासियोंसे उनकी सच्ची सहानुभूति थी और उनकी सेवा, सहायता और रक्षामें वह सदा तल्लीन रहते थे। उनके ही सदुद्योगसे भारत-सरकारने मद्रासके मयला-पुर मोहल्लेमें एक 'नेटाल-हाउस' खोला था, जिसमें लँगड़े, लूले, अन्धे-अपाहिज और बीमार प्रवासियोंके लिए भोजन-वस्त्र और चिकित्साकी व्यवस्था थी। जब मैं मद्रास गया तो मुझसे ही इस भवनका उद्घाटन कराया गया था।

इस यात्रामें मैंने मद्रासके ट्रिप्लीकेन मुहल्लेमें हिन्दी-प्रचार-सभाकी क्रियाशीलता भी देखी। पं० हरिहर शर्मा आदि अग्रनेताओंके दर्शन भी हुए। हिन्दी-प्रेमियोंकी सभा भी हुई थी और मुझे अभिनन्दन-पत्र भी अर्पित किया गया था। दक्षिण भारतमें हिन्दी-प्रचारका जो कल्पनातीत कार्य हुआ है उसका सारा श्रेय इसी सभाको है। मैं एक पखवारा मद्रासमें रहा, जनवरीका महीना और सर्दीकी ऋतु थी; पर वहाँ तो उस समय भी बेहद गर्मी पड़ रही थी।

साहित्याचार्यका सत्संग

मद्रासले कलकत्ता लौटनेपर गुरुकुल वैद्यनाथ धामका निमंत्रण मिला। गुरुकुलोत्सवके साथ होने वाली आर्य परिषद्का मुझे प्रधान चुना गया था और साहित्याचार्य पं० पद्मसिंह शर्माको सरस्वती-सम्मेलनका सभापति। अतएव हम लोग साथ ही कलकत्तासे रवाना हुए और गुरु-कुल पहुँचकर एक ही कमरेमें ठहरे भी। वहाँ चाय-पानका अच्छा इन्त-जाम हो गया था। शर्माजीने बीड़ी पीना छोड़ दिया था और अब खैनी तम्बाकूका रस-पान करने लगे थे। उनके समीप साहित्यिकोंकी भीड़

लगी रहती और साहित्यके भिन्न-भिन्न अंगोंपर चर्चा चला करती। शर्माजी हिन्दी साहित्यके अद्वितीय विद्वान् थे। उन्हीं दिनों उनका 'पद्म-पराग' छपकर तैयार हुआ था, उसकी एक प्रति उन्होंने बड़े स्नेह-से मुझे भेंट की थी।

वह सच्चे साहित्यकार थे। साहित्यके सामने वह धनको तुच्छ समझते थे। जसीडीह स्टेशनपर गाड़ीसे उतरते समय उनकी एक छोटी-सी पेटी उसीमें छूट गई। जब उनको पेटीकी याद आई तो सन्तापकी सीमा न रही। यदि हजारों रुपयेकी वस्तु गायब हो गई होती तो भी उनको उतनी व्यथा न होती, पर उस पेटीमें उनकी साहित्यिक निधि थी—कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ थे और कुछ महत्त्वके नोट्स। शर्माजीकी बेचैनीसे यही मालूम होता था कि वह पेटी क्या गई मानो उनका सर्वस्व चला गया हो। सवेरेकी खोई हुई पेटी आखिर शामको मिल गई, पर उसके लिए मुझे सारे दिन शर्माजीके साथ दौड़-धूप और मेहनत करनी पड़ी थी।

सरस्वती-सम्मेलनमें शर्माजीका अभिभाषण बड़ा ही ओजपूर्ण था। एक बात मुझे बहुत खटकी। सभापति तो शर्माजी थे, पर एक उप-देशक महाशय दाल-भातमें मूसलचन्द बन रहे थे। वे प्रत्येक निबन्ध-पाठ या भाषणके बाद उठकर कुछ-न-कुछ बोले बिना न रहते। सम्मे-लनकी समाप्तिपर मैंने शर्माजीसे कहा, "महाराज! आपके स्वभावमें यह निर्बलता है या सुजनता, इसका विश्लेषण मैं नहीं कर पाया। जिसने विद्या-वारिधिको मथकर उनके अन्दरसे अविद्याका सीप निकाल दिखाया था, उसने आज यह अनर्थ कैसे सह लिया?" शर्माजी हँस पड़े और बोले, "कुछ महाशयोंको व्याख्यान-व्याधिकी शिकायत रहती है, वे येन केन प्रकारेण उसके उपचारका अवसर ढूँढा करते हैं।"

'सतलज'में संहार-लीला

कलकत्ता वापस आनेपर वहाँ एक ऐसी घटना घटी कि प्रवासी भारतीयोंकी असहाय अवस्थापर मेरा हृदय हिल उठा। डमरारा, ट्रिनीडाड,

जमैका आदिके ६०० प्रत्यागत प्रवासियोंको लेकर 'सतलज' जहाज कलकत्ता पहुँचा था, चालीस दिनकी यात्रामें ४४ प्रवासियोंकी मौत हो चुकी थी। मैंने पं०बनारसीदासजी चतुर्वेदीके साथ इस दुर्घटनाकी जाँच की और भारत-सरकारके प्रवास-विभागके सदस्य सर मुहम्मद हबीबुल्लाको तार दिया कि इस दुर्घटनाकी सरकारकी तरफसे फौरन जाँच की जानी चाहिए; क्योंकि इससे पहले भी 'सतलज'-प्रत्यागत प्रवासियोंके लिए कब्रगाह सिद्ध हो चुका है। उस दिनों कलकत्तेमें प्रवासियोंके रक्षक (Protector of Emigrants)के आसनपर लैफ्टिनेन्ट कर्नल ह्वाइट विराज रहे थे। वे नौकरशाहीके निम्न-तर नमूने थे। जहाँ उनको प्रवासियोंके हितकी हिमायत करनी चाहिए थी वहाँ वे 'सतलज'के संचालकोंके समर्थनमें सन्नद्ध हो गए; इसपर चतुर्वेदीजीने उनको ऐसी फटकार बतलाई कि वह रोषसे विक्षिप्त हो उठे और चतुर्वेदीजीको जहाजसे उतार देनेकी धमकीपर उतर आये।

कई दिनोंके बाद ह्वाइटकी एक चिट्ठी मुझे मिली, जिसमें यह सूचना थी कि भारत-सरकारके आदेशसे बंगाल-सरकारने 'सतलज'के मरण-काण्डकी जाँचके लिए एक कमीशन चुना है, और ह्वाइट तथा चौबीस परगनाके मजिस्ट्रेटके साथ मुझे भी कमीशनका एक सदस्य चुना गया है, पर कमीशनकी जाँच फौरन नहीं, बल्कि चार दिनके बाद शुरू होगी। दूसरे दिन 'सतलज' प्रवासियोंको लेकर फीजीको कूच करने वाला था,अतएव उसके कर्मचारियोंकी गवाही नहीं ली जा सकती थी। मैंने जिन यात्रियोंको गवाही देनेके लिए रोक रखा था, वे भी देर-की वजहसे उकताकर अपने गाँवोंके लिए रवाना हो चुके थे। ऐसी हालतमें कमीशनकी कोई उपयोगिता नहीं रह गई, वह निरा नाटक बन गया। मैंने उस कमीशनमें भाग लेना उचित नहीं समझा और हिन्दु-स्थान-सरकारको एक विस्तृत पत्र लिखा, जिसमें कमीशनकी मेम्बरी नामंजूर करनेके कारण बतलाये गए थे। उसकी एक कापी बंगाल-सरकारको भी भेजकर कमीशनमें शरीक होनेसे इन्कार कर दिया।

महात्मा गांधीने भी मेरी नीतिको पसन्द किया था।

इस घटनासे ब्रिटिश साम्राज्यपरसे मेरा रहा-सहा विश्वास भी जाता रहा। मुझे निश्चय हो गया कि जबतक भारत पराधीनताके बन्धनमें बँधा है तबतक प्रवासी भाइयोंका उद्धार असंभव है। इसी अनुभूतिने महात्माजीको स्वाधीनताका संग्राम छेड़नेकी प्रेरणा दी थी। दक्षिण अफ्रिकामें इक्कीस वर्ष मानवी अधिकारकी लड़ाई लड़कर वह इसी परिणामपर पहुँचे थे कि देशवासियों और प्रवासियोंकी समस्त व्याधियोंका एक-मात्र रामबाण इलाज है—स्वराज्य। वर्ण-विद्वेषसे ओत-प्रोत ब्रिटिश साम्राज्यमें श्यामाङ्ग भारतीयोंके लिए स्थान कहाँ ? वहाँ तो केवल श्वेताङ्गोंके लिए सर्वाधिकार सुरक्षित हैं।

स्वाधीनताका संकल्प

सन् १९३० की पहली जनवरीका प्रभात भारतीय स्वाधीनताका मङ्गल-प्रभात था। उसी दिन लाहौरमें रावी नदीके तटपर राष्ट्रपति पं० जवाहरलालजी नेहरूके नेतृत्वमें भारत-राष्ट्रके प्रतिनिधियोंने पूर्ण स्वाधीनता-प्राप्तिकी शपथ ली थी। इसलिए वह तिथि भारतके इतिहासमें अमर तिथि बन गई। कांग्रेसने सारे देशमें स्वाधीनता-दिवस मनानेके लिए २६ जनवरी निश्चित की थी। उस दिन मैं कलकत्तेमें ही था। आर्यसमाज-मंदिरमें ठहरा हुआ था। सवेरे मैंने मुख्याध्यापिकाके आग्रहसे आर्य कन्या विद्यालयपर राष्ट्रीय झंडा फहराया। इसके बाद मेरे ही सभापतित्वमें आर्यसमाज-मंदिरमें स्वाधीनता-दिवसके उपलक्षमें एक एक सार्वजनिक सभा हुई; जिसमें फीजीके पं० श्रीकृष्णशर्मा आदि प्रवासी भाई भी उपस्थित थे। पं० अयोध्याप्रसादजीका ऐसा प्रभावोत्पादक व्याख्यान हुआ कि श्रोताओंके हृदय वीररससे ओत-प्रोत हो आये। एक प्रवासी भाईने पूछा—"समाजपर राष्ट्रीय झंडा उड़ेगा या नहीं ? यदि उड़ेगा तो कब ?" मैंने उत्तर दिया, "सभाकी समाप्तिपर आर्योंका यह समाज-मंदिर अपने शीशपर राष्ट्रका झंडा चढ़ाकर आर्यावर्तकी स्वाधीनताका स्वागत करेगा।" मेरी इस घोषणासे समाजके अधि-

कारियोंमें सनसनी फैल गई। उसी क्षण कार्यालयमें अन्तरङ्ग समिति बैठ गई, मेरे कथनपर वाद-विवाद होने लगा। अन्तरङ्गमें भी दो दल हो गए, एक राष्ट्रीय दल और दूसरा सरकारी मुलाजिमोंका दल। पर विजय हुई राष्ट्रीय दलकी ही और आर्य-मंदिरपर शानसे राष्ट्रीय पताका फहराई गई। यह मैं मानता हूँ कि धर्म-मंदिरको देशकी राजनीतिक दलबंदीसे परे रहना चाहिए, पर जो देश विदेशियोंकी दासताका जूआ ढो रहा हो, वहाँ यह बात लागू नहीं होती।

मेरी तात्कालिक रिपोर्ट

इधर मैं प्रवासी भाइयोंकी सेवामें लगा हुआ था, उधर बिहारकी शाहाबाद जिला कांग्रेस-कमेटीने मुझे अपना सभापति चुन लिया। उपनिवेशोंसे लौटे हुए प्रवासी भारतीयोंकी दशाकी जाँच करके मैंने अपनी रिपोर्ट तैयार कर ली थी और उसे प्रकाशित करके अपनी जिम्मेवारीसे छुट्टी पा लेना चाहता था, परन्तु पं० बनारसीदास चतुर्वेदीकी यह राय हुई कि अभी मुझे अपनी मूल रिपोर्टका प्रकाशन स्थगित रखना चाहिए और एक तात्कालिक रिपोर्ट निकालकर सरकारसे अनुरोध करना चाहिए कि वह स्वयं एक कमीशन बैठाकर प्रत्यागत प्रवासियोंकी दशाकी जाँच करावे। मुझे उनकी राय ठीक जँची और मैंने अंग्रेजी, हिन्दी और गुजरातीमें अपनी संक्षिप्त रिपोर्ट निकाल दी। मेरी रिपोर्टपर सरकारने ध्यान तो दिया, मेरे प्रस्तावके अनुसार एक जाँच-कमेटी भी बनाई गई, जिसके सदस्य चुने गए—'इंडियन रिव्यू'के सम्पादक श्री जी०ए० नटेसन तथा मद्रासके मजदूर-कमिश्नर श्री जे० ग्रे। पर 'सतलज'की दुर्घटनासे मेरा दिल टूट गया था। मुझे निश्चय हो गया कि जबतक हिन्दुस्थान ब्रिटिश साम्राज्यका गुलाम बना रहेगा तबतक भारतीयोंकी देश और विदेशोंमें कहीं भी इज्जत न होगी। अतएव मैंने आजादीकी लड़ाईमें कूद पड़नेका संकल्प कर लिया।

: ३२ :

भारतीय स्वाधीनताके संग्राममें

मैंने बिहार लौटकर शाहाबाद जिलेमें सत्याग्रहकी तैयारी शुरू कर दी। जिला-कांग्रेस-कमेटीके मंत्री थे श्रीरामायणप्रसादजी और सहायक मंत्री श्री विन्ध्याचलप्रसादजी। मैंने श्रीरङ्गबहादुरप्रसादजीको अपना व्यक्तिगत मंत्री बनाया। उनके पास ऐसा दिल था, जिसमें देशकी दुर्दशापर दर्द था और आजादीके लिए भारी-से-भारी कुर्बानी करनेकी तमन्ना थी। असहयोगके आरम्भमें ही नौकरी छोड़कर वह कौमी फकीर बन गए थे और आरा जिलेके गाँव-गाँवमें आजादीका पैगाम सुनाते और अलख जगाते फिरते थे। वह कवि भी थे और वक्ता भी। उनके साथ मैंने आरा जिलेके खास-खास शहरों और कस्बोंमें पहुँचकर तीन सप्ताहमें अट्ठाईस भाषण दिये। जिलेके तीन परगनोंका चक्कर लगा डाला, केवल एक परगना बाकी रहा। उस समय देशके युवक आजादीके लिए दीवाने हो रहे थे और सैकड़ोंकी सख्यामें सत्याग्रह-सेनामें नाम लिखा रहे थे।

क्रान्तिकी आग

सन् १६३०का साल भारतीय स्वाधीनताका प्रभात-काल था। देशमें उथल-पुथल मच गई थी। जवानोंका खून खौल रहा था और मरदानोंमें मर-मिटनेका हौसला आ गया था। गीताकी अमर वाणी 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'को कार्यान्वित करनेपर भारतीय दृढ़-संकल्प दिखाई देते थे। ऐसा मालूम पड़ने लगा था कि भारतीयोंने गुलामीका तौक उतारकर फेंक दिया है और अंग्रेजी राज्यकी

नींव हिल रही है। अंग्रेजी अदालत सुनसान हो रही थी, हाकिम बैठे हुए मक्खियाँ मार रहे थे। चोगाधारी वकीलोंको मुँह दिखाना मुश्किल हो रहा था, उनके पीछे-पीछे बच्चे तालियाँ बजाते और मजाक उड़ाते फिरते थे। पुलिस वाले बहुत परेशान थे; जिस लाल पगड़ीको देखकर लोग भयसे काँप उठते थे, उसकी किसीको कुछ पर्वाह ही नहीं रही। पुलिस-अफसरोंको बोझ ढोनेके लिए न गाड़ी मिलती थी और न उनका हुक्म बजानेके लिए बेगारी। आरा शहरमें तो यहाँ तक नौबत आ पहुँची थी कि जब शराबके पीपे उठानेके लिए पैसे देनेपर भी न आदमी मिले और न ढोनेके लिए गाड़ी मिली, तो लाचार होकर कोतवाल और सिपाहियोंको पीपे लुढ़काते हुए कलारखाने तक पहुँचाना पड़ा था। उस दिनसे नगर-कोतवाल श्री शिवप्रसाद पाँडेका नाम ही 'पीपा-पाण्डे' पड़ गया था।

चम्पारनके कुछ सत्याग्रही बन्दी आरा जेलमें लाये गए थे। इक्केवानोंने उनको इक्केपर स्टेशनसे जेलखाने तक ले जानेकी प्रार्थना की, जिसे सत्ताधिकारियोंने मंजूर कर लिया। पर जब कैदियोंके साथ पुलिसमैन भी इक्केपर बैठनेको बढ़े तो इक्केवानोंने, उनको बैठानेसे इन्कार कर दिया और साफ कह दिया कि उनको बैठाकर वे अपने इक्केको नापाक नहीं कर सकते। उस दिन आरा शहरमें लोगोंने अजीब तमाशा देखा, कैदी तो इक्केपर बैठकर जेलकी ओर जा रहे थे और उनके पहरेदार पीछे-पीछे पैदल। उस समय जेल और दमनकी चिन्ता ही किसे थी—आजादीके दीवाने तो फाँसीपर झूलनेको तैयार थे, उसी उमंगसे जिससे बच्चे पालनेपर झूलते हैं। सोया हुआ देश जाग उठा था, उसे अपनी मोह-निद्रापर घोर ग्लानि हो रही थी। विदेशी सत्ताकी ठोकरें खाकर उसकी आँखें खुल गईं थीं। सच कहा है—

"रंग लाती है हिना पत्थर पै पिस जानेके बाद।
अक्ल आती है हमेशा ठोकरें खानेके बाद॥"

सारे देशमें आजादीकी लहर उठ रही थी। आजादीकी हवा यहाँ

गाती थी, वर्षा यही बरसाती थी और धरती उसे पीते नहीं अघाती थी। युग-युगकी दासत्व-शृंखला खण्ड-खण्ड हो रही थी, भारतका शून्य गगन स्वाधीनताकी अमर ध्वनिसे निनादित हो रहा था। इतिहासकार ही उस युगकी छोटी-बड़ी घटनाओंको सम्यक्रूपसे लेख-बद्ध कर सकते हैं। मेरे बूतेकी यह बात नहीं है। आराकी एक विशेष घटनाका उल्लेख करके ही मैं तो सन्तोष कर लूँगा।

सत्याग्रहीके शवके लिए सत्ताधिकारियोंसे संघर्ष

आराके अस्पतालमें चम्पारनके एक सत्याग्रही कैदीकी मृत्यु होगई। उसकी लाशको जेलरने उसके सगे-सम्बन्धियोंके सिवा और किसीको देनेसे इन्कार कर दिया। उसके सगे-सम्बन्धी तो चम्पारनमें थे—न वे समयपर आ सकते थे और न लाश मिल सकती थी, सरकारी मेहतर उसको दफना आते। अतएव आराके बीस-पच्चीस हजार मनुष्य अस्पतालपर जा पहुँचे। अस्पतालका बन्द फाटक तोड़कर उन्होंने जबर्दस्ती लाश निकाल ली। वहाँसे एक बड़े जुलूसके साथ शव लेकर वे गङ्गाकी ओर चल पड़े—दाह-कर्म करनेके लिए। जब कलक्टर और पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्टको इस घटनाकी सूचना मिली तो वे फौजी सिपाहियोंको लेकर जुलूसके पास पहुँच गए। आरा जिलेके ऐतिहासिक महत्त्वके कारण यहाँ फौजको एक टुकड़ी स्थायी रूपसे रहती है। यह वही जिला है, जहाँ सन् १८५७की राज्य-क्रान्तिमें जनरल कुँवरसिंह और जनरल अमरसिंहने अंग्रेजोंके छक्के छुड़ा दिये थे।

अतः जुलूसको रोककर जिला मजिस्ट्रेट और पुलिस सुपरिटेन्डेन्टने जनताको धमकाया कि यदि लाश हमारे हवाले करके पीछे न हटोगे, आगे बढ़ोगे तो गोलियाँ दागनेका हुक्म देना पड़ेगा। इस धमकीपर लोग न तो उत्तेजित हुए और न भयभीत, धीर-गम्भीर बने रहे। एक ८० वर्षका वृद्ध आगे बढ़कर बोला, "साहब! आप किसको धमका रहे हैं? यहाँ कोई कुम्हड़-बतिया तो है नहीं, जो आपकी तर्जनी देखकर कुम्हला जावे। इस लाशको तबतक आप नहीं पा सकेंगे, जबतक हममें-

से एक भी आदमी जिन्दा रहेगा। इसलिए चलाइए गोलियाँ, और आजमा लीजिये अपनी ताकत।''

श्वेताङ्ग पुलिस-सुपरिन्टेन्डेन्टका क्रोध तो भड़क उठा और उसका वश चलता तो शोणितकी सरिता बह जाती, पर भारतीय कलक्टरने विवेकसे काम लिया। उन्होंने भीड़से छेड़खानी करके स्थितिको बिगड़ने देना ठीक नहीं समझा और फौजको लौटनेकी आज्ञा दी। पीछे उनमेंसे तो कोई हाथ न आया, पर कांग्रेसके डेढ़ दर्जन कार्यकर्त्ताओंको गिरफ्तार करके उनपर अस्पताल तोड़ने तथा लाश जबर्दस्ती उठा ले जानेका फौजदारी मामला चलाया गया और उनको डेढ़-डेढ़ साल कैदकी सजा देकर सन्तोष कर लिया गया।

बापूका आशीर्वाद

आरा जिलेके लोग बड़े दबङ्ग और लड़ाकू होते हैं। बात-बातमें लड़ने-मरनेको तैयार हो जाते हैं। प्रथम विश्व-युद्धके समय वहाँ हिन्दू और मुसलमानोंमें ऐसा भीषण दङ्गा हो गया था, जिसकी सारे देशमें चर्चा और निन्दा हुई थी। हिन्दुओंने सवा सौ गाँवोंके मुसलमानोंकी सम्पत्ति लूट ली थी। इस अपराधमें हजारों हिन्दुओंको कारावासका दण्ड भोगना पड़ा था, जिनमें निर्दोषोंकी संख्या ही अधिक थी। लुटेरोंको पहचानना और पता लगाना तो कठिन था, पर मुसलमानोंकी जिन हिन्दुओंसे व्यक्तिगत अदावत थी, उनसे बदला लेनेका यह अच्छा अवसर मिल गया था।

इसलिए महात्मा गांधीको बड़ी दहशत थी कि कहीं आरा जिलेके लोग उत्तेजित होकर चौरीचौराकी पुनरावृत्ति न कर डालें, पर वहाँ अस्पतालका फाटक टूटनेके सिवा और कोई हिंसात्मक कर्म न होने पाया। जिस दिन बापू अपनी सत्याग्रही सेना लेकर ब्रिटिश सत्ताके विरुद्ध युद्ध छेड़नेके लिए डांडीके मोरचेपर जा रहे थे, ठीक उसी दिन १२ मार्चको साबरमतीसे उनका एक तार मुझे मिला था, जिसमें उनका आशीर्वाद और सफलताकी शुभकामना थी।

मेरी गिरफ्तारी

मैं लगातार दौरेके कारण थक गया था और कुछ विश्रामकी जरूरत महसूस कर रहा था। उन्हीं दिनों आरामें आर्य कुमार परिषद्की आयोजना की गई थी और मैं ही उसका प्रधान बनाया गया था। परिषद्के पश्चात् पटनामें प्रांतिक कांग्रेस-कमेटीकी बैठक थी, जिसमें मेरा शरीक होना आवश्यक था। पीरोसे छोटी लाइनकी रेलगाड़ीसे जब मैं सवेरे दस बजे आरा पहुँचा तो वहाँ एक विचित्र दृश्य दिखाई पड़ा। जहाँ एक तरफ कांग्रेसके स्वयं-सेवक राष्ट्रीय झंडा फहराते हुए कौमी नारे लगा रहे थे और आर्यकुमार परिषद्के तरुण कार्यकर्ता ओम्की पताका उड़ाते हुए धार्मिक नारे, वहाँ दूसरी तरफ रेलवे-पुलिसकी वर्दी और लाल पगड़ीकी प्रचंड प्रदर्शिनी थी। मुझे कुछ संदेह तो हुआ, पर मैंने यह सोचकर उधर ध्यान नहीं दिया कि किसी अफसरके आगमनके उपलक्ष्यमें पुलिसकी ओरसे यह स्वागत-समारोह होगा। जब मैं पुल लाँघकर उस पार जानेके विचारसे स्वयं-सेवकोंके साथ पुलके शिखरपर पहुँचा तो पुलिसके एक अफसरने सामने आकर मुझे अभिवादन किया और विनम्र स्वरमें कहा, "माफ करें, पेटके लिए यह अप्रिय कर्म करना पड़ रहा है।" मैं उनकी बातका मर्म नहीं समझ पाया और उनके शिष्टाचारपर मुग्ध होकर बोला, "पुलिसका व्यवहार मेरे साथ बहुत अच्छा रहा है, उससे मुझे कोई शिकायत नहीं है।"

यह कहकर मैं आगे बढ़ गया, पर देखा कि सारी पुलिस-मंडली मेरे पीछे-पीछे आ रही है। तब मैं उनका मतलब समझ गया। "मेरी गिरफ्तारीका वारंट है क्या?" मैंने फिरकर पुलिस-अफसरसे पूछा। जवाबमें उन्होंने मुझे वारंट थमा दिया। उससे मालूम हुआ कि मैं ताजीरात हिन्दकी १२४—अ दफाके अनुसार गिरफ्तार किया जा रहा हूँ। यही तो मैं चाहता था। वारंट पाकर मैं आनंदसे उछल पड़ा।

"कौन कहता है जबर्दस्तीसे मैं पकड़ा गया।
मुझको शौके-कैद ही तो कैदखाना ले गया॥"

सोचा कि आज मेरा भाग्य ही चमक उठा। जिस भारतीय दण्ड-विधानकी '१२४अ'धाराके अनुसार राष्ट्र-सूत्रधार लोकमान्य तिलक और विश्व-वंद्य महात्मा गान्धीको राज-द्रोहके अपराधमें छः-छः वर्षका कारा-वास-दण्ड मिला था उसी श्रेणीका मेरा अपराध भी समझा गया। मैंने पुलिस-अफसरको धन्यवाद देकर कहा, "इसी दिनकी तो मैं प्रतीक्षा कर रहा था। चलिये, मैं बिलकुल तैयार हूँ।" स्टेशनसे बाहर आकर देखा कि वहाँ एक मोटर खड़ी है और उसके इर्द-गिर्द पुलिसकी एक पार्टी। मुझे मोटरपर बैठाकर पहले कलक्टरके बँगलेपर पहुँचाया गया। वहाँ पहले मैंने चाय पी, फिर कलक्टर साहबसे भेंट की। वे एक बंगाली सज्जन थे और उनका नाम था श्रीमजूमदार। उन्होंने अपने सौजन्यका परिचय देते हुए कहा, "आपकी तबियत अच्छी नहीं मालूम पड़ती है। मैं आपको मुकदमेकी समाप्ति तक छोड़ देनेको तैयार हूँ बशर्तें कि आप अपने गाँवपर आराम करें और तबतक आन्दोलनसे अलग रहें जबतक कि मामलेका फैसला न हो जाय।" मैंने उनकी उदारता एवं सहृदयताके लिए कृतज्ञता प्रकट करते हुए जवाब दिया कि, "मेरे लिए विश्राम कहाँ? इस शर्तपर गाँवमें रहनेकी अपेक्षा मैं जेलमें रहना ही पसंद करूँगा। मेरे लिए क्या जेल और क्या घर, दोनों बराबर हैं।"

मेरी इच्छाके अनुसार मुझे आरा जेलमें पहुँचा दिया गया और मैंने अपने शरीरको लोहेके सीखचोंके अन्दर बन्द पाया।

मुकदमेका मजाक

अभी घड़ी-भर भी नहीं बीतने पाई थी कि जेलके फाटकपर दस-बारह हजार आदमियोंकी भीड़ लग गई। पहले लोगोंने जुलूस बनाकर राष्ट्र-ध्वज फहराते और राष्ट्रीय गान गाते हुए जेलखानेकी परिक्रमा द्वारा मेरा अभिनंदन किया और फिर वह जुलूस शहरका चक्कर लगाने गया। मुझे तो यही विस्मय हो रहा था कि घड़ी-भरके अन्दर उतने आदमी कहाँसे और कैसे जुट आये? उस दिन आरा शहरमें ही नहीं, जिलेके सभी शहरों और कस्बोंमें पूरी हड़ताल रही। यहाँतक कि पान-बीड़ीकी

दूकानें भी नहीं खुलीं। बहुत रोकनेपर भी विद्यार्थी न रुके। कुछ विद्यार्थी तो होस्टलका फाटक बन्द पाकर दुमंजिलेसे कूद पड़े, जिससे उनको गहरी चोटें भी आईं। आराके छोटे-बड़े सभी स्कूलोंमें ताले पड़ गए। जुलूसका सिलसिला कई दिनोंतक चलता रहा।

मैं एक पखवारा, जबतक मुकदमेका मजाक होता रहा, आरा जेल-में रखा गया था। मामलेके दौरानमें अदालतके अन्दर और बाहर हजारों आदमियोंकी इतनी भीड़ होती थी कि सरकारको सिपाहियोंके सिवा सेनाका भी प्रबन्ध करना पड़ा। खुली अदालतमें मामला चला-कर सरकारने भारी भूल की थी। मुकदमेकी कार्रवाई जनतामें क्रान्तिकी भावना फैलानेमें सहायक हो रही थी। आराके सब-डिवीजनल मजि-स्ट्रेट श्रीचक्रवर्तीके इजलासमें मेरा मामला चल रहा था। यद्यपि इस मामलेको सुनने और फैसला करनेका उनको अधिकार न था क्योंकि कानूनकी इस धाराके अनुसार अभियुक्तको आजीवन कालेपानी तककी सजा हो सकती है, अतएव जजसे कम ओहदेका हाकिम इस मामलेपर विचार करनेका अधिकार नहीं रखता है तथापि चक्रवर्ती महाशयको बिहार-सरकारने इस मुकदमेकी तफतीश करनेका विशेषाधिकार दे रखा था। इस अवसरपर जनताका प्रेमानुराग देखकर मैं गद्गद् हो उठा। उसके उत्साहपर फूला न समाया। मैं बिहारी हूँ सही, पर मेरे जीवन-का सर्वोत्तम भाग दक्षिण अफ्रिकामें व्यतीत होचुका है। भारत लौटे मुझे अधिक दिन भी नहीं हुए थे, फिर भी जनताने मेरी तुच्छ सेवाओंके लिए जो स्नेह और सम्मान प्रदर्शित किया वह मेरी क्षमताका नहीं, उसकी महत्ताका ही द्योतक था।

खैर, इस मुकदमेमें बड़ा मजा आया। जब मैं कचहरी पहुँचता तो दरवाजेसे कुछ दूर तक हथियारबंद फौजी सिपाहियोंको दोनों तरफ कतार बाँधकर खड़े हुए पाता। उनके बीचसे गुजरकर मैं अदालतमें जाता। ऐसा भासित होता कि मानो सरकारने मेरे प्रति प्रतिष्ठा-प्रदर्शन (Guard of honour)की यह सुन्दर व्यवस्था कर रखी है। कच-

हरीमें नाटकके पात्रोंकी भाँति गवाह, रिपोर्टर, थानेदार, इन्सपेक्टर और मजिस्ट्रेट आते और अपना-अपना अभिनय दिखाकर चले जाते। बेचारे सरकारी वकील श्री सच्चिदानन्दजी साहब जोशमें उठते, सिर हिलाते, हाथ झटकाते, कमर डुलाते, सवाल पूछते और बैठ जाते। मैंने तो अपना बयान देनेके सिवा अदालतकी कार्रवाईमें भाग लेनेसे ही इन्कार कर दिया था।

ढाई सालकी कैद

आखिर इस नाटकका परदा गिरा। १० अप्रैलको मामलेकी कार्रवाई खतम करते हुए मजिस्ट्रेट साहबने फरमाया कि परसों १२ तारीखको फैसला सुना देंगे। अतएव मेरी सम्मतिसे आराके सत्याग्रहियोंने ११ तारीखको बनुरा ग्राममें नमक-कानून तोड़नेकी घोषणा की, नगर और बाहरकी जनता कानून-भङ्गका यह नया ढङ्ग देखनेके लिए उधर ही उमड़ पड़ी। इधर मैदान खाली पाकर मजिस्ट्रेटने उसी दिन फैसला सुना देना उचित समझा। मुझे जेलसे कचहरीमें लाया गया और लंबा-चौड़ा फैसला पढ़कर सुनाया गया। यह फैसला मेरी क्रान्तिकारी प्रवृत्तिकी स्वीकृतिकी सनद है, उसकी बाजाब्ता नकल 'प्रवासी-भवन'में सुरक्षित है। मुझे दो सालके लिए सादी कैद और तीन सौ रुपये जुर्मानेकी सजा दी गई और जुर्माना न देने पर छः मासकी सादी कैद और। इतनी कड़ी सजाकी खबर पाकर जेलका मुसलमान चीफ-वार्डर रो पड़ा था और मुझसे बिलखकर बोला था, "आपकी तबियत इतनी खराब है। जेलमें ढाई साल कैसे कटेंगे?" मैंने उसको बहुत समझाया कि सत्याग्रहीको कठोर दण्ड मिलना ही सत्याग्रह-संग्रामकी विजय है और अत्याचारकी अधिकता ही अत्याचारीके अन्तका सूचक है। मेरे हाथमें पड़ी हुई हथकड़ी वतनकी बेड़ी काटनेमें मदद करेगी। उस मुस्लिम वार्डरकी स्नेह-शीलताकी भी एक कहानी है। जिस दिन मैं जेलमें दाखिल हुआ, मेरे लिए रोटी पकानेका सवाल उठा। हिन्दू कैदियोंमें कोई अच्छा रसोइया न था। चीफ वार्डरने कहा, "मैं अच्छी रोटी पका सकता

हूँ, पर आप खायंगे कैसे ?" मैंने मजाकमें जवाब दिया, "क्यों ? क्या मेरे पास मुँह नहीं है ?"

"क्या मेरी पकाई रोटी आप खा लेंगे ?" उसने आश्चर्यसे पूछा। "हाँ, खा भी लूँगा और पचा भी," मैंने फौरन जवाब दिया। फिर क्या था ? उसने जूते उतारे, साबुनसे हाथ धोये और मेरे लिए रोटियाँ पकाई। तरकारी बनानेके लिए एक मुस्लिम किशोर कैदीको भी ढूँढ लाया, जो राहगीरोंकी जेब काटनेके जुर्ममें जेल भोग रहा था। वह स्वादिष्ट और रसदार तरकारी पकानेमें बड़ा प्रवीण था। इस प्रकार जेलमें मेरे खान-पानका इन्तजाम हुआ। यह बात हिन्दू वार्डरोंको अच्छी नहीं लगी। उनकी सिर्फ यही शिकायत थी कि मेरी सेवाके लिए उनकी इच्छाके बावजूद मैंने मुसलिम वार्डरको क्यों तरजीह दी ? मेरा स्पष्टीकरण यह था कि मेरे लिए हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी भारतीय भाई हैं। मुसलिम वार्डरने सबसे पहले सेवा करनेकी ख्वाहिश जाहिर की, इसलिए स्वभावतः उसकी सेवा स्वीकृत हुई।

मेरी सजाको खबर बिजलीकी भाँति सर्वत्र दौड़ गई। जो लोग नमक-कानून तोड़ने 'बखुरा' गये थे, वे भी खबर पाकर आरा लौट आये। उधर शामको मुझे बधाई देनेके लिए आरा-निवासियोंकी सार्वजनिक सभा हो रही थी, इधर मुझे गुप-चुप हजारीबाग ले जानेके लिए व्यवस्था। जब जेलसे मोटरपर बैठकर मैं पुलिसके पहरेमें स्टेशन जा रहा था तो राहगीरोंकी दृष्टि मुझपर पड़ गई। उन्होंने दौड़कर सभामें यह खबर पहुँचाई। फिर क्या था; 'जो जैसे-तैसे उठ धाये' कोई तो झपटकर इक्केपर सवार हो गया, कोई कूदकर साइकिल पर; जिसे सवारी न मिली वह पैदल ही स्टेशनकी तरफ दौड़ पड़ा। मैं अभी स्टेशनपर स्थिर होकर बैठने भी न पाया था कि चारों तरफ जनताकी भीड़ उमड़ आई। प्लेटफॉर्मपर, पुलपर, स्टेशनके बाहरी मैदानमें और रेलवे लाइनपर जिधर दृष्टि जाती नर-मुण्ड ही दिखाई देता। प्लेटफार्मपर तो रत्ती-भर भी जगह खाली नहीं थी, नतीजा यह हुआ कि

उस दिन न कोई गाड़ीमें चढ़ सका और गाड़ीसे उतर सका। आराकी जनताने जिस उत्साह और अनुरागसे मुझे बिदाई दी वह वह मेरे जीवनकी संचित स्मृतियोंमें सुरक्षित है।

कैदीका सन्देश

आरा जिलेके सहकर्मियोंसे बिछुड़ते समय जब उन्होंने जनताके लिए मेरा संदेश माँगा तो मैंने उनको एक कागज थमाते हुए कहा कि इसीमें मेरा सन्देश मिलेगा। आरा जेलमें ही मुझे यह खयाल आया था कि सजा हो जानेके बाद जनता मुझसे पैगाम जरूर माँगेगी उस वक्त जबानी कुछ कहनेकी अपेक्षा लिखित सन्देश देना ही ठीक होगा। इसलिए मैंने अपना सन्देश लेख-बद्ध कर लिया था और वह भी पद्यमें। मेरे सहकर्मियोंने उसको छपवाकर सहस्रोंकी संख्यामें जिले-भरमें बँटवाया था और वह सत्याग्रहियोंका समर-संगीत बन गया था। उसको यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

बजा कूचका डंका प्यारे, समर-भूमिको करो पयान।
मोहनने अपनी मुरलीमें सत्याग्रहकी छेड़ी तान॥
बढ़ा हमारा सेना-नायक सजता है रणका मैदान।
निकल पड़ो अब वीर जवानों! जाय न कहीं तुम्हारी शान॥
चालिसकोटि जनोंकी माँ पर होता अतुलित अत्याचार।
कैसे देख रहे हो? तुमपर हँसता है सारा संसार॥
वीरो! देर न लाओ आओ, माता तुमको रही पुकार।
गैरोंके चंगुलसे कर दो भारत-जननीका उद्धार॥
हाय? देशकी घोर दुर्दशा देख हृदयमें उठती पीर।
मुँहमें कानूनोंका ताला लेखनमें लिपटा जंजीर॥
कृशित गातमें बिंधे हुए हैं शाही-करके अगणित तीर।
क्यों न बहावे वह नयनोंसे झर-झर करुणा-पूरित नीर॥
जानें कबसे रोती है यह भूमि तुम्हारी प्यारी अम्ब।
अब तो नयन-कपाट उघारो, तुम हो एक-मात्र अवलम्ब॥

जात-पाँतको मार भगाओ छुआछूतके तोड़ो खंभ ।
हरिजनको निज गले लगाओ, इसमें होवे नहीं विलंब ॥
भूल गये क्या कुँवर-अमरको, जो थे वीरोंके सिरताज ।
स्वतंत्रताके प्रथम युद्धमें रख ली थी बिहारकी लाज ॥
ओ बिहारके वीर-बाँकुरो ! बढ़कर आगे आओ आज ।
सत्याग्रह-रणमें विजयी हो ले लो अपना लुप्त स्वराज ॥
भाई कभी न विचलित होना देख दमनका दृश्य अपार ।
करने दो वैरीको हमपर निर्मम शत-शत सबल प्रहार ॥
आज जेल तो खेल बना है फाँसी है फूलोंका हार ।
बलि-वेदीपर शीश चढ़ाने मर्दानोंकी चली कतार ॥
बड़े भाग्यसे आज छिड़ा है सत्याग्रहका सात्विक जंग ।
कूद पड़ो उसमें ऐ वीरो ? देख विश्व हो जावे दंग ॥
लड़नेका हो सदा तुम्हारा चोखा और अनोखा ढंग ।
वैरी भी विस्मित रह जावें पड़े रंगमें उनका भंग ॥
मैं तो चला कृष्ण-मंदिरको देखो यह बंदीका वेश ।
हथकड़ियोंकी झनझनमें मैं दे जाता हूँ यह उपदेश ॥
रुको न जबतक हो जावे यह पूर्ण स्वतंत्र हमारा देश ।
बढ़ते जाओ तबतक वीरो ! यही 'भवानी' का संदेश ॥

पटना पहुँचनेपर श्रीअनुग्रहनारायणसिंह प्रभृति बिहारके अग्र-नेताओंसे भेंट हुई । उन्होंने मेरी सफलतापर खुशीका इजहार किया । श्रद्धेय श्रीराजेन्द्रप्रसादजी तो आराकी अदालतमें ही अपने दर्शन और आशीर्वादसे मुझे कृतार्थ कर गए थे ।

: ३३ :

हजारीबाग जेलमें बारह मास

पुलिसके पक्के पहरेमें मैं १२ अप्रैलको हजारीबाग जेलमें पहुँचाया गया। वहाँ मुझे जेलरके हवाले कर पुलिस-गारदने छुट्टी पा ली। आराके पुलिस-अफसर जब मुझसे विदा होने लगे तो यह देखकर मुझे विस्मय हुए बिना न रहा कि वह श्रद्धापूर्वक अभिवादन कर मेरे चरणोंपर गिर पड़े। मैंने सोचा कि पुलिसमें भी ऐसे व्यक्तियोंका सर्वथा अभाव नहीं है जिनके दिलमें देशके लिए दर्द है। पुलिस-पुलिसमें भी अंतर है, उनमें कोई तो कंचन है और कोई कंकर। आखिर वे भी हिन्दुस्थानी हैं, भारतमें जन्मे और उसकी गोदमें पले हैं। यद्यपि उनमें इतना आत्म-बल नहीं है कि देशकी पुकारपर विदेशी सत्ताकी चाकरी ठुकरा दें, तो भी उनके अन्तरतममें मातृ-भूमिकी ममता और मुहब्बत अवश्य छिपी पड़ी है।

हजारीबाग जेलमें केवल 'ए' और 'बी' क्लासके राजनीतिक बंदियोंके रखनेका बन्दोबस्त किया गया था। जब मैं हजारीबाग पहुँचा तो वहाँ केवल दो राजनीतिक बंदी थे—उसी जिलेके श्री रामनारायणसिंह और श्री कृष्णवल्लभसहाय। तीसरा नम्बर मेरा ही था। पर बिहार-सरकार-का दमन-चक्र इस तीव्र गतिसे चला कि स्वल्प कालमें ही वहाँ सत्या-ग्रहियोंकी संख्या दो सौसे अधिक हो गई। उन दिनों हजारीबाग जेल विदेशी सत्ताके विरुद्ध विप्लव करने वाले बंदियोंका एक उपनिवेश-सा बन गई थी।

जेलका अनुशासन

भारतकी जेलोंमें बंदियोंका जीवन कैसा होता है, इस विषयपर बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। उनकी पुनरावृत्ति निरर्थक है। यहाँ इतना ही कहना काफी होगा कि 'सी' क्लासके साधारण कैदीके साथ

जेलमें जो व्यवहार होता है उससे उसकी मनुष्यताका संहार हो जाता है और नतीजा यह होता है कि वह इन्सानके रूपमें पूरा हैवान बन जाता है। कारागारके शब्द-कोषमें इस नैतिक पतनकी क्रियाको 'अनुशासन और सुधार' (Discipline and Reformation) नाम दिया गया है। सुपरिन्टेन्डेन्टके आनेपर एक कतारमें खड़े होकर कैदियोंको 'सलाम सरकार'का नारा लगाना पड़ता है; दाँत निपोर और हाथ पसारकर सफाईका सबूत देना पड़ता है। इस अपमानका वही अनुभव कर सकता है जो कभी बादशाहका मेहमान हो चुका हो। हम लोग सत्याग्रही थे, अतएव जेलके अमलदारोंका अनादर करना नहीं चाहते थे; पर कतारमें खड़े होकर 'सलाम-सरकार'की पुकार मचाना, मुँह उघारकर दाँत दिखाना आदि हमारे आत्म-सम्मानपर आघात पहुँचाने वाली क्रियाएँ थीं। इसीलिए हमने इसका घोर विरोध किया और आखिर इस आत्म-पतनकी क्रियासे हम बरी कर दिये गए। जब सुपरिन्टेन्डेन्ट आते तो हम कतारमें खड़े होनेके बदले अपनी कोठरियोंमें चले जाते। वह हर एक कोठरीमें आते, कुशल-क्षेम पूछते और चले जाते। कोठरीके अन्दर उनके आनेपर हम उठकर उनका आदर कर दिया करते थे।

बंदी-जीवन

मुझे जेलमें किसी प्रकारका कष्ट नहीं था। बिहारके जिन बीस बंदियोंको 'ए' क्लासमें रखा गया था उनमें मैं भी एक था। हमें अपनी रुचिके अनुसार पकाने-खाने, नहाने-धोने, लेटने-सोने, उठने-बैठने, आपसमें मिलने-जुलने और अहातेमें टहलने-फिरनेका पूरा आराम था। फिर भी हम देह और दिमाग जेलके अनिष्टकर प्रभावसे बच नहीं पाये थे। बंधन आखिर बंधन ही है, चाहे वह लौह-शृङ्खलाका हो अथवा स्वर्ण-शृङ्खलाका। मुक्त-गगनमें चहकने वाली चिड़ियोंको मणि-माणिक-जटित सोनेके पिंजरेमें बंदी बनकर रहनेकी अपेक्षा शुष्क वृक्षकी डालपर आजादीसे विचरना अधिक रुचिकर लगता है। जेलमें कोई जोर-जुल्म या दुःख-दर्द

न होनेपर भी हम लोग यह तो अनुभव करते ही थे कि हम कैदी हैं—कैदखानेमें बंद हैं। स्वर्गीय श्रीदीपनारायणसिंह जैसे अमीर आदमीके लिए तो एक-एक दिन एक-एक युगकी भाँति बीत रहा था। उनको केवल छः मासकी कैदकी सजा थी, जिनमें दो मास तो 'रिमीशन'में कट गए थे, शेष चार मास उनके लिए चार मन्वंतर बन गए। हमसे शतगुणा सुखी थे वे, जो दीर्घकालीन दण्ड भोगते हुए भी अशिक्षित और अज्ञानी थे; उनको शारीरिक क्लेश तो था, पर मानसिक क्लेश-का लेश भी नहीं। उनपर यह लोकोक्ति ठीक घट रही थी—"सबसे सुखी हैं मूढ़, जिन्हें न व्यापै जगत गति।"

मानव-जीवन और मानव-स्वभावके अध्ययनके लिए सबसे श्रेष्ठ एवं सरल साधन क्या है ? यदि कोई मुझसे यह प्रश्न पूछे तो मैं फौरन ही उत्तर दूँगा कि कुछ कालके लिए बादशाह सलामतका मेहमान बन जाना अथवा गँवारी बोलीमें कह सकते हैं कि बड़े घरकी हवा खा जाना। यह बात मैं अपने अनुभवसे कह रहा हूँ। लगभग साल-भर सम्राट्की मेहमानदारीसे मुझे जो अनुभव प्राप्त हुए हैं वे मेरे जीवनकी अनमोल निधि हैं। इस जेल-जीवनमें अनेक दृष्टियोंसे जहाँ मेरे विवेककी वृद्धि हुई है वहाँ मुझे कई ऐसी बातोंकी जानकारी भी हुई; जो शायद स्वतंत्र जीवनमें कभी न होती। इससे पहले सन् १९१३में दक्षिण अफ्रिकाके सत्याग्रहमें सपरिवार—पत्नी-पुत्र सहित—जेल भुगत आया था, पर इस बारके अनुभव पहलेके अनुभवोंसे बिलकुल ही भिन्न थे।

हम लोगोंके लिए समयकी कोई पाबन्दी न थी। हम सब अपने-अपने समयका जैसा चाहते उपयोग कर सकते थे। 'ए' और 'बी' क्लासके कैदियोंसे कोई काम नहीं लिया जाता था। अतः सबने अपने-अपने कार्यक्रम बना रखे थे। मैं सुबह-शाम टहलता था और शेष समय पढ़नेमें बिताता था।

हस्तलिखित अखबार 'कारागार'

हमारे सामने सबसे बड़ा सवाल समय काटनेका था। हमें पढ़ने-

लिखनेकी सामग्री मँगानेकी सुविधा थी। अतएव हमने जेलसे एक हस्त-लिखित मासिक-पत्र निकालनेका विचार किया। इससे पहले पं० राम-वृक्ष बेनीपुरीका 'कैदी' निकल चुका था, पर उसकी नीति निराली थी। इसलिए 'कारागार' नामक पत्र निकाला गया और उसके सम्पादनका भार मुझे सौंपा गया। मुजफ्फरपुरके श्री मथुराप्रसादसिंह 'कारागार'के व्यवस्थापक बनाये गए और गिद्धौरके कुमार कालिकाप्रसादसिंह उसके चित्रकार। कुमार साहबमें वक्तृता देने और चित्र खींचनेकी अच्छी क्षमता थी। उनके अनेक भावपूर्ण चित्रोंसे 'कारागार'की शोभा-वृद्धि हुई थी। मथुरा बाबू 'कारागार'की कापी जेल-भरमें घुमाते और उसके लिए खास-खास लेखकोंसे लेख और कवियोंसे कविताएँ वसूल करते—इस काममें वे काबुली सूदखोरोंके धैर्यको भी मात कर देते थे। छपरा जिलेके श्रीमहामायाप्रसादसिंहने भी दो अङ्कोंके लेखन-कार्यमें योग दिया था।

हजारीबाग जेलके लिए यह कोई मामूली अखबार नहीं था; इसमें श्री राजेन्द्रप्रसादसे लेकर बिहारके प्रायः सभी नेता लेख देते थे। मैं लेखोंका सम्पादन करके एक जिल्द बँधी हुई मोटी कापीपर साफ-साफ अक्षरोंमें लिख देता था। वही कापी जेलके भिन्न-भिन्न वार्डोंमें घूमा करती थी और उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना हुआ करती थी। 'कारा-गार'का पहला अंक 'कृष्णाङ्क' था, जो जन्माष्टमीके समय प्रकाशित हुआ था। दूसरा अङ्क 'दीवाली-अङ्क' था और तीसरा अङ्क था 'सत्या-ग्रह-अङ्क,' जिसे बिहार प्रान्तके सत्याग्रहका विस्तृत और प्रामाणिक इतिहास कहना चाहिए। इस अङ्कमें प्रान्तके समस्त जिलोंके नेताओंने अपने-अपने जिलेमें सत्याग्रह-संग्रामके तमाम उद्योगोंका वर्णन किया था। पहले दो अङ्क दो-दो सौ पन्नेकी कापीमें समाप्त हुए थे, पर 'सत्याग्रह-अङ्क'में इस प्रकारकी चार कापियाँ लगी थीं। कुल तीन अंक निकल पाये थे और बारह सौ पृष्ठकी साहित्यिक सामग्री संकलित हो गई थी। अन्तमें हजारीबाग जेलकी इस सर्वश्रेष्ठ स्मृति 'कारागार'की कापियाँ

बिहार-विद्यापीठको भेंट कर दी गई, पर सुनते हैं कि पुलिसकी तलाशी-में वहाँसे वह अनमोल वस्तु गायब हो गई।

धूम्र-पानका प्रभाव

इस प्रसंगमें मुझे एक विचित्र अनुभव हुआ था। जेलमें प्रवेश करते ही मैंने धूम्र-पान छोड़ दिया। पहले कुछ दिनों तक मुझे बड़ी तकलीफ हुई, पर धीरे-धीरे वह वासना मिट गई। जब मुझपर 'कारा-गार'का सम्पादन-भार आ पड़ा और मैं उसके लिए अग्रलेख लिखने बैठा तो मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मानो मेरा दिमाग खोखला होगया है, ज्ञान-कोषका दिवाला निकल गया है, विचार-शक्ति विनष्ट हो गई है। मैं विस्मित एवं व्याकुल हो उठा। सोचने लगा कि कारण क्या है? क्या कारावासका यह अनिवार्य परिणाम है? दिन-भर चिन्तामें बीता, शामको मुझे बीड़ीकी याद हो आई। डूबते हुए व्यक्तिको तिनके-का सहारा मिल गया। बीड़ीकी खोजमें मैं कुमार सिद्धेश्वरप्रसादसिंह-के पास पहुँचा। वह गया जिलेके लोकप्रिय नेता और केन्द्रीय धारा-सभाके सदस्य थे, दिन-भर चर्खा चलाते और बीड़ी पिया करते थे। जब मैंने उनसे अपना इरादा जाहिर किया तो वे विस्मित होकर बोले, "आपके लिए मैंने कलकत्तेसे एक डिब्बा बढ़िया सिगार मँगाया था, लेकिन जब सुना कि आपने धूम्र-पान त्याग दिया है तो उसको पेटीमें एक किनारे रख छोड़ा है।" यह कहकर वह कोठरीके अन्दर गये और पेटीसे सिगारका डिब्बा निकालकर मुझे थमाते हुए बोले, 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।' दूसरे दिन सवेरे जब मैं सिद्धेश्वर-बाबूका सिगार सुलगाकर लिखने बैठा तो मानो मेरे मस्तिष्कका अवरुद्ध क्रिया-कपाट खुल गया, लिखनेकी पूर्व प्रवृत्ति लौट आई, दिमागमें विचार सूझने लगे और कलम लगी अबाध-गतिसे कागजपर थिरकने।

मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य

जेलमें लोगोंको अपने मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य-सुधारकी बड़ी चिन्ता रहती थी। मानसिक स्वास्थ्यके लिए गीताका पाठ किया

जाता था। जिसे देखिये, वही भगवद्गीताका गुटका बगलमें दबाये फिरता है। शारीरिक स्वास्थ्यके लिए हलुवा या मुर्गीके अंडेका आहार लाभदायक समझा जाता था। लोगोंका मानसिक स्वास्थ्य कितना सुधरा, इसका तो कुछ पता नहीं। हाँ, शारीरिक स्वास्थ्यके सम्बन्धमें यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि यदि हमारे अंडाखोर नेता कुछ दिन और वहाँ रह जाते तो हजारीबागमें बेचारे कुक्कुट-वंशका विनाश हुए बिना न रहता।

सम्मेलन और उत्सव

जेलमें कवि-सम्मेलन भी धूम-धामसे हुआ करते थे। पहले इसकी काफी तरंग रही, पर बादमें उमंग कुछ मन्द पड़ गई। श्रीबुद्धिनाथ झा 'कैरव'की हिन्दी कविता और श्री जगेश्वरप्रसाद 'खलिश'की उर्दू शायरी बड़ी मनोहर होती थीं। श्रीमोहनलाल गुप्त, श्री राधामोहनसिंह, श्रीमशरफीलाल वर्मा, श्रीमहादेवलाल शराफ प्रभृति भी कविता-देवीकी आराधनामें संलग्न रहते थे। मैं कवि नहीं, इसलिए यह कहना कठिन है कि किसकी कवितामें क्या गुण-दोष थे।

जेलमें प्रायः सभी उत्सव मनाये गए थे। जलियाँवाला-दिवस, गांधी-जयंती, स्वाधीनता-दिवस इत्यादि आधुनिक राष्ट्रीय उत्सवोंके सिवा जन्माष्टमी, दशहरा, दिवाली और होलीके पुरातन उत्सव भी धूम-धामसे मनाये गए थे। दिवालीका उत्सव हम लोगोंने ऋषि दयानंद-की पुण्य-स्मृतिमें मनाया था। इस ऋषि-उत्सवमें सभापतिकी हैसि-यतसे श्रद्धेय राजेन्द्रबाबूने कहा था कि "ऋषि दयानन्दने भारतोद्धारका जो सूत्र रचा था उसीका भाष्य आज महात्मा गांधी कर रहे हैं।" श्री जगतनारायणलालने जन्माष्टमी-महोत्सवका नेतृत्व किया था, जो सर्वथा उपयुक्त था भी, क्योंकि बिहारमें उस समय जगतबाबू ही हिन्दू महासभाके धनी-धोरी समझे जाते थे। कुछ दिन पहले एक कुमारीसे उनका पुनर्विवाह हुआ था और जेल आते समय वह अपनी नवोढ़ा पत्नीको पटना जिलेका 'डिक्टेटर' बना आये थे। जेलमें उनका

अधिकांश समय पूजा-पाठ और स्वाध्यायमें व्यतीत होता था। होलीका त्यौहार जिस उमङ्गसे मनाया गया था, उसे भूलना असंभव है। फागुनका मस्त महीना, वसंत ऋतु और होलीका उत्सव, यह बात ही भारतीय हृदयमें उल्लास भरनेके लिए काफी है। फागुनमें यों भी मनहूसों तककी सूरतपर हँसीकी रेखा झलकने लगती है और मनमें अरमानोंकी भीड़ लग जाती है। पर इस वार होलीके साथ-साथ सत्याग्रहकी विजयकी खबर आ गई थी। फिर भला क्रान्तिकारियोंके उल्लासका क्या ठिकाना ! जेलके भीतर सारी जमीन लाल हो गई थी। कैदी, वार्डर और जेलर ही नहीं यूरोपियन बंदियोंके चेहरे भी अबीर-गुलालसे लाल होगए थे।

बिहारके अग्रनेता

इस वारके कारावासमें मुझे जो सबसे बड़ा लाभ हुआ, वह था बिहारके प्रमुख नेताओंका परिचय और सत्सङ्ग। मैं भारतके राजनीतिक क्षेत्रका नया रँगरूट था। यद्यपि बिहारके कुछ चुने हुए नेताओंसे मेरी जान-पहचान थी, पर हजारीबाग जेलमें बारह मास तक रात-दिन एक साथ रहकर मैं उनको अत्यन्त निकटसे देख पाया। उनमेंसे कतिपय महाभागोंकी स्नेहमयी स्मृतियाँ मेरे जीवनकी संचित सम्पत्ति बन गई हैं। बिहार-उड़ीसाके प्रायः सभी गण्य-मान्य नेता और कार्यकर्त्ता वहाँ विद्यमान् थे। उनमेंसे जिनके व्यक्तित्वका सबसे अधिक असर मेरे जीवनपर पड़ा उनका नाम आज भारतके लिए अभिमानकी वस्तु बन गया है और वह हैं डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी। वह सहृदयता, सुजनता एवं सरलताकी सजीव मूर्ति हैं। सचाई उनका शौर्य है और ईमानदारी है इकबाल। इसलिए उनको 'बिहारका गांधी' कहा जाता है और इस उपमामें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। वह निरभिमानी एवं निस्पृह नेता हैं। उनका स्वभाव कोमल है और शायद इतना अधिक कोमल कि अक्सर उनसे कुछ लोग नाजायज फायदा भी उठा लेते हैं। उनके महान् व्यक्तित्वमें बड़ा आकर्षण है। हजारीबाग जेलमें कोई ऐसा न होगा—साधारण

कैदियोंसे लेकर जेलके अधिकारियोंतक—जिसपर उनकी पवित्र प्रकृति, विनीत वाणी, गंभीर विचार और उच्च आचार का प्रभाव न पड़ा हो। वह नियमित रूपसे चर्खा चलाते और सूत कातते थे। उन्होंने स्वयं जेलर-से कहकर निवाड़ बुननेका काम ले लिया था और नित्य पाँच-दस गज निवाड़ तैयार कर लेते थे। खेद है कि उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता। दमा उनको बहुत दिक किया करता है। पर वह सब क्लेशोंको धैर्य और साहससे सहन किया करते हैं। बुद्धकी तपोभूमि बिहारने इस युगमें राजेन्द्रबाबूको जन्म देकर सारे हिन्दुस्तानका कल्याण किया है।

जेलमें एक छोटा-सा बरामदेदार बँगला था, जिसमें मेरे मित्र श्रीरामनारायणसिंह, श्री कृष्णवल्लभसहाय, श्री विपिनबिहारी वर्मा, श्रीसत्यनारायणसिंह और श्रीबजरंगसहायका डेरा पड़ा था। उसीमें राजेन्द्र-बाबूको भी ठहराया गया था और भागलपुरके श्रीदीपनारायणसिंहको भी। दीप बाबूके आगमनसे जेलके जीवनमें काफी परिवर्तन हुआ। उन्होंने कई बार पृथ्वीकी परिक्रमा की थी। उनके आनेसे जेलके नीरस और शुष्क वातावरणमें भी सरसता और स्निग्धता आ गई। उनके चारों तरफके वायु-मंडलमें चहल-पहल और जिन्दादिली दिखाई देती थी। हजारीबाग जेलके इतिहासमें, उनके आनेके बाद ही पहले-पहल कलकत्तेके रसगुल्ले, दिल्लीकी दालमोठ, आगरेके पेठे, कुल्लूके सेब और नागपुरके सन्तरोंने जेलकी चहार-दीवारीके भीतर प्रवेश किया था। वह बड़े यार-बाश व्यक्ति थे। सप्ताहमें दो-तीन बार कैदी मित्रोंको निमंत्रित करके भोज दिया करते थे। इसके सिवा 'ब्रज' खेलनेके लिए सभीको खुला निमंत्रण था। उनके इस जंगलमें मंगल रचानेसे हमारे अनेक भाइयोंको जेलका कठोर जीवन भी सह्य हो गया था।

बिहारकी कांग्रेस-सरकारके प्रधान-मंत्री श्री श्रीकृष्णसिंह भी हमारे साथ थे। वे एक विशिष्ट वक्ता एवं स्वाध्यायशील व्यक्ति हैं। उनका स्वभाव बहुत ही सौम्य और शान्त है। मित्रोंकी प्रेरणासे मैंने 'दक्षिण अफ्रिकाके सत्यग्रह' पर लगातार आठ व्याख्यान दिये थे, उनमें श्रीबाबू

नित्य आते रहे, एक दिन भी नागा नहीं होने पाया। मित्रोंमें वह श्रीबाबू के नामसे ही प्रसिद्ध हैं। जनता उनको 'बिहार-केसरी' कहती है। मुजफ्फरपुरके श्रीरामदयालुसिंह, जो प्रथम कांग्रेस-राज्यमें बिहारकी धारा-सभाके सभापति हुए थे, बड़े गंभीर, विचारशील एवं नीति-निष्णात व्यक्ति थे। उनका समय चर्खा कातने, टब-बाथ लेने और पुस्तकोंके अध्ययनमें बीतता था। लोग उनकी बड़ी इज्जत करते थे। अब वह इस संसारमें नहीं रहे।

हजारीबागके नेता (अब कांग्रेस-सरकारके मंत्री) श्रीकृष्णवल्लभ-सहाय बड़े सीधे-सादे और सच्चे आदमी हैं। उन्हें न ऊधोका लेना, न माधोका देना; किसीके झगड़े-टंटेसे वास्ता नहीं। जैसा उनका स्वभाव नम्र है वैसा ही उनका दिमाग तेज। राजेन्द्र बाबूपर उनकी प्रगाढ़ भक्ति है। वे राजेन्द्र बाबूकी सेवा बड़े स्नेहसे किया करते थे।

चम्पारनके तकली-प्रेमी बैरिस्टर श्री विपिनविहारी वर्माने जेलमें सबसे भारी जिम्मेदारीका काम ले रखा था। वह हम लोगोंके 'पीस-मेकर' (शान्ति-स्थापक) थे। जब कभी कैदियों और जेल-कर्मचारियों-में तकरार हो जाती तो वे बीचमें पड़कर अपनी नम्रता एवं विनय-शीलतासे दोनों पक्षोंमें शान्ति-स्थापनाकी चेष्टा किया करते थे। कुछ उग्र स्वभावके आदमी उनकी विनम्रताको कमजोरी समझते थे, पर किसी-की रायकी पर्वाह किये बिना वह अपने शुभ कार्यमें लगे रहते थे। वह बड़े शिष्ट, सहृदय और सरल स्वभावके व्यक्ति हैं।

दरभंगाके श्री सत्यनारायणसिंह (अब केन्द्रीय धारा-सभामें कांग्रेस-पार्टीके चीफ ह्विप) के हम सब राजनीतिक कैदी सदा आभारी रहेंगे। वह हम सबकी अन्नपूर्णा थे, क्योंकि उन बेचारोंने 'भन्सा'का भार अपने ऊपर ले रखा था। पाठक पूछेंगे कि यह 'भन्सा' क्या बला होती है? जेलकी शिष्ट भाषामें रसोईघरका नाम 'भन्सा' है। सत्य-नारायण बाबू सबके खाने-पीनेका खयाल रखते थे। इतने आदमियोंके खान-पानका इन्तजाम करना, हर एकके तकलीफ-आरामका ध्यान रखना,

वास्तवमें बड़ा कठिन काम था। कभी-कभी लोग उनको तंग भी करते थे, फिर भी वह धैर्य, सन्तोष और स्नेहसे अपना काम करते रहते थे। सारनके श्री महामायाप्रसाद 'भन्सा'के काममें उनके 'लेफ्टिनेन्ट' थे। सत्यनारायण बाबू हिन्दी-काव्य-कलाके मर्मज्ञ-पारखी हैं। महामाया बाबूमें 'बड़ा' बननेकी बुरी बीमारी थी, शायद आयु और ज्ञानके विकाससे वह अब दूर हो गई होगी।

हजारीबागके वयोवृद्ध नेता श्री रामनारायणसिंहको जेलमें सबसे अधिक कष्ट हुआ। एक तो जिस समय वह जेलमें थे, उसी समय उनके परिवारमें कई मृत्यु हो गई थीं; दूसरे जेल-अधिकारियोंके साथ उनका लड़ाई-झगड़ा चला ही करता था। इस संघर्षके विषयमें दोनों ओरसे बहुत-कुछ कहा जा सकता है, पर रामनारायण बाबूमें कितनी दृढ़ता एवं कष्ट-सहनकी शक्ति है उसका परिचय अच्छी तरह मिल गया था। जेलकी सभी सजाओंको भुगतकर भी वह अपनी बातपर डटे रहे। उन्हें एक गिलास पानी या दूध पीनेमें पन्द्रह मिनट लगते थे और भोजन करनेमें एक घण्टेसे अधिक। वह योग-साधन भी करते थे और एक विशेष आसनमें बड़ी देर तक मुर्देकी भाँति पड़े रहा करते थे।

पटनाके अंग्रेजी दैनिक 'सर्चलाइट'के संपादक श्रीमुरलीमनोहरप्रसाद बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। वह बातचीत करनेमें बड़े तेज हैं—प्रवृत्तिमें ही नहीं, बल्कि बातचीतकी स्पीडमें भी। उनसे बातचीत करनेमें किसी भी विद्वान्‌को आनंद आ सकता है बशर्ते कि चाय-बीड़ीका बन्दोबस्त पहलेसे कर लिया जाय। 'सर्चलाइट'के उपसम्पादक श्रीमणीन्द्रनाथ राय भी बड़े मेधावी युवक हैं। कद कुछ लंबा है, पर बदन इतना दुबला-पतला कि सारी हड्डियाँ दिखाई देती हैं। फिर भी वह अंग्रेज-सरकारके लिए बड़े खतरनाक जीव थे। बंगाल और बिहारकी सरकार उनको जेलमें गला-पचाकर एक बलासे पिण्ड छुड़ा लेना चाहती थी। वह मेरे साथ चाय पीते थे और बंगलामें उपन्यास लिखा करते थे।

हजारीबागके श्रीबजरंगसहायकी याददाश्त बड़ी तेज थी। जो बात

वह पढ़ लेते थे उसको मुँह-जबानी दोहरा देते थे । जेलमें हम लोगोंके वह चलते-फिरते, बोलते-चालते सजीव अखबार थे। हर वक्त वे नई खबरकी खोजमें रहा करते थे। जहाँ उन्होंने कोई नई खबर पढ़ी या सुनी, बस फौरन ही वह उन्हें कण्ठाग्र हो गई और समाचार-वितरणके निःस्वार्थ मिशनपर वह निकल पड़े। उनको देखते ही लोगोंके चेहरेपर प्रश्नवाचक चिह्न अंकित हो आता था कि 'क्या नई खबर है ?'

बाबू धरणीधर दरभंगाके पुराने कार्यकर्त्ता हैं। बड़े निर्भीक और स्पष्ट वक्ता। किसी तरहका संकोच किये बिना वह खरी बात मुँहपर कह देते थे। गिद्धौर-राजवंशके कुमार कालिकाप्रसादसिंहका व्यक्तित्व भी आकर्षक है। वह स्वतंत्र प्रकृतिके पुरुष हैं, अतः उनका कोई नियमित कार्य-क्रम न था। जब जो मनमें आता, करते थे। हाँ, उनके इस नियम-विहीन जीवनमें केवल एक बात नियमित रूपसे हुआ करती थी, वह थी उनकी पाठ-पूजा, जिसमें घण्टों लग जाता था ।

पुरलियाके 'मुक्ति' पत्रके सम्पादक श्रीनिवारणचन्द्र गुप्त सचाई, सीधेपन और साधु-स्वभावमें राजेन्द्र बाबूके छोटे संस्करण थे। उन्होंने देशके लिए सर्वस्व समर्पित कर दिया था। वह बड़े ज्ञानवान और ऊँचे विद्वान् थे। 'कारागार' के कृष्णाङ्कमें कृष्ण भगवान्‌पर उनका लेख सर्वोत्तम था। श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी, श्रीरामनन्दन मिश्र प्रभृति साम्यवादी युवक अपनी ही धुनमें मस्त रहते थे, उनको अपने विचार-स्वातंत्र्यपर गर्व भी था। संथाल परगनेके श्रीशशिभूषणराय और श्रीविनोदानन्द झा (अब बिहार-सरकारके एक मंत्री) बड़े शिष्ट,सौम्य एवं कर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। राजेन्द्र बाबूके 'बाडी-गार्ड' श्रीमथुराप्रसाद ऐसे भोले-भाले महात्मा थे कि उनकी सिधाईसे कुछ लोग नाजायज फायदा भी उठाते थे और बात-बातमें कुछ लोग मखौल उड़ाया करते थे। सच कहा है कि 'सीधेका मुँह कुत्ता चाटे'। हमारे साथ एक ही नहीं,दो श्रीजगतनारायणलाल थे। एक तो हिन्दू महासभाके अग्रनेता और दूसरे थियोसाफिकल सोसायटीके अधिष्ठाता। दोनों उच्च श्रेणीके विद्वान्, विचारक और

धर्मनिष्ठ पुरुष थे। छपराके श्रीनारायणप्रसादसिंह गीताका महाभाष्य करनेमें व्यस्त रहते थे, पता नहीं छपानेके लिए या मनोरञ्जनके लिए।

मुजफ्फरपुरके श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसाद वर्मा (अब बिहारकी धारा-सभाके स्पीकर) बड़े गंभीर विचारक और क्रियाशील नेता हैं। दलितोद्धारके काममें उनको विशेष दिलचस्पी थी। पुरुलियाके श्रीजीमूतवाहन सेन, भागलपुरके श्रीकैलाशबिहारीलाल, सीतामढ़ीके श्रीरामानंदनसिंह और पटनाके श्रीशारङ्गधरसिंहके दिन हास्य-विनोद एवं आमोद-प्रमोदमें कटते थे। चम्पारनके श्रीप्रजापति मिश्र और छपराके श्रीराजेन्द्र मिश्र रचनात्मक कार्योंकी चर्चा किया करते थे और सारनके भरत मिश्रको हिन्दू-हितकी चिन्ता खाये जाती थी। आर्यसमाजके 'राजगुरु' श्रीधुरेन्द्र-शास्त्री इस बातसे बहुत परेशान रहते थे कि आर्यसमाजकी 'बाबूपार्टी' राष्ट्र-वाणीमें संध्या और उपासनाका प्रचार करके देव-वाणीका गला घोंट रही है। आराके श्रीरामायणप्रसाद, श्रीसिद्धेश्वरप्रसाद, श्रीविन्ध्याचलप्रसाद और वयोवृद्ध श्री शीतलसिंह शान्ति और संतोषसे अपने दिन काट रहे थे। श्री दुर्गाशङ्करप्रसादसिंह उपन्यासकारके रूपमें 'हृदयकी ओर' देखनेकी चेष्टा किया करते थे; इस उद्योगमें उनको कहांतक सफलता हुई, मुझे पता नहीं; राजा राधिकारमणप्रसादसिंह हृदयपर हाथ धर-कर इसकी गवाही दे सकते हैं। सरदार हरिहरसिंह जब लोगोंके आग्रह करनेपर अपने कड़खे सुनाते तो श्रोताओंकी नस-नसमें वीर रसका संचार हो आता। श्री गौरीशंकरसिंह, श्रीरामचरित्रसिंह, प्रोफेसर ज्ञान शाह, श्री गिरिवरधर,श्री शशिधर गांगुली, श्री अतुलकृष्ण घोष, श्री हीरालाल शराफ प्रभृति अपने कामसे वास्ता रखते थे, किसी दूसरेके पचड़ेसे नहीं।

उड़ीसाके आचार्य हरिहरदासके समान साधु स्वभावके सज्जन विरले ही होते हैं। उनके सम्बन्धमें इतना ही कहना काफी होगा कि वह मनुष्योंमें देवता थे। श्रीगोपबन्धु चौधरी भी बड़े त्यागी और कर्म-निष्ठ नेता हैं। वह मितव्ययतामें गांधीजीका मुकाबला करते थे। बापू एक लंगोट बांधते और एक गमछा ओढ़ते हैं; इस प्रकार उनको दो

कपड़ोंकी जरूरत होती है, पर हमारे चौधरीजी एक ही वस्त्रसे काम चला लेते थे—आधी धोती पहनते और आधी ओढ़ लेते। इन सबसे भिन्न प्रकृतिके थे— उड़ीसाके श्रीनीलकंठदास। उनके आनेपर सबको पता लग गया कि वे कोई साधारण व्यक्ति नहीं बल्कि केन्द्रीय धारा-सभाके सदस्य थे। यह भी मालूम हुआ कि वह ताज और सेवाय होटलोंमें ठहरने वाले और रेलके पहले दर्जेके डब्बेमें यात्रा करने वाले महाभाग हैं।

हमारे साथियोंमें केवल दो मुस्लिम भाई थे—श्री जुबेर और श्री जहूर। पहले दिन कुछ पोंगापंथी हिन्दुओंने खान-पानका बखेड़ा उठाया और सैयद जहूरुल हसन हाशमीको पंक्तिसे पृथक् बिठाकर खिलाया। यह बात मुझे बहुत बुरी लगी, हिन्दुओंकी इस संकीर्णतापर बड़ा संताप हुआ। फिर जब भोजनकी बेला हुई तो मैंने जहूर साहबके साथ बैठकर खाया। तीन दिनके अंदर सारे हिन्दू उनके साथ बैठकर खाने लगे, केवल हजारीबागके श्रीरामनारायणसिंह और मोतीहारीके श्री रामदयाल शाह अपनी अलग खिचड़ी पकाते रहे। देखने वालेको यही प्रतीत होता था कि सिंहजी और शाहजी उस राष्ट्रीय समाजसे बहिष्कृत हैं।

इस जेलमें बिहारकी दो राजनीतिक कार्यकर्त्री देवियाँ भी थीं—श्रीमती सरस्वतीदेवी और कुमारी मीरादेवी। कुछ तरुण और किशोर बमबाज क्रान्तिकारी भी थे और मौलनिया डकैतीके कुछ कैदी भी। उनमें किसीको आठ वर्ष, किसीको दस वर्ष और किसीको आजन्म कारावासका दण्ड मिला था। एक क्रान्तिकारी किशोर तो जेलकी यातनाओंसे पागल भी हो गया था।

एक हत्यारेका अन्ध-विश्वास

हजारीबागमें राजनीतिक कैदियोंके सिवा कुछ मामूली कैदी भी थे। उनके साथ भी पहले की भाँति बुरा बर्ताव नहीं होने पाता था। उनमें अधिकांश कैदियोंसे स्वराजियोंकी सेवा-टहलका काम लिया जाता था। एक संथाल कैदीकी कहानी मुझे कभी नहीं भूलेगी। वह बड़ा मोटा-

तगड़ा और काला-कलूटा आदमी था। उसने अपने गाँवमें एक डायनको हत्या कर डाली थी; इस अपराधमें उसे फाँसीकी सजा हुई थी। मैं अक्सर उसके पास जाया और समझाया करता कि उसने नारी-हत्याका अपराध और पाप किया है, अतएव उसे हृदयसे पश्चात्ताप करना चाहिए और भगवान्के दरबारमें जानेकी तैयारी; क्योंकि उसके जीवनके दिन घटते जा रहे हैं! वह व्यथित होकर बोलता—"महाराज! आप क्या कह रहे हैं? आपके मुँहसे ऐसी बात! मैंने अपराध ही क्या किया है, जिसके लिए कोई मुझे फाँसी दे सकेगा; मैंने तो धर्म किया और पुण्य कमाया है, एक डायनको मारकर गाँवके बच्चोंको मौतसे बचाया है, आप चिन्ता मत कीजिए, मेरे देवता मुझे कभी फाँसी न होने देंगे।"

मुझे उसके भोलेपनपर तरस आता, पर कोशिश करनेपर भी मैं उसे अन्ध-विश्वाससे डिगा न पाया। जब फाँसीके दिन निकट आ गये तो उसकी माँको खबर दी गई। वह आकर बेटेसे मिली। माँको भी उसने भरोसा दिया कि उसके देवता उसकी रक्षामें खड़े हैं—फिर उसे फाँसी कौन दे सकता है! बुढ़िया जब घर जाने लगी तो वार्डरोंने उसे समझाया कि कल सवेरे उसके बेटेको फाँसी हो जायगी, इसलिए उसे शिविरमें ठहर जाना चाहिए। इसपर वह बिगड़कर वार्डरोंसे बोली, "तुम फाँसीपर चढ़ो, तुम्हारे भाई-बेटे फाँसीपर चढ़ें; मेरे बेटेको कौन फाँसी दे सकता है।"

जिस दिन सवेरे उसे फाँसी होने वाली थी, उससे पहलेकी सन्ध्याको बेला मैंने फिर उसे स्मरण दिलाया कि उसके जीवनमें अब दूसरी सन्ध्या नहीं आवेगी, उसे यह रात भगवान्की यादमें बितानी चाहिए। पर फिर भी उसका वही जवाब, वही अन्ध-विश्वास, देवता-पर वही भरोसा! निदान वह घड़ी आ ही पहुँची। सवेरे चार बजे उसकी कोठरीके सामने जब सुपरिन्टेन्डेन्ट, जेलर, डाक्टर और वार्डरोंका जमाव होने लगा तो वह चौंका, डरा और सोचा कि शायद देवता दगा दे गए और जीवनका अन्त-काल आ पहुँचा। अब करे तो क्या! कैसे

अपनी रक्षा करे ! हाथमें कोई हथियार भी नहीं है। आखिर उसका दिमाग काम आया, उसे एक अद्भुत उपाय सूझा। वह अपने 'सैल्फ डिफेन्स'के लिए तैयार हो गया। वार्डरने ज्योंही कोठरीका दरवाज़ा खोला, त्योंही उसने खम ठोंककर मल-मूत्रकी कठौती उठा ली और उसमेंसे विष्ठाके बम-गोले निकाल-निकालकर लगा जल्लादोंपर फेंकने। किसीका कोट विष्ठासे लथ-पथ, किसीकी पतलून; किसीकी पगड़ी मल-मूत्रसे बिगड़ी तो किसीकी खोपड़ी। सबके पैर उखड़ गए, उसने मैदान मार लिया। अन्तमें वार्डरोंने उसपर कम्बल फेंककर चारों ओरसे हमला किया और उनको पछाड़कर अपमानका बदला चुका लिया। रस्सीसे बाँधकर उसके साथ चला जेलके कर्मचारियोंका जुलूस फाँसीके तख्तेकी तरफ। अब उसे भगवान्की याद आई, फिर तो उसने राम-रामकी इस रफ्तारसे रट लगाई कि घड़ी-भरमें सारी कसर निकाल ली।

मेरा सेवक 'शिवा'

मैं 'ए' क्लासका कैदी था। अतएव मुझे एक सेवक भी मिला था, जिसका नाम था 'शिवा'। वह अपने पड़ोसीको पीटकर ढाई वर्षके लिए बंदी-घरमें आ बसा था। वह ग्वाला था—भोंदू और जाहिल। मैंने बड़ी मेहनतसे उसे कोठरीकी सफाई करने, चीनीके बर्तन माँजने, चाय और टोस्ट बनाने, टोस्टके कतरेपर छुरीसे मक्खन और मुरब्बा लगाने आदिके आवश्यक काम सिखाये थे। चाय बनानेमें वह ऐसा प्रवीण होगया था कि दीपचन्द्र जैसे शौकीन भी मेरे यहाँ प्रायः चाय-पानके लिए आया करते थे और उसकी बनाई हुई चायकी तारीफ किया करते थे। जब वह मेरे हवाले किया गया था तो उसके शरीरका वजन ७० सेर था, पर साल-भरमें वह बढ़कर ११० सेर तक पहुँच गया था। इसका कारण यह था कि जेलमें सत्याग्रही मित्रोंके घरसे मेवा-मिठाई आती तो उसमेंसे थोड़ी-बहुत मेरे पास भी पहुँच जाती थी। गरिष्ठ चीजें मैं नहीं खाता था, इसलिए शिवा ही उसका भोग लगाता था। जब मैं कहता, "शिवा, तू तो बहुत मोटा-तगड़ा होता जाता है" तब वह दाँत निपोरकर बोलता,

"हजूर, आपहीका गुड़-भूत खाकर तो यह शरीर बना है।" उसकी इस भद्दी बोलीपर मुझे हँसी आये बिना न रहती। एक बार जेलरकी निगाह उसकी शक्ल-सूरतपर पड़ गई। उन्होंने कहा, इसको "कोल्हूमें लगाकर शरीरका वजन घटाना होगा, बदलेमें आपको दूसरा सेवक मिलेगा।" मैंने जेलरको जवाब दिया कि यह तो मेरे साथ घोर अन्याय होगा। इस जाहिलको सिखाकर बड़ी कठिनाईसे अब काम के लायक बना पाया हूँ। खैर, मेरी चिरौरी-विनतीसे जेलरने उसका पिण्ड छोड़ा दिया, यह ताकीद कर दी कि यदि सुपरिन्टेन्डेन्टकी दृष्टिसे उसे बचा रहना चाहिए।

जिस दिन मैं जेलसे छूटने लगा, उस दिन वह इतना रोया कि उसकी आँखें सूज-सी आई। मैंने सुपरिन्टेन्डेन्टसे कहकर उसे पहरेदारका काम दिला दिया, पर बेचारेको चायके बिना कुछ दिन बेचैनीसे कटे होंगे। सुपरिन्टेन्डेन्ट श्री आयङ्गर, जेलर श्रीनारायणबाबू, नायब जेलर श्रीसुधीर बाबू तथा जेलके अन्य कर्मचारियोंने मुझे बड़े स्नेहसे विदा किया था।

सन् १६४१ में गान्धी-इर्विन-संधि हो गई। मैं १२ मार्चको बारह दिन कम बारह मासकी कैद भुगतकर छूट गया। साल-भर बाद जेलकी चहारदीवारीसे बाहर निकला तो ऐसा भासित हुआ कि मानो मैं किसी नवीन लोकमें आ गया हूँ। मेरे सामने नई धरती थी, नया आकाश था। पृथ्वीमें, पर्वतमें, पेड़-पल्लवोंमें, पवनमें एक निराली छटा थी। बाहरके मनुष्य, पक्षी और पशु मुझे एक नये रूपमें दृष्टिगोचर होरहे थे। घड़ी-भर बाद मेरा चित्त स्थिर हुआ तो मैं अपनेको व्यावहारिक जगत्‌में पाया।

जेलसे लौटनेपर सहसराम, आरा आदि नगरोंमें मेरा इस धूमधामसे स्वागत-सत्कार हुआ कि मानो मैं लंका जीतकर आ रहा हूँ।

: ३४ :

प्रत्यागत प्रवासियोंकी परिस्थिति

इस बार हिन्दुस्थान पहुँचकर सबसे पहले मैंने प्रत्यागत प्रवासियोंकी दशाकी जाँच की थी और उसकी संक्षिप्त एवं अस्थायी रिपोर्ट प्रकाशित भी कर दी थी। पूरी और पक्की रिपोर्ट भी तैयार हो चुकी थी, पर उसके प्रकाशनसे पूर्व ही मैं जेलमें आ बैठा था। अतएव रिपोर्ट छपानेका काम पं० बनारसीदास चतुर्वेदीको सौंप आया था। जेलमें भी मुझे चैन नहीं था—लौटे हुए अभागे भाइयोंकी चिन्ता लगी हुई थी। मैंने हिन्दुस्थान-सरकारके प्रवास-विभागके तत्कालीन सदस्य सर-फजलेहुसेनको जेलसे पत्र लिखकर पूछा कि सरकारने श्रीनटेसन और श्री ग्रेकाका जो कमीशन बैठाया था, उसकी जाँचका क्या नतीजा निकला? जवाबमें उन्होंने कमीशनकी रिपोर्ट मेरे पास भेज दी। उसे पढ़कर मुझे इतनी निराशा हुई कि मैंने फौरन अपनी रिपोर्ट प्रकाशित करनेका इरादा कर लिया। इसकी सूचना माननीय श्रीनिवास शास्त्रीको दे देना उचित प्रतीत हुआ; क्योंकि जेलमें आनेके बाद ही मुझे शास्त्रीजीकी एक चिट्ठी मिली थी जिसमें अनुरोध किया गया था कि मुझे रिपोर्टका प्रकाशन स्थगित रखना चाहिए, क्योंकि उस समय ट्रांसवालके प्रवासी भारतीयोंके मुतल्लिक एक कानून (Transvaal Asiatic Land Tenure Act) सिलेक्ट कमेटीके विचाराधीन था। अतएव मेरी रिपोर्टके प्रकाशनसे ट्रांसवालकी बिगड़ी हुई स्थिति और भी भयावह हो सकती है, शास्त्रीजीकी यह धारणा थी।

प्रत्यागत प्रवासियोंकी परिस्थितिपर रिपोर्ट

मैंने उत्तरमें उनको विश्वास दिला दिया था कि उनकी इच्छा और सम्मतिके विरुद्ध मैं कुछ भी न करूँगा। इसलिए सरकारी रिपोर्टसे हताश होकर मैंने शास्त्रीजीसे प्रार्थना की कि यदि उनकी कोई आपत्ति न हो तो अब मैं अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर दूं। उस समय शास्त्रीजी गोल-मेज-परिषद्में भारतके भावी शासन-विधानके निर्माणमें भाग लेनेके लिए लन्डनमें विराज रहे थे। यद्यपि उस समय उनको दम लेनेकी भी फुर्सत नहीं थी, तो भी मेरी चिट्ठी पाकर वह चिन्तित हो उठे। लन्डनसे उन्होंने बिहारके गवर्नरको मार्फत एक तार भेजा, जिसे गवर्नरके प्राइवेट सेक्रेटरीने मेरे पास हजारीबाग जेलमें पहुँचाया। इसके बाद हवाई डाकसे शास्त्रीजीकी चिट्ठी भी आई, जिसमें रिपोर्टके प्रकाशनको स्थगित रखनेकी प्रेरणाकी पुनरावृत्ति थी। मैं बड़े असमंजसमें पड़ गया। शास्त्रीजीके लिए मेरे हृदयमें बड़ा आदर और पूज्य भाव था। उनसे कई बातों में मत-भेद होते हुए भी मेरा खयाल है कि वह भारतके अद्वितीय महापुरुष थे, त्यागी और तपस्वी थे। मुझे विवश होकर शास्त्रीजीके आदेशके सामने शीश झुका देना पड़ा।

मैंने जेलसे छूटनेके बाद जो पहला काम किया, वह था रिपोर्टका प्रकाशन। इस रिपोर्टको तैयार करनेमें मुझे पं० बनारसीदास चतुर्वेदीसे बड़ी मदद मिली और छपाने में सेठ घनश्यामदास बिड़लासे। रिपोर्ट- (A Report on the Emigrants repatriated to India under the Assisted Emigration Scheme from South Africa and on the Problem of Returned Emigrants From all Colonies) के निकलते ही देश और विदेशोंमें सनसनी-सी फैल गई। देशमें महात्मा गांधीसे लेकर 'टाइम्स ऑफ इंडिया' तकने रिपोर्टके अनुकूल आलोचनाएँ कीं और विदेशोंके अखबारोंमें भी उसकी व्यापक चर्चा हुई। जहाँ तक मिल सकीं, अखबारोंकी आलोचनाएँ एकत्र करके 'दक्षिण अफ्रिकाकी

'प्रत्यागमन-योजनापर लोकमत' (Public Opinion on the Assisted Emigration Scheme under Indo-South African Agreement) के नामसे मैंने पुस्तकाकार प्रकाशित कर दी, जिनकी एक मोटी-ताजी पोथी ही बन गई।

प्रत्यागमन-योजनापर पुनर्विचार

उसी साल सन् १९३१ के अन्तमें केपटाउन संधिपर पुनर्विचार करनेके लिए केपटाउनमें ही दूसरी गोलमेज परिषद् हुई। मेरी रिपोर्ट-की परिषद्में काफी चर्चा हुई। उधर केपटाउनमें परिषद् हो रही थी, इधर दिल्ली पहुँचकर मैंने सर फजले हुसेनके स्थानापन्न सर मुहम्मद शफीसे भेंट की और उनसे प्रार्थना की कि प्रत्यागमन-योजनाके लोक-मतकी उपेक्षा करना अच्छा न होगा, अतएव केपटाउनकी गोल-मेज-परिषद्के भारतीय प्रतिनिधियोंको भारत-सरकारकी ओरसे सचेत कर देना चाहिए कि प्रत्यागमन-योजनाको दफनानेमें ही उभय पक्षका कल्याण है। शफी साहबने फौरन एक तार केपटाउन भेजा। वह बड़े मेधावी, मृदुभाषी एवं मिलनसार व्यक्ति थे। अफसोस है कि इस मुलाकातके एक पखवारे बाद ही उनका परलोकवास होगया।

दिल्लीसे मैं बम्बई पहुँचकर महात्मा गांधीसे मिला। एक दिन पहले बापू लन्दनकी गोलमेज परिषद् से लौटे थे और पं० जवाहर-लाल नेहरू तथा श्री अब्दुलगफ्फार खाँकी गिरफ्तारी तथा देशकी भीषण स्थितिसे इतने चिन्तित, व्यथित एवं कार्य-व्यस्त थे कि देशके बड़े-बड़े नेताओंको भी उनसे मिलनेके लिए घण्टों प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। अतएव देवदास जीने मुझको यह राय दी कि, "मैं अब अच्छा रिपोर्टर बन गया हूँ। आप जो कुछ कहेंगे, भोजनके समय मैं बापू को अक्षरशः सुना दूँगा और उनका जवाब ला दूँगा। आप उनसे मिलनेका खयाल छोड़ दें।"

उस समय बापूको सचमुच फुर्सत नहीं थी, चौबीस घण्टेमें बमुश्किल कहीं दो घड़ी सोने पाते थे, पर उनसे प्रत्यागत प्रवासियोंके सम्बन्धमें

मिलना जरूरी था। इसलिए मैंने देवदास भाईसे कहा कि "मैं बापू तक अपनी बात पहुँचानेके लिए किसीको वकील बनाना ठीक नहीं समझता।" वह लाचार होकर बोले, "अच्छी बात है, कोशिश कर देखिए।" खैर, बापूसे मिलनेमें न मुझे दिक्कत हुई, न देर। मैं ऊपर-की मंजिलपर उनके पास पहुँच गया। उस समय बंगालके कांग्रेस-कर्मी अपने प्रांतके दमनकी कथा उन्हें सुना रहे थे। मुझपर दृष्टि पड़ते ही बापूने यह कहकर उनको विदा कर दिया कि वह स्वयं बंगाल पहुँचकर वहाँ-की हालत अपनी आँखोंसे देखना चाहते हैं। फिर बापूने मुझे अपने निकट बुलाया, मेरी बातें सुनीं और प्रत्यागमनकी नई योजनापर जो राय प्रकट की, उसको मैंने तार द्वारा दक्षिण अफ्रिकाकी कांग्रेसके जरिये गोल-मेज-परिषद्के भारतीय सदस्योंके पास भेजकर संतोषकी साँस ली।

प्रत्यागत प्रवासियोंकी हृदय-विदारक कहानी

अभागे प्रत्यागत प्रवासियोंकी कहानी बड़ी ही करुणा-जनक, हृदय-विदारक और रोमांचकारी है। उनकी विपदाओंकी गाथा यथावत् अंकित कर सकना किसी कलम-कलाधरका ही काम है, मेरे बूतेकी बात नहीं। एक अभागेकी कहानी उसीकी जबानी सुनियेः—

"मेरा नाम गुलजार है; बापका नाम गोपाल था। मेरे बाप जिला बस्तीके धरोहरी गाँवसे चालीस वर्ष पहले गिरमिट लिखाकर नेटाल गये थे। मेरी माँ भी साथ गई—मुझे गोदमें लेकर। उस समय मेरी उम्र सिर्फ छः महीनेकी थी। गिरमिटके पाँच साल कट जानेपर मेरे बापने मेहनत-मजदूरी और किफायतशारीसे कुछ पैसे बचाये और उस पूँजीसे चौदह बीघे जमीन पट्टेपर ले ली। उसमें तम्बाकू और मकईकी खेती होती थी और उसकी आमदनीसे परिवारका खर्च अच्छी तरह चल जाता था। मेरे और कई भाई जन्मे, उनके विवाह और बच्चे हुए। चालीस सालमें तीनसे बढ़कर अठारह प्राणियोंका परिवार हो गया। किसीको खाने-कपड़ेका कष्ट न था।

"सन् १९२८ में कुटुम्बपर विपत्ति आ पड़ी, बुड्ढे बापको देश

लौटनेकी धुन समाई। जीवनकी साँझकी वेलामें उनको गाँव, घर और परिवारकी याद आई। उसी समय सरकारकी ओरसे यह डुगडुगी पिट रही थी कि नेटाल छोड़ने वाले प्रत्येक व्यक्तिको राह-खर्चके सिवा बीस पौण्ड नकद इनाम भी मिलेगा। सरकारको किसी तरह भारतीयोंकी संख्या घटानेकी चिन्ता थी और बापको भी देश देखनेकी लालसा। बस, संयोग था जुटा; बापने अपने हाथसे अपने और अपने बच्चोंके पेटमें छुरी भोंक दी।

"बाप अपने परिवारके साथ देश लौटे। हम सत्रह प्राणियोंको कानपुरमें छोड़कर स्वयं गाँवका हाल देखने बस्ती गये। वहाँ उन्होंने बदला हुआ जमाना पाया। चालीस सालमें गाँवका हाल कुछ और ही हो गया था। पुराने आदमी चल बसे थे, नई सूरतें नजर आईं। उनमें न भ्रातृत्वकी भावना थी, न स्नेहकी स्निग्धता। उनकी स्थितिपर विचार करनेके लिए जातकी पंचायत जुटी; प्रायश्चित्त करनेकी आज्ञा दी गई, अन्यथा कुजात काढ़नेकी धमकी। यदि प्रायश्चित्तकी विधि पूरी की जाती तो सारी पूँजी स्वाहा हो जाती। यह अपमान उनको बहुत अखरा। पेड़की छायामें दिन काटना, भीख माँगकर खाना और नरकमें भी जाना उनको मंजूर था, पर उस गाँवमें जातके जानवरोंके साथ रहना नहीं।

वरमसि धारा तरुतल वासः ; वरमसि भिक्षा वरमुपवासः।
वरमपि घोरे नरके पतनम्, न च ज्ञाति गर्वित बान्धव शरणम्॥

"टूटा हुआ दिल लेकर बाप कानपुर लौटे; रो-रोकर उन्होंने गाँवकी गाथा सुनाई। उनके हृदयपर ऐसी गहरी चोट लगी थी, जिसे वृद्ध शरीर सहन न कर सका। बीमार पड़े और पन्द्रह दिनमें मर गए। मरते समय बड़ी व्यथासे इतना ही बोल पाए, 'हाय! मैं तो जा रहा हूँ, पर तुमको भाड़में झोंककर। तुम्हें यहाँ लाकर मैंने जो भूल की है वह मुझे मौतसे भी अधिक पीड़ा पहुँचा रही है। अब तुम्हारा क्या होगा?' हमने उनको समझाया कि 'इसमें आपका क्या कसूर? जो कर्ममें

लिखा है उसे कौन मिटा सकता है ?'

करमहीन सागर गए, जहाँ रतनका ढेर।
कर छूअत घोंघा भए, यही करमका फेर ॥

"बाप जाते रहे, माँ भी चल बसीं। मेरे सिवा और सबका जन्म नेटालमें ही हुआ था; मैं भी छः महीनेकी आयुमें यहाँसे चला गया था। इसलिए हमें यहाँका अनुभव कहाँ ? सरकारसे जो पैसे मिले थे, वे सब साफ हो गए। दरिद्रताने आ घेरा, उसके साथ मौतें भी होने लगीं। मोतीलाल परलोक गया; राजमती सुर-धाम सिधारी, रामलाल-का जीवन-चिराग बुझ गया, मुनीश्वरकी इहलोक-लीला समाप्त होगई; व्रजमोहनके प्राण-पखेरू उड़ गए, मेरी घरनी सुखिनी सारे दुःखोंसे छुट्टी पा गई और वह अपने साथ छोटी बच्ची सोनमतीको भी लेती गई। छोटे-छोटे बच्चे, जो नेटालसे स्वस्थ बदन लेकर आये थे, फोड़े-फुंसी और घावसे सड़-गलकर मरे। तीन सालके अंदर सारा परिवार मर मिटा। अब उनमेंसे मैं ही एक अभागा बच पाया हूँ और किसी तरह जिन्दगीके इने-गिने दिन काट रहा हूँ।"

यह एक प्रत्यागत प्रवासी-परिवारकी राम-कहानी है; इसीको सैकड़ों-हजारों गुना कर देनेपर उनकी दुर्गतिका आभास मिल सकता है। देश-वासियोंके लिए सबसे बड़ी लज्जा और कलंककी बात यह है कि वर्षोंके बाद जब वे अभागे अपने गाँवोंमें लौटे तो अपने ही भाई-बंधुओं एवं सगे-सम्बन्धियोंके हाथों लूटे गए। जातिके जानवरोंने उनपर दुलत्तियाँ झाड़ीं, बिरादरीके बदमाशोंने उनको भोथर छुरेसे मूँड़ा। वे गाँवसे भग्न हृदय लेकर भागे और उस मटियाबुर्जमें पहुँचकर ही रुके, जहाँसे जहाजपर बैठकर वे या उनके बाप-दादे उपनिवेशोंमें गये थे। मटियाबुर्ज कलकत्ताका एक उपेक्षित मुहल्ला है, जो इस पृथ्वीपर नरकका नजारा दिखाता है। गंदी गलियाँ, गंदे परनाले, गंदी मोरियाँ और गंदे झोंपड़े-सभी गंदगीमें एक-से-एक बढ़कर। विषैला वायु-मंडल, शुद्ध जलका अभाव और मच्छरोंका अखंड आधिपत्य। इस लिए मटियाबुर्ज मले-

रिया, टायफाइड, इन्फ्लुएंज़ा, फोड़ा-फुंसी, खाँसी-दमा आदि नाना प्रकारकी व्याधियोंका केन्द्र बना हुआ है, प्रवासी भारतीयोंके लिए वह साक्षात् मरघट है और कलकत्ता कारपोरेशनके लिए है कलंककी कालिमा।

प्रत्यागत प्रवासियोंका जीवन उस नावकी नाईं है जिसकी पेंदीमें छेद हो चुका है। वह मँझधारमें भटक रही है, किसी भी पल अतल-तलमें डूब जायगी, पार लगनेकी आशा ही नहीं रही। विदेशमें उनके बसे-बसाए घर उजड़ गए और स्वदेशमें भाई-बिरादरीने उनको लूट खाया और फिर गाँवोंसे अपमानित करके मार भगाया। जिस समय कलकत्तामें मेरी रिपोर्ट छप रही थी उस समय मैं मटियाबुर्ज जाकर उनकी दशा देख आया था। उनके पास न खानेके लिए पैसे थे और न कपड़े खरीदकर तन ढाँकनेके लिए। मेरे सामने पचासों ऐसी युवतियाँ लाई गईं, जिनके बदनपर ऐसे फटे-पुराने चिथड़े थे कि वे अर्द्ध-नग्न हो रही थीं। उनकी तरफ दृष्टि फिरते ही मेरी आँखें मुँद गईं, उनसे बेइख्तियार आंसू ढलने लगे और दिलपर ऐसी गहरी चोट लगी कि मैं तिलमिला उठा।

मैंने पंडिता कौशल्यादेवी, श्रीमती पं० अयोध्याप्रसाद प्रभृति स्नेह-वती एवं विदुषी बहनोंसे उन अर्द्ध-नग्न प्रवासी बहनोंकी सहायताके लिए प्रेरणा की। उन बहनोंने घर-घरसे विदेशी-कपड़े माँग-जाँचकर इकट्ठे किये और उनको अर्द्ध-नग्न प्रवासी बहनोंके तन ढँकनेके लिए मटियाबुर्जमें बँटवाया गया।

उन अभागे प्रवासियोंको यह आशा लगी हुई है कि कभी-न-कभी उनको मुफ्तमें जहाज मिल जायगा और वे किसी-न-किसी उपनिवेशमें जा पहुँचेंगे। इसी आशापर वे जी रहे हैं, किन्तु उनकी यह आशा मृग-तृष्णा ही है। इस प्रत्यागमन योजनाका कोई शरीर नहीं, जिसपर पाद-प्रहार किया जाय और न कोई आत्मा है जिसको धिक्कारा जाय। प्रत्यागत प्रवासी भाइयोंकी दशा उस मछलीकी भाँति है, जो उमड़में

छलाँग मारकर पानीसे बाहर आ गिरती है और फिर तड़प-तड़प कर मरनेके सिवा और कुछ नहीं कर सकती।

केपटाउन-संधिसे प्रत्यागमन-योजनाका निष्क्रमण

उन लौटे हुए प्रवासियोंके सम्बन्धमें मेरी विस्तृत रिपोर्ट अंग्रेजीमें ठीक समयपर निकल गई और केपटाउनकी गोलमेज परिषद्‌में उसकी काफी चर्चा हुई। हिन्दी और गुजरातीमें भी संक्षिप्त रिपोर्ट छपवाकर मैंने सहस्रोंकी संख्यामें बँटवाई। रिपोर्टपर देश-विदेशोंके अखबारोंमें जो आलोचनात्मक लेख निकले थे उनका संग्रह 'प्रत्यागमन योजनापर लोकमत' के नामसे अंग्रेजी और हिन्दीमें छपवाकर बँटवाया। मेरे इस उद्योगका फल यह हुआ कि केपटाउनकी गोलमेज परिषद्‌के प्रतिनिधियोंके सामने यह सर्वोपरि विचारका विषय बन गया। आखिर परिषद्‌को यह स्वीकार करना ही पड़ा कि प्रत्यागमन योजनाकी अब कोई उपयोगिता नहीं रही, क्योंकि दक्षिण अफ्रिकाके भारतीयोंमें ८० प्रतिशत जन्म-प्रवासी हैं, अतएव भारतकी आबो-हवा, सामाजिक विषमता एवं आर्थिक अवस्था उनकी प्रकृतिके प्रतिकूल हैं। केपटाउन-संधिमें भारतीयोंकी संख्या घटानेके लिए जो प्रत्यागमन योजनाका विधान था, वह रद्द कर दिया गया और उसकी जगह 'विदेश-बसेरा' की योजना (Colonization Scheme) पर विचार करनेका निश्चय किया गया, पर वह कार्यान्वित न होने पाया। मेरा प्रयत्न सफल हुआ, मैंने संतोषकी साँस ली।

प्रथम प्रवासी-परिषद्

मेरे जेल जानेसे पहले गुरुकुल-वृन्दावनकी रजत-जयंतीकी तैयारी हो रही थी। उस प्रसंगपर प्रथम प्रवासी-परिषद् करनेकी भी आयोजना की गई थी। सन् १८३४ में पहले-पहल भारतवासी गिरमिटकी अर्द्ध-गुलामीमें मारीशस द्वीप गए और उसके बाद संसारके भिन्न-भिन्न ब्रिटिश उपनिवेशोंमें तथा डचोंके सुरीनाम उपनिवेशमें भी, पर इस एक सदीके दरम्यान उनकी स्थितिपर विचार करनेके लिए भारतमें कभी

कोई परिषद् नहीं हुई थी। हम इसे देशवासियोंकी उपेक्षा-वृत्ति एवं प्रवासियोंकी बदकिस्मतीके सिवा और क्या कहें ? जब कभी प्रवासियों-की करुण-पुकार समुद्रकी लहरोंको चीरती हुई भारत तक पहुँच जाती अथवा किसी उपनिवेशसे शिष्ट-मंडल आ पहुँचता तो कुछ काल तक उनकी चर्चा हो जाती और फिर उनकी समस्या विस्मृतिके परदेमें छिप जाती। हमारे कुछ शुभचिन्तक वर्षोंसे प्रवासी-परिषद्की जरूरत महसूस कर रहे थे, इस विषयपर अखबारोंमें काफी चर्चा भी हुई, पर कोई व्यावहारिक कार्य नहीं हो पाया था। अतएव जब वृन्दावन-गुरु-कुलके संचालकोंने प्रथम प्रवासी-परिषद् बुलानेकी उद्घोषणा की तो देश और विदेशोंमें सर्वत्र हर्ष एवं संतोष प्रकट किया गया। पराधीन भारत-की समस्या केवल एशिया तक ही सीमित नहीं है, वह सुदूर विदेशों और उपनिवेशोंमें भी फैली हुई है। समुद्र-पारके प्रवासी भारतीयोंका भाग्याकाश औपनिवेशिक श्वेताङ्गोंके सम्मिलित विरुद्ध प्रयत्नोंके कारण विपत्तियोंके काले बादलोंसे आच्छादित रहता है। अतएव प्रवासी भाइयों-की उपेक्षा करना भारतवासियोंके लिए विघातक है।

इस प्रथम प्रवासी-परिषद्का प्रधान मुझे चुना गया, पर मैं अपनी अयोग्यताके खयालसे काँप उठा। वास्तवमें वह पवित्र आसन महात्मा गांधी, साधू एण्ड्रूज, माननीय श्रीनिवास शास्त्री, श्रीमती सरोजनीदेवी, पं० हृदयनाथ कुंजरू प्रभृतिके पाद-पङ्कजोंसे ही सुशोभित होना चाहिए था, जिन्होंने बृहत्तर भारतके प्रवासियोंकी अनमोल सेवाएँ की हैं। मुझ जैसे साधारण व्यक्तिको घसीटकर उसपर बैठाना मानो उस विशिष्ट आसनका महत्त्व घटाना था। पर परिषद्के संयोजकोंने शायद यह सोचा कि राष्ट्रकी वे महान् विभूतियाँ उस समय भारतके भाग्य-निर्माणके काममें तल्लीन हैं अतएव उनकी एकाग्रतामें बाधा न डालकर मुझ जैसे मामूली सेवकसे ही परिषद्का काम चला लेना चाहिए।

खैर, मित्रोंकी विशेष प्रेरणासे मैंने परिषद्का सभापतित्व स्वीकार कर लिया, अपना अभिभाषण भी लिखकर तैयार कर लिया, जो छप भी

गया। पर परिषद्‌की निश्चित तिथिसे पूर्व ही मुझे सरकारकी पहुनाई कबूल करनी पड़ी, इसलिए मैं शरीरसे उसमें शरीक न हो सका। जिस दिन मुझे राज-द्रोहमें सजा हुई, उसी दिन मैंने श्रद्धेय राजेन्द्र बाबूसे निवेदन किया कि पं० बनारसीदास चतुर्वेदीको स्थानापन्न सभापति बनाकर परिषद्‌का काम चला लेना चाहिए।

जैसी मैंने आशा की थी, चतुर्वेदीजीने ठीक समयपर वृन्दावन पहुँचकर परिषद् का काम संभाल लिया। उन्हींकी अध्यक्षतामें परिषद् हुई। उन्होंने मेरा मुद्रित भाषण पढ़ सुनाया और बड़ी योग्यतासे सम्मेलनका संचालन किया। स्वर्गीय स्वामी शंकरानन्दजी, स्वामी स्वतंत्रानन्दजी, पं० श्रीकृष्ण वर्मा, फीजीके जन्म-प्रवासी श्री बी० डी० लक्ष्मण प्रभृति प्रवासी-प्रश्नके विशेषज्ञोंने उपस्थित होकर इस परिषद्‌की शोभा बढ़ाई थी और उनके प्रस्ताव और प्रवचनसे प्रवासियोंकी समस्याओंपर पर्याप्त प्रकाश पड़ा था। असलमें प्रवासी भारतीयोंका प्रश्न बड़ा ही पेचीदा प्रश्न है। हमारी प्राचीन और अर्वाचीन प्रवास-पद्धतिमें मूलतः प्रभेद है। जहाँ पुरातन कालमें जावा, सुमात्रा, बाली, चीन, जापान, मलाया, श्याम-वर्मा, लङ्का, अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, सीरिया प्रभृति देशोंमें भारतके धुरन्धर विद्वानों, राजनीतिज्ञों, दार्शनिकों और व्यवसायियोंने आर्य धर्म और संस्कृतिका साम्राज्य स्थापित किया था, वहाँ आधुनिक कालमें मारीशस, नेटाल, फीजी, डमरारा, ट्रिनीडाड, जमैका, ग्रनेडा, सुरीनाम, लंका, मलाया आदि उपनिवेशोंमें गौराङ्गोंकी गुलामी करनेके लिए हमारे देशसे केवल कुली-कबाड़ी जाने पाए। अतएव अतीत युगका इतिहास जहाँ हमारे गौरवका द्योतक है, वहाँ वर्त्तमान कालका इतिवृत्त हमारी अपकीर्तिका सूचक। गिरमिटकी गुलामीके कारण विश्वमें भारतकी बड़ी श्रीहीन हुई, पर उससे यह फायदा भी हो गया कि लगभग पच्चीस-तीस लाख भारतीय विदेशोंमें जा बसे। वहाँ उन्होंने एक नवीन समाजकी सृष्टि की, जिसमें न ऊँच-नीचका भेद है, न छुआछूतका प्रपंच, न बाल-विवाह विहित है, न विधवा-विवाह वर्जित। हिन्दू, मुसलमान,

ईसाई और पारसी एक मेजपर बैठकर खाते और एक दूसरेकी शादी और गमीमें शरीक होते हैं।

भारतमाता अपनी प्रवासी सन्तानके लिए सदा चिन्तित है, उसने उनको उठाने और आगे बढ़ानेके लिए कोशिश भी की है, पर संगठित एवं सुचारु रूपसे अभी तक काम नहीं होने पाया है। हमारे नेता स्वदेशोद्धारके कार्यमें इतने व्यस्त हैं कि इच्छा होते हुए भी वे प्रवासियोंकी ओर विशेष ध्यान देनेका अवकाश नहीं निकाल सके। पर जिस तरह माँ अपने छोटे और कमजोर बच्चेकी सबसे अधिक पर्वाह करती है और उसपर मुहब्बत रखती है उसी प्रकार भारत-जननीको अपने प्रवासी बालकोंकी, जो उपनिवेशोंमें उसके नामकी माला जपा करते हैं, अधिक चिन्ता रखना स्वाभाविक ही है। इस दृष्टिसे प्रथम प्रवासी-परिषद् देशको एक नवीन सन्देश दे गई।

अखिल भारतीय हिन्दी-सम्पादक सम्मेलन

सन् १९३१में जिन दिनों मैं प्रत्यागत प्रवासियोंपर अपनी रिपोर्ट छपानेके लिए कलकत्तामें ठहरा हुआ था, उसी समय श्रीजगन्नाथदासजी 'रत्नाकर'केसभापतित्वमें वहाँ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनका वार्षिकाधिवेशन हुआ था और उसके साथ ही अखिल भारतीय हिन्दी-सम्पादक-सम्मेलन भी। सम्पादक-सम्मेलनके स्वागताध्यक्ष थे—दैनिक, साप्ताहिक और मासिक 'विश्वमित्र'के स्वामी श्रीमूलचन्द्रजी अग्रवाल। स्वागत-समितिने ठोक-पीटकर मुझे वैद्यराज—सम्मेलनका सभापति—बनानेकी ठान ली। मुझे यह पद स्वीकार करना चाहिए या नहीं, इस विषयपर मेरे मित्रोंमें मतभेद था। पं० बनारसीदास चतुर्वेदीकी राय यह थी कि मुझे प्रवासी भारतीयोंके सिवा और किसी काममें हाथ नहीं लगाना चाहिए। क्योंकि इससे मेरी शक्ति बँट जायगी और कोई काम अच्छी तरह न हो सकेगा, परन्तु पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे और पं० विष्णुदत्त शुक्ल उनके इस विचारसे सहमत न थे। मुझे चतुर्वेदीजीकी राय युक्तियुक्त जँची और मैंने सम्मेलनका सभापतित्व करना अस्वीकार करदिया, लेकिन

फिर भी मेरा पिण्ड न छूटा। स्वागत-समितिके सूत्रधारोंने मुझे यह भार उठानेके लिए बाध्य कर दिया।

अखिल भारतीय हिन्दी-सम्पादक सम्मेलनका अधिवेशन कलकत्ता-विश्वविद्यालयके 'सीनेट हॉल' में हुआ था। इस प्रसंगमें एक बड़ी मनोरञ्जक घटना होगई थी। दरवाजेपर शानसे डटे हुए स्वयंसेवकोंने राजेन्द्र बाबूको नहीं पहचाना। उनकी ढीली धोती, टेढ़ी टोपी और देशी पनही देखकर उनको कोई देहाती आदमी समझ लिया, इसलिए वालंटियरोंने उनका यथेष्ट आदर नहीं किया। एक वालंटियरने तो यहाँतक सोच लिया कि मेरे साथ यह देहाती बिना टिकटके ही अंदर घुस जाना चाहता है, इसलिए वह टिकट तलब करने और उनको रोकनेके लिए लपका भी, पर मेरे इशारेसे थम गया। जब मैं राजेन्द्र बाबूके साथ मंचपर पहुँचा, पत्रकारोंकी दृष्टि उनपर पड़ी, तालियोंकी गड़गड़ाहटसे सीनेट-हॉल गूँज उठा और सारी सभा उनके सम्मानमें उठ खड़ी हुई तब तो बेचारे वालंटियर अपनी उपेक्षा वृत्तिपर बहुत पछताये और सम्मेलनकी समाप्तिपर उनकी चरण-रज शीशपर चढ़ाकर उन्होंने अपनी श्रद्धा एवं भक्तिका परिचय दिया।

सम्पादक-सम्मेलनमें श्रीराजेन्द्र बाबूका भाषण हिन्दी-पत्रकारोंके लिए एक नव्य और भव्य संदेश था। वयोवृद्ध सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, पं० कृष्णकान्त मालवीय, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और श्रीसुदर्शनजीके भाषण भी मार्मिक, तथ्यपूर्ण एवं समयानुकूल थे। स्वागताध्यक्ष श्रीमूलचन्द्र अग्रवालकी वक्तृतामें भी हिन्दी-पत्रकार जगत्‌के लिए विचारकी यथेष्ट सामग्री थी। मेरे मुद्रित भाषणकी अखबारोंमें काफी चर्चा हुई थी, लगभग सभी प्रमुख हिन्दी पत्रोंने उसे उद्धृत किया था, पर 'भारत-मित्र'' को वह नहीं रुचा, उसने मुझे चुन-चुनकर गालियाँ दी थीं और मेरे जैसे व्यक्तिको सभापतिके आसनपर बैठानेके लिए पत्रकार-परिषद्‌की भी खबर ली थी। मेरा अपराध यह

था कि मैंने अपने भाषणमें "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः" का समर्थन करते हुए लोक-शिक्षाके कर्म करने वाले सम्पादकोंको ब्राह्मण सिद्ध किया था। इसी बातपर 'भारत-मित्र' के कोपका पारा ११० डिग्रीतक चढ़ गया। वास्तवमें यह लोक-प्रसिद्ध पत्र, जिसे स्वर्गीय श्री बालमुकुन्द गुप्त, स्वर्गीय पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पं० अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे प्रभृति महाभागोंने अपने हृदय-शोणितको स्याही बनाकर चमकाया था, उस समय कुछ पोंगापंथी संचालकों और सम्पादकोंके हाथका खिलौना बना हुआ था और जिस तरह मूर्ख मर्कटके हाथमें तलवार आजानेसे उसने मक्खी मारनेके विचारसे अपने स्वामीपर ही उससे प्रहार किया था, उसी तरह 'भारत-मित्र' के दकियानूसी संचालकों और सम्पादकोंने अपनी संकीर्ण नीति और राष्ट्र-द्रोहात्मक प्रवृत्तिसे उस पुरातन और प्रख्यात पत्रको समाधिमें सुलाकर ही दम लिया।

मेरे विशेष आग्रहसे प्रसिद्ध पत्रकार प्रोफेसर शिवपूजनसहायको सम्पादक-सम्मेलनका मन्त्री चुना गया था। उस समय वे 'गङ्गा'के सम्पादकीय-विभागमें काम कर रहे थे। उनके सहयोगसे मैंने सम्मेलनको एक सुदृढ़ एवं सुसंगठित संघ बनानेका संकल्प कर लिया था, पर मेरी मनोकामना पूरी न होने पाई, दक्षिण अफ्रिका मुझे बलात् यहाँसे घसीट ले गया।

बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

उसी साल—सन् १९३१—के अन्तमें देवघर (वैद्यनाथ धाम) में बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनका दशम् अधिवेशन हुआ था। उसके सभापतित्वके लिए भी मुझे गिरफ्तार किया गया। उस समय मैं बहुत बीमार और कमजोर था। पटनामें पखवारा-भर मलेरियासे बेहाल रहकर गाँवपर लौटा था। पथ्य-पानीमें कुछ फर्क पड़ जानेके कारण भयंकर संग्रहिणी हो गई थी और पेटमें ऐसी पीड़ा उठती थी कि मैं अक्सर बेहोश होजाया करता था। कहीं बाहर आने-जानेकी बात तो दूर

रही, चलने-फिरनेकी भी ताकत नहीं थी। पर वहाँकी स्वागत-समितिके कर्णधार बड़े होशियार निकले। उन्होंने डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी और आचार्य बदरीनाथ वर्माकी सिफ़ारिशी चिट्ठियोंके साथ मेरे पास धावन भेजा! राजेन्द्र बाबूने लिखा था कि यदि मैंने सम्मेलनका सभापतित्व स्वीकार न किया तो यह साहित्यिक-यज्ञ भङ्ग हो जायगा और बदरी बाबूने फ़र्माया था कि यह सिफ़ारिशी चिट्ठी ही नहीं, मेरी गिरफ्तारीका वारण्ट भी है।

उसी समय दक्षिण अफ्रिकाके अमर दानी स्वर्गीय काका रुस्तमजी पारसीके पुत्र श्रीजाल भाई रुस्तमजी मेरे 'बहुआरा' गाँवपर बम्बईसे आए थे और वे दूसरी गोलमेज परिषद्के अवसरपर मुझे दक्षिण अफ्रिका ले जाना चाहते थे, पर रुग्णावस्थाके कारण मुझे लाचार होकर जानेसे इन्कार करना पड़ा था। अब राजेन्द्र बाबूका पत्र पाकर मैं धर्म-संकटमें पड़ गया। इधर तो शरीरमें शक्ति नहीं, उधर राजेन्द्र बाबूकी आज्ञा। आखिर मैंने यही तय किया कि चाहे शरीरपर कुछ भी बीते, पर बिहारकी उच्चतम विभूतिके आदेशका उल्लंघन नहीं हो सकता।

उसी रुग्णावस्थामें खाटपर पड़े-पड़े मैंने केवल एक दिनमें अपना भाषण लिखकर धावनके हवाले कर दिया क्योंकि सम्मेलनकी तिथि अत्यन्त समीप आ गई थी। स्वागत-समितिने भी भाषण छपवानेमें आश्चर्य-जनक शीघ्रता की। जब मैं रुग्ण-शरीर और भग्न-स्वास्थ्य लेकर देवघर पहुँचा तो वहाँ जुलूसकी तैयारी देखकर घबरा उठा। मुझे स्पष्ट कहना पड़ा कि मेरी तबियत मुझे इस बरातका दूल्हा बननेकी इजाजत नहीं देती है। इसपर जुलूसके सूत्रधारोंने घोर आपत्ति की और जनता भी निराश हुई। आखिर यह समझौता हुआ कि मुझे स्टेशनसे अपने ठहरनेके स्थान तक तो जाना ही है, अतएव जुलूसके साथ ही वहाँ तक जाना चाहिए, इससे स्वागत-समिति और जनताको भी कुछ संतोष हो जायगा। मेरी बीमारीके ख्यालसे शहरमें जुलूस घुमानेकी योजना रद्द कर दी गई।

देवघरका सम्मेलन बड़ा शानदार और सफल रहा। वैद्यनाथधाम हिन्दुओंका यों ही एक प्रख्यात तीर्थ है, तिसपर गोवर्द्धन विद्यालय, हिन्दी विद्यापीठ तथा गुरुकुल जैसी संस्थाओंके प्रतापसे वह साहित्यकारोंका भी तीर्थ बन गया है। स्वागताध्यक्ष श्रीमदनलाल बजाजने अपने मुद्रित भाषणमें जहाँ पर्वतारण्य वेष्टित प्रदेशके प्रसिद्ध तीर्थमें समवेत हिन्दी-प्रेमियोंको साहित्य-रसकी भरपूर प्यालियाँ पिलाईं और श्रद्धा-सम्पन्न स्वागतसे सलिल-संकुल सरोवरमें स्नान कराकर वैद्यनाथ महादेवका प्रिय प्रसाद 'पेड़ा' पेट-भर खिलाया, वहाँ उन्होंने प्रान्तीय और स्थानीय हिन्दी-साहित्य-कुंज और वाटिकाओंके पथसे सबको पर्यटन कराते हुए उस स्थानपर पहुँचाया, जहाँ सहसा राष्ट्र-भाषाके महारथी अपने रथ-तुरंगकी बागडोर रोक लेते हैं, क्योंकि उनके सामने यह सवाल आ खड़ा होता है कि धरती-माताकी पवित्र गोदमें विचरने वाले कोल, भील, संथाल, गोंड़, मूँडा इत्यादि आदिवासियोंकी झोंपड़ियोंमे राष्ट्रभाषाका प्रवेश कैसे हो सकता है और हिन्दीका संदेश छोटा नागपुर और संथाल परगनेमें घर-घर कैसे पहुँच सकता है ?

हास्यरसाचार्य पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, 'विश्वमित्र' के सर्वस्व श्री मूलचंद्रजी अग्रवाल, शिकार-साहित्यकार पं० श्रीरामजी शर्मा, श्री रजनधारी सिंह, पं० जगदीश झा 'विमल', पं० शिवदुलारे मिश्र 'मधुकर', पं० मथुराप्रसाद दीक्षित, श्री रामधारीप्रसाद, पं० शिवराम झा, श्री शशिभूषण राय, पं० विनोदानंद झा (अब कांग्रेस-सरकारके मंत्री), श्री बुद्धिनाथ झा 'कैरव' प्रभृति महानुभावोंने अपने-अपने ढँगसे इस जटिल समस्याको सुलझानेके साधन एवं उपाय सुझाए। वस्तुतः संथाल परगनेमें राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपिके प्रचारका प्रश्न बड़ा पेचीदा है। पादरी जहाँ आदिवासियोंको एक बहुत बड़ी संख्यामें ईसाई बना चुके हैं वहाँ उनमें रोमन-लिपिका विशेष रूपसे प्रचार भी कर रहे हैं। मिशन-स्कूलोंमें बच्चोंको संथाल भाषा रोमन लिपिमें पढ़ाई जाती है। इसलिए सारे देशके राष्ट्रवादियों और राष्ट्र लिपिके रक्षकोंके लिए वहाँकी स्थिति

विशेष चिन्ताका कारण बन रही है।

साहित्य-सम्मेलनके साथ कवि-सम्मेलन और शिक्षक-सम्मेलन भी हुए थे। कई दिनोंतक देवघरमें इन सम्मेलनोंकी धूम रही। इस अवसरपर मैंने गुरुकुलके अधिकारियोंके आग्रहसे एक दिन गुरुकुलमें भी बिताया था। आदिवासियोंके बालकोंको गुरुकुलमें प्रविष्ट करानेके लिए मेरी अपील करनेपर श्रीमूलचन्दजी अग्रवालकी सुशीला धर्मपत्नी श्रीमती स्वदेश्वरी देवीने आदिवासी बालकोंको छात्र-वृत्ति देनेकी घोषणा की थी। वास्तवमें उस देवीका हृदय दया और सेवाकी भावनासे ओत-प्रोत है। मूलचन्दजीके विकास और उत्कर्षमें उनका विशेष भाग है। प्रवासी भारतीयोंके सेवा-यज्ञमें उनकी आहुतियाँ मेरे लिए प्रेरणा और प्रोत्साहनका काम देती हैं।

अब बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रगतिके पथमें आगे बढ़ गया है। पं० छविनाथ पाण्डेयके उद्योग और परिश्रमसे पटनामें सम्मेलनका एक विशाल भवन भी बन गया है। यद्यपि अभी इस भवनमें बहुत-कुछ काम बाकी है तो भी काम-चलाऊ भाग तैयार हो गया है। सम्मेलन-पुस्तकालयमें पुस्तकोंकी संख्या दिन-पर-दिन बढ़ रही है। इसके पूर्व सभापतियोंमें स्वर्गीय श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल, स्वर्गीय पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, महापंडित त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, महामहोपाध्याय पं० सकलनारायण शर्मा, श्रीपीर मुहम्मद मूनिस प्रभृति लोक-प्रसिद्ध महाभागोंके नाम उल्लेखनीय हैं।

साप्ताहिक 'आर्यावर्त'का सम्पादन

सन् १९२१में पटनासे 'आर्यावर्त' नामक साप्ताहिक पत्र निकला, जो बिहार प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभाका प्रमुख पत्र था। इसके प्रधान सम्पादकके आसनपर मुझे बैठाया गया था। मैंने अवैतनिक रूपसे यह पद स्वीकार कर लिया था। मैं जहाँ कहीं भी होता, समय-पर अग्रलेख और सम्पादकीय टिप्पणियाँ आदि भेज देता था, कोई भी

अङ्क मेरे अग्रलेखसे वंचित नहीं रहने पाया। मेरे सहकारी पं० महादेव-शरणजी थे और वास्तवमें वही इस पत्रके प्राण थे। उन्हींके उद्योगसे 'आर्यावर्त' निकला था और उन्हींके अथक परिश्रमसे उसका संचालन भी हो रहा था। उनकी ही प्रेरणा और प्रयत्नसे मैंने भी 'आर्यावर्त'-का सम्पादन-भार स्वीकार किया था। महादेवशरणजी उन आर्योंमें-से एक हैं जिनपर आर्यसमाज अभिमान कर सकता है। इस समय वह गुरुकुल-देवघरके मुख्याधिष्ठाता हैं। 'आर्यावर्त' अखबार-गगनमें उज्ज्वल नक्षत्रकी भाँति चमक उठा था, उसमें आर्यावर्तके अतिरिक्त बृहत्तर आर्यावर्त (Greater India) की भी यथेष्ट चर्चा होती थी, प्रत्येक अङ्कमें प्रवासी भारतीयोंकी परिस्थितिपर प्रकाश पड़ता था, पर संताप-की बात है कि कुछ कारणवश वह दीर्घजीवी न होने पाया, वह अपना प्रकाश फैलाकर अदृश्य होगया। जिस दिन सन् १९३२के मार्च मासमें मैंने बम्बईसे दक्षिण अफ्रिकाको प्रस्थान किया उसी दिन उसका अन्तिम अङ्क निकला था। सन् १९१३में जब मैंने पत्र कारिताके क्षेत्रमें पहले-पहल प्रवेश किया था तो इसी नामके मासिक पत्रके सहकारी-सम्पादकके रूप-में। अतएव 'आर्यावर्त'पर स्वभावतः मेरी ममता और मोह है। इस समय तो 'आर्यावर्त' नामक उच्चकोटिका हिन्दी दैनिक पटनासे निकल रहा है, जो दरभङ्गा-नरेशकी कृति और सम्पत्ति है।

: ३५ :

नेटालमें सत्कार—फीजीमें फटकार

सन् १९३२में दक्षिण अफ्रिका लौटनेपर मुझे कुछ अपूर्व अनुभव हुए। जहाँ भारत-सरकारने राज-द्रोह के अपराधमें मुझे कारावासका दण्ड दिया था, वहाँ दक्षिण अफ्रिकाके गवर्नर-जनरल-इन-कौन्सिलने मुझे डरबन इलाकेके 'कमिश्नर ऑफ ओथ्स' (Commissioner of oaths) पदपर प्रतिष्ठित किया। इसे मैंने व्यक्तिगत प्रतिष्ठाका नहीं; बल्कि प्रवासी भाइयोंकी सेवाका साधन समझकर स्वीकार कर लिया। नेटालमें ऐसे भारतीयोंकी संख्या न्यून नहीं है, जो अंग्रेजी पढ़ना-लिखना और बोलना नहीं जानते। यदि उनको किसी दस्तावेजपर सही बनानेकी जरूरत हुई तो अंग्रेज-कमिश्नरके सामने हाजिर होना पड़ता है। अंग्रेज-कमिश्नर तो उनकी बोली जानता नहीं, इसलिए दुभाषियेके बिना काम नहीं चल सकता। कई ऐसी घटनाएं हो चुकी हैं, जिनमें दुभाषियोंने स्वार्थवश अशिक्षित भारतीयोंका सर्वनाश कर डाला है—इकरारनामा बताकर रहननामेपर और रहननामा कहकर बयनामेपर उनके अँगूठेकी निशानी लगवा ली है और कमिश्नरके सामने सही होजानेसे वह दस्तावेज बिलकुल पक्का हो जाता है। भारतीय कमिश्नरके सामने तो दुभाषियेकी जरूरत ही नहीं होती। पर दक्षिण अफ्रिकाकी सरकार भारतीयोंको कमिश्नर बनाती ही नहीं थी। केपटाउन-समझौतेके बाद क्रमशः श्रीअब्दुल्ला इस्माइल काजी, श्रीसोराबजी रुस्तमजी और श्रीवी० एस० सी० पत्तर डरबनके 'कमिश्नर ऑफ' ओथ्स बनाये गए थे,

और चौथा नम्बर मेरा था। अब तो भारतीय कमिश्नरोंकी संख्या इतनी बढ़ गई है कि उनकी गणना करना कठिन है। दक्षिण अफ्रिकाके प्रत्येक शहर और कस्बेमें भारतीय 'कमिश्नर ऑफ ओथ्स' मिलेंगे।

इसके सिवा डरबन कोर्टका मुझे 'ऑनरेरी प्रोबेशन-अफसर' (Honorary Probation Officer) भी नियुक्त किया गया। लोक-सेवाके विचारसे मैंने इस पदको भी स्वीकार कर लिया। ऐसे बहुतसे बच्चे और किशोर होते हैं, जो बुरी संगतिमें पड़कर चोरी आदि दुष्कर्म करने लगते हैं। उनको वहाँ जेल भेजनेके बदले प्रोबेशन-अफसरके हवाले कर देना अधिक उपयुक्त समझा जाता है। अफसरको उनके चाल-चलन-पर दृष्टि रखनी पड़ती है। इस तरहके अनेक सजा-याफ्ता बालक और किशोर मुझे सौंप दिये गए थे। उन्हें सप्ताहमें एक बार मेरे सामने हाजिरी देनी पड़ती थी और अपनी प्रवृत्तिकी रिपोर्ट भी। कभी-कभी मैं उनके घरपर अचानक पहुँचकर उनकी चाल-ढालकी जाँच भी किया करता था। मैं उनको घण्टों अपने पास बैठाकर बुराइयोंसे बचनेके लिए समझाता; बुरी सोहबतसे बचाने, बुरी आदत छुड़ाने और किसी काम-धन्धेमें लगानेकी कोशिश किया करता। इस ढंगसे काम लेनेका जो नतीजा निकलता, वह संतोष-जनक था; पचहत्तर प्रतिशत बच्चे सुधर जाते थे, केवल पच्चीस प्रतिशत अपनी बुरी आदतसे बाज नहीं आते थे, अनुभवने बतलाया कि—

दुष्ट न छोड़े दुष्टता, कैसी हू सिख देत !
कज्जल तजे न श्यामता, मोती तजे न सेत ॥

क्लेरउड-डरबनमें 'दयाल रोड'

उन्हीं दिनों एक बात और हुई। डरबन नगरके क्लेरउडमें मेरे एक स्नेहशील मित्र थे, उनका नाम था—श्री आर० दुर्गाप्रसाद। उन्होंने यह आन्दोलन आरंभ किया कि मेरी लोक-सेवाओंको स्वीकृति-स्वरूप क्लेरउडकी किसी सड़कका नाम मेरी स्मृतिमें रखा जाना चाहिए। इस उद्योगमें वह सफल हुए और डरबन कारपोरेशनने एक लम्बी सड़कका

नाम 'दयाल रोड' रख दिया। यह सड़क प्रसिद्ध जेकब्स रोडसे निकल-कर सरदार रोड तक गई है। क्लेरउडमें दस-बारह हजार हिन्दुस्था-नियोंकी बहुत बड़ी बस्ती है।

जॉर्ज बर्नार्डशाके दर्शन

उन्हीं दिनों स्वर्गीय पंचम जॉर्जके राज्यारोहणकी रजत-जयंती मनाई गई, डरबन कारपोरेशनने उस महोत्सवकी भारतीय-समितिका एक सदस्य मुझे भी चुना था। इस उत्सवको सफल बनानेके लिए मैंने जो उद्योग किया था उसके प्रति तत्कालीन डिपुटी-मेयर श्री लैङ्गटनने एक पत्र लिखकर डरबन कारपोरेशनकी ओरसे कृतज्ञता प्रकट की थी। इसी अवसरपर मुझे विश्व-विख्यात साहित्यकार जॉर्ज बर्नार्ड शॉके दर्शन हुए थे। वह हमारे आग्रहसे भारतीय महोत्सवमें पधारे थे, वहाँ उनकी वक्तृता भी हुई थी। लम्बा कद, पतला तन और सफेद दाढ़ी; मुखपर प्रज्ञाकी प्रदीप्ति और आँखोंमें ओजकी ज्योति। वृद्ध होते हुए भी तरुणकी तरह क्रियाशील। उनकी लेखनी जैसी लब्ध-कीर्ति है, वाणी भी वैसी ही बल-सिक्त। उनकी आवाज बड़ी ऊँची और प्रभाव-शालिनी है। वे शाकाहारी हैं, माँस नहीं खाते। अब तो वे नब्बे साल-के हो चुके हैं, पर उनकी तन्दुरुस्ती बनी हुई है।

धनुष-बाणका चमत्कार

नेटाल इंडियन कांग्रेसने उन्हीं दिनों दक्षिण अफ्रिकाके तत्कालीन गवर्नर जनरल 'काउण्ट ऑफ क्लारण्डन' को डरबनके सिटी हॉलमें एक पार्टी दी थी। भारतीयोंकी पार्टीमें गवर्नर जनरलका शरीक होना दक्षिण अफ्रिकाके इतिहासमें यह पहला ही प्रसंग था। कुँवर सर महा-राजसिंहने गवर्नर जनरलसे मेरा परिचय कराया। इस जलसेमें बड़ौदा-के आर्य कन्या महाविद्यालयकी छात्राओंने धनुष-बाणका चमत्कार दिखा-कर सभीको मुग्ध कर दिया था। जब बाण द्वारा पुष्प-हार पहनानेका प्रसंग आया तो कुँवर सर महाराजसिंह प्रभृतिकी रायसे यह खतरनाक सम्मान मुझे प्रदान किया गया। हॉलके बीचमें मुझे एक कुर्सीपर बैठाया

गया; मेरे सिरसे कुछ ऊपर एक बारीक तागेके सहारे सुन्दर और कीमती पुष्प-हार लटकाया गया और फिर कई गजके फासलेपर एक कन्या धनुष-बाण संधान कर खड़ी हुई। सभी अभ्यागतों, विशेषतः अंग्रेजोंके लिए वह दृश्य बड़ा ही कौतूहल-वर्द्धक था। कुछ लोग तो भयभीत भी होरहे थे कि कहीं लक्ष्य चूक गया तो तीक्ष्ण तीर मस्तक बेधे बिना न रहेगा। हॉलमें एकदम सन्नाटा छा गया, सबकी दृष्टि धनुष-बाणपर लगी हुई थी। अचानक धनुषसे बाण छूटा, उससे बारीक डोरी कट गई और माला मेरे गलेमें आ पड़ी। शाबाश-शाबाशकी आवाज एवं करतल-ध्वनिसे सिटी हॉल गूँज उठा। प्रवासी भारतीयों और श्वेताङ्ग नर-नारियोंकेआश्चर्यकी सीमा न रही, वे कन्याओंके संरक्षक पं० आनंद-प्रियको बधाई देने और उनसे हाथ मिलानेको दौड़ पड़े।

इङ्गलैण्डके राजकुमार

सन् १९३४ में सम्राट् पंचम जॉर्जके सुपुत्र प्रिन्स जॉर्ज (बादमें ड्यूक ऑफ केण्ट) दक्षिण अफ्रिका पधारे थे। डरबनमें राजकुमारका जैसा अनुपम आगत-स्वागत हुआ वह अंग्रेजोंकी राज-निष्ठाका परिचायक था। डरबनके मेयरने प्रिन्स जॉर्जसे मिलाने और परिचय करानेके लिए कुल नौ भारतीयोंको नागरिकोंके स्वागत-समारोह (Civic Reception) में आमंत्रित किया था, उनमें एक मैं भी था। मेयर आमंत्रित नागरिकोंका परिचय देते और प्रिन्स उनसे हाथ मिलाते और कुशल-क्षेम पूछकर विदा करते जाते थे। इसके बाद जब प्रिन्सको नेटाल इंडियन कांग्रेसकी ओरसे डरबनके ड्रिल-हॉलमें प्रीतिभोज दिया गया तो वहाँ कुँवर सर महाराजसिंहने खास तौरपर प्रिन्ससे मुझे मिलाया। वहाँ उनसे बात-चीत करनेका अच्छा अवसर मिला। इङ्गलैण्डके राजकुमारकी वह सरलता, वह सुजनता, वह प्रेमालाप और वह शिष्टाचार! उस समय मुझे अपने देशके नामधारी रजवाड़ोंकी याद आए बिना न रही, जो दंभ, घमंड और अहंकारके प्याले पीकर मतवाले हो जाते हैं और यह भूल जाते हैं कि मनुष्यता ही बड़प्पनकी कसौटी है।

गवर्नर-जनरलकी गार्डन-पार्टी

दक्षिण अफ्रिकाके गवर्नर जनरल हर साल डरबनके नागरिकोंको एक 'गार्डन-पार्टी' दिया करते हैं, पर उसमें गौराङ्गोंके सिवा और किसी-को आमंत्रित नहीं किया जाता था। दक्षिण अफ्रिकामें तो भारतीय और बाँटू अछूत समझे जाते हैं। गौराङ्ग देवोंकी पार्टीमें उनकी गुंजाइश कहाँ? सन् १९३८में जब मैं नेटाल इंडियन कांग्रेसका प्रधान चुना गया तो मैंने भारत-सरकारके एजेन्ट-जनरल द्वारा इस वर्ण-विभेदका तीव्र प्रतिवाद किया। उस समय सर पेट्रिक डङ्कन गवर्नर जनरल थे। उनको भारतीयोंकी शिकायत ठीक जँची और उन्होंने प्रचलित परिपाटीके प्रति-कूल पहले-पहल मेरे साथ एक दर्जन भारतीय नागरिकोंको अपनी सालाना गार्डन-पार्टीमें निमंत्रित किया। इस अवसरपर गवर्नर जनरल प्रत्येक मेहमानसे हाथ मिलाते, उनका कुशल-क्षेम पूछते और चाय-पानी-से सत्कार करते हैं।

फीजीमें प्रवेश-वर्जन

यहाँ इन सब बातोंके जिक्र करनेका प्रयोजन यह है कि यद्यपि मैं भारतसे राज-विद्रोहमें दण्डित होकर लौटा था, तो भी दक्षिण अफ्रिका-की सरकारने उसपर कोई ध्यान न दिया। चूँकि दक्षिण अफ्रिका ब्रिटिश साम्राज्यके अन्तर्गत एक स्वराज्य-प्राप्त देश है इसलिए वहाँ देश-भक्तिको कोई अपराध नहीं समझा जाता। पर इस चित्रका अब दूसरा पहलू देखिए। फीजी भी बृटिश साम्राज्यका एक भाग है; उसे स्वराज्य प्राप्त नहीं है, वह एक राजकीय उपनिवेश (क्राउन कॉलोनी) है, उसका शासन लंडनकी डाउनिङ्ग स्ट्रीटसे होता है। वहाँकी सरकारने मेरे साथ जो व्यवहार किया उसकी कथा संक्षेपमें सुनिये।

मैं फीजी कभी नहीं गया; पर वहाँके प्रवासी नेताओं और कार्यकर्ताओंसे परिचय अवश्य रखता हूँ और समय-समयपर उनकी थोड़ी बहुत सेवाएं भी की हैं। सन् १९१२ में स्वामी राममनोहरानंद सरस्वती नामक एक आर्योपदेशकसे दानापुर आर्यसमाजके वार्षिकोत्सव-

पर मेरी मुलाकात हुई थी। वह किसी उपनिवेशमें जाकर प्रचार-कार्य करना चाहते थे। मैंने उनको फीजी, डमरेरा, ट्रिनीडाड या सुरीनाम जानेकी सलाह दी। वह फीजी गये, वहाँ उनका बड़ा आदर-सत्कार हुआ। उन्होंने काम भी खूब किया, द्वीपके मुख्य-मुख्य नगरों और कस्बोंमें आर्यसमाजकी स्थापना की, लौटोका नामक स्थानमें गुरुकुल भी खोला। परन्तु अन्तमें उनका पतन हो गया। जब उनके शरीरमें काम-वासना जाग्रत हुई तो उन्होंने यह कहना शुरू कर दिया कि वह संन्यासी नहीं, ब्रह्मचारी हैं। ब्रह्मचारी बनकर उन्होंने एक जन्म-प्रवासी कन्याका पाणि-ग्रहण कर लिया और अन्तमें वह गृहस्थ बन गए। इस करतूतसे फीजी-भरमें उनकी बड़ी बदनामी हुई और उनके साथ ही आर्यसमाजकी अपकीर्ति भी। वास्तवमें आर्यसमाजका अस्तित्व ही संकटमें आ पड़ा। हिन्दुओंने स्वामीजीका विकट बहिष्कार किया, जिससे तङ्ग आकर उन्होंने ईसा-मसीहका दामन पकड़ा और कुछ दिनोंके बाद इस लोकसे नाता तोड़कर वह बहिश्तमें जा बसे।

फीजीमें आर्यसमाजकी रक्षा

उन दिनों मैं भारतमें था। मेरे पास फीजीकी पूरी रिपोर्ट पहुँची, जिसमें मुझसे यह भी अनुरोध किया गया था कि या तो मैं स्वयं वहाँ पहुँचकर स्थितिको सँभाल लूँ अथवा किसी अन्य योग्य व्यक्तिको वहाँ शीघ्र भेजूँ अन्यथा उस द्वीपमें आर्यसमाजका अस्तित्व ही मिट जायगा। इस बातसे मुझे भारी चिन्ता हुई। उसके कुछ दिन बाद मैं गुरुकुल-वृन्दावन गया। आचार्य पं० शिवनारायणजीने मेरे लिए चाय-पानीकी व्यवस्थाका भार श्रीगोपेन्द्रनारायणजी पथिक नामक एक तरुण संरक्षकको सौंपा था। वह मैट्रिक पास कर कालेजमें प्रविष्ट हुए थे, पर असहयोग आन्दोलनमें शरीक होकर उन्होंने कालेजसे नाता तोड़ लिया था। असहयोगकी गति मंद पड़ जानेपर वह गुरुकुलकी सेवामें सन्नद्ध थे। उनमें मैंने कोई विशेष विद्वत्ता तो नहीं पाई, पर उनकी सादगी, सचाई, ईमानदारी और उच्च चरित्रसे मैं अवश्य प्रभावित हुआ। उनको किसी

ऐसे कार्यकी जरूरत थी जिससे उनका जीवन सार्थक हो सके और मुझे एक ऐसे कार्यकर्ताकी आवश्यकता थी, जो फीजी जाकर आर्यसमाजका कार्य सँभाल ले। बस, सौदा पट गया।

गोपेन्द्रजीने फीजी पहुँचकर आर्यसमाज और गुरुकुलको तो सँभाल ही लिया, साथ ही उन्होंने वहाँके प्रवासी भारतीयोंको प्रोत्साहित करके अनेक बालक और बालिकाओंको भारतकी संस्थाओंमें शिक्षा-प्राप्तिके लिए भी भिजवाया। उनके उद्योगसे आज फीजीमें गुरुकुलके स्नातक, कन्या-महाविद्यालयकी स्नातिकाएँ और कालेजके ग्रेजुएट कार्य-क्षेत्रमें नेतृत्व करते नजर आते हैं।

फीजीके गवर्नरका तार

बर्षोंसे फीजी-प्रवासी भाई यह आग्रह कर रहे थे कि एक बार मुझे फीजीका पर्यटन अवश्य करना चाहिए। सन् १९३२में हिन्दुस्थानसे दक्षिण अफ्रिका लौटनेपर मैं फीजी जानेकी बातपर विचार कर ही रहा था कि इस समाचारसे फीजी-सरकारका आसन डोल उठा। फीजीके गवर्नरने दक्षिण अफ्रिकाके गवर्नर जनरलको तार देकर मेरा पासपोर्ट रद्द करा दिया।

फीजी-सरकारकी इस नीति और प्रवृत्तिका कारण यह था कि सन् १९३०में जब आराकी अदालतमें मुझपर राज-द्रोहका मामला चला तो उसकी कार्रवाईमें मैंने कोई भाग नहीं लिया था—केवल एक लिखित वक्तव्य दिया था, जिसे भारतके अनेक अखबारोंने छापा था, लेकिन भारत-सरकारको उसपर कोई आपत्ति नहीं हुई। उस समय फीजीके सूवा शहरसे हिन्दी और अंग्रेजीमें 'पैसेफिक प्रेस' (Pacific-Press) नामक एक साप्ताहिक अखबार निकलता था। इस प्रवासी पत्रने जहाँ मेरे वक्तव्यको उद्धृत किया वहाँ अपने सम्पादकीय स्तम्भमें यह टिप्पणी भी कर डाली कि "इस वक्तव्यमें अतिशयोक्तिकी मात्रा अधिक दिखाई देती है, पर है यह उसी जोड़का वक्तव्य, जैसा कि ऐसे ही अवसरपर गैरीबाल्डी, कोसूथ और डीवेलरा जैसे राष्ट्रवादियोंने

दिया था।"* इस बातसे फीजीके गवर्नर चौंक पड़े, उन्होंने मुझ जैसे भयंकर व्यक्तिका फीजीमें प्रवेश होने देना उचित नहीं समझा और मेरा पासपोर्ट रद्द कराके ही दम लिया।

फीजीमें प्रेस-एक्ट

फीजीकी कौन्सिलमें जब अंग्रेज-सदस्योंने मेरे वक्तव्यकी ओर सरकारका ध्यान खींचा तो उन्हें विश्वास दिलाया गया कि इस मामले में सरकार गाफिल नहीं है और भविष्यमें इस प्रकारके राज-द्रोहात्मक साहित्यका फीजीमें प्रकाशन और प्रचार न होने पावे, इसलिए सरकारने छापेखानेका एक कानून (प्रेस-एक्ट) भी बनानेका पक्का इरादा कर लिया है। इस संकल्पको कार्यान्वित करनेमें सरकारको देर भी न लगी। इस प्रकार जहाँ मेरा पासपोर्ट रद्द हुआ—फीजीमें मेरा प्रवेश वर्जित होगया—वहाँ मेरे वक्तव्यके कारण एक प्रेस-एक्ट भी बन गया।

इस विषयपर फीजी-कौन्सिलमें जब माननीय के० बी० सिंह और माननीय मुदालियरने सवाल किये तो सरकारने चुप्पी साध ली और उनको सूखा जवाब मिल गया कि सरकार कुछ कहनेको तैयार नहीं है। जब हिन्दुस्थानकी बड़ी धारा-सभामें श्रीगयाप्रसादसिंहने इस मामलेकी चर्चा उठाई तो भारत-सरकारकी ओरसे सर गिरिजाशंकर बाजपेयीने फर्माया कि चूँकि मैं दक्षिण अफ्रिकाकी प्रजा हूँ—वहाँकी सरकारने मुझे फीजी जानेके लिए पासपोर्ट दिया था, अतएव भारत-सरकारका इस मामलेसे कोई वास्ता नहीं है। बाजपेयीजीके इस कथनसे प्रवासी भारतीयोंको आश्चर्य और खेद हुआ। अखबारमें भारत-सरकारकी इस उपेक्षा-वृत्तिपर कड़ी टीका-टिप्पणियाँ भी हुईं।

---

* "We print in this issue Swami Bhawani Dayal's reply to the charge of sedition made against him. Much of it seems exaggerated, but it is closely paralleled to the speeches made on similar occasions by such nationalist leaders as Garibaldi, Kossuth and De Valera,"—The Pacific Press.

भारत-सरकारका तिरस्कार

आखिर कुँवर (अब राजा) सर महाराजसिंहके उद्योगसे भारत-सरकारको अपनी जिम्मेदारीका खयाल आया और उसने अपने एजेण्ट-जनरल द्वारा फीजी-सरकारसे मेरे प्रतिकूल प्रतिबंध हटा लेनेका अनुरोध भी किया, पर यह जानकर किसे आश्चर्य न होगा कि फीजी-सरकार टस-से-मस नहीं हुई, अपने हठ और दुराग्रहपर अड़ी रह गई और भारत-सरकारको इस अपमानपर भी मौन साध लेना पड़ा। यद्यपि फीजी कोई स्वतंत्र उपनिवेश नहीं है, दक्षिण अफ्रिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा और न्यूजीलेण्डकी भाँति उसे स्वराज्य नहीं मिला है। वास्तवमें वह एक राजकीय उपनिवेश (क्राउन-कॉलोनी) है, लंडनकी डाउनिङ्ग-स्ट्रीटसे उसका शासन होता है, औपनिवेशिक मंत्री उसके सर्वोच्च सत्ताधिकारी हैं। पर साम्राज्य-सरकारको अपने छोटे-से उपनिवेशके गवर्नरकी शानका जितना ध्यान है उतना अभागे हिन्दुस्थान और उसकी गुलाम सन्तानके अपमानका नहीं।

: ३६ :

आर्यसमाजियोंमें कलहाग्नि

सन् १९३३में दूसरी बार मुझे नेटालकी आर्य प्रतिनिधि सभाका प्रधान चुना गया। मेरी ही अध्यक्षतामें ऋषि दयानन्दकी निर्वाण-अर्द्ध-शताब्दी जिस धूम-धामसे मनाई गई वह नेटालके धार्मिक इतिहासका एक अनुपम अध्याय है। इस अवसरपर नेटालके हिन्दुओंकी एक परिषद् भी हुई थी, जिसमें हिन्दू समाजकी भिन्न-भिन्न समस्याओंपर विचार किया गया था और कई उपयोगी प्रस्ताव भी पास हुए थे। मैंने आर्य प्रतिनिधि सभाकी तरफसे ऋषि दयानन्दकी अंग्रेजीमें एक संक्षिप्त जीवनी भी छपवाई थी, जो सहस्रोंकी संख्यामें नेटालके भिन्न-भिन्न नगरोंके विद्यार्थियोंमें मुफ्त बाँटी गई थी। मेरे अनुरोधसे भारतके तत्कालीन एजेन्ट-जनरल कुँवर सर महाराजसिंहने इस पोथीकी भूमिका लिख दी थी, जिसमें ईसा-मसीहके इस अनुयायीने ऋषिकी पुण्य-स्मृतिपर श्रद्धांजलि चढ़ाते हुए उनको भारतीय जागृतिका जनक बतलाया था। इस अवसरपर मैंने एक और भी छोटी-सी पुस्तक लिखकर छपवाई थी, जिसका नाम है—'वैदिक-प्रार्थना'। इसमें सन्ध्या, प्रार्थना, स्वस्तिवाचनम्, शांति-प्रकरण तथा कुछ अन्य वेद-मंत्रोंके अंग्रेजीमें अनुवाद हैं और हिन्दीमें पद्यानुवाद। यह पोथी प्रवासी भारतीयोंमें ऐसी लोकप्रिय हुई कि अबतक इसकी पाँच आवृत्तियाँ निकल और खप चुकी हैं।

'विदेशोंमें आर्यसमाजका इतिहास'

मथुरामें ऋषि दयानंदकी जन्म-शताब्दीके अवसरपर 'विदेशोंमें-

आर्यसमाजका इतिहास' तैयार करनेके लिए एक प्रस्ताव पास हुआ था। दिल्लीकी सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभाने यह काम मुझे सौंप दिया था। मैंने इस ग्रंथके लिए काफी मसाला और चित्र जुटाये, पर ऐन मौकेपर न जाने सभाको क्या सूझी कि उसने सारी सामग्री मुझसे मँगा ली और निर्वाण-अर्द्धशताब्दीपर 'विदेशोंमें आर्यसमाज' नामकी एक छोटी-सी पोथी छपवाकर अपनी जिम्मेदारीसे छुट्टी पा ली। अखबारोंमें सभाके इस विलक्षण व्यवहारकी काफी आलोचना हुई थी।

आर्यसमाजियोंमें गुटबंदी

मैं आर्य प्रतिनिधि सभाका प्रधान तो बन गया, पर वहाँ गुटबंदीका तमाशा देखकर मेरी निराशाकी सीमा नहीं रही। इसलिए मैंने सभासे अलग हो जाना ही उचित समझा और इस्तीफा दे दिया। उसी समय पं० आनन्दप्रियजी बड़ौदाके आर्य कन्या-महाविद्यालयकी छात्राओंका एक दल लेकर दक्षिण अफ्रिका आने वाले थे और उनको आमंत्रित करनेकी मुझपर बहुत बड़ी जिम्मेदारी थी। इसलिए तबतक मैं सभाकी सेवामें लगा रहा जबतक कि आर्य कन्याओंका दल दक्षिण अफ्रिकाकी यात्रा पूरी करके वहाँसे विदा न हो गया। इन कन्याओंके व्यायाम और व्याख्यानसे प्रवासी भाइयोंमें अपूर्व जागृति हो आई और गोरे, भूरे तथा काले लोगोंपर भारतकी संस्कृति और शौर्यका गहरा असर पड़ा। इन आर्य-बालाओंने दक्षिण अफ्रिकामें अपनी मातृ-भूमिकी महत्ता बढ़ानेमें कोई बात उठा नहीं रखी।

मान-हानिका मामला

उन दिनों डरबनके एक पंजाबी आर्यसमाजी भाई मुझसे बहुत नाराज थे। उनका नाम है लाला मोहकमचंद वर्मा। मेरा अपराध यह था कि मैंने अपने 'दक्षिण अफ्रिकाके मेरे अनुभव' नामक ग्रंथमें उनकी कुछ चर्चा कर दी थी। जिस समय प्रयागके 'चाँद कार्यालय'ने इस ग्रंथको प्रकाशित किया और भारत तथा दक्षिण अफ्रिकामें इसका प्रचार हुआ उस समय तो वह मौन साधे रहे, लेकिन कई वर्षोंके बाद कुछ

विघ्न-संतोषी व्यक्तियोंके चक्कर चढ़ गए। पहले उन्होंने नेटालके सर्वोपरि सुप्रीम कोर्टकी शरण लेना श्रेयस्कर समझा। वहाँ मेरे विरुद्ध मानहानिका दावा दायर किया गया। मुझे सुप्रीम कोर्टका 'सम्मन मिला, जिसमें लालाजीकी तरफसे माँगा गया था—एक हजार पौण्ड हर्जाना और उसके साथ ही लिखित माफीनामा। शायद उनका खयाल था कि मैं अदालत-फौजदारीसे बहुत डरता और उससे दूर रहा करता हूँ, इसलिए सम्मनका स्वरूप देखकर काँप उठूँगा और उनके सामने सिर झुका दूँगा। अदालतका सम्मन पाकर मुझे संताप तो अवश्य हुआ और संन्यासी होकर मुकद्दमा लड़नेमें गहरी ग्लानि भी हुई, पर उनसे माफी माँगकर अपनी मिट्टी-पलीद कराना और ग्रंथकारके अधिकारपर आँच आने देना मुझे मुनासिब नहीं जँचा। इसलिए जब मैंने अपने वकीलकी मार्फत जवाब दाखिल किया और मुकद्दमा लड़नेकी चुनौती मंजूर कर ली तो लालाजीको बड़ा विस्मय हुआ; उनकी हिम्मत टूट गई और उन्होंने चुपके-से मामला वापस ले लिया। कहनेकी जरूरत नहीं कि लालाजीको मेरे वकीलका खर्च भरना पड़ा।

इसपर 'दूसरेके घरमें आग लगाकर तमाशा देखनेवाले' यारोंको संतोष कहाँ? उन्होंने लालाजीको चैनसे नहीं बैठने दिया। उसी मामलेको फिर डरबनके मजिस्ट्रेटकी अदालतमें लालाजीसे दायर कराया गया और हर्जानेकी रकम घटाकर केवल दो सौ पौण्ड कर दी गई। सुप्रसिद्ध मजिस्ट्रेट श्री०एम०जी० फेनिनके इजलासमें मामला चला। लालाजीकी तरफसे श्री ब्रेट वकील थे और मेरी तरफसे श्री यूजन रेनो। महीनों इस मामलेका सिलसिला जारी रहा और नेटालके प्रवासी भारतीयोंमें इसकी चर्चा होती रही। अंतमें लालाजी खर्चके साथ मुकद्दमा हारे। मुझे एक भारी चिन्ता और उद्विग्नतासे छुट्टी मिली। श्री यूजन रेनो एक फ्रेंच वकील थे। जिस दिन महात्मा गांधीको नेटालकी अदालतोंमें वकीलके रूपमें स्वीकार किया गया था ठीक उसी दिन महात्माजीके साथ ही यूजिन रेनोको भी। महात्माजी तो दूसरे क्षेत्रमें चले गए, पर रेनो

महोदयने वकालतके धन्धेमें कमाल कर दिखाया। उनको के०सी० की पदवी भी प्राप्त हुई थी। वह इतनी अधिक फीस लेते थे कि मामूली मामला लेकर उनके पास जानेका कोई साहस ही नहीं कर सकता था। पर खून आदि संगीन मामलेमें रेनो साहबको वकील रख लेना लोग अपनी रक्षाकी गारन्टी समझते थे। जनताकी यह धारणा बन गई थी कि रेनो साहब ऐसे प्रतापी वकील हैं कि चाहें तो खूनीको फाँसीके तख्ते-से उतार सकते हैं। साधारण स्थितिके लोग यह भी समझते थे कि रेनो-को वकील रखना मानो अपना दिवाला निकालना है क्योंकि कसकर फीस वसूल करनेमें वह किसीका जरा भी लिहाज नहीं करते थे। पर मुझपर उनका बड़ा स्नेह था। मुझे वह प्रवासी भारतीयोंका सच्चा सेवक समझते थे, इसलिए मुझे आदरकी दृष्टिसे देखते थे। जब लालाजीका मामला उनको सौंपते समय फीसका सवाल उठा तो उन्होंने हँसते हुए कहा कि "आपसे फीस माँगता ही कौन है ?" फिर मेरी चिंता और शंका मिटानेके लिए उन्होंने यह शर्त रख दी कि यदि वह मामला हार गए तो मुझसे एक पैसा भी नहीं लेंगे और अगर जीत गए तो लालाजीसे अपना मेहनताना सूद समेत वसूल कर लेंगे। अन्तमें लालाजीको ही उनकी फीस चुकानी पड़ी।

"लेनेके देने पड़ गए"

इस दरम्यान दैवयोगसे एक और घटना घट गई। लाला मोहकम-चंदने लोरेन्सो मार्क्विसके अपने एक पंजाबी मित्र श्री जगतसिंह गुज-रालको एक ऐसी गंदी चिट्ठी लिख भेजी थी, जिसमें मुझे चुन-चुन-कर गालियाँ दी गई थीं। गुजराल महाशय मुझे अच्छी तरह जानते थे, इसलिए लालाजीका गंदा पत्र पाकर उनको इतना रंज हुआ कि उन्होंने वह चिट्ठी मेरे पास भेज दी और मैंने उसे रेनोके हवाले कर दिया। जब लालाजी वाला मान-हानिका दावा खारिज हो गया तो रेनोने उस गंदी चिट्ठीके आधारपर लालाजीपर मान-हानिका मामला चलानेका नोटिस भेजा। अब तो लालाजीके होश-हवास गायब होगए, लेनेके

देने पड़ गए। बख्शाने गये थे रोजा, पर नमाज पड़ गई गले। जहाँ वह मुझसे माफीनामा चाहते थे वहाँ उनके वकीलकी चिट्ठी आई कि लालाजी मुझसे माफी माँगनेको तैयार हैं। किसीको हैरान करना मेरे स्वभावसे बाहरकी बात है। इसलिए मैं लालाजीके प्रस्तावपर राजी हो गया। पर रेनोको मेरी मनोवृत्ति पसंद नहीं आई, वह लालाजीको एक सबक सिखाना चाहते थे और उनको भारी अर्थ-दंड देना चाहते थे। इसलिए उन्होंने मुझे बहुत समझाया कि इस अवसरको हाथसे जाने देना बुद्धिमानी नहीं है। पर मैं अपने विचारपर अटल रहा और रेनोको साफ कह दिया कि मेरे धर्मकी दस आज्ञाओंमें दूसरी है क्षमा। मैं उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। मेरा धर्म मुझे यही सिखाता है कि—

"जो तोको काँटा बुवै, ताहि वोइ तू फूल।
तोको फूलके फूल हैं, वाको हैं तिरशूल॥"

आखिर रेनो मेरी बातोंसे केवल कायल ही नहीं हुए बल्कि मुझपर उनकी श्रद्धा भी हो गई। उन्होंने लालाजीसे माफीनामा लेकर उनके खर्चसे उसे नेटालके सभी मशहूर अखबारोंमें छपवाया और साथ ही अपनी फीस वसूल करके लालाजीका पिण्ड छोड़ दिया।

इस प्रकार इस अप्रिय काण्डका अन्त हुआ। लालाजी यद्यपि मामला हार गए और उनको काफी आर्थिक हानि उठानी पड़ी, तो भी उनको इससे कोई संताप या संकोच न हुआ मुझसे मुकद्दमा लड़ जाना उन्होंने अपने लिए गौरव और गर्वकी बात समझा। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और सर वेलण्टाइन चिरोलके बीच जो ऐतिहासिक मामला लन्डनमें हुआ था, लालाजीकी दृष्टिमें यह मामला उससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। इसलिए लालाजीने इस मुकद्दमेकी पूरी कार्रवाई अंग्रेजीमें 'A Report of the Proceedings in the Libel Action between Mohkam Chand Varman and Bhawani Dayal Sannyasi' के नामसे पुस्तकाकार छपवा

डाली, जिसमें गवाहोंके बयानसे लेकर मजिस्ट्रेटका फैसला तक दिये गए हैं।

मेहताजीका कोप

उस समय कुछ नामधारी आर्यसमाजियोंके कृत्यसे मेरे मनस्तापकी सीमा नहीं थी। कुछ अपवादके सिवा नेटालमें जितने आर्य-प्रचारक पहुँचे, उनको वैदिक धर्म-प्रचारकी अपेक्षा व्यक्तिगत प्रतिष्ठा, महत्ता और नेतागीरीका ही अधिक ध्यान रहा, इसलिए उन्होंने परस्पर द्वेष और वैमनस्यकी सृष्टि, पुष्टि और वृद्धिमें ही अपनी अधिकांश शक्ति लगाई और विषाक्त वातावरण फैलाने तथा आपसमें लड़ानेका अक्षय पुण्य कमाया। उन्हीं दिनों प्रसिद्ध आर्य-प्रचारक और पर्यटक श्रीमेहता जैमिनीजीने दक्षिण अफ्रिका आनेके विचारसे मुझे एक पत्र लिखा, जिसे मैंने आर्य प्रतिनिधि सभाके हवाले कर दिया। सभामें उसपर विचार हुआ और बहुमतसे यह निश्चय हुआ कि इस बेकारी और पामालीके जमानेमें आर्थिक कारणोंसे सभा जैमिनीजीको आमंत्रित करनेमें असमर्थ है। मैं ही सभाका प्रधान था। जब मत लिये गए तो मैं तटस्थ रहा।

आखिर जैमिनीजी अपने मित्र लाला मोहकमचंदजीके उद्योगसे नेटालमें आगए। आर्यप्रतिनिधि सभाने उनको आमंत्रित नहीं किया था इसलिए वह स्थानीय हिन्दू महासभाके प्रचारक बन गए। नेटाल पहुँचकर मेहताजीने मेरे विरुद्ध जितना प्रचार किया उतना अपने प्यारे वैदिक धर्मका नहीं। मेरा यही अपराध था कि प्रतिनिधि सभाकी बैठकमें सभाकी आर्थिक अवस्थाके विचारसे मैंने उनको आमंत्रित करनेके पक्षमें राय न देकर मौन रहना ही श्रेयस्कर समझा था। इस कसूरका मुझे बड़ा कठोर दंड मिला। वह आठों याम मेरे विरुद्ध वैमनस्यकी बाँसुरी बजाते और द्वेषका दादरा गाते रहे। हिन्दुओंमें फूटकी खेती लहलहाने लगी, वैरका बगीचा हरा-भरा हो उठा। वेटोमेनरके आर्यसमाजमें जैमिनीजीको मान-पत्र देनेकी जब चर्चा छिड़ी तो सदस्योंमें परस्पर गाली-गलौज ही नहीं हुआ, प्रत्युत उनकी खोपड़ियाँ तक

फूटीं। इस दर्दनाक दृश्यको देखकर मेरा दिल दुःखसे भर आया और कविका यह उद्‌गार मुखसे निकल पड़ा—

"दिलके फफोले जल उठे, सीनेके दागसे।
इस घरमें आग लग गई,घरके चिरागसे।"

मेरे कुछ विरोधी जैमिनीजीसे जा मिले। इससे उनका हौसला बहुत बढ़ गया। मेरे विरुद्ध उनका आन्दोलन नेटाल तक ही सीमित नहीं रहा, वह आगराके 'आर्यमित्र' और मेरठकी 'तपोभूमि'में भी मेरी बुराई करनेसे बाज नहीं आये। मैंने तो चुप रहना ही उचित समझा, पर कुछ लोग चुप नहीं रह सके। आर्य प्रतिनिधि सभाके मंत्री-ने 'आर्यमित्र'में ही जैमिनीजीको यथोचित उत्तर दे दिया और अन्य व्यक्तियोंने 'विशाल भारत','सरस्वती','सार्वदेशिक','श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार' आदि अखबारोंमें उनकी ऐसी खबर ली कि वह मर्माहत हो उठे। बिहारके श्रीगुप्तनाथसिंह बी० ए० ने (जो इस समय बिहारकी धारा-सभा और भारतकी विधान-परिषद्‌के सदस्य हैं) 'जैमिनी-दर्शन' नामकी एक पुस्तक ही लिखकर छपा डाली। इसपर जैमिनीके क्रोधकी सीमा नहीं रही। उन्होंने सभी सम्पादकोंके पास वकीलकी मार्फत नोटिस भेजा, जिसमें क्षमा-याचनाका तकाजा था; अन्यथा मान-हानिका मामला चलानेकी धमकी थी। पर भारतके पत्रकार ऐसे ढीठ और गुस्ताख निकले कि किसीने उनके नोटिसपर ध्यान नहीं दिया और उसको रद्दीकी टोकरीमें फेंककर अपनी ढिठाईकी हद कर दी। इसपर जैमिनी-जीको बड़ा जोश और रोष चढ़ा और उन्होंने सबको छोड़कर अपने गुस्सेका गुबार मुझपर ही उतारना शुरू कर दिया।

मेरे प्रतिकूल पुस्तक-प्रकाशन

जैमिनीजीने 'दक्षिण अफ्रिकाकी यात्रा और वैदिक धर्म-प्रचार' नामकी पुस्तक लिखकर छपवाई, उसमें मुझपर कटुतापूर्ण आक्षेप किये गए थे। इसपर भी उन्हें संतोष कहाँ? उन्होंने अपने शिष्य और साथी श्रीराम भारतीके नामसे 'भवानीदयाल-दर्पण' नामक

२८० पृष्ठोंका एक बड़ा पोथा प्रकाशित कराया, जिसमें मुझे स्वर्गमें ऋषि दयानन्दके दरबारमें खड़ा कराकर भयंकर अपराधी सिद्ध किया गया है। इस पोथेके पूर्वार्द्धमें मेरी कठोर आलोचना है और उत्तरार्द्धमें जैमिनीजीके अलौकिक चमत्कारोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा। लखनऊ-कांग्रेसके अवसरपर पं० दुलारेलाल भार्गवके गृहपर अजमेरके आर्य-साहित्य-मंडलके संचालक श्रीमथुराप्रसाद शिवहरेके विशेष आग्रह-अनुरोधपर मैंने श्रीराम भारतीके सामने उनको वचन दे दिया था कि भविष्यमें जैमिनीजीके विरुद्ध मैं किसीको कुछ लिखने न दूँगा और मेरी तरफसे इस अप्रिय प्रसंगका अन्त हो चुका। इसके बाद ही इस महाकाव्यकी सृष्टि हुई और उस प्रस्तावनामें मुझे स्मरण भी दिलाया गया कि "चूँकि स्वामी भवानीदयालने श्रीमथुराप्रसाद शिवहरेके सम्मुख भीषण प्रतिज्ञा की है कि वह भविष्यमें कोई लेख मेहताजीके विरुद्ध न लिखेंगे और न अपने मित्रोंको लिखने देंगे।...हम स्वामी भवानीदयालसे आशा करेंगे कि वे अपने दिये हुए वचन का पालन करें।"

मुझे अपने वचनका याद दिलानेकी जरूरत न थी। मैं तो "प्राण जाहिं पर वचन न जाई" का सिद्धान्त मानने वाला हूँ। अतएव मेरी तरफसे मेहताजोको मैदान साफ मिला और उन्होंने अपना पोथा प्रकाशित कर Blow below the belt की उक्ति पूरी कर दिखाई। एक और पुस्तक छपी जिसका नाम रखा गया—'दक्षिण अफ्रिकाका संन्यासी'। इसको गालियोंका शब्द-कोष कहना अधिक उपयुक्त होगा। इनके सिवा 'श्रीयुत वर्मनजीका क्षमा-पत्र या स्वामी भवानीदयालकी क्षीझ' और 'Varman's Apology and Bhawani Dayal' आदि किताबें हिन्दी, उर्दू और अँग्रेजी में छपवाकर मुफ्तमें बांटी गईं। इन पुस्तकोंमें यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई थी कि मैं आर्यसमाजकी प्रगतिके पथमें रोड़ा हूँ और जबतक मैं आर्यसमाजमें बना रहूँगा तबतक उसकी उन्नतिकी आशा मृग-तृष्णा ही है। पर सच बात तो यह है कि जैमिनीकी मौजूदगीमें ही मैंने आर्य प्रतिनिधि सभाके प्रधान-पदको

त्याग दिया था और अन्य सभी आर्य-सामाजिक संस्थाओंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था क्योंकि आपसमें लड़ना-झगड़ना मुझे कतई पसंद नहीं।

: ३७ :

प्रवासी भारतीयोंमें पारस्परिक संघर्ष

सन् १९३३में नेटालके प्रवासी भारतीयोंमें फूटका ज्वालामुखी फूट पड़ा। किसी कविने ठीक ही कहा है कि—

"वैर और फूट दोनों हिन्दोस्ताँके मेवे।
गोया कि शीरे मादर इनकी हैं ये गिजायें॥"

कुँवर सर महाराजसिंह भारतके एजेन्ट-जनरल बनकर दक्षिण अफ्रिका आ चुके थे। उनसे जो कुछ आशा की गई थी, उससे बढ़कर उन्होंने काम कर दिखाया। प्रवासी भारतीयोंपर कुँवर साहबका स्वाभाविक स्नेह है। वर्षोंसे उनकी समस्याओंमें वह दिलचस्पी लेते आये हैं और मारीशस, डमरारा, ट्रिनीडाड, केनिया, यूगाण्डा, टंगेनिका, जंजीबार आदि उपनिवेशोंमें पहुँचकर प्रवासी भारतीयोंकी सेवा भी कर चुके हैं। उन्होंने जिस उत्साह और लगनसे दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंकी सेवाएँ कीं, वह कभी भुलाई नहीं जा सकतीं। उन्होंने उनके कल्याण और उत्थानमें अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। उनको अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कुँवरानी गुणवतीदेवीसे अपने अभीष्ट कार्योंमें बड़ी सहायता मिली। कुँवरानीजी प्रवासी महिलाओंके सुधार और शिक्षा-प्रचारके क्षेत्रमें बड़ी निष्ठासे अपने पतिदेवका हाथ बँटाती रहीं। यह भी मार्केकी बात है कि कुँवर साहबके कार्य-कालमें प्रवासी भारतीयोंके विरुद्ध कोई कानून भी नहीं बनने पाया।

परदेश-प्रवास-योजना

पर खेदकी बात है कि कुँवर साहबके जमानेमें ही कुछ स्वयंभू नेताओंने फूटकी ऐसी आग लगाई कि उसकी लपटें देश-भरमें फैल गईं। बात यह थी कि जब केपटाउनमें सन् १९३२में दूसरी गोल मेज-परिषद् हुई और उसमें मेरी रिपोर्टपर ध्यान देकर केपटाउन-संधिसे प्रत्यागमन-योजना (Repatriation Scheme) का अंश निकाल दिया गया तो यूनियन-सरकारकी तरफसे यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि चूँकि यह तो सिद्ध होगया कि दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंके लिए भारतका वातावरण अनुकूल नहीं है इसलिए संसारमें कोई और देश ढूँढना चाहिए, जहाँ भारतकी बढ़ती हुई जन-संख्याको बसानेकी व्यवस्था की जाय और साथ ही यह पता लगाया जाय कि दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंमें कितने वहाँ जाकर बसनेको तैयार हैं ? भारत-सरकारके प्रतिनिधियोंने इस प्रस्तावको स्वीकार कर लिया था और साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसने इस उद्योगमें सरकारसे सहयोग करनेका वचन दिया था।

सन् १९३२में जब मैं स्वदेशसे लौटा तो मुझे इस बातसे बड़ी वेदना हुई थी। सोचा कि केपटाउन-संधिसे स्वदेश प्रत्यागमन योजना (Repatriation Scheme) तो निकल गई, पर विदेश-प्रवास-योजना (Colonisation Scheme) के रूपमें उसका पुनर्जन्म भी हो सकता है। तीर कमानसे छूट चुका था, हमारी कांग्रेस बात हार चुकी थी, इसलिए मैं शान्त रहा। उसी साल जोहान्सबर्गमें कांग्रेसकी जो परिषद् हुई थी, उसमें मैंने इस योजनाका तीव्र प्रतिवाद भी किया था। पर श्री अलबर्ट क्रिस्टफरने मेरे विरोधकी उपेक्षा करके परिषद्में इस आशयका एक प्रस्ताव पास कराया कि कांग्रेसको अपने वायदेके अनुसार विदेश-प्रवास-योजनामें सहयोग देना ही चाहिए।

फिर तो यह बात दबी रही, डेढ़ सालतक किसीने चीं-चपड़ नहीं की। सन् १९३३में दक्षिण अफ्रिकाके आंतरिक मंत्री श्री होफमेयरने यह

घोषणा की कि यूनियन और भारतके संयुक्त कमीशन चुनकर दुनियामें देश ढूँढनेके बजाय पहले हम अपनी सरकारकी ओरसे एक ऐसी कमेटी बैठाना चाहते हैं जो इस बातकी जाँच करे कि यदि कोई देश मिल भी गया तो यहाँके प्रवासी भारतीय वहाँ जाकर बसनेको तैयार भी हैं या नहीं ? बात बिलकुल ठीक थी। भारतकी बढ़ती हुई आबादीके लिए यूनियन-सरकारको देश ढूँढनेकी जरूरत ? उसे तो प्रवासी भारतीयों की संख्या घटानेकी चिन्ता है। यदि प्रवासी भारतीय दक्षिण अफ्रिकाका पिण्ड छोड़कर विदेशमें बसनेको राजी न हुए तो वह क्यों दुनियाकी दौड़ लगाकर देश ढूँढती फिरे ?

इस विचारसे यूनियन-सरकारने एक कमेटी बनाई और उस कमेटीमें इंडियन कांग्रेसका भी एक प्रतिनिधि चुनकर भेजनेकी सूचना दी। प्रतिनिधि चुननेके लिए डरबनमें कांग्रेसकी बैठक हुई। इस बैठकमें दो नामोंके चुनाव हुए—एक तो सरकारी कमेटीके लिए प्रतिनिधि और दूसरे कांग्रेसके लिए संयुक्त मंत्री। क्रिस्टफर साहबके नामकी किसीने चर्चा ही नहीं की और सर्वानुमतसे श्री एस० आर० नायडू प्रतिनिधि चुन लिये गए। मंत्रित्वके लिए महात्मा गांधीके पुत्र श्रीमणीलाल गांधी उम्मीदवार थे, पर उनके नामके प्रस्तावका किसीने समर्थन ही नहीं किया। बस फिर क्या था ? नेटालकी धरती डोल उठी, आकाश भहरा पड़ा।

फूटका ज्वालामुखी

श्री अलबर्ट क्रिस्टफर और श्रीमणीलाल गांधीने विद्रोहका झंडा खड़ा कर दिया और जनताका उस झंडेके नीचे आनेके लिए आवाहन किया। ये दोनों महाशय केपटाउनमें उस समय मौजूद थे, जब केपटाउन-सन्धिपर विचार करनेके लिए गोल मेज परिषद् हुई थी। कांग्रेसकी तरफसे विदेश प्रवास-योजना-कमीशनमें सहयोग करनेका जो आश्वासन-पत्र भारत-सरकारको दिया गया था उसपर इन दोनों महाभागोंने हस्ताक्षर भी किये थे। पर अब चूँकि कांग्रेसने इनको प्रतिनिधि और मंत्री नहीं चुना, इसलिए वे कांग्रेसकी कब्र खोदकर

दफनानेपर तुल गए। वचन भंग करने और थूककर चाटनेमें उनको जरा भी संकोच न हुआ। उन्होंने अपनी सफाई देनेके लिए यह बहाना निकाला कि हमने तो दुनियाकी दौड़ लगाकर देश ढूँढने वाले भारत और यूनियन-सरकारके संयुक्त कमीशनमें सहयोग देनेकी प्रतिज्ञा की थी, पर यह तो यूनियन-सरकारकी कमेटी है, इसके साथ सहयोग करनेको हम बाध्य नहीं हैं। उनको बहुत समझाया गया कि यह कमेटी तो प्रवासी भारतीयोंके लिए भगवान्‌का एक आशीर्वाद है। हमें कमेटीको साफ कह देना चाहिए कि दक्षिण अफ्रिकाका एक भी प्रवासी हिन्दुस्थानी देश छोड़नेको राजी नहीं है, ताकि यह मामला यहीं खत्म होजाय और दुनियाके चक्कर लगाकर हमारे लिए देश ढूँढनेकी नौबत ही न आवे।

पर यहाँ तो व्यक्तिगत वैमनस्यकी बात थी। क्रिस्टफरको कमिश्नर और मणीलालको मंत्री क्यों नहीं चुना गया? कांग्रेसकी ऐसी गुस्ताखी? जनता चाहे जहन्नुममें जाय, पर कांग्रेसको कब्रमें दफनाये बिना उनको अब चैन कहाँ? इस मत-भेदको मिटा डालनेके लिए जोहान्सबर्गमें कांग्रेसकी तत्कालीन परिषद् बुलाई गई और विरोधियोंको उसमें शरीक होकर अपना पक्ष समर्थन करनेको आमंत्रित भी किया गया। मणीलालजी परिषद्‌में पधारे भी तो एक दर्शकके रूपमें, प्रतिनिधिकी हैसियतसे नहीं। परिषद्‌में इस विषयपर बड़ी चर्चा हुई, विरोधियोंको भी बोलनेका अवसर दिया गया और अन्तमें यही निश्चय हुआ कि प्रतिज्ञा-पालनमें ही कांग्रेसकी प्रतिष्ठा है।

कांग्रेस-विरोधी संघकी स्थापना

आखिर श्री क्रिस्टफर और मणीलालजी कांग्रेससे किनारा कर गए और उन्होंने एक नई सभा बना डाली जिसका नाम रखा गया— 'कलोनियल बोर्न एण्ड सेटलर्स इंडियन एसोसियेशन' (Colonial-Born and Settlers Indian Association) नेटाल-भरमें यह शोर-गुल मचाया गया कि कांग्रेस प्रवासी भारतीयोंका

जन्म-सिद्ध अधिकार बेचनेपर तुली हुई है, इसलिए जनताको उससे नेह-नाता तोड़ लेना चाहिए। आम जनताकी मनोवृत्ति बड़ी विचित्र होती है; वह अपना कान नहीं देखती—कौवेके पीछे दौड़ती है। कांग्रेसके विरुद्ध जनताको ऐसा भड़काया गया कि कांग्रेस-कर्मियोंकी सभी बातोंसे उसे नफरत होगई। उस समय कांग्रेसकी तरफसे मैं विरक्त था, श्री सोराबजी और श्रीकाजी भी उससे तटस्थ थे, पर जब कांग्रेसके सामने जीवन-मरणका प्रश्न आगया तो हमने तटस्थ रहकर तमाशा देखना उचित नहीं समझा और हम सब पुराने कार्यकर्ता नेटाल इंडियन कांग्रेसकी रक्षाके लिए मैदानमें आगए।

उस समय मैं पोर्तुगीज पूर्व अफ्रिकामें पर्यटन और प्रचार कर रहा था, पर सोराबजी और काजीके तार और टेलीफोनसे नाकों दम आगया और वहाँ ठहरना कठिन होगया। मैं फौरन नेटाल लौटा और देशका दौरा करके प्रवासी भाइयोंको सच्ची स्थितिका परिचय दे देना आवश्यक समझा। डरबनके सिटी-हॉलमें जो महती सभा हुई, उसमें लगभग पाँच हजार भारतीय उपस्थित थे। वहींसे मेरे भाषणका सूत्रपात हुआ। विरोधियोंने शोर-गुल और गड़बड़ मचानेमें कोई कसर नहीं छोड़ी। कुँवर सर महाराजसिंह सपत्नीक इस सभामें शरीक हुए थे। विद्रोहियोंको भी बोलनेका मौका दिया गया था। विपक्षियोंके विघ्न डालनेपर भी यह सभा सफलतापूर्वक समाप्त हुई।

गुण्डेबाजीका सहारा

विधिकी कैसी विडम्बना ? जो महात्मा गांधी इस युगमें अहिंसाके अवतार माने जाते हैं उनके पुत्र मणीलालजी नेटालमें उन गुण्डोंके सरदार बने,जो सभाओंमें गड़बड़ मचाते और मार-पीट करनेसे बाज नहीं आते। डरबन-कारपोरेशनके नौकरोंकी सभामें जब हम वस्तुस्थितिका परिचय दे रहे थे तो क्रिस्टफर आदि अपने गुण्डोंको लेकर वहाँ पहुँच गए और जहाँ उन्होंने सभामें गड़बड़ मचाई वहीं कांग्रेस-मन्त्री श्रीठाकुर भूलापर हमला करके उनका सिर भी फोड़ डाला। डरबनके बाद मैंने अपने

सहकर्मियोंके साथ उत्तरीय नेटालका दौरा किया और न्यूकासल, डेन-हाउसर, ग्लंको, लेडीस्मिथ आदि शहरोंके प्रवासी भारतीयोंकी सभाओंमें हमारे भाषण श्रद्धासे सुने गए।

पर पीटर मेरित्सबर्गके सिटी-हॉलमें जो सभा हुई उसमें गुण्डोंने बड़ा उत्पात मचाया। एक तो वह नगर ही गुण्डों का गढ़ है, तिसपर उनको राजनीतिक नेताओंका इशारा और सहारा मिल गया। फिर तो गुण्डोंने नीचताकी ऐसी नुमाइश कर दिखाई, जैसी कभी कहीं नहीं देखी गई थी। सभामें तूफान मचानेके लिए अव्वल दर्जेके गुण्डे और बदमाश जुटाये गए थे और उनको शराब पिलाकर मतवाला बना दिया गया था। अबतक जो गुण्डे सभा-सोसायटियोंसे दूर रहते थे, उसमें शरीक होना अपनी शानके खिलाफ समझते थे, उनको हमारे नामधारी नेताओंने सभामें लाकर भले आदमियों की पगड़ी उछालनेका सबक सिखा दिया।

गुण्डोंके गर्हित कर्म

मेरित्सबर्गका सिटी-हॉल मनुष्योंसे भर गया था। रेवरेण्ड चूनूने ज्यों ही प्रभुकी प्रार्थना शुरू की, गुण्डे लगे आवाज कसने और शोर-गुल मचाने। इसके बाद मैं बोलनेको उठा, फिर तो गुण्डोंने गड़बड़ी मचा दी। कोई बिल्लीकी भाँति म्याऊँ-म्याऊँ करने लगा और कोई कुत्तेकी भाँति भौं-भौं। कुछ घोड़ेकी तरह हिनहिनाने और कुछ गधे की तरह नरियाने लगे। कुछ कुकड़ूँ-कूँ कहकर कुक्कुट-कुल-भूषण होनेका परिचय देने लगे और जिनको पशु-पक्षियोंकी बोली नहीं आती थी, वे हाथ-पैर पीटकर अपना पार्ट अदा करने लगे। ऐसा हल्ला-गुल्ला मचा कि कानके पर्दे फटने लगे। गुण्डे केवल शोर-गुल मचानेके लिए ही नहीं,बल्कि मार-पीट तक करनेके लिए हथियारोंसे लैस होकर आये थे। कोई साइकलकी सिकड़ी घुमा रहा था तो कोई चमचमाती हुई लम्बी छुरी। किसीकी जेबमें ढेले-पत्थर भरे थे तो किसीके हाथमें भरी हुई पिस्तौल थी।

मैं मंचपर घंटों खड़ा रहा, पर कुछ बोलने न पाया। गुण्डों-को हिदायत थी कि किसी भी हालतमें मुझे बोलने न दिया जाय। यदि मैं बोल पाता तो विपक्षियोंका भण्डा फूटे बिना न रहता। सभा-पतिके आसनपर सोराबजी थे, उन्होंने गुण्डोंसे पूछा, "क्या यह भारतीयोंकी संस्कृति है?" सब एक स्वरसे चिल्ला उठे-"हम लोग कलोनियल-बोर्न जन्म-प्रवासी हैं।"

"तुम्हारे बाप-दादे कौन थे?" सभापतिने पूछा? जवाब मिला, "हम लोग कलोनियल बोर्न हैं, साउथ अफ्रिकन हैं।" इस स्थितिमें सभाका संचालन असंभव हो गया, इसलिए सभा विसर्जित कर दी गई। फिर भी गुण्डे हॉलमें जुटे रहे और पुलिसको डंडेके जोरसे उनको निकाल बाहर करना पड़ा।

क्रिस्टफर—मणीलाल-पार्टीने जो द्वेषकी भावना फैलाई उससे भाई-भाईमें जुदाई हो गई, मित्र-मित्रमें मनो-मालिन्य हो गया, नाते-दारोंका नेह नष्ट हो गया, सहकर्मियोंमें सद्भावना नहीं रही। आखिर जब सरकारी कमेटीकी रिपोर्ट निकली तब भोले-भाले भाइयोंका भ्रम-भंजन हो सका। कमेटीने कांग्रेसकी इस बातको मंजूर कर लिया कि विदेश-प्रवासकी योजना मुख्यत: भारतकी बढ़ती हुई आबादीके लिए श्रेयस्कर है—दक्षिण-अफ्रिकाके प्रवासी भारतीय उससे लाभ उठानेको प्रस्तुत नहीं हैं, अतएव यूनियन-सरकारको इस झंझटमें पड़नेकी जरू-रत ही नहीं रही। वास्तवमें इस कमेटीकी कृपासे उस योजनाका ही अन्त आ गया, जिसके गर्भमें एक ऐसा खतरा छिपा था जो हजारों प्रवासी भारतीयोंके सर्वनाशका कारण बनकर रहता।

: ३८ :

भारतमें छः मास

सन् १९३९के नवम्बरके मध्यमें मैंने फिर हिन्दुस्थानके लिए प्रस्थान किया। जिस दिन डरबनसे विदा हुआ, उस दिन इस जीवनमें मैं प्रथम बार वायुयानमें उड़ा। पंजाबके प्रसिद्ध उड़ाकू श्रीमनमोहनसिंह अपने विमानके साथ डरबन आ पहुँचे थे और वह सबसे पहले मुझको ही अपने वायुयानपर बैठाकर आकाशकी सैर कराना चाहते थे। मैं 'लीडर'के सम्पादक श्रीधनी ब्रह्मदेवके साथ विमानपर सवार होकर आकाशमें पहुँचा और वहाँसे नीरधिकी नीलिमा निरखते हुए डरबन शहरका चक्कर लगाया। ऊपरसे डरबनकी फुलवारियाँ ऐसी प्रतीत होती थीं कि मानो धरतीपर हरी चादर बिछी हुई है।

मद्रासके पत्रकारोंकी प्रवृत्ति

मैं 'इरिपक्षो' नामक स्टीमरपर सवार होकर दिसम्बरके प्रथम सप्ताहमें मद्रास पहुँचा। बन्दरगाहपर ही 'एसोसियेटेड प्रेस'के प्रतिनिधिके दर्शन हुए और उनके आग्रहसे मुझे सर्वप्रथम उनके दफ्तरमें हाजिरी देनी पड़ी। वहाँ मेरी पूरी नंगा-झोली ली गई; मेरे पास प्रकाशनकी जो सामग्री थी उसको लेकर ही मेरा पिण्ड छोड़ा गया। वास्तवमें कोलम्बोसे रूटरने मेरी यात्राकी सूचना मद्रास भेज दी थी। इसलिए मद्रास पहुँचते ही मुझपर पहरा पड़ गया ताकि कोई दूसरा पत्रकार मुझपर अधिकार न जमा ले। मुझे उस दिनकी बात याद आगई, जब सन् १९२०में प्रत्यागमन-योजनाके विरुद्ध वक्तव्य लेकर मैं कलकत्तेके

इसी 'एसोसियेटेड प्रेस' के दफ्तरमें गया था और वहाँ मुझसे पूछा गया था कि मैं हूँ कौन-से खेतका बथुआ, जो ऐसे महत्वके प्रश्नपर वक्तव्य देने आया हूँ ?

वहाँसे खाली हाथ मैं 'हिन्दू'के कार्यालयमें पहुँचा। अंग्रेजीका यह विश्व-विख्यात दैनिक पत्र साधारणतः हिन्दुस्थान और विशेषतः मद्रासकी पिछली अर्द्ध-शताब्दीसे लगातार सेवा करता आया है। इसका आकार-प्रकार, छपाई-सफाई और पाठ्य-सामग्री दुनियाके किसी भी अखबारसे टक्कर ले सकती है। मैं माननीय श्रीनिवास शास्त्रीके भाई श्री रामस्वामी शास्त्रीसे मिलने गया था, जो उन दिनों 'हिन्दू'के सम्पादकीय विभागके अनमोल रत्न थे। सन् १९२०में जब मैं प्रत्यागत प्रवासियोंकी दशाकी जाँच करने मद्रास गया था, तभी इस महान् पत्रकारसे मेरा परिचय हो गया था। कार्य-व्यस्त होते हुए भी शास्त्रीजीने मुझसे मिलनेमें देर नहीं की और कुशल-क्षेमके पश्चात उन्होंने मुस्कराते हुए पूछा, 'हिन्दू'के लिए आप क्या भेंट लाये हैं ?' उन्हें मैं क्या जवाब देता ? पासमें जो कुछ पूँजी थी वह 'एसोसियेटेड-प्रेस' के दफ्तरमें गँवा आया था। अतएव उनसे मैंने निवेदन किया कि "मैं अपना वक्तव्य एसोसियेटेड प्रेसको दे आया हूँ, उसकी कापी किसी भी समय आपके पास पहुँच जायगी।" इससे शास्त्रीजीको संतोष कहाँ ? कुछ निराश होकर बोले, "वह वक्तव्य तो अन्य अखबारोंमें भी छपेगा, पर 'हिन्दू' के लिए तो कुछ ताजा मसाला भी चाहिए।" मैंने यथासंभव शीघ्र ही 'हिन्दू'को एक विशेष लेख लिखकर भेजनेका वचन देकर शास्त्रीजीको संतुष्ट किया और विजगापट्टम पहुँचकर अपने वचनको पूरा भी कर दिया। वह लेख जब 'हिन्दू' में छपा तो दक्षिण अफ्रिकामें उसकी बड़ी चर्चा हुई, क्योंकि उसमें क्रिस्टफर-मणीलाल-पार्टीकी सच्ची तसवीर खींची गई थी। उसके जवाबमें 'कलोनियल-बोर्न एण्ड सेटलर्स एसोसियेशन'की तरफसे एक बुलेटिन भी प्रकाशित किया गया था, जिसमें तथ्यपर परदा डालकर मेरे व्यक्तित्वपर हमला किया गया था।

'हिन्दू'के दफ्तरसे ही मैंने सर कूर्म वेङ्कट रेड्डीको टेलीफोन किया, उसी दिन वह कहीं बाहर जाने वाले थे, इसलिए उन्होंने मुझसे यथाशक्य शीघ्र मिलनेकी इच्छा प्रकट की। सर कूर्म दक्षिण-अफ्रिकामें भारतके एजेण्ट-जनरलकी हैसियतसे प्रवास कर चुके थे। अतएव उनसे मेरा व्यक्तिगत परिचय था। उस समय वह मद्रास सरकारके कानूनी वजीर थे। पीछे वे मद्रासके स्थानापन्न गवर्नर और प्रांतीय स्वराज्य प्राप्त होनेपर मद्रासके मियादी प्रधान-मन्त्री भी बने थे। उनसे मद्रास-सेक्रेटरियेटमें ही मेरी अंतिम मुलाकात और बातचीत हुई थी। अब इस संसारमें वह नहीं रहे, उनके उठ जानेसे मद्रासके अब्राह्मण दलका एक सबल स्तम्भ टूट गया।

इसके बाद 'मद्रास-मेल' के दफ्तरमें पहुँचकर उसके सम्पादक श्री हेड्लससे मिला। वह साम्राज्य-पत्र-परिषद् (Imperial Press-Conference) में भारतके प्रतिनिधि बनकर दक्षिण अफ्रीका गये थे, उस समय उनसे मेरी जान-पहचान होगई थी। एक एंग्लो-इंडियन अखबार होनेके कारण भारतकी राष्ट्रीय आकांक्षाओंका विरोध करना 'मद्रास-मेल' के लिए स्वाभाविक ही है, पर प्रवासी भारतीयोंके प्रश्नपर वह भारतीय लोक-मतका ही समर्थक रहा है। साधारण शिष्टाचारके बाद पत्रकार हेड्लसने भी लेखका ही तकाजा किया। मैंने बड़ी नम्रतासे निवेदन किया कि "मेरे पास जो कुछ मसाला था, वह एसोसियेटेड प्रेसने हड़प लिया है और उसे देश-भरके अखबारोंको बाँटनेका ठेका भी ले लिया है। अब तो मेरा खजाना बिलकुल खाली होगया है और मैं उनकी दयाका पात्र बन गया हूँ।' वह खामोश रह गए; मैंने सोचा कि पिण्ड छूट गया। पर जब रातको दस बजे शहरसे जहाजपर लौटा तो 'मद्रास-मेल' के रिपोर्टर श्री हरिहरम्‌को अपने केबिनके दरवाजेपर धरना दिये हुए पाया। मैंने उनसे पिण्ड छुड़ानेके लिए बड़ी कोशिश की और हाथ जोड़कर चिरौरी की, "देखिये, मैं बहुत थक गया हूँ। दिन-भर शहरकी धूल फाँकता फिरा हूँ; होश-हवाश ठिकाने नहीं हैं; दिमाग खोखला

होगया है, इसलिए मेरी जान बख्श दीजिये।" पर सब व्यर्थ ? मेरी प्रार्थनासे सूदखोर पठान भी पिघल जाता, लेकिन हरिहरम्‌को वहाँसे हटाना अनहोनी बात होगई। "आप अपने बटलरसे पूछ लीजिये। मैं शामके छः बजेसे ही आपकी इन्तजारमें बैठा हूँ। फिर क्या आप मुझपर कुछ भी दया न करेंगे—मुझे निराश ही लौटा देंगे ?" अन्तमें हरिहरम्‌ने मुझे हराकर छोड़ा—इन्टरव्यू लेकर ही केबिनसे कदम हटाया। अंग्रेजी-पत्रकारोंकी प्रवृत्ति देखकर मैं मुग्ध होगया।

उसी दिन शामको 'इण्डियन रिव्यू' के लब्ध-प्रतिष्ठ सम्पादक श्री जी० ए० नटेसनसे पहले-पहल मुलाकात हुई। प्रत्यागमन योजनाके कारण हम एक दूसरेके नाम और कामसे पूर्णतया परिचित हो चुके थे, पर अभी तक मुलाकात नहीं हुई थी। 'इण्डियन रिव्यू' के दफ्तरमें पहुँचनेपर सबसे पहले उनपर ही मेरी दृष्टि पड़ी और उनसे ही मैंने पूछा—"श्रीनटेसन साहब कहाँ हैं ? उनसे मैं मिलना चाहता हूँ।" जवाब मिला। "मैं ही नटेसन हूँ। आपका शुभ नाम ?" नाम सुनते ही वह उछल पड़े और गले लगाकर ऐसे मिले कि मानो कोई अपने पुराने मित्रसे मिल रहा हो। नटेसन साहब मिस्टर पोलककी पुस्तकें छापकर और 'इंडियन रिव्यू'में दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंकी निरन्तर चर्चा करके उनमें काफी प्रसिद्ध हो चुके हैं। वह एक महान् पत्रकार और प्रकाशक हैं। कौन्सिल आफ स्टेटके सदस्य रह चुके हैं। प्रत्यागमन-योजनापर मेरी तात्कालिक रिपार्ट निकलनेपर भारत-सरकारने जो कमीशन बैठाया था उसके श्रीनटेसन ही सभापति थे। वास्तवमें वयोवृद्ध नटेसनजी भारतके महापुरुषोंमें एक हैं, पर आखिर ठहरे तो पत्रकार ही। अतएव कहवेको प्याली पिलाकर बस 'इण्डियन रिव्यू'के लिए लेखका तकाजा कर बैठे। उनसे भी लेख भेजनेका वायदा करना पड़ा और उसे स्टीमरमें लिखकर विजगापट्टमसे भेज भी दिया, जो 'इन्डियन रिव्यू'-के नववर्षांङ्कमें प्रकाशित हुआ।

चतुर्वेदीजीकी विरक्ति

कलकत्ता पहुँचनेपर यह देखकर बड़ा दुःख हुआ कि पं० बनारसीदास चतुर्वेदी प्रवासी भारतीयोंकी समस्यासे विरक्त हो बैठे हैं। उनकी यह दलील सुनकर मुझे हँसी आये बिना न रही कि वह प्रवासी भारतीयों के संसर्गमें नहीं आसकते, इसलिए साहित्यिक सामग्रियोंके आधारपर उनके सम्बन्धमें अधिकारपूर्वक कुछ लिखना असम्भव है। यदि यह दलील ठीक है तो फिर यह सवाल उठता है कि वह कभी फीजी द्वीप नहीं गये वहाँका उनको व्यक्तिगत कोई अनुभव नहीं है, फिर भी उन्होंने 'फीजीकी समस्या' कैसे और क्यों लिख डाली? प्रवासी भारतीयोंके प्रश्नपर अखबारोंके कलेवर वह किस अधिकारपर रँगते आये हैं? सच बात तो यह है कि प्रवासी भाइयोंकी समस्याओंपर लिखकर चतुर्वेदीजी न केवल भारतमें बल्कि विदेशोंमें भी काफी मशहूर हुए। इसी कामके कारण वह महात्मा गांधी, महाकवि टैगोर, साधु एण्ड्रूजके समीप पहुंच पाये। वह अपनी साहित्य-साधनाके प्रतापसे हिन्दी-संसारमें प्रसिद्ध हो सकते थे, पर प्रवासी भारतीयोंके सेवा-कार्यने उनको भारत और भारतसे बाहर विदेशोंमें भी प्रख्यात कर दिया। इस प्रश्नकी तरफसे उनकी उपेक्षा-वृत्ति मुझे बहुत खटकी। पर चतुर्वेदीजीको इस क्षेत्रसे विरक्त करनेमें प्रवासी भाई और भारतके कुछ नेता भी जिम्मेदार हैं। इस क्षेत्रमें वर्षों वह अकेले ही डटे रहे; पर कहींसे उनको कोई सहारा न मिला। निराशा ही उनकी विरक्तिका कारण बनी। खैर, अब तक उन्होंने जिस लगन और सचाईसे प्रवासी भाइयोंकी सेवाएँ की हैं वह बृहत्तर भारतके इतिहासमें उनके नामको अमर बनानेको काफी हैं।

कलकत्तेके पत्रकारोंका प्रेमानुराग

उन दिनों 'विशाल भारत'के सहकारी सम्पादक स्वर्गीय श्रीव्रजमोहन वर्मा थे। प्रवासी भारतीयोंके प्रश्नमें वह काफी दिलचस्पी लेते थे, इसलिए उनपर मेरा बड़ा स्नेह होगया था। वह लँगड़े थे।

बैसाखीके सहारे चलते थे, इसलिए उनका नाम 'दण्ड-पाणि' या 'चतु-ष्पाद' भी पड़ गया था। उनके अशक्त शरीरमें एक ऐसी आत्मा थी जो स्वदेश, समाज और साहित्य की सेवा में उत्सर्ग होगई। वह बड़े विनोदी जीव थे और हास्य-रसके प्रकांड पंडित। उन्होंने दक्षिण अफ्रिका-प्रवासी भारतीयोंकी सामयिक समस्याओंपर 'विशाल भारत'में जो लेख लिखा था वह इतना बढ़िया बन गया था कि गुजराती, बंगला, कनाड़ी आदि भाषाओंके अखबारोंमें भी उसका अनुवाद प्रकाशित हुआ था।

हिन्दी-पत्रकारोंमें 'विश्वमित्र'के सर्वस्व श्रीमूलचन्द्रजीके उत्कर्षपर मुझे बड़ा संतोष हुआ। कलकत्तेके वह नोर्थक्लिफ हो बन गए थे। वह बड़े उद्योगी, अनुभवी और निरभिमानी व्यक्ति हैं। जहाँ उनका हृदय राष्ट्रीय भावनाओंसे ओत-प्रोत है वहाँ दलित प्रवासी भारतीयोंके लिए वेदनासे भरा हुआ। गुजराती मासिक 'नवचेतन'के सम्पादक श्रीचांपशी विट्ठलदास उद्देशीसे भी मुझे अपने मिशनमें अच्छी सहायता मिली। गुर्जर-साहित्यमें 'नवचेतन'का एक विशेष स्थान है।

बंगालियोंमें 'यूनाइटेड प्रेस'के व्यवस्थापक श्री विधु बाबू और 'आनन्द बाजार पत्रिका' के सम्पादक श्री माखन बाबूने मेरे प्रचार-कार्यमें बड़ी मदद पहुँचाई। विधु बाबू जब 'फ्री प्रेस'के व्यवस्थापक थे, तभीसे मेरे प्रचार-कार्यमें वह सहायता करते आये हैं। माखन बाबूसे मिलकर मैं पत्रकार-कलाका मर्म और महत्त्व समझ पाया। वे पत्रकार-कलाकी प्रतिमूर्ति हैं, मुद्रण-कार्यके कलाधर हैं और बंग-भाषाकी विमल विभूति हैं। भारतके अंग्रेजी अथवा देशी भाषाके अखबारोंमें 'आनन्द-बाजार पत्रिका'का सबसे अधिक प्रचार है। उस समय इस पत्रिकाकी दैनिक आवृत्तिकी पैंसठ हजार प्रतियाँ छप रही थीं।

स्वर्गीय केशवचन्द्र सेनके गृहपर

एक दिन मुझे नव-विधान ब्रह्मसमाजकी तरफसे स्वर्गीय श्री केशवचन्द्र सेनके मकानपर आनेका आमंत्रण मिला। वहाँ मुझे उस निर्भय सुधारक और उनकी सहधर्मिणीकी समाधियाँ दिखाई गईं और

उनके कमरेमें संकलित एवं सुरक्षित उनकी सारी सामग्रियाँ भी। यहीं कूचविहारीकी महाराणी श्रीमती सुचारुदेवीसे मेरी मुलाकात हुई। बात-चीतके दरम्यान मालूम हुआ कि दक्षिण अफ्रिकाकी कहानी वह लंडनमें श्री पोलककी जबानी सुन चुकी हैं। महाराणीके साथ उनकी पुत्री अंग्रेजी लिबासमें लैस थीं, पर स्वयं महाराणी एक हिन्दू विधवाकी भाँति सादगीकी सजीव मूर्ति प्रतीत होती थीं। श्रीमती सुचारुदेवी श्रीकेशवचन्द्र सेनकी बड़ी बेटी हैं। सन् १८७८में कूचविहारीके महाराजसे इनका विवाह हुआ था और इस विवाहमें कुछ ऐसी रूढ़ियाँ अमलमें लाई गई थीं; जो ब्रह्मसमाजके सिद्धान्तके प्रतिकूल थीं। इससे समाजमें बड़ा आन्दोलन मचा और नवविधान ब्रह्मसमाजकी बुनियाद पड़ी।

कलकत्तेमें काल-क्षेप

कलकत्तेमें कई प्रवासी भारतीयोंसे भी भेंट हुई। फीजीके पं० अमीचन्द विद्यालङ्कार और रेवरेन्ड पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र मिले। अमीचन्दजीने फीजीके भारतीयोंमें शिक्षा-प्रचारका स्तुत्य कार्य किया है। उनकी लिखी हुई हिन्दीकी पाठ्य-पुस्तकें उस द्वीपकी पाठशालाओंमें प्रचलित हैं। दुर्गाप्रसादजी फीजीके जन्म-प्रवासी हैं और वहाँकी 'वृद्धि' मासिक पत्रिकाके सम्पादक रह चुके हैं। भारतमें आकर जहाँ उन्होंने पादरीकी पदवी प्राप्त की, वहाँ एक विदुषी महिलासे शादी भी कर ली। सुरीनामके श्री भवानीभीख मिश्र भी मिले जो बड़े सीधे-सादे पुराने ढर्रेके व्यक्ति हैं।

कलकत्तेमें श्रीभोलानाथ वर्मनके उद्योगसे एक हिन्दू शिल्प-विद्यालय चल रहा था, उसके विद्यार्थियोंको प्रमाण-पत्र देनेके लिए मुझे आमन्त्रित किया गया। वहाँ पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, सेठ जुगलकिशोर बिड़ला, श्रीमूलचन्द अग्रवाल प्रभृति महाभागोंके दर्शन हुए। इस विद्यालयमें शिल्प-कलाकी शिक्षाकी बड़ी सुन्दर व्यवस्था थी। आधुनिक शिक्षा-प्रणालीके कारण देशमें जो बेकारी बढ़ रही है उसको

दूर करनेका एक-मात्र उपाय है—देश-भरमें इस प्रकारके शिल्प-विद्यालयों-की स्थापना और उनका विधिपूर्वक संचालन।

उन्हीं दिनों कलकत्ता-आर्यसमाजकी स्वर्ण-जयन्ती मनाई जा रही थी और इस अवसरपर एक राष्ट्र-भाषा-सम्मेलनका भी आयोजन हुआ था। सम्मेलनके सभापति थे—शांति-निकेतनके श्रीक्षितिमोहन सेन, जो संत-साहित्यके उद्‌भट विद्वान् हैं उनका भाषण संत-साहित्यका सजीव सन्देश था। पर राष्ट्रभाषाके प्रश्नपर उन्होंने मौनावलम्बन ही श्रेयस्कर समझा। पं० बनारसीदास चतुर्वेदीने बंगालियोंके हिन्दी-प्रेमकी भूरि-भूरि प्रशंसा की, पर उनकी बात हिन्दी-प्रेमियोंको कुछ जँची नहीं। मैंने अपने भाषण-में महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा श्रीरामानन्द चटर्जीकी मनोवृत्तिकी आलोचना करते हुए बतलाया कि वह महाभाग हिन्दीको राष्ट्रभाषा माननेको प्रस्तुत नहीं हैं। पं० अम्बिकाप्रसाद बाजपेयीने भी हिन्दीके प्रति बंगालियोंको उपेक्षा-वृत्तिको खूब खबर ली।

कई साल पहले मैं साहित्याचार्य पं० पद्मसिंहजी शर्माके साथ विद्यासागर कालेजकी हिन्दी-परिषद्‌के वार्षिकोत्सवमें शरीक हुआ था। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय सभापतिके आसनपर आसीन थे। वहाँ भी हमें हिन्दीके प्रति बंगालियोंकी मनोवृत्तिकी आलोचना करनेपर बाध्य होना पड़ा था। राय साहब भी बंगभाषाके सामने हिन्दीको तुच्छ समझते थे और बंगालियोंके सामने अन्य प्रांत-वासियोंको निकृष्ट। स्वर्गीय श्री जगदीशचन्द्र बसु और स्वर्गीय आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय जैसे वैज्ञानिकों-पर भारतवासी युग-युगांतर तक अभिमान करते रहेंगे। सन् १६२४-में मैंने दक्षिण अफ्रिकाके शिष्ट-मण्डलके सदस्योंके साथ श्रीजगदीश-चन्द्र बसुसे भेंट की थी। उन्होंने स्वय हमें अपनी प्रयोगशाला और अपने आविष्कारके नमूने दिखलाये थे और उनका तत्त्व एवं महत्त्व समझाया था। विशेषतः वनस्पतियोंमें जीव सिद्ध करके उन्होंने सारे संसार को आश्चर्यमें डाल दिया था। भारतके इन महापुरुषोंपर हमें गौरव और गर्व है, पर बंगालियोंमें प्रांतीयताका ऐसा भयंकर रोग है

कि जिसका कोई उपचार नहीं। अब मुस्लिम लीगके मुल्लाओंकी मतांधतासे बंगालियोंकी एकता और राष्ट्रीयता विलुप्त हो रही है।

जिनकी यह धारणा है कि रामानन्द बाबूने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनानेकी भावनासे 'विशाल भारत' निकाला था उनको भ्रममें भटकनेकी आवश्यकता नहीं रही। उन्होंने स्वयं 'मॉडर्न रिव्यू'में अपनी स्थितिको स्पष्ट कर देनेके विचारसे लिखा था कि हिन्दीको राष्ट्रभाषा बनानेके खयालसे नहीं बलिक हिन्दी-भाषियोंको एक उच्च मासिक पत्र अर्पण करनेके विचारसे ही 'विशाल भारत' निकाला गया है।

गयामें राजेन्द्र-आश्रम

सन् १९२५ के दिसम्बरमें कांग्रेसकी स्वर्ण-जयंतीकी पुण्यतिथि आ गई। गयाके कविवर जगेश्वरप्रसाद 'खलिश'ने कलकत्ते पहुँचकर मुझे यह खबर सुनाई कि गयाके कांग्रेस-कर्मियोंने एक राजेन्द्र-आश्रम बनवाया है और उसका उद्घाटन करनेके लिए वह मुझे आमंत्रित करने आये हैं। मैंने उनको समझाया कि इस कामके लिए किसी पूँजीपति को पकड़ना चाहिए, जिनसे आश्रमको कुछ आर्थिक सहायता भी मिल सके।

"आप क्या कह रहे हैं" खलिशजीने मेरी सलाहकी उपेक्षा करते हुए जवाब दिया, "हम अर्थके लिए अपनी आत्माको नहीं बेच सकते। बिहारके जिस महान् जन-नायकके नामपर इस आश्रमका निर्माण हुआ है वह इतना बड़ा त्यागी और तपस्वी है कि धातुके कुछ टुकड़ोंके लिए उसकी पवित्र स्मृतिको कलंकित करना अपराध ही नहीं, पाप भी है।" मैं तो उनकी बातसे दंग रह गया और ऐसी उच्चतम भावनाके सामने मस्तक झुका देना पड़ा।

निश्चित समयपर मैं बंधुवर बनारसीदास चतुर्वेदीके साथ गया पहुँचा। विशाल जन-समूहकी उपस्थितिमें मैंने राजेन्द्र-आश्रमका उद्घाटन किया। यह आश्रम कांग्रेस-कर्मियोंकी अनुपम कृति है और गयामें बिहारकी सर्वोत्तम विभूतिकी एक सुन्दर स्मृति। इस आश्रमके

निर्माणमें काफी खर्च हुआ है। इसमें कांग्रेस-कर्मियोंके रहनेके लिए कई कमरे हैं और कमेटीके बैठकके लिए एक हॉल भी; जिसमें भारतके राष्ट्रपतियों और बिहारके कुछ नेताओंके चित्र शोभित हैं। आश्रमका आँगन इतना बड़ा है कि उसमें बड़ी-से-बड़ी सभाकी व्यवस्था हो सकती है। इसकी इमारत आकर्षक और नेत्र-रंजक है।

श्रीवीरेन्द्र बहादुरसिंह (बच्चाजी) ने आश्रमके लिए भूमि प्रदान की और श्रीनारायणजीने इसके निर्माणमें अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। श्रीनारायणजी जहाँ एक कर्मठ कार्य-कर्ता हैं वहाँ एक विनोदी व्यक्ति भी। जब हँसी-विनोद का वह फव्वारा छोड़ते हैं तो मनहूसोंका शुष्क मन भी रस-धारासे प्लावित हो उठता है।

उस दिन कांग्रेसकी स्वर्ण-जयंतीके उपलक्षमें जो जुलूस निकला था, कहा जाता है कि गया-निवासियोंने उससे पहले वैसा जलूस कभी नहीं देखा था। जुलूस शहरका चक्कर लगाता हुआ 'ह्विटी पार्क' (Whitty Park)में पहुँचा। वहाँ सभाकी व्यवस्था हुई। लगभग पचास हजार आदमियोंकी भीड़ थी। सभापति थे कौन्सिल आफ स्टेट-के सदस्य (इस समय सभापति) सैयद हुसेन इमाम और वक्ता था अकेला मैं। मेरे भाषणके बाद चतुर्वेदीजीने सभाके संचालकोंको यही सलाह दी कि अब और किसीका भाषण कराना श्रोताओंपर पड़ा हुआ प्रभाव घटाना होगा। चतुर्वेदीजीके कथनसे मुझे संतोष होगया कि इस ऐतिहासिक प्रसंगपर मेरा भाषण अच्छा ही हुआ है, क्योंकि चतुर्वेदीजी मेरे उन मित्रोंमेंसे एक हैं जो भूलोंकी ओर सदा ध्यान दिलाया करते हैं और मुझे खुश रखनेके लिए कभी प्रशंसा नहीं कर सकते।

रातको राजेन्द्र-आश्रममें एक कवि-सम्मेलन भी हुआ। कोई राजा साहब उसके सभापति मनोनीत हुए थे, लेकिन शायद कांग्रेसके नामसे आतंकित होकर वे नहीं आये। अतएव चतुर्वेदीजीको सभापति बनानेका विचार किया गया, पर इस बातसे चतुर्वेदीजीकी वही दशा हुई जो बेगारका नाम सुनकर बनिहारकी होती है उन्होंने राम-राम

कहकर कानपर हाथ धर लिये जब और कोई न मिला तो आखिर मुझको ही घसीटकर सभापतिके आसनपर बैठा दिया गया। इसके बाद कवियोंने काव्य-कलाकी करामात दिखानी शुरू की। पहले हिन्दी-कवियोंका आवाहन किया गया। उन्होंने कविता-कामिनीकी ऐसी दुर्गतिकी कि समझदार लोगोंमें त्राहि-त्राहिकी पुकार मच गई। श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' प्रभृति इने-गिने कवियोंके सिवा अधिकांश हिन्दी-कवियोंकी कविताएँ ऐसी नीरस और फीकी रहीं कि श्रोताओंके धैर्यका अन्त होगया। पर जब उर्दू वालोंने अपनी शायरी सुनानी शुरू की तो सम्मेलनमें एक समा बँध गया। इलाहाबादी 'बिस्मिल', बनारसी 'बेढब','खलिश' और 'खस्ता' आदिकी शायरियाँ गजब ढा रही थीं और श्रोताओंको कलर-रस पिलाकर मस्त बना रही थीं।

उसी समय मैंने प्रथम बार बुद्ध-गया देखा। बौद्ध-मन्दिर तथा बोधि-वृक्ष देखकर मेरी आँखोंके सामने ढाई हजार वर्ष पहलेका वह स्वर्ण-युग घूम गया, जब कि गौतम बुद्धके उपदेशसे भारतका चोला बदल गया था, सारे भेद-भाव मिटाकर एक राष्ट्रकी बुनियाद पड़ी थी और समाजमें केवल गृहस्थ और भिक्षुक दो ही वर्ग रह गए थे। बौद्ध भिक्षुकोंने भारतसे बाहर जाकर चीन, जापान, जावा, बाली, सुमात्रा, लम्बक, लंका, ब्रह्मा, श्याम आदि देशोंमें सांस्कृतिक साम्राज्यकी स्थापना की थी और विदेशोंमें आर्यराष्ट्रकी कीर्ति-पताका फहराई थी।

बुद्ध-गयाके महन्तके वकील हमारे पथ-प्रदर्शक थे। उनसे मन्दिरकी अवस्था और व्यवस्थाकी विशेष जानकारी हासिल हो सकी। महन्तजीसे भी मुलाकात हुई। उन्होंने हमें यह समझानेकी चेष्टा की कि मन्दिरपर उनका ही एकाधिपत्य भारतके लिए हितकर है क्योंकि यह मन्दिर बौद्धोंको सौंप देनेका परिणाम यह होगा कि बुद्ध-गया स्वतन्त्र-भारतके लिए एक जटिल समस्या बन जायगा और इसको अन्तर्राष्ट्रीय रूप देना पड़ेगा। महन्तजीकी दलीलें सुननेके बाद मैं इस नतीजेपर पहुँचा कि

मन्दिर तो बौद्धोंको सौंप देना ही चाहिए, पर इस शर्तके साथ कि वे बौद्ध हिन्दुस्थानी हों, विदेशी नहीं।

जमशेदपुरका जौहर

जमशेदपुरके लोहेके कारखानेकी बड़ी तारीफ सुन रखी थी। अतएव उसे देखनेकी लालसा लगी थी, जो इस बार मित्रवर स्वामी शिवानन्दजी-की अनुकम्पासे पूरी होगई। स्वामीजीके ही आग्रहसे मैं जमशेदपुर आर्य-समाजके वार्षिकोत्सवमें शरीक हुआ था। आचार्य रामदेवजी और पं० वेदव्रत वानप्रस्थी (अब स्वामी अभेदानन्दजी) भी उत्सवमें पधारे थे। आचार्य रामदेवजीसे वहीं मेरी अंतिम भेंट हुई थी। आचार्यजी आधु-निक कालके एक ऋषि थे। वह जितने ज्ञानी थे, उतने ही निरभिमानी भी, जैसे क्रियाशील थे, वैसे ही स्नेहशील भी। आर्यजातिके हितके लिए उनका जीवन था, जो उसीकी सेवामें उत्सर्ग भी होगया। उनके निधनको कई साल बीत गए, पर आज भी उस अंतिम मिलनका स्मृति-सुमन मुरझाने नहीं पाया है। उन्होंने कन्या-गुरुकुल देखनेके लिए देहरादून आनेका बहुत आग्रह किया था, पर अफसोस कि मैं उनकी आज्ञाका पालन करनेमें असमर्थ रहा।

जमशेदपुर आर्यसमाजके अधिकारियोंने उपदेशकोंकी प्रदर्शिनी नहीं की थी। भजनीक तो एक भी नहीं था और वक्ता भी केवल गिने-चुने तीन। दो दिन तो आचार्यजीके और मेरे व्याख्यान हुए और तीसरे दिन मेरे और पं० वेदव्रतजीके। वहाँके आर्योंकी दूरदर्शिता और बुद्धि-मत्ता देखकर उस समाजके संचालकोंकी सूझ-बूझपर दया आये बिना न रही, जो वार्षिकोत्सवकी व्यवस्थामें ही अपनी सारी शक्ति खर्च कर डालते हैं और उपदेशकों तथा भजनीकोंकी नुमायशको ही सफलताकी निशानी समझ लेते हैं।

वास्तवमें जमशेदपुर हिन्दुस्थानके आधुनिक नगरोंमें एक है। लोहेके कारखानेमें करीब पच्चीस हजार आदमी काम करते हैं। संसारके लोहेके कारखानोंमें शायद इसका तीसरा नम्बर है। यहींपर कम्पनीके

मैनेजर श्रीगांधी और ऋषि-कल्प दादाभाई नौरोजीके पौत्रसे भी भेंट हुई और उनसे कारखानोंकी प्रगतिका इतिहास मालूम हुआ। मैं श्रीचन्द्रजीके मकानपर ठहरा हुआ था। श्रीपुरीजीने मुझे मोटरपर सारा कारखाना दिखलाया और एक भारतीयके नाते उसपर मुझे गर्व हुए बिना न रहा।

विहारकी विभूतियाँ

पटना पहुँचकर सदाकत-आश्रममें राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसादजीसे मिला। उनके दर्शनसे हजारीबाग जेलकी सारी स्मृतियाँ ताजी हो आईं। प्रवासी भारतीयोंकी परिस्थितिपर मेरा एक प्रस्ताव कांग्रेस-कार्य-समितिके विचाराधीन था, उसीके सम्बन्धमें राष्ट्रपतिसे सलाह-मशविरा करना जरूरी था। वहीं स्वामी सहजानन्दजीके भी दर्शन हुए। हजारीबाग जेलमें ही उनसे प्रथम मिलन हुआ था। जब मैं उनसे मिलने गया तो देखा कि वे जेलरको दुर्वासाकी भाँति श्राप दे रहे थे, इसलिए मैं वहाँ ठहर न सका। सदाकत-आश्रममें उनको किसानों और साम्यवादियोंको सलाह और हिदायत देते हुए पाया। स्वामीजी बड़े परिश्रमी और प्रतापी व्यक्ति हैं और सार्वजनिक जीवनकी एक अमोघ शक्ति हैं। पर न वह अपने क्रोधपर नियन्त्रण रख सकते हैं और न अपनी वाणीपर। इसलिए लोग उनको दुर्वासाका कलियुगी संस्करण समझते हैं।

उसी दिन डाक्टर सच्चिदानन्द सिनहाके मकानपर राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबूको एक पार्टी दी गई थी। वहाँ मुझे बिहारके प्राय सभी पुराने मित्रोंसे मिलनेका मौका मिल गया। दूसरे दिन मैं सिनहा साहबसे उनके बँगलेपर फिर मिला। वह तो सादी सफेद धोती और कुर्ता पहने हुए थे, पर उनका खानसामा 'जॉन' सूट-बूट कॉलर-टाई चढ़ाए ठाठ-बाटमें अंग्रेजोंको मात कर रहा था। शामको सिनहा साहबके बँगलेपर चायके पियक्कड़ोंकी गोष्ठी जुट जाती है और जॉन साहब उनकी खातिर-तवाजामें कोई बात उठा नहीं रखते हैं। सिनहा साहब बड़े स्वाध्यायशील व्यक्ति हैं। उनके विशाल पुस्तकालयमें अमूल्य और अलभ्य ग्रंथोंका

अनुपम संग्रह है। वह एक पुराने और प्रख्यात पत्रकार हैं और लगभग अर्द्ध शताब्दीसे 'हिन्दुस्तान-रिव्यू'का सम्पादन कर रहे हैं। बिहार-सरकारके अर्थ-मंत्री और पटना-विश्वविद्यालयके वाइस-चान्सलर भी रह चुके हैं। भारतकी विधान-परिषद्के वह प्रारंभिक सभापति भी बनाये गए थे। भारतके विद्वानोंमें उनका स्थान बड़ा ऊँचा है।

मिण्टोकी साम्प्रदायिक शराब

बिहारके शिक्षा-मंत्री सैयद अब्दुल अजीजसे भी मुलाकात हुई। सन् १९३१में जब पटनेकी सार्वजनिक सभामें सर अली इमामके सभापतित्वमें मैंने प्रत्यागत प्रवासियोंकी स्थितिपर भाषण दिया था तो अजीज साहबने ही प्रत्यागमन-योजनाके विरुद्ध प्रस्ताव पेश करनेका श्रेय ग्रहण किया था। वह बड़े उदार विचारके मुसलमान थे और हिन्दू-मुस्लिम-मेलके पक्के हिमायती। पर बादमें मुस्लिम-लीगके रँगरूट बन गए और जनाब जिन्नाकी बाटके बटोही। उस समय मुझे स्वर्गीय सर अली इमामकी वह बात याद हो आई, जो सन् १९३१में अपने बँगलेपर उन्होंने मुझे सुनाई थी। वह लंदनकी गोल मेज परिषद्में जानेको तैयार थे, लेकिन उनके दिलमें एक तूफान मचा हुआ था। बातचीतके सिलसिलेमें वह व्यथित होकर बोले, "सन् १९०८में लार्ड मिण्टोने सर आगा खाँ आदिके साथ मुझे भी तार देकर कलकत्ता बुलाया था और मुल्ककी मौजूदा हालतकी तस्वीर खींचकर यह समझाया था कि हिन्दुओंमें उग्र राष्ट्रीयताकी भावना फैल रही है, पर उनकी राष्ट्रीयता अंग्रेजोंके लिए उतनी खतरनाक नहीं है जितनी कि अल्प-संख्यक मुसलमानोंके लिए। यदि हिन्दुओंकी कौमी तमन्ना पूरी होगई और अपने मकसदमें वे कामयाब होगए तो अंग्रेज तो अपना बोरिया-बधना समेटकर इङ्गलैण्ड चले जायंगे, पर मुसलमान कहाँ जायंगे ? उनको तो हर हालतमें यहीं रहना होगा। इसलिए ब्रिटिश सरकारको मुसलमानोंके लिए फिक्र हो रही है। अगर जल्दी कोई तरकीब न की गई तो मुसलमानोंकी खैर नहीं है। ब्रिटिश हुकूमतके बाद हिन्दुस्थानमें लोक-तंत्रके अनुसार

हिन्दुओंके बहुमतकी सरकार कायम होगी और उसमें अल्पमत मुसलमानोंकी आवाजकी कोई कद्र और कीमत न होगी। उनको पुश्त-दर-पुश्तके लिए हिन्दुओंकी गुलामी करनी पड़ेगी और उनकी ठोकरें खानी पड़ेंगी। इस मुसीबतसे बचनेकी बस एक ही तरकीब है कि मुसलमान हिन्दुओंसे अलहदा एक कौम होनेका दावा करें और कौंसिलके लिए अपने उम्मीदवारोंको अलग मत देनेकी माँग करें। ब्रिटिश सरकार शीघ्र ही शासनमें कुछ सुधार करेगी। यही समय है मुसलमानोंको अपनी माँग पेश करने का। आप लोग एक डेपुटेशन लेकर मेरे पास आजावें, बाकी सब काम मैं बना लूँगा।"

लार्ड मिण्टोकी कूट-नीति सफल हो गई। उनकी बनाई हुई साम्प्रदायिक शराब पीकर मुसलमान नेता ऐसे मतवाले होगए कि ब्रिटिश सरकारकी भेद-नीतिका मर्म समझनेकी शक्ति ही खो बैठे। इस विष-वृक्षमें कैसे-कैसे फल लगेंगे? इसपर किसीने ध्यान न दिया। मुसलमानोंपर मिण्टोने जादूकी ऐसी छड़ी फेर दी थी कि इन्होंने पृथक्करणकी नीतिमें ही अपना कल्याण समझा।

भारतमें हिन्दू-राष्ट्र और मुसलिम-कौमकी सृष्टिका यही इतिहास है। उसी दिन हिन्दू-मुस्लिम-विग्रह और पाकिस्तानकी बुनियाद पड़ी थी और उसी दिन कलकत्ता, नोआखाली, बिहार, गढ़मुक्तेश्वर, हजारा और पंजाबके नृशंस हत्या-काण्डोंका बीजारोपण हुआ था। भारतके लिए वह अतिशय दुर्भाग्यका दिन था, पर उस दिन अंग्रेज साम्राज्य-वादियोंके यहाँ दीवाली मनाई गई थी। अंग्रेजोंकी दृष्टिमें लार्ड मिण्टोकी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शितासे उस दिन ब्रिटिश-राज्यकी नींव पातालमें गड़ गई। उस दिन स्वयं लेडी मिण्टोने अपने पतिकी नीतिज्ञताका बखान करते हुए अपनी डायरीमें लिखा था—"आज एक महत्त्वकी घटना घटी है। राजनीतिज्ञताका एक ऐसा अनुपम कार्य हुआ है, जिसका युग-युगान्तर तक भारतके इतिहास और राजनीतिक जीवनपर प्रभाव रहेगा। यह कार्य है सात करोड़ मुसलमानोंको ब्रिटिश विरोधी और

बागी दलसे अलग कर देना।"

सैयद अब्दुलअज़ीज़ जैसे लोकप्रिय मुसलमान भी आखिर मिण्टोकी भेद-नीतिका शिकार हुए बिना न रहे। उनका मुस्लिम-लीगमें शरीक होना और साम्प्रदायिक शराब पीकर ऐसा मतवाला बन जाना कि बिहारमें बसते हुए भी पंजाब, सिन्ध, सीमाप्रान्त, बंगाल और आसाममें मुसलिम राज्य अर्थात् पाकिस्तान बनानेका स्वप्न देखना भगवान्का अभिशाप ही समझना चाहिए। सर अली इमाम, जो ब्रिटेनकी चालबाज़ीको समझ गए थे, अब इस दुनियामें नहीं रहे। लंडनकी गोल मेज परिषद्में ब्रिटेनके तत्कालीन (अमेरिकाके विख्यात उपन्यासकार उपटन सिंक्लेयरके शब्दोंमें सूअर पालने वाला)प्रधान मंत्री रामजे मेकडॉनेल्डने उनको बोलनेका मौका ही नहीं दिया। इसलिए वे अपने दिलके अरमान दिलमें ही लिये चल बसे।

महाराजसिंहसे मुलाकात

कलकत्तेमें ही भारत-सरकारके सेक्रेटरी सर गिरिजाशंकर बाजपेयीसे मुलाकात हो गई थी और उनसे मैंने सन् १९३६ की जनवरीके तीसरे सप्ताहमें दिल्ली पहुँचकर दक्षिण अफ्रिका-प्रवासी भारतीयोंकी सामयिक स्थितिपर आवेदन-पत्र देने और बातचीत करनेका समय निश्चित करा लिया था। दिल्ली जानेसे पहले मैंने लखनऊ जाकर कुँवर सर महाराजसिंहसे मिलना और उनकी सलाह लेना आवश्यक समझा। कुँवर साहब दक्षिण अफ्रिकामें भारतके एजेन्ट-जनरल रह चुके थे और उस समय युक्त प्रादेशिक सरकारके होम-मेम्बर थे। कुँवर और कुँवरानी तथा उनके पुत्र रणवीर और महेन्द्र जिस स्नेहसे मेरे आतिथ्य-सत्कारमें लगे रहे, वह उनके शिष्टाचारका ही सूचक था। जबतक मैं लखनऊमें रहा, कुँवर साहब अपना काम-धन्धा छोड़कर मेरे साथ प्रवासी भारतीयोंकी स्थितिपर विचार-विमर्श करनेमें व्यस्त रहे। कुँवरानीको यह चिन्ता बनी रहती थी कि मेरे लिए चाय-पानके इन्तज़ाममें कोई त्रुटि न होने पावे। कुँवर साहबमें प्रकांड प्रतिभा, कार्य-पटुता एवं सहिष्णुता

है। उनका जीवन बड़ा संयमी है, वे न शराब छूते और न तम्बाकू पीते हैं। उनका स्वभाव मिलनसार और उनकी वाणी बड़प्पनकी निशानी है। साम्प्रदायिक शैतान उनको छू नहीं पाता। ईसाई होते हुए भी वह भारतीय संस्कृतिके पुजारी हैं। राजनीतिक क्षेत्रमें उदार दलके हिमायती हैं। लिबरल फैडरेशनके अध्यक्ष हो चुके हैं।

एक ऐसा भी जमाना था जब कि उनकी तारीफ सुनकर उनसे मिलनेकी इच्छा होते हुए भी हिम्मत नहीं पड़ती थी। वह सरकारके एक उच्च पदाधिकारी—इलाहाबाद इलाकेके कमिश्नर थे और मैं उस सरकारकी दृष्टिमें एक बागी था। यह भी सोचता कि चाहे वह प्रवासी भारतीयोंके कितने ही बड़े हितचिन्तक क्यों न हों—आखिर हैं तो एक सरकारी अमलदार ही। इस श्रेणीके लोग खादीधारी कार्यकर्ताओंके संसर्गमें आना उन दिनों कितना खतरनाक समझते थे, वह लिखकर बतानेकी जरूरत नहीं। इधर तो मेरी यह धारणा थी, उधर कुँवर साहबकी भी मेरे बारेमें विचित्र कल्पना थी। उनका खयाल था कि मैं उन उग्र विचारके क्रान्तिकारियोंमेंसे एक हूँ, जिनके दिलमें सरकारी अमलदारोंके लिए न कोई प्रेम है और न प्रतिष्ठा, चाहे उनमेंसे किसीके मनमें मातृ-भूमिके लिए कितनी ही ममता क्यों न हो? जब वह दक्षिण अफ्रिका जाने लगे और भारत-सरकारके गृह-विभागमें उन्होंने मेरी फाइल देखी तो उनकी धारणाकी और भी पुष्टि हो गई। वास्तवमें भारत-सरकारने काफी खर्च करके अपने जासूसोंसे मेरे जीवनकी सामग्री जुटाई थी, पर केन्द्रमें कांग्रेस-सरकार कायम होनेपर मेरी फाइल भी गायब हो गई या नहीं, यह कहना कठिन है।

इस प्रकार हम एक-दूसरेके बारेमें भ्रान्त धारणा बना चुके थे। जिस दिन कुँवर साहबसे दक्षिण अफ्रिकामें मुलाकात हुई, उसी दिन हमारा भ्रम-भंजन हो गया। प्रथम मिलनमें ही जिस स्नेह-सम्बन्धका सूत्रपात हुआ वह दिन-पर-दिन गाढ़ा ही होता गया। "अजर्य—आर्य-सङ्गतम्" आर्यका स्नेह सदा एकरस रहता है—कभी घटता नहीं।

यह लक्षण कुँवर साहबमें दृष्टिगोचर हुआ।

कुँवर साहबके साथ एक गार्डन-पार्टीमें युक्त-प्रदेशकी धारा-सभाके सभापति सर सीताराम, लखनऊ-विश्वविद्यालयके वाइस-चांसलर सर रघुनाथ परांजपे, अवध चीफ कोर्टके जस्टिस नानावती प्रभृति महानुभावोंसे भेंट और प्रवासी भारतीयोंके विषयमें बातचीत हुई। कुँवरानी मुझे सेवा-समितिके जलसेमें ले गईं। वहाँ श्री एण्ड्रूदुबेके नेतृत्वमें स्वयंसेवकोंका संगठन देखकर हर्षोल्लासकी सीमा नहीं रही। 'पायोनियर'के सम्पादक श्री डेसमन्ड याङ्गसे भी मुलाकात हुई। वह दक्षिण अफ्रिकाके प्रसिद्ध दैनिक 'नेटाल विटनेस' के प्रधान सम्पादक रह चुके हैं, अतएव दक्षिण अफ्रिकाकी समस्याओंपर उनका अनुराग स्वाभाविक ही है।

लखनऊकी एक मजेदार बात मैं कभी नहीं भूलूँगा। कुँवर साहबके एक पहाड़ी नौकरने,जो मेरे कमरेमें झाड़ू-बोहारु करता, बिस्तर लगाता और मुझे नहलाता-धुलाता था, एक दिन हिम्मत बाँधकर मुझसे पूछ लिया, "स्वामी जी ! आप तो हिन्दू हैं, हमारे देवता हैं, फिर आप कुँवर साहबके साथ एक ही मेजपर भोजन कैसे कर लेते हैं? वह तो ईसाई हैं।" मैंने विनोद-भावसे पूछा, "तुम क्या कुँवर साहबके बावर्चीखानेमें नहीं खाते?" वह चमक उठा। "आप क्या कहते हैं" वह अपनी स्थितिका स्पष्टीकरण करते हुए बोला, "मैं उनके घरमें झाड़ू लगाता हूँ, जूठे बर्तन माँज देता हूँ, उनके जूते भी साफ कर देता हूँ। पेटके लिए सब काम करता हूँ। पर उनका छुआ खाकर मैं अपना धर्म कदापि भ्रष्ट नहीं कर सकता।" मैं उसकी बात सुनकर दंग रह गया, दाँत-तले उँगली दबा ली। सोचा कि मानसिक दासताका कैसा भीषण परिणाम है यह। उसी दिन शामको 'विशाल भारत'के सम्पादक पं० श्रीराम शर्मा मुझसे मिलने आये और मेरे साथ कुँवर साहबके बावर्चीखानेका खाना भी खा गए, तब मैंने उस नौकरसे कहा, "देखो जी, मैं तो संन्यासी हूँ। मेरी कोई जात-पाँत नहीं है। मेरे लिए सब बराबर

हैं। पर तुम्हारे पंडित जी भी ईसाईके चौकेका खाना खा गए। अब तुम क्या कहते हो ?" वह बेचारा झेंपकर बोला, "क्या कहूँ, महाराज घोर कलजुग आगया है। सब भरभष्ट हो रहा है।"

रजाअलीकी शादी

उन्हीं दिनों दक्षिण अफ्रिकामें भारतके चतुर्थ एजेण्ट-जनरल सैयद सर रजाअलीने एक मद्रासी हिन्दू महिलासे शादी कर ली थी, जिसकी भारत और दक्षिण अफ्रिकामें काफी चर्चा हो रही थी। श्री सोराबजी रुस्तमजीने प्रवासी हिन्दुओंको इस विवाहका विरोध करनेको उभारा। जब मैं लखनऊमें था तभी सोराबजीने टेलीफोन द्वारा मुझसे बातें भी कीं। टेलीफोनका सम्बन्ध दक्षिण अफ्रिकासे लण्डन और वहाँसे हिन्दुस्थानके साथ जोड़ा गया था। सोराबजी इस शादीके खिलाफ भारतमें आन्दोलन करनेका काम मुझसे लेना चाहते थे। साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसके नामसे मुझे एक तार भी मिला, जिसमें महात्मा गान्धी, माननीय श्रीनिवास शास्त्री, श्रीमती सरोजिनी देवी और कुँवर सर महाराजसिंहके साथ मुझसे भी अपील की गई थी कि रजाअली साहबकी इस बेजा हरकतको रोकना चाहिए अन्यथा इसका नतीजा अच्छा न होगा। यह तार हिन्दुस्थानके अखबारोंमें भी छपाया गया था।

मैंने इस साम्प्रदायिक संघर्षसे तटस्थ रहना ही हितकर समझा। नेटाल इंडियन कांग्रेसने जब इस झमेलेसे दूर रहनेका निश्चय कर लिया तो सोराबजीकी प्रेरणासे प्रायः सभी हिन्दू कांग्रेस-कमेटीसे अलग होगए। मुझे भी एक आर्यसमाजी भाई द्वारा इत्तला दी गई कि मुझे कांग्रेससे अलग हो जाना चाहिए अन्यथा उनके सहयोगकी आशा छोड़ देनी चाहिए। इस धमकीकी मुझे क्या पर्वाह ? मैं अपनी अन्तर्ध्वनिके विरुद्ध किसी भी शक्तिके सामने नहीं झुक सकता चाहे वह शक्ति मानवी हो या दानवी। सैयद रजाअलीने एक हिन्दू महिलाको अपनी बीवी बनाना पसंद किया तो इसमें हिन्दुओंको आपत्ति करनेका क्या अधिकार ? सैयद साहबने उस महिलाको धर्म बदलनेको बाध्य नहीं

किया, वह हिन्दू ही रही और अन्तमें हिन्दू ही मरी। यह शादी न तो मसजिदमें हुई और न किसी मौलवीके जरिये। इस शादीमें सिविल मेरिज एक्टका सहारा लिया गया था। इस स्थितिमें हिन्दुओंके कोपका कोई कारण नहीं था। पर मौलवजीने उनको साम्प्रदायिक शराब पिला-कर ऐसा-मतवाला बना दिया था कि वे अपनी विवेक-बुद्धिको खो बैठे थे। यहाँ तक बात बढ़ गई कि चूँकि नेटाल इंडियन कांग्रेसने इस मामलेमें दखल देना उचित नहीं समझा, इसलिए 'खिसियानी बिल्ली खंभा नोचे' की भाँति हिन्दू उससे भी अलग होगए। प्रवासी हिन्दुओं की इस मूढ़ मनोवृत्तिपर भारतके सभी प्रमुख नेताओंको दुःख हुआ था।

मैं हूँ एक आर्यसमाजी। मैं किस मुँहसे इस विवाहका विरोध कर सकता था, जब कि मैं अपने समाजके लिए भी इस अधिकारका दावा करता हूँ। एक राष्ट्रवादीकी हैसियतसे मैं हिन्दू-मुस्लिम-विवाहको देशके लिए हितकर मानता हूँ। मेरी तो अटल धारणा है कि जबतक भारतीयोंमें रोटी-बेटीका व्यवहार न होने लगेगा तबतक एक राष्ट्रका निर्माण सर्वथा असंभव ही है। जिस महिलासे सैयद रजाअलीने शादी कर ली थी, वह कोई नाबालिग कन्या तो थी नहीं, उसकी आयु चालीस सालसे अधिककी हो चली थी। उसका बाप एक समृद्धिशाली मद्रासी था और वह अपनी सारी सम्पत्ति अपनी दो पुत्रियोंके लिए छोड़ गया था। इसलिए मद्रासी युवक उन कुमारियोंके आस-पास भौंरेकी भाँति मँडराया करते थे, पर वे उनको पास नहीं फटकने देती थीं। एक बार यह अफवाह उड़ी थी कि वे भारतीयोंसे नहीं, यूरोपियनोंसे शादी करना चाहती हैं, पर उनकी समृद्धि एवं प्रतिष्ठाके अनुरूप गोराङ्ग मिलना कठिन हो रहा है। आखिर सैयद साहब बड़ी कुमारीकी आँखोंमें आगए और वह उसके दिलमें समा गए। जोड़ा बैठ गया। इसमें किसीको दखल देनेका क्या अधिकार? मैं तो साम्प्रदायिक संघर्षको भारतकी यश-चन्द्रिकामें काला कलंक मानताहूँ और भगवान्‌का सबसे बड़ा अभिशाप। इसलिए मैंने कांग्रेससे तो नहीं, पर अन्य सभी साम्प्रदायिक संस्थाओंसे

सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

भारत-सरकारको आवेदन-पत्र

दिल्लीके लिए प्रस्थान करनेसे पूर्व मैंने आर्य सार्वदेशिक सभाके प्रधान महात्मा नारायण स्वामीको तार दे दिया था। उन्होंने भारत-सरकारके सेक्रेटेरियटके समीप हनुमान रोडपर प्रोफेसर सुधाकर एम० ए०-के यहाँ मेरे ठहरनेकी व्यवस्था कर रखी थी। निश्चित समयपर मैंने भारत-सरकारके प्रवास-विभागके सदस्य कुँवर सर जगदीशप्रसादजी और सेक्रेटरी सर गिरिजाशंकर वाजपेयीसे मिलकर अपना लिखित वक्तव्य पेश किया। उस समय दक्षिण अफ्रिकामें प्रवासी भारतीयोंके प्रतिकूल दो ऐसे कानून बने थे जो यूनियन सरकारकी वायदा-खिलाफी और बद-नीयतीके साफ सबूत थे। उनमें एक था 'स्लम्स एक्ट' (Slums Act), जिसका मकसद दक्षिण अफ्रिकाकी म्युनिसिपल्टियोंके मातहत शहरों और कस्बोंमें गन्दी बस्तियों, गन्दे मुहल्लों और गन्दे मकानोंको मिटाकर स्वच्छ-सुन्दर बस्तियाँ बसाना ही बतलाया गया था। जब यह कानून पार्लमेण्टमें विचाराधीन था तो स्वयं भारतीयोंने इसका स्वागत और समर्थन किया था, लेकिन साथ ही यह आशंका भी प्रकट की थी कि कहीं ऐसा न हो कि म्युनिसिपल्टियोंके स्वार्थी श्वेताङ्ग सदस्य इस कानूनको भारतीयोंके जमीन-घर हड़पनेका औजार बना लें। तत्कालीन आंतरिक मंत्री श्री हॉफमेयरने इस आशंकाको निराधार कहकर भारतीय कांग्रेसको यह विश्वास दिलाया था कि म्युनिसिपल्टियोंके निश्चयको रद्द करनेका अन्तिम अधिकार तो सरकारके हाथमें रहेगा और सरकार इस बातका ध्यान रखेगी कि स्थानीय सत्ताधिकारी गोरे-भूरे-कालेके भेदके आधारपर इस कानूनका अनुचित प्रयोग न करने पावें।

आंतरिक मंत्रीके आश्वासनपर भरोसा करके भारतीय कांग्रेसने इस कानूनका केवल समर्थन ही नहीं किया बल्कि स्थानीय सत्ताधिकारियों तथा सरकारसे कानूनको कार्यान्वित करनेमें सहयोग करनेका भी वचन

दे दिया। पर 'डर था जिस बातका, आखिरमें वही पेश आई' कानूनका प्रयोग होने लगा ठेठ रंग-भेदके आधारपर और खासकर भारतीयोंके जमीन—घर हड़पनेके लिए। जब हॉफमेयरका ध्यान इस अन्यायकी ओर दिलाया गया, जिन्होंने चिकनी-चुपड़ी बातें कहकर और इन्साफका आश्वासन देकर भारतीयोंको संतुष्ट कर लिया था, तो वे अपनी प्रतिज्ञाको भूल गए—अपने वचनसे मुकर गए और उल्टे लगे म्युनिसिपलिटियोंकी वकालत करने और उनकी कार्रवाइयोंको न्यायपूर्ण बतलाने। अफसोस, दक्षिण अफ्रिकाको—

"गवर्नमेन्टके हाकिम वफाशआर नहीं।
कुछ उनके कौलका दुनियामें एतबार नहीं॥"

यह तो हुआ नेटालका हाल। अब यूनियनकी दूसरी रियासत ट्रांसवालका हवाल सुनिये। वहाँके प्रवासी भारतीयोंके लिए 'ट्रांसवाल एशियाटिक लैण्ड टेन्योर एक्ट' (Transvaal Asiatic Land-Tenure Act) बन चुका था जिसका उद्देश्य यह था कि प्रवासी भारतीय अपने निर्धारित बाड़ेमें रहें, उसी दायरेके अन्दर रोजगार धन्धा करें। निर्धारित क्षेत्रसे बाहर बसने और व्यापार करनेका उनका हक हड़प लिया गया। एक तरफ तो केपटाउनका समझौता, जो भारत और यूनियन-सरकारके मध्य एक संधि है और दूसरी तरफ इस तरहके वर्ण-विद्वेष-मूलक कानून, जो इस संधिकी खुल्लम-खुल्ला हत्या हैं। पर यूनियन-सरकारके लिए वचन-भंग, विश्वास-घात, दगाबाजी और संधि-की हत्या कोई गिनतीकी चीज नहीं, भारतीयोंको नेस्त-नाबूद करनेमें सभी उपायोंसे काम लेना उसके लिए जायज है।

प्रवासी भारतीयोंकी स्थितिपर दिल्लीमें भारत-सरकारके प्रतिनिधियोंसे दो दिन तक चर्चा होती रही, पर फल कुछ न हुआ। दक्षिण अफ्रिकाकी सरकारके अन्यायपूर्ण व्यवहारका क्रियात्मक प्रतिवाद भारत-सरकारके बूतेसे बाहरकी बात थी। बस, मुझे यह विश्वास दिलाकर विदा किया गया कि सरकार प्रवासी भारतीयोंकी हित-रक्षामें कोई बात

उठा नहीं रखेगी। सर गिरिजाने अपने घरपर भी मुझे चाय-पानके लिए आमंत्रित किया था और वहाँ अपनी पत्नी और परिवारसे भी परिचय कराया। वह प्रवासी भारतीयोंकी समस्याके एक विशेषज्ञ हैं। कुँवर जगदीशप्रसादके बाद वह प्रवास-विभागके सदस्य हो गए थे और फिर अमेरिकामें भारत-सरकारके एजेन्ट-जनरल भी। उस समय प्रवास-विभागमें श्री मेनन भी थे, जो स्वर्गीय सर शंकरन् नायरके दामाद हैं और जंजीबारके हिन्दुस्थानियोंकी हालतपर जोरदार रिपोर्ट लिखकर काफी मशहूर हो चुके हैं। इस समय वे चीनमें भारतके राजदूत हैं।

उन दिनों 'हिन्दुस्तान टाइम्स' पुरानी दिल्लीसे निकलता था, पर उसके मैनेजिङ्ग डायरेक्टर श्री पारसनाथसिंह उसको नई दिल्लीमें लानेकी व्यवस्था कर रहे थे। सिंहजीसे मुझे अपने प्रचार-कार्यमें बड़ी सहायता मिली। वह बिहारके एक रत्न हैं और पत्रकार-कलाके एक पंडित। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' को उच्च और उन्नत अवस्थामें पहुँचानेका बहुत-कुछ श्रेय उन्हींको है। हिन्दीके भी वह बड़े प्रेमी हैं और उस समय हिन्दीमें दैनिक 'हिन्दुस्तान' निकालनेकी तैयारीमें थे। 'हिन्दुस्तान-टाइम्स'के प्रकाशक पं० देवीप्रसाद शर्मासे भी उसी समय परिचय हुआ, जो शनैः-शनैः प्रगाढ़ प्रेममें परिणत हो गया। उन दिनों श्री दुर्गादास और श्री आयङ्गर 'एसोसियेटेड प्रेस'में काम करते थे। इनको मैंने अपने वक्तव्यकी पेशगी कापी देनेका वचन दे दिया था, इसलिए 'यूनाइटेड प्रेस'के श्री शर्माजीको कुछ निराश होना पड़ा। 'अर्जुन'के सर्वस्व पंडित इन्द्रजीके यहाँ भी चाय-पान और वाग्विलासकी अच्छी बहार रही। दिल्ली-यात्राके साथ मेरे मिशनका आधा काम समाप्त होगया।

प्रयागमें राष्ट्रीय पर्व

सन् १९३६के अप्रैलके प्रथम सप्ताहमें मैं पटना होता हुआ प्रयाग पहुँचा। वहाँ कांग्रेस-कार्य-समितिकी बैठक थी, इसलिए देशके प्रमुख जन-नायक प्रयागमें एकत्र होरहे थे। उस समय अंग्रेजीमें मेरे

जीवन-चरित्रके लेखक श्री प्रेमनारायण अग्रवाल एम० ए० प्रयागमें ही थे, मैं उन्हींके साथ हिन्दू-होस्टलमें ठहरा था।

सबसे पहले मैं महात्मा गांधीके दर्शनके लिए आनंद-भवन गया। बापू उस समय भवनके अंदर नहीं थे, टहलनेके लिए कहीं बाहर गये हुए थे। जब भाई प्रेमनारायणने श्रीमहादेवभाई देसाईसे मिलकर विनती की कि बापूसे मेरी मुलाकात करा दें तो उन्होंने जवाब दिया कि इस समय बापू काममें इतने व्यस्त हैं कि अभी दो-तीन दिन उनसे भेंट नहीं हो सकेगी। यह बात मुझे जँची तो नहीं, पर मैंने उतावली करना ठीक न समझा। सोचा कि दो-तीन दिन ठहरना भी पड़े तो कोई हर्ज नहीं, बापूसे मिलना जरूरी है। मैं आनंद-भवनके बरामदेमें बैठकर बाहरका दृश्य देखने लगा, वहाँ बापूके दर्शनार्थियोंकी भीड़ लगी हुई थी।

सवेरेकी बेला थी, पर गर्मी पड़ने लगी थी। करीब दस बजे बापू बाहरसे लौटे। उनके साथ पं० जवाहरलाल नेहरू और सेठ जमनालाल बजाज थे। मैंने आनंद-भवनके दरवाजेपर उनके चरण-स्पर्श किये और नेहरूजी से हस्त-मिलाप। नेहरूजी ही राष्ट्रपति चुने गए थे। बापू तो भीड़से बचकर भीतर चले गए, पर नेहरूजी मुझे अपनी बैठकमें ले गए और प्रवासी भारतीयोंकी समस्यापर पूछ-ताछ करने लगे। जब मैंने उनसे निवेदन किया कि राष्ट्रपतिकी हैसियतसे जो भाषण वह लखनऊ-कांग्रेसमें देंगे उसमें प्रवासी भारतीयोंकी भी चर्चा होनी चाहिए तो उन्होंने जवाब दिया कि वह अपने भाषणमें केवल साम्यवादकी चर्चा करना चाहते हैं और उसमें अन्य विषयोंका समावेश करनेसे विशृंखलता आ जायगी। इस बातका मैं प्रतिवाद करने ही वाला था कि उसी समय श्री महादेव भाई आ गए। हमारी आँखोंने पूछा, "क्या है?" वह बोले, "बापू आपको बुला रहे हैं।"

मैं नेहरूजीसे क्षमा माँगकर ऊपरकी मंजिलमें बापूके पास पहुंचा। हमारे युगके पैगम्बर अपने एक भक्तसे क्षौर करा रहे थे। उस दिव्य रूप-पर मेरी ऐसी टकटकी बँध गई कि कण्ठ अवरुद्ध हो गया और मुँहसे

वाक्य निकलना मुहाल ? जी यही चाहता था कि उस रूप-सुधाका पान करता रहूँ, पर बापूके मंद-मधुर-हास्यने मेरा ध्यान भङ्ग कर दिया। दक्षिण अफ्रिकाकी परिस्थितिपर वह मेरी बातें गौरसे सुनते रहे और बीच-बीचमें अपनी राय देते रहे। कांग्रेस-कार्य-समितिके विचाराधीन मेरे प्रस्तावको सुनकर उन्होंने कहा कि उसको संक्षिप्त करना होगा और इस काममें वह स्वयं समितिकी सहायता करेंगे।

जब मैं बापूसे विदा होने लगा तो उन्होंने कहा कि, "जवाहरलाल-से मिलकर कहना कि वह अपने भाषणमें प्रवासी भारतीयोंकी चर्चा करना न भूलें।" मैं चुपचाप वहाँसे चलता बना और बाहर आकर पं० जवाहरलालको ढूँढने लगा। वह अपने कमरेमें कुछ काम कर रहे थे। मैंने उनके सेक्रेटरी श्री उपाध्यायसे प्रार्थना की कि वे नेहरूजीसे मेरी मुलाकात करा दें। बेचारे उपाध्यायजी बड़े सीधे-सादे आदमी हैं और नेहरूजीके भयसे थर-थर काँपा करते हैं। बहुत कहने-सुनने और चिरौरी करनेपर भी नेहरूजीके पास जानेकी उनकी हिम्मत न पड़ी। आखिर मुझे नेहरूजीके बहनोई श्रीरणजीत पंडितकी शरण लेनी पड़ी। वह नेहरूजीको बाहर बुला लाये। जब मैंने उनको बापूका पैगाम सुनाया तो वह बड़े धर्म-संकटमें पड़कर बोले कि "अगर आप दो दिन पहले आ गए होते तो मेरे भाषणमें प्रवासी भारतीयोंकी चर्चा अवश्य हो जाती, पर चूँकि भाषण छप चुका और अखबारोंके लिए पेशगी भेजा भी जा चुका है, इस हालतमें मैं लाचार हूँ। फिर भी मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि मैं मौखिक भाषणमें प्रवासी भारतीयोंकी चर्चा अवश्य करूँगा।" इस सफाईसे मेरी दिल-जमई अवश्य हो गई, पर यह बात भी खटके बिना न रही कि यही कारण नेहरूजीने पहले क्यों नहीं बतला दिया ?

श्रीमती सरोजनी देवी बम्बईसे आ गई थीं और आनन्द-भवनमें ही ठहरी हुई थीं। उनसे भी मिल लेना मैंने जरूरी समझा। एक नौकरको बुलाकर मैंने कहा, "देवीजीको इत्तला दो कि मैं उनसे मिलना चाहता हूँ।" उसने उनको सूचना देनेसे साफ इन्कार कर दिया और बे-अदबी-

से जवाब दिया, "वे बम्बईसे थकी-माँदी आ रही हैं और इसलिए दिन-भर किसीसे नहीं मिल सकतीं।" मैं उसकी गुस्ताखीसे हैरतमें आकर बोला, "भले आदमी! वह किसीसे मिल सकेंगी या नहीं, यह तो उनकी इच्छाकी बात है। तुम दाल-भातमें मूसलचन्द क्यों बन रहे हो? तुम उनको इत्तला क्यों नहीं दे देते?" वह किसी भी तरह इत्तला देनेको राजी न हुआ। लाचार होकर मैंने अपना कार्ड थमाते हुए उससे कहा, "तुम कुछ बोलना-चालना नहीं, सिर्फ यह कार्ड उनकी मेजपर रख देना।" आखिर वह कार्ड लेकर अन्दर गया और उसको देखते ही देवीजी बाहर निकल आईं और उसी तरह प्रेम से मिलीं जिस तरह कोई विदेशसे लौटे हुए अपने भाईसे मिलता है। फिर तो घंटा-भर प्रवासी भारतीयोंकी समस्याओंपर बातचीत होती रही। भारतकी इस अद्वितीय देवीसे प्रवासी भारतीयोंके मामलेमें मुझे हमेशा राय-सलाह और मदद मिलती रही है। इस बार उनकी अवस्था देखकर व्यथा हुई कि उनका स्वास्थ्य भंग हो चला है और वह फूलकी भाँति खिला हुआ चेहरा मुरझाने लगा है।

यहीं स्वराज्य-भवनमें पहले-पहल आन्ध्र के प्रसिद्ध नेता डाक्टर पट्टाभि सीतारामय्याके दर्शन हुए। वह बड़े सरल, खादीके प्रेमी, राजनीतिके पंडित और कांग्रेसके भक्त हैं। उनको अपनी बोलीमें हिन्दी-उर्दूकी खिचड़ी पकाते देखकर मुझे 'नई हिंदुस्तानी'की याद हो आई। उनसे घण्टों बातें होती रहीं, पर दिल नहीं भरा। उन्होंने कांग्रेसका प्रामाणिक इतिहास लिखकर अक्षय कीर्ति कमाई है। जब वे अपने पुत्र-की मृत्युकी चर्चा करने लगे तो उनका हृदय भर आया और आँखोंमें आँसू छलछला आये। वह एक मामूली चारपाईपर बैठे थे—अपने बिस्तरका उठँगना बनाकर। बस एक थैलेके सिवा साथमें वही उनका माल-असबाब था।

कांग्रेस-मन्त्री आचार्य कृपलानीकी वेश-भूषा और क्रियाशीलता देखकर दंग रह जाना पड़ा। पैरोंमें पनही नहीं, पर सिरपर साहबी

टोप (हेमलेट) बदनमें ढीली-ढाली धोती और बेडौल कुर्त्ता। बात-बात में विनोदकी बहार। कांग्रेस-कार्य-समितिकी बैठकके कारण वह बड़े कार्य-व्यस्त थे। कांग्रेस-मन्त्रीका पद बड़ा ही उत्तरदायित्वपूर्ण है और इसको निभानेके लिए श्रम, शक्ति और प्रतिभाकी आवश्यकता होती है।

डाक्टर कैलाशनाथ काटजूके मकानपर मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, श्री भूलाभाई देसाई, पं० गोविन्दवल्लभ पंत, डाक्टर सैयद महमूद और श्री नारीमनसे मुलाकात हुई। कुछ देरतक प्रवासी भारतीयोंकी चर्चा चली और फिर व्यक्तिगत विनोदकी बातें छिड़ीं। इनमें श्री भूला-भाई ही प्रमुख वक्ता थे। महमूद साहब मौन साधे बैठे थे। बीच-बीचमें पंतजी भी कुछ बोल देते थे। बेचारे नारीमन झेंप रहे थे; क्योंकि उन्हींको विनोदका लक्ष्य बनाया गया था। श्री भूलाभाई बम्बईके एडवोकेट-जनरल रह चुके थे। राजनीतिक विचारों और चालोंमें वह पं० मोती-लाल नेहरूकी तरह चतुर और तेज थे। अंग्रेजोके धुरंधर वक्ता थे। केन्द्रीय धारा-सभामें कांग्रेस-पार्टीके नेता थे और दिल्लीके लाल किलेमें आजाद हिन्द फौजके शाहनवाज, सहगल और ढिलनके मामलेमें उन्होंने जो सफाईका भाषण दिया था वह विश्वकी पराधीन प्रजाके इतिहासका एक अमर अध्याय है। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों और तथ्योंसे यह सिद्ध कर दिखाया कि विजेता विदेशी सरकारके विरुद्ध विजित राष्ट्रको बगावत करने और लड़नेका जन्म सिद्ध अधिकार है। उनके निधनसे भारतीय राष्ट्रकी जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति शीघ्र नहीं हो सकेगी। मौलाना आजाद पुराने ढरेंके आदमी हैं। पश्चिमीय सभ्यताका प्रभाव उनके जीवनके ढाँचेको नहीं बदल पाया है। उनकी जबान बड़ी मीठी और असरदार लगती है। बातचीतमें वही बहार, जो आलिमोंकी खास खूबी है। वह एक जबर्दस्त वक्ता और लेखक हैं। अरबमें उनका जन्म हुआ, वहीं बचपन बीता और मिश्रके कैरो नगरमें उन्होंने शिक्षा पाई। हिन्दुस्थानमें वह ऐसे पक्के राष्ट्रवादी बन गए कि देशने उनको राष्ट्रपति

तक बनाया। पन्तजीका स्थूल शरीर, विशाल तोंद और लम्बी मूँछें उनके स्वरूपकी विशेषता हैं। राजनीति और अर्थ-शास्त्रके वह प्रकांड पंडित हैं। उनका दिमाग दर्पणकी भाँति साफ है। उनकी वक्तृताएँ तथ्यपूर्ण और प्रामाणिक होती हैं। डाक्टर महमूद बिहारके एक रत्न हैं। राष्ट्रवादी मुसलमानोंके एक नेता हैं। बिहारकी कांग्रेस-सरकारके मंत्रि-मंडलके एक सदस्य हैं। श्री नारीमन बम्बईके मेयर रह चुके हैं, कांग्रेस-सोपानपर वह बहुत ऊँचे चढ़ चुके थे, पर सरदार पटेलसे विग्रह करके अब वे बहुत नीचे आगए हैं। सच तो यह है कि कांग्रेससे अब उनका कोई नाता ही नहीं रहा।

यहीं पं० हृदयनाथ कुँजरूसे भी मेरी पहली मुलाक़ात हुई। उनको नामके सिवा और कोई परिचय देनेकी जरूरत न पड़ी। वह प्रवासी भारतीयोंके प्रश्नके विशेषज्ञ हैं। उनकी सरलता और सहृदयता-पर मैं मुग्ध हो गया और प्रवासी भारतीयोंके सम्बन्धमें उनकी जान-कारी और पांडित्यके सामने श्रद्धासे मेरा सिर झुक गया। कुँजरूजी एक त्यागी और तपस्वी महापुरुष हैं। वे पूर्वीय अफ्रिकाकी भारतीय कांग्रेसके प्रधान रह चुके हैं। प्रवासी भारतीयोंकी सेवा और सहायता उनके जीवनका एक विशेष लक्ष्य बन गया है। वास्तवमें कुँजरूजी भारतके उन अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त महाभागोंमेंसे एक हैं जिनपर हम गर्व कर सकते हैं।

स्वर्गीय श्री चिन्तामणिजीसे मिला तो मालवीयजीकी वह बात याद हो आई कि "चिन्तामणि ही 'लीडर' हैं और 'लीडर' है चिन्तामणि।" 'लीडर'के वह सफल सम्पादक ही नहीं, भारतके एक महान् राज-नीतिज्ञ भी थे। उन दिनों उनका स्वास्थ्य खराब हो रहा था, पर उनकी क्रियाशीलतामें कोई कमी नहीं आई थी। उनके कानमें बड़ा दर्द था, फिर भी उन्होंने मुझसे मिलना उचित समझा। यदि 'लीडर'की आत्मा चिन्तामणिजी थे तो उसके प्राण श्रीरामकृष्ण मोहता। हिन्दी-संग्रहालयके उद्घाटनोत्सवपर किसीने उनसे मेरा परिचय कराया था

और उनकी मनहूस सूरत देखकर मैं सहम उठा था, मगर जब उनके मकानपर भेंट हुई और उनकी जिन्दा-दिलीकी पिटारी खुली तो वह मजा आया, जो कभी भुलाया नहीं जा सकता। घण्टों उनकी वाणीका रस चखता रहा, पर मन नहीं अघाया। 'लीडर'के मैनेजर श्री विश्वनाथ प्रसाद भी बड़े मिलनसार, समझदार और अनुभवी पत्रकार थे। उन दिनों 'लीडर' युक्तप्रांतके सार्वजनिक जीवनका प्रकाश-स्तंभ था।

प्रयागसे विदा होते समय स्टेशनपर अकस्मात् सर तेजबहादुर सप्रूसे भी भेंट हो गई। वह अपने किसी मित्रसे मिलने स्टेशनपर आये थे और दैवयोगसे गाड़ी घड़ी-भर लेट थी, इसलिए उनसे प्रवासी भारतीयोंके सम्बन्धमें बातचीत करनेका काफी समय मिल गया। मैंने साम्राज्य-परिषद् (Imperial Conference) में वर्ण-विभेदके विरुद्ध उनकी कही हुई इस बातकी याद दिलाई कि, "मैं अपने इस अधिकारका दावा करता हूँ कि बादशाह जॉर्जके महलमें एक सदस्यकी हैसियतसे मैं आसन ग्रहण करूँगा; उनके बाहरी अस्तबलमें जगह मिलनेसे मुझे संतोष न होगा।" (I claim my right to take my seat as a member of King George's household. I shall not be content with a place in his outer stables) और बतलाया कि उनकी इसी बातके आधारपर प्रवासी ग्रंथकार श्रीधनी महादेवने एक छोटी-सी पोथी लिख-डाली है, जिसका नाम रखा है—(Out of Stable) 'अस्तबलसे बाहर' इसमें लेखकने यह सिद्ध कर दिखाया है कि सम्राट्के दक्षिण-अफ्रिकाके अस्तबलमें भी भारतीयोंको जगह नहीं मिलती, किसी भी तरह उनको वहाँसे निकाल बाहर करनेकी कोशिश हो रही है।

पयागकी मेरी कहानी अधूरी रह जायगी, यदि मैं साहित्यकारोंको स्मरण किये बिना आगे बढ़ जाऊँ। 'सरस्वती'के कार्यालयमें प्रवेश करते ही आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदीकी स्मृति जाग्रत

हो आईं। उनके उत्तराधिकारी पं० देवीदत्त शुक्ल और ठाकुर श्रीनाथ-सिंहसे मिलकर प्रवासी भारतीयोंकी समस्याकी ओर उनका ध्यान दिलाया। शुक्लजी गंभीर स्वभावके प्रतिष्ठित पत्रकार हैं और ठाकुरजी भी साहित्य-संसारके एक कर्णधार हैं। 'चाँद'की सम्पादिका श्रीमती महादेवी वर्मासे मिलनेकी मेरी चिरभिलाषा भी अनायास ही पूरी हो गई। देवीजी हिन्दी-साहित्य-वाटिकाकी सुरभित सुमन और काव्य-काननकी कमनीय कोकिला हैं। प्रयाग-महिला-विद्यापीठ उनकी सेवासे लाभान्वित हो रहा था। विद्यापीठके सर्वेसर्वा श्री संगमलालजीसे मालूम हुआ कि देवीजीके सहयोग और सहायतासे संस्था दिन-पर-दिन प्रगतिशील हो रही है। इस विद्यालयमें भिन्न-भिन्न प्रांतकी देवियाँ दृष्टिगोचर हुईं। द्रविड़-बालाओंके मुखसे हिन्दी-संगीत सुनकर हृदय-तंत्री झंकृत हो उठी।

पं० रामनरेश त्रिपाठीसे विदित हुआ कि चाय-पानके प्रतापसे किस प्रकार उनके मस्तिष्ककी क्रियाएँ गतिशील बनीं और फिर कैसे तुलसी-कृत रामायण-जैसे महाकाव्यकी भूमिका एवं टीकाकी सृष्टि हो सकी। उन दिनों बापू भी त्रिपाठीजीकी रामायणी टीकाका पाठ कर रहे थे। यह जानकर संतोष हुआ कि त्रिपाठीजीके सुपुत्र श्री आनन्दकुमारजीने अपने पैतृक साहित्यिक कार्यको सँभाल लिया है। सम्मेलनके प्राण श्रीपुरुषोत्तम-दासजी टंडन हिन्दी-संग्रहालयको सजाने और उसे एक अद्वितीय संस्था बनानेके कार्यमें सन्नद्ध थे। 'भारत'के सम्पादक श्री केशवदेव शर्मा और श्री जुत्सी प्रभृतिसे भी प्रवासी भारतीयोंके प्रश्नपर चर्चा हुई। श्री सीताराम सेकसरिया भी प्रयागमें मिल गए, जिन्होंने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनको कई हजार रुपये देकर स्त्रियोंकी सर्वश्रेष्ठ रचनाओं-पर 'सेकसरिया-पुरस्कार' देनेका प्रबंध कर दिया है।

लखनऊ-कांग्रेसमें

कांग्रेसमें शरीक होनेके लिए प्रयागसे लखनऊ गया। गाड़ीमें ऐसी भीड़ थी कि पहले दर्जेके टिकट खरीदनेपर भी प्रयागसे लखनऊ

तककी यात्रा मेरे लिए बद्रीनाथकी यात्रा हो गई थी। वहाँ कालीचरण हाई स्कूलके अध्यापक श्री शान्तिप्रसादके डेरेपर ठहरा। उन्होंने मेरे खान-पान और आरामके लिए अच्छा इन्तजाम कर रखा था। इसलिए 'मोतीनगर'की धूल फाँकनेसे जान बच गई। यद्यपि कांग्रेसके वर्तमान विधानके अनुसार प्रवासी भारतीयोंके प्रतिनिधित्वकी कोई गुंजाइश नहीं थी तो भी कांग्रेस-कार्य-समितिने मुझे कांग्रेसके खुले अधिवेशनमें बोलनेका अवसर देना तय कर लिया था। बापूने प्रस्ताव तैयार किया था, राष्ट्रपति नेहरूने उसे खुले अधिवेशनमें पेश किया और मैंने अपने संक्षिप्त भाषणमें उसपर प्रकाश डाला।

इस प्रसंगमें एक अवांछनीय बात भी हो गई। मुझे राष्ट्रपतिकी ओरसे विषय-निर्धारिणी-समितिका टिकट मिला था और स्वागत-समितिकी ओरसे खुले अधिवेशनके लिए एक विशेष आमंत्रण-पत्र भी। विषय-निर्धारिणी-समितिमें तो उस टिकटके प्रतापसे कोई अड़चन नहीं आई, पर जब मैं प्रथम दिवसके खुले अधिवेशनमें शरीक होनेके लिए फाटकपर पहुँचा तो उस निमंत्रण-पत्रका रंग-रूप देखकर स्वयंसेवकोंने मुझे रोक दिया। उनकी धारणा थी कि लाल-पीले-हरे रङ्ग के टिकट वाले ही अंदर जानेके अधिकारी हैं, पर मेरे पास टिकट था ही नहीं, निमंत्रण-पत्र था, सफेद कागजपर चिट्ठीके रूपमें। अतएव बेचारे स्वयं-सेवक बड़े धर्म-संकटमें पड़ गए। जब उनकी बुद्धि काम न दे सकी तो वे अपने सरदार डाक्टर हार्डीकरको बुला लाए। मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा, जब उन्होंने मेरा आमंत्रण-पत्र देखकर कह दिया कि इसके आधारपर कोई अंदर नहीं जा सकता। इस निमंत्रण-पत्रपर स्वागता-ध्यक्ष और स्वागत-मंत्रीके हस्ताक्षर थे* और वह भी टिकटकी भाँति

---

*स्वागतकारिणी समिति ४९वीं कांग्रेस, मोतीनगर, लखनऊ। मान्यवर महोदय! कांग्रेसका ४९वां अधिवेशन श्री जवाहरलाल नेहरूके सभापतित्वमें मोतीनगर-लखनऊमें १२वीं अप्रैलसे प्रारम्भ होगा।

प्रेसमें छपे हुए नहीं, वल्कि उनके हाथके बनाये हुए हस्ताक्षर।

अतएव डाक्टर हार्डीकरकी विवेक-बुद्धिपर मुझे दया भी आई और गुस्सा भी आया। उनको मैंने चुनौती दी कि मेरा प्रवेश रोकना उनके अधिकारसे बाहरकी बात है। वह एक ऐसी भूल कर रहे हैं, जिसके लिए उनको पश्चात्ताप करना पड़ेगा। मेरी ललकारसे उनको अपनी समझपर संदेह हो आया और वह मुझे साथ लेकर स्वागत-समितिके दफ्तरमें पहुँचे। वहाँ एक उच्चाधिकारीने डाक्टर हार्डीकर-को समझाया कि स्वागत-समितिकी तरफसे इने-गिने खास व्यक्तियों-को आमंत्रित किया गया है और उनके पास यह विशेष निमंत्रण (Special Invitation) भेजा गया है। उनको तो स्वागत-समिति-का सम्मानित मेहमान समझना चाहिए और आदरपूर्वक निर्दिष्ट स्थान-पर ले जाकर बैठाना चाहिए। उन्होंने डाक्टर साहबको मेरा परिचय भी करा दिया। डाक्टर हार्डीकर बड़े संकोच और शर्ममें पड़े और कहने लगे कि इसकी सूचना मुझे पहले ही दे देनी आवश्यक थी।

उन्होंने मुझे निर्दिष्ट स्थानपर ले जाना उचित न समझा और क्षमा माँगकर विदा करते हुए कहा, "मैं यहीं खड़ा हूँ, आप जाइये। इस पत्रके कारण आपको पग-पगपर कठिनाई होगी क्योंकि इसकी सूचना स्वयंसेवकोंको नहीं मिली है।" खैर, डाक्टर साहब तमाशा देखने लगे, मैं हिम्मत बाँधकर आगे बढ़ा। सोचा कि यह विशेष निमंत्रण क्या मिला—झंझटका तौक गले पड़ गया। सामने जर्कबर्क वर्दीमें सेनापति श्रीसम्पूर्णानन्दजीपर नजर पड़ी तो कुछ आशा बँधी, पर उनसे पहले मुठभेड़ होगई, स्वयंसेविकाओंसे। टिकटकी तलबी हुई, मैंने अपनी चिट्ठी दिखाई। "आप इधर कहाँ आ पड़े", उनमेंसे एकने

स्वागत-समितिकी प्रार्थना है कि आप इसमें पधारनेकी कृपा कीजिये। दर्शनाभिलाषी : श्रीप्रकाश, अध्यक्ष। मुरारीलाल, प्रधान-मंत्री। कृपया इसे साथ लेते आनेकी प्रार्थना स्वीकार कीजिये।

विस्मित होकर कहा। "मुझे किधरसे कहाँ जाना चाहिए था?" मैंने चिन्तित होकर पूछा। "अजी, आपका तो स्पेशल निमंत्रण है। उस फाटकसे जाना चाहिए, जो नेताओंके लिए है" जवाब मिला। डाक्टर साहबको शायद अपनी भूल मालूम होगई, वहाँसे झेंपकर वह चलते बने। एक स्वयंसेविकाने मुझे मंचके निकट उस घेरेमें ला बैठाया, जो हजार और उससे अधिक रुपयेके टिकट वाले दर्शकोंके लिए रिजर्व था। 'पायोनियर'के सम्पादक श्री डेसमन्ड यङ्ग भी मेरे समीप आ बैठे। सोचा कि दिया तो एक पैसा भी नहीं, पर जगह मिल गई हजार रुपये वाली। अभी जमकर बैठने भी नहीं पाया था कि कहींसे कुमारी श्याम-कुमारी नेहरू आ टपकीं। उन्होंने मुझे वहाँसे उठाकर उस कक्षमें बैठा दिया, जो राष्ट्रपति और कांग्रेस-कार्य-समितिके सदस्योंके लिए सुरक्षित था। उस दिन सभीने मेरी शक्ल-सूरत देख ली और फिर किसीने मेरे आने-जाने और बैठनेमें छेड़-खानी नहीं की।

इधर कांग्रेस हो रही थी और उधर श्रीजगजीवनरामकी अध्यक्षता-में हरिजन-परिषद्। प्रो॰प्रकाशचंद्र, पं॰ईश्वरदत्त मेधार्थी प्रभृति मुझसे परिषद्में बोलनेके लिए आग्रह कर रहे थे, पर मैंने उनसे निवेदन किया कि जब तक कांग्रेसमें प्रवासी भारतीयोंका प्रस्ताव पास नहीं हो जायगा तब तक मैं अन्यत्र कहीं न जा सकूँगा। अतएव हरिजन-परिषद्का एक शिष्ट-मंडल पूर्व राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजीसे मिला और कांग्रेससे मुझे शीघ्र छुट्टी दिला देनेकी प्रार्थना की। श्रद्धेय राजेन्द्र बाबूके प्रयत्न-से अधिवेशनके तीसरे दिन सर्वप्रथम प्रवासी भारतीयोंका प्रस्ताव पेश हुआ और राष्ट्रपति नेहरूजी तथा मेरे भाषणके बाद वह पास होगया।

हरिजन-परिषद्में पहुँचा तो पूज्य पं॰ मदनमोहन मालवीयका भाषण हो रहा था। उनके बाद मुझे इस समस्यापर जो कुछ कहना था, कह गया। वास्तवमें यह वर्ण-व्यवस्था हिन्दुओंकी मरण-अवस्थाकी सूचक है। परमात्माने सबको बराबर बनाया है—न किसीको छोटा, न किसीको बड़ा; न किसीको नीच, न किसीको ऊँच। फिर यह भेद-भावकी भित्ति क्यों

खड़ी की गई ? छुआछूतका भूत कहाँसे आ टपका ? कुत्तेको तो हम गोदमें बैठावें—प्यारसे पुचकारें, पर अपने भाइयोंकी छायासे भी भागें—उनसे नफ़रत करें, यह कहाँका इन्साफ़ है, कहाँकी इन्सानियत है ? हिन्दुओंके विकास और उत्कर्षके मार्गमें यह जात-पाँतका पचड़ा सबसे भारी रोड़ा है। हिन्दुस्थानके लिए यह अमिट अपकीर्ति है और हिन्दुओंके लिए ईश्वर-का अभिशाप। हमारे राष्ट्र-चंद्रका यह राहु है, हमारे देशके लिए विनाशकी खाई। हमारी मानसिक दासताकी विकट बेड़ी है और हमारी मनुष्यताके लिए खुली चुनौती। जबतक वर्ण-विभेदका विनाश न होगा तबतक भारतमें एक राष्ट्रका निर्माण सर्वथा असंभव है और जबतक एक राष्ट्र न बनेगा तबतक देश स्वतंत्र न होगा और यदि हो भी गया तो उसकी स्वाधीनता खतरेमें रहेगी।

लखनऊमें भोजोंकी बदौलत बदहजमीकी नौबत आ गई। प्रसिद्ध साहित्य-महारथी मिश्र-बंधुओंके घरपर षट्रस और मिष्टान्नपर हाथकी अच्छी सफ़ाई दिखाई गई। पं० गणेशबिहारी मिश्र तो उन दिनों बहुत बीमार थे और कुछ काल बाद वे सुर-धाम भी सिधार गए। पं० श्यामबिहारी मिश्र (वह भी इस लोकसे विदा ले चुके) और पं० शुकदेवबिहारी मिश्र तथा उनके परिवार और नातेदारोंके सत्संगका अपूर्व आनन्द आया। मिश्र-बंधुओंने हिन्दीका प्रामाणिक इतिहास लिखकर राष्ट्र-भाषाका जो उपकार किया है उसको हिन्दी-संसार कभी नहीं भुला सकता।

'चाँद' और 'कर्मयोगी'के सर्वस्व श्री रामरखसिंह सहगलसे भी भेंट हो गई। उन दिनों लखनऊमें ही उनका 'रैन-बसेरा' था। वह एक प्रतिभाशाली और साहसी व्यक्ति हैं और अपनी धुनके बड़े पक्के। मासिक 'चाँद' और 'चाँद-कार्यालय' द्वारा प्रकाशित ग्रंथ तथा साप्ताहिक 'कर्मयोगी' उनकी क्रान्तिकारी भावनाओं और साहित्यिक प्रवृत्तियों-के परिचायक हैं। उनके सत्साहस, दृढ़-संकल्प और अमोघ शक्तिसे हिन्दीका बहुत हित हुआ है।

हिन्दीके आधुनिक बिहारी श्री दुलारेलाल भार्गवके यहाँ भी चाय-पान और भोजनके लिए तलबी हुई थी। उन्हींके कवि-कुटीरपर श्रीराय-कृष्णदास, श्री सियारामशरण गुप्त, श्री जैनेन्द्रकुमार आदि साहित्य-कारोंसे भेंट और साहित्यकी सामयिक स्थितिपर चर्चा भी हुई। भार्गवजी कवि हैं, लेखक हैं, पत्रकार हैं और प्रकाशक भी हैं। 'माधुरी' उनकी सुकृति थी और 'सुधा' उन्हींकी सम्पत्ति है। गंगा-ग्रंथमालाके ग्रंथ हिन्दीके लिए गौरव-वर्द्धक सिद्ध हुए। उस समय जीवनमें अर्द्धा-ङ्गिनीका अभाव उनको अखर रहा था, पर बादमें देवी सावित्री-जैसी विदुषी महिलासे विवाह करके उन्होंने इस कमीको भी मिटा लिया है।

लखनऊ-कांग्रेसके साथ मेरा काम भी खतम हो गया। बिहारका अपना 'बढ़ुआरा' गाँव मैंने बेच दिया और उसके साथ ही 'प्रवासी-भवन' भी। उनकी जो कीमत मिली, वह वारिसोंमें बाँटकर छुट्टी पा ली। मेरे छोटे भाई देवीदयाल भी अपने चार छोटे-छोटे बच्चोंके साथ नेटाल जाना चाहते थे; क्योंकि उनकी द्वितीय पत्नीका भी देहान्त हो गया था। उनको बच्चोंके साथ नेटाल प्रवेशकी आज्ञा मिल चुकी थी, पर बिहार-सरकारसे भी पासपोर्ट लेना जरूरी था। पासपोर्टके लिए अर्जी दी जा चुकी थी, पर वह बिहार-सरकारके दफ्तरमें विचाराधीन फाइलमें पड़ी रही। जब यात्राका समय समीप आ गया और सरकार-को पासपोर्टका स्मरण दिलाया गया तो वहाँसे जवाब मिला कि जबतक यूनियन-सरकारकी तरफसे खुद बिहार-सरकारको पासपोर्ट देनेकी सूचना (असलमें आज्ञा) न मिलेगी तबतक मेरे भाई और उनके बच्चोंको पासपोर्ट नहीं मिल सकेगा। इस विचित्र व्यवहारपर मुझे बड़ी निराशा और नाराजी हुई, क्योंकि मैं भाई और उनके बच्चोंके साथ जहाजपर बैठनेके लिए कलकत्ता पहुँच चुका था और ऐन मौकेपर बिहार-सरकारने यह उलझन डाल दी। मैंने फौरन भारत-सरकारको तार दिया और संतोषकी बात है कि केन्द्रीय सरकारने तत्क्षण इस मामलेमें दखल

देना उचित समझा। भारत-सरकारके आदेशसे बिहारके चीफ सेक्रेटरी श्रीब्रेटनने तार देकर मुझे राँची अपने बँगलेपर बुलाया और इस भूलपर अफ़सोस जाहिर करके पासपोर्ट मेरे हवाले कर दिए।

: ३६ :

जेकब्सका जीवन

नेटाल पहुँचकर देखा कि मेरे बच्चे जेकब्सकी घाटीसे हटकर पहाड़ी-पर आ बसे हैं। दक्षिण अफ्रिकामें जेकब्स ही मेरा स्थायी निवास-स्थान रहा है। यद्यपि मेरा जन्म जोहान्सबर्गमें हुआ था, बचपन भी वहीं बीता था, तो भी सन् १९१३में भारतसे लौटनेपर वहाँसे मेरा चित्त उचट गया। अफ्रिका महाद्वीपमें जोहान्सबर्गसे बढ़कर शानदार दूसरा कोई शहर नहीं है और सोनेकी खानोंकी बदौलत वह सबसे बढ़कर मालदार भी है, पर वहाँका कोलाहलपूर्ण वातावरण मुझे रुचा नहीं। जोहान्सबर्गकी सड़कोंपर लोग चलते नहीं, दौड़ते हैं। किसीको बात-चीत तक करनेकी फुर्सत नहीं, सबको यही फिक्र लगी रहती है कि अल्प-से-अल्प कालमें अधिक-से-अधिक पैसे कैसे कमा लेवें।

मेरी दृष्टि नेटालपर पड़ी। उस प्रदेशकी प्राकृतिक सुषमाने मुझे अपनी तरफ खींच लिया। नेटाल दक्षिण अफ्रिकाके बगानके नामसे मशहूर है। इस प्रदेशका मुख्य नगर डरबन है जो दक्षिण अफ्रिकाके तीन बड़े शहरोंमेंसे एक है। डरबनकी ऋतुएँ बड़ी सुहावनी होती हैं—ग्रीष्ममें न बहुत गर्मी पड़ती है और न हेमन्तमें बहुत सर्दी—सदा बसंत बना रहता है। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे यहाँका जल-वायु बड़ा हितकर है। दिनमें धूप खूब खिलती है, रातमें आकाश बिलकुल साफ रहता है। समुद्रने डरबनकी गोदमें एक खाड़ी खोद दी है, जिससे डरबन एक प्राकृतिक बंदरगाह बन गया है।

सन् १४६७में वास्को-डि-गामाने पहले-पहल नेटालका पता लगाया था। उस दिन २५ दिसम्बर था—क्रिसमस दिवस था, जिसका नाम 'नेटाल' भी है, इसलिए इस प्रदेशका नाम ही नेटाल पड़ गया। डरबन आस-पास छोटी-बड़ी पहाड़ियोंसे घिरा हुआ है, जिनमें 'बिरिया' पहाड़ीकी बस्ती सर्वाङ्ग-सुन्दर, चित्ताकर्षक और नेत्र-रंजक है। उसको देखकर पुराणोंमें वर्णित इन्द्रपुरीकी छटा आँखोंके सामने आ जाती है। सफाईकी दृष्टिसे जब हम कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि नगरोंकी डरबनसे तुलना करते हैं तो एक भारतीयके नाते शर्मसे हमारा सिर झुक जाता है। यह सोचकर गहरा दुःख होता है कि हम लोग पवित्रताका ढोंग तो करते हैं, पर सफाईके नियमोंकी अवहेलना करनेमें कुछ भी संकोच नहीं करते।

इसी डरबनके एक भागका नाम 'जेकब्स' है जो औद्योगिक डरबन (Industrial Durban) के नामसे भी प्रसिद्ध है। डरबनके कल-कारखानोंका केन्द्र जेकब्स ही है। डरबनके सिटी-हॉलसे जेकब्स छः मीलके फासलेपर है, पर है वह शहरसे सटा हुआ। ट्रेन, बस और मोटरकी सवारियोंकी इतनी सुविधा है कि किसी भी समय डरबन और जेकब्सके मध्य यात्रा की जा सकती है।

भवानी-भवन

इसी जेकब्समें मैं स्थायी रूपसे सन् १६२२में आ बसा। यहीं मेरी जीवन-संगिनी जगरानीकी जीवन-लीला समाप्त हुई; यहीं उनकी स्मृतिमें 'जगरानी-प्रेस' खुला और साप्ताहिक 'हिन्दी' अखबार निकला था। जेकब्स रेल-स्टेशनके पास एक ऊँची पहाड़ीके टीलेपर, जहाँ केवल ह्वेसांगोंकी आबादी है, मैंने एक टुकड़ा जमीन मोल ली थी, जिसमें मेरी पिछली यात्राके समय मेरे पुत्रों—रामदत्त और ब्रह्मदत्त—ने श्री बी० बेचूकी सहायतासे लगभग एक हजार पौण्ड लागतका एक मकान बनवाया था और उसका नाम रखा था 'भवानी-भवन'। इस भवनसे डरबन शहर, बिरियाकी बस्ती, विलियर तकके बँगले और इस्पिङ्गोकी

और लहलहाती हुई खेती दिखाई देती है। यहाँ बैठकर डरबनके उप-सागर और बंदरगाह, उपसागरके उस पार विशाल सिटी-हॉल और डाक-घर तथा सागर-तटपर बनी हुई आलीशान अट्टालिकाएँ और सामनेकी एक पहाड़ीपर प्रसिद्ध 'हावर्ड कालेज'की शोभा देखते ही बनती है। रातमें सारा डरबन बिजलीकी रंग-बिरंगी बत्तियोंसे जगमगाता नजर आता है—मानो डरबनमें नित्य दिवाली मनाई जारही हो। अंधेरी रातमें जब उपसागरपर रोशनीकी रश्मिएँ छिटकती हैं तो उसकी छटा निरखनेसे आँखें नहीं अघातीं।

बिहारकी जमींदारी बेचनेसे जो द्रव्य मिला था, भाईको आधा हिस्सा देकर जो बचा, उसीसे यह 'भवानी-भवन' बनाया गया। बंधु-वर बेचूने जिस लगन और उत्साहसे इस भवनका निर्माण किया वह मेरे प्रति उनके प्रेमका ही परिचायक था। बेचू महाशय एक मामूली मजदूरके दर्जेसे उठकर आज डरबनके एक मशहूर राज-मिस्त्री और ठेकेदार बन गए हैं। स्कूलमें उनको शिक्षा पानेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, पर स्वाध्यायके बलसे उन्होंने 'बेचू-विनोद' नामकी पद्यात्मक पोथी रच डाली। सार्वजनिक क्षेत्रमें वह आर्यसमाजके प्रधानसे लेकर नेटाल इंडियन कांग्रेसके उपप्रधानके पदतक पहुँच गए।

जेकब्सकी पहाड़ीकी विशेषता यह है कि उसपर अभी यत्र-तत्र जंगल लगा है, जो नंदन-वनकी भाँति आकर्षक प्रतीत होता है। बँगलों-के अहातेमें लगी हुई फुलवारियाँ दर्शकोंको मोहित कर लेती हैं। सड़कें सुन्दर हैं—पक्की और साफ-सुथरी। जेकब्स प्राकृतिक सौन्दर्यका भण्डार है। इसलिए कोलाहलपूर्ण शहरसे सम्पर्क रखते हुए भी वह शान्ति एवं एकान्त-प्रेमियोंके लिए अनुकूल और उपयुक्त स्थल है। यहाँ नगर और ग्राम्य-जीवनकी सुन्दर संधि है।

डाक्टरोंकी स्नेहशीलता

जेकब्ससे मुझे स्वाभाविक स्नेह है। दक्षिण अफ्रिकामें वह कस्बा मेरे जीवन-नाटकका रंग-मंच रहा है। यहाँ बसते ही सन् १९२२में जग-

रानीका देहांत होगया और उनके विछोहसे मैं ऐसा बीमार पड़ा कि जीवनकी आशा नहीं रही। उसी समय एक पारसी डाक्टर हीरा माणिक-से मेरा परिचय हुआ। प्रथम बार तो उन्होंने मुझसे खूब कसकर फीस वसूल की, परन्तु जब उनको मेरे सार्वजनिक जीवनका पता लगा तो उन्होंने मुझसे फीस लेना हराम समझा और यह नियम बना लिया कि प्रति शनिवारको मेरे शरीरकी जाँच होनी ही चाहिए। यदि कभी मैं प्रमादवश निश्चित समयपर हाजिरी न दे पाता तो मुझपर बड़ी डाँट-फटकार पड़ती। जीवन-भर उन्होंने इस नियमको निबाहा। अचानक हृदयकी गति रुक जानेसे उनका देहांत हो गया। उस समय मैं हिन्दु-स्थानमें था। जब मुझे उनके निधनकी खबर मिली तो मैं दिल थाम-कर रह गया। उनकी अंतिम इच्छाके अनुसार उनके शवका अग्नि-संस्कार हुआ था। डरबनमें उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी और वह बड़े दयालु स्वभावके डाक्टर थे।

सोचा कि अब ऐसा सच्चा मित्र कहाँ मिलेगा? पर जब डरबन लौटा तो भगवान्ने उस अभावकी पूर्ति कर दी। एक मुसलमान डाक्टरसे मिलाप हो गया, जिनका नाम है—डाक्टर के० एम० सिदात। हाल हीमें वह विलायतसे डाक्टर बनकर और भारतमें कुछ दिन प्रेक्टिस करके नेटाल लौटे थे। उन्होंने वर्षों मेरा इलाज किया, पर कभी फीस नहीं ली; यहाँतक कि वह दवाके दाम भी अपनी जेबसे देते रहे। उन्होंने मेरी तन्दुरुस्तीका मानो ठेका ही ले लिया था। उनसे मैं कभी उऋण न हो सकूँगा। जब डाक्टर एन० पी० देसाई डरबन लौटे तो वे भी मेरी सेवामें सन्नद्ध रहे।

विवाहका विरोध

इस बार नेटालमें एक बातपर मेरा खूब विरोध हुआ। मेरी भतीजी गायत्री जालन्धरके कन्या महाविद्यालयमें शिक्षा प्राप्त करके मेरे साथ ही सन् १९२६में डरबन लौटी थी। उसके विवाहमें मैंने जात-पाँतके बन्धनको तिलांजलि दे डाली। गायत्रीके लिए मैंने मगनलाल नामक

तरुणको वरण किया। इनको मैं बचपनसे जानता था। मगनलाल शिक्षा और संस्कृति, शील और स्वभाव, बुद्धि और विवेकमें किसीसे कम नहीं था, पर यदि कोई कमी थी तो यही कि उसका जन्म नाम-धारी उच्चवर्णमें नहीं हुआ था। चमारका बेटा लायड जॉर्ज ब्रिटिश साम्राज्यका प्रधान-मंत्री, एक साधारण सरकारी सेवकका सुत अडोल्फ हिटलर जर्मनीका भाग्य-विधाता और लुहारका लड़का बेनिटो मुसोलिनी इटलीका त्राता बन सकता है, पर हिन्दुओंकी परिपाटी निराली है, यहाँ नीचे गिरना आसान है, ऊपर उठना असंभव। इसी जात-पाँतके झंझट-से हिन्दुस्थान हमारे हाथसे चला गया और हम हजार वर्षसे विदेशी मुगल और अंग्रेजोंके गुलाम बने रहे। हममेंसे दस करोड़ आदमी अलग होगए, जो आज विदेशी हमलाखोर मुहम्मद-बिन-कासिम और मुहम्मद गजनवीका गुण गाते, अपनेको उनकी औलाद मानते और हिन्दुस्थान-का कलेजा काढ़कर पाकिस्तान बनानेपर तुले हुए हैं। नानक, कबीर, रामानुज,राममोहन, दयानन्द,गान्धी प्रभृति महापुरुषोंने इस भेद-भाव-को मिटानेमें अपनी सारी शक्ति लगा दी,पर हिन्दुओंकी आँखें नहीं खुलीं।

दक्षिण अफ्रिकामें केवल डेढ़ लाख हिन्दुओंकी आबादी है। वहाँ जात-पाँतका पचड़ा मिट चुका है। कुछ लोग इस प्रथाको फिर चलाना चाहते हैं। यदि उनका प्रयत्न सफल हुआ तो नतीजा क्या होगा ? न अच्छे वरके लिए अच्छी कन्या मिल सकेगी और न अच्छी कन्याके लिए अच्छा वर मिलेगा। लोगोंको अपने-अपने बाड़ेमें चक्कर काटना पड़ेगा। फिर तो ऐसा गोरख-धन्धा मचेगा कि जिसकी कल्पनासे काया काँप उठती है। मेरी तो अटल धारणा है कि भारतकी दासता, दुर्दशा और गिरावटका मूल कारण है जात-पाँतका भेद। अतएव मैं इसका सदासे वैरी रहा हूँ। केवल जबानी जमा-खर्चसे संतोष कर लेना मेरे स्वभावसे बाहरकी बात है। उन उपदेशकोंकी स्थितिपर मुझे दया आती है, जो दूसरोंको उपदेश देनेमें कभी संकोच नहीं करते, पर जब अपने उपदेशको कार्यान्वित करनेका प्रसंग आ जाता है तो बगलें झाँकने

जानते हैं। मेरा विचार है कि सखावत और सुधार घरसे ही शुरू होता है (Charity and reform begins at home).

जब मेरे बच्चे रामदत्त और कृष्णदत्त गुरुकुल वृन्दावनमें कुछ लिख-पढ़कर नेटाल लौटे तो मैंने अपने ही ढंगसे उनके विवाहकी व्यवस्था की। रामदत्त के विवाहमें केवल पाँच व्यक्तियोंकी बारात गई थी और कृष्णदत्तका विवाह मैंने अपने घरपर ही किया था, जिसमें केवल कुँवर सर महाराजसिंह, श्री सोराबजी रुस्तमजी, श्री अब्दुल्ला-इस्माइल काजी और डाक्टर सिद्धातके सिवा परिवारके ही प्राणी शरीक हुए थे। उनके विवाह भी जाति-भेदको मिटाकर हुए थे। रामदत्तकी पत्नी प्रकाशवती और कृष्णदत्तकी पत्नी पद्मावती सगी बहन हैं। रामदत्तके चार पुत्र हैं—नरेन्द्रकुमार, महेन्द्रकुमार, रवीन्द्रकुमार और वीरेन्द्रकुमार। कृष्णदत्तके भी चार पुत्र—राजेन्द्रकुमार, सुरेन्द्रकुमार, यतीन्द्रकुमार और रणेन्द्रकुमार—तथा एक पुत्री—उषाकुमारी—हैं।

मेरे छोटे बच्चे ब्रह्मदत्तका विवाह २० दिसम्बर १९४२ ई०को आदर्शनगर अजमेरमें कुमारी निर्मलादेवीके साथ सम्पन्न हुआ। ब्रह्मदत्तका विवाह इस दृष्टिसे और महत्त्वपूर्ण रहा कि कन्या (निर्मला) मराठी-भाषी है और उसके माता-पिता ईसाई होगए थे वे मूलतः नागपुरके निवासी थे और क्रिश्चियन स्कूलोंमें अध्यापन-कार्य करते थे। लड़कीके पिताकी मृत्युके बाद उसकी माताने आर्यसमाजके द्वारा वैदिक धर्ममें दीक्षा ली और वह भी अपनी कन्याओं और एक पुत्रके साथ। ब्रह्मदत्तके विवाहके लिए मेरे पास एक-से-एक कुलीन वंशकी सुन्दरी कन्याओंके साथ सम्बन्ध पक्का करनेका प्रयत्न हो रहा था, फिर भी मैंने जात-पाँतके बन्धनको मटियामेट करनेका आदर्श सामने रखते हुए ईसाईसे शुद्ध की हुई निर्मल कन्या निर्मलाको सबसे अधिक पसन्द किया। यह लड़की नागपुरके एक कालेजमें पढ़ती थी और मराठी, हिन्दी और अंग्रेजी तीनों ही भाषाओंमें पारंगत थी। विवाह प्रवासी-भवनमें वैदिक विधिसे सम्पन्न हुआ और उसमें अजमेर नगरके विख्यात

सज्जनों, अधिकारियों और समाज-सेवकोंने भाग लिया तथा देश-विदेशोंसे कितनी ही शुभाकांक्षाएँ आईं।

गायत्रीके विवाहमें कुछ लोगोंने विरोध-भावनाके प्रदर्शनमें कोई बात उठा नहीं रखी। विस्मयकी बात तो यह थी कि इस आंदोलनके अग्रनेता वे नामधारी आर्यसमाजी थे, जो सभा-मंचसे जाति-भेदके विरुद्ध गला फाड़कर चिल्लाते हैं तो कानके पर्दे फटने लगते हैं। नेटाल-में जाति-बंधनकी बेड़ी उसी समय चूर-चूर हो गई थी, जब पहले-पहल हिन्दू लोग वहाँ गिरमिटमें भर्ती होकर पहुँचे थे। उसी समय ब्राह्मण-की गृहिणी बनी चमारिन और चमारकी पत्नी महाराजिन। उन्हींके वंशज आज अपने नामके साथ महाराज और सिंहका पुछल्ला जोड़कर उच्च वर्ण होनेकी शेखी बघारते हैं।

मैंने किसीके विरोधकी रत्ती-भर भी पर्वाह न की और गायत्री-का विवाह मगनलालसे कर दिया। विवाहका जलसा डरबनके मेयरकी अध्यक्षतामें सिटी-हॉलमें हुआ, जो यहाँके प्रवासी भारतीयोंके इति-हासमें अपने ढङ्गका पहला ही प्रसंग था, क्योंकि उससे पूर्व किसी भार-तीयके विवाहका उत्सव न सिटी-हॉलमें हुआ था और न मेयरकी अध्यक्षतामें ही। सिनेटर सिडनीस्मिथ, प्रांतिक कौन्सिलके मेम्बर श्री अलेक वानलेस, नेटाल इंडियन कांग्रेसके संरक्षक सेठ ई. एम. पारख, हिन्दू महासभाके सभापति श्री बी. एम. पटेल, आर्य-प्रतिनिधि सभाके मंत्री श्री सत्यदेव आदि सज्जनोंने वर-वधूको बधाइयाँ दीं। इस जलसे-में हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि सम्प्रदायके भारतीयोंके सिवा यूरोपियन नर-नारियोंका भी भारी जमाव हुआ था। सिटी-हॉलकी सुन्दर सजावट और अव्वल दर्जेके वादित्रकी बदौलत उत्सव-की शोभा बहुत बढ़ गई थी।

जिन्होंने विरोधकी आवाज उठाई थी, उनको विवाहकी सफलतापर आखिर लज्जित होना पड़ा। सिद्धान्तने संकीर्णतापर विजय पाई और सचाईने दंभ और प्रवंचनापर प्रवासी-युवकोंका हृदय

चिल्ला उठा — सामाजिक क्रान्ति हो, क्रान्तिकी विजय हो और क्रान्ति अमर हो।

किस कामकी नदी वह, जिसमें नहीं रवानी।
जब जोश हो नहीं तो, किस कामकी जवानी ॥

मैं दक्षिण अफ्रिकामें बराबर वैदिक धर्मका प्रचार करता रहा। आर्यसामाजिक संस्थाओंसे विरक्त हो जानेपर भी वैदिक धर्म और आर्य-संस्कृतिका प्रचार मेरे जीवनका ध्येय बना रहा। नेटाल तो मेरा कर्म-क्षेत्र रहा है किन्तु ट्रांसवाल और केप प्रदेशमें भी मैं प्रचार-कार्य करता रहा हूँ। केप प्रान्तके मुख्य नगर केपटाउन, पोर्ट अलिजाबेथ, यूटेनहेग, ईस्ट लंडन आदि नगरोंके प्रवासी भारतीयोंकी सेवाका मैं सौभाग्य प्राप्त कर चुका हूँ। दक्षिण अफ्रिकाके संघमें केप प्रदेश ही एक ऐसा भाग है जहाँ रंग-द्वेषका नग्न रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। वहाँके प्रवासी भारतीयोंको पार्लमेंट, प्रांतिक कौन्सिल और म्युनिसिपल कौन्सिलके चुनावमें वोट देनेका अधिकार है। केपटाउन और पोर्ट अलिजाबेथकी म्युनिसिपल कौन्सिलमें भारतीय सदस्य भी हैं। यूटेनहेगमें यद्यपि मुट्ठी-भर हिन्दुओंकी बस्ती है तो भी मेरी प्रेरणासे उन्होंने लगभग एक हजार पौण्ड खर्च करके एक सभा-भवन बनवाया, जो हिन्दू मंडलके नामसे प्रसिद्ध है। केप प्रदेशमें मुझे ऐसे अनेक व्यक्ति मिले जिनके दिलमें कौमके लिए दर्द है और जिनसे मुझे अपने सार्वजनिक कार्योंमें सहायता मिली है। केपटाउनके श्री बी० डी० चावड़ा और श्री सी० सी० पाळसानिया, पोर्ट अलिजाबेथके श्री दुल्लभ फकीर, श्री मकन भाणा, श्री जीवनजी गोविन्दजी, श्रीभगत ब्रदर्स, श्रीरणछोड़ वर्मा और श्रीनरोत्तम बांम्दा तथा ईस्ट लण्डनके श्री लल्लू हरी आदि जातीय जीवनकी ज्योति जगाये रखनेमें कटिबद्ध रहते हैं।

सेठ गोविन्ददासका भ्रमण

सन् १९३७के अंतमें भारतकी केन्द्रीय धारा-सभाके सदस्य, मध्यप्रान्तके नेता और जबलपुरके रईस सेठ गोविन्ददासजी पूर्वीय और

दक्षिणीय अफ्रिकाका पर्यटन करते हुए डरबन पधारे। उन्होंने जेकब्समें मेरा मेहमान बनकर उस स्नेह-सम्बन्धको और भी दृढ़ कर दिया जो राष्ट्रीय और साहित्यिक प्रवृत्तियोंके कारण पहलेसे ही परस्पर स्थापित हो चुका था। उनसे मेरी पहली मुलाकात सन् १९२०में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके अवसरपर पटनामें हुई थी। पूर्व और दक्षिण अफ्रिकामें उनका अच्छा आगत-स्वागत हुआ। सेठजी ने वहाँ के प्रवासी भारतीयोंकी स्थितिपर अंग्रेजीमें एक बड़ी और बढ़िया रिपोर्ट लिखकर छपाई थी और वह हरिपुरा कांग्रेसमें राष्ट्रपति नेताजी श्री सुभाषचन्द्र बोसको भेंट की थी। हिन्दीमें 'हमारा प्रधान उपनिवेश' नामक पुस्तकमें आपने अपनी अफ्रिका-यात्राका बड़ा मनोरंजक विवरण दिया है।

सेठ गोविन्ददासजी हिन्दी-साहित्यके उद्भट विद्वान् हैं। उनकी भाषा मँजी हुई और शैली बड़ी सुन्दर है। उनके नाटकोंसे हिन्दीकी गौरव-वृद्धि हुई है। देशकी पुकारपर उन्होंने अपना सर्वस्व निछावर कर दिया। महलकी मुलायम गद्दी छोड़कर उन्होंने जेलकी यातनाएँ भोगना पसन्द किया। उनका एक सुन्दर जीवन-चरित्र प्रकाशित हो चुका है, जो उनकी पुत्री श्रीमती रत्नकुमारी देवीकी कृति है। इस ग्रंथमें उनकी राष्ट्रीय एवं साहित्यिक प्रवृत्तियोंका चित्ताकर्षक इतिहास है।

: ४० :

पोर्तुगीज पूर्व अफ्रिकामें हिन्दुस्थानी

दक्षिण अफ्रिकाके संघकी सरहदपर पोर्तुगीज पूर्व अफ्रिका है। वहाँके प्रवासी हिन्दुओंकी गाथा ऐसी रोचक है जिसपर एक पोथी रची जा चुकी है।* मैं यहाँ बहुत संक्षेपमें वहाँकी कहानी कहना उचित समझता हूँ। ऐसे तो मैं कई बार उस प्रदेशकी राजधानी लोरेन्सो मार्क्विससे गुजर चुका हूँ और उस शहरकी सैर कर चुका हूँ, क्योंकि डरबनसे भारतके लिए प्रस्थान करनेपर केवल चौबीस घण्टेकी समुद्र-यात्राके बाद पहला बंदरगाह लोरेन्सो मार्क्विस ही मिलता है। पर सन् १९२३में मैं वहाँ जन-सेवाके लिए आमन्त्रित होकर गया, इसलिए वहाँके अतीत इतिहास एवं आधुनिक अवस्थाका अध्ययन करना मेरे लिए अनिवार्यतः आवश्यक हो गया।

प्रवासी हिन्दुओंकी वर्ण-संकरी सन्तान

लगभग एक सदी हुई, जब हिन्दुओंने पोर्तुगीज पूर्व अफ्रिकामें बसना आरंभ किया। उन्होंने न केवल शहरों और कस्बोंमें ही, बल्कि ऐसे बीहड़ वनोंमें भी पहुँचकर व्यापारका जाल बिछाया, जहाँ गोराओं-का प्रवेश दुस्तर ही नहीं, असंभव भी था। नेटालकी भाँति गिरमिटकी

---

*'पोर्तुगीज पूर्व अफ्रिकामें हिन्दुस्थानी' (सचित्र), लेखक:— बह्मरत्न भवानीदयाल, भूमिका-लेखक:—सेठ गोविन्ददासजी। प्रकाशक:— प्रवासी-भवन, आदर्श-नगर, अजमेर।

गुलामीमें भारतीय यहाँ नहीं आये, जो आये वे स्वतंत्र रूपसे रोजगार करनेके विचारसे। धनार्जन ही उनके प्रवासका मुख्य उद्देश्य था, इसलिए वे अपने स्त्री-बच्चोंको साथ नहीं लाये। परिणाम वही हुआ, जो ऐसी स्थितिमें अवश्यम्भावी है। मनुष्य आखिर मनुष्य ही है—सभी प्राकृतिक वासनाओंसे विरक्त महात्मा नहीं हो सकते। अनेक हिन्दुओंने हब्शी औरतोंसे नाजायज सम्बन्ध जोड़ लिया। इससे एक वर्ण-संकरी प्रजाकी सृष्टि हुई। हिन्दुओंने वासनाका शिकार बनकर बच्चे तो जन्माये, पर उनको अपने समाजमें मिलाने और पचानेकी शक्ति कहाँसे लावें? वे बड़े असमंजस एवं धर्म-संकटमें पड़े। आखिर उनको एक उपाय सूझा कि ऐसे बच्चे हिन्दू-समाजमें स्थान तो पा नहीं सकते, अतएव उनको ईसाई या मुसलमानोंको सौंप देना चाहिए। बस, यह प्रथा प्रचलित होगई। वर्ण-संकर बच्चा पैदा होते ही उसका इस्लामी नाम धरा जाने लगा। बापने बच्चोंको त्याग दिया, पर बच्चोंने बापका पिण्ड नहीं छोड़ा। उन्होंने अपने इस्लामी नामके साथ बापका हिन्दू नाम भी जोड़ लिया। इस्माइल पन्नाचंद, कासिम हेमचंद, दाऊद हरीभाई, हुसेन दुर्लभभाई, जाफर जीवनजी, गफूर रणछोड़दास आदि अपने हिन्दू पिताकी कामुकता, हृदय-हीनता और अदूरदर्शिताका खुले आम डङ्का बजा रहे हैं।

हिन्दू इस तरह हजारों बच्चे मसजिद या गिरजेमें पहुँचा आए। वहाँ उन्हें शरण और शिक्षा मिली और मिला मनुष्यताका अधिकार। वे 'मूलाद' या 'भुजवट'के नामसे पुकारे जाने लगे। उनकी संख्या बढ़ती ही गई। इस समय करीब दस हजार वर्ण-संकर ऐसे मिलेंगे जो हिन्दुओंकी औलाद हैं। ये घटोत्कच हिन्दुओंको क्रोध और घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं।

भारत-समाजकी स्थापना

पोर्तुगीज पूर्व अफ्रिकाकी राजधानी लोरेन्सो मार्क्विस कुछ साल पूर्व

का अड्डा। आज विज्ञानके प्रतापसे इस नगरका नकशा ही बदल गया है। क्या सुन्दरता और क्या सजावट—सभी दृष्टिसे इसकी कल्पनातीत उन्नति हो रही है।

इस नगरमें गुजरात और काठियावाड़के लगभग एक हजार हिन्दू बसते हैं, किन्तु उनकी कोई प्रगतिशील संस्था नहीं थी। उनको एक ऐसी संस्थाकी जरूरत जान पड़ी, जो गिरे हुओंको उठावे और उठे हुओंको आगे बढ़ावे, जिसका दरवाजा सबके लिए खुला हो—चाहे वह अमीर हो अथवा गरीब, चाहे सवर्ण हो अथवा हरिजन, चाहे व्यापारी हो या श्रमजीवी। इसी भावनाकी प्रेरणासे सन् १९३२में वहाँ 'भारत-समाज'की स्थापना हुई। यह एक क्रान्तिकारी समाज बना, आर्यसमाज-के सिद्धान्त और नियमोंपर चलना ही इसका लक्ष्य स्थिर हुआ। शुरूमें ही इसके दो सौ सदस्य बन गए और सरकारी कानूनके अनुसार इसकी रजिस्ट्री भी होगई।

इसके प्रथम वार्षिकोत्सवपर आमंत्रित होकर मैं वहाँ पहुँचा। मैंने देखा, क्षेत्र उर्वर है, कार्यकर्ता भी क्रियाशील हैं—आवश्यकता है केवल मार्ग-प्रदर्शनकी। मैंने फौरन वर्ण-संकरोंकी शुद्धिका सिलसिला शुरू कर दिया, इससे लोगोंमें उत्साहकी बाढ़ आ गई। लोगोंने अपनी संतानको दूसरेको सौंपनेके बदले उनको स्वयं सँभाल लेना अपना मनुष्योचित कर्तव्य समझा। शनै-शनैः अब वहाँ वर्ण-संकरोंकी शुद्धिकी कोई समस्या ही नहीं रही। भारत-समाज सभीको अपनी गोदमें बैठानेको प्रस्तुत है।

वेद-मंदिर

वहाँकी जनताके अनुरोधसे मैंने हर साल एक मास पोर्तुगीज पूर्व अफ्रिकामें प्रचार करनेका वचन दे दिया और इस वचनको, जबतक दक्षिण अफ्रिकामें रहा, निभाया। इस मध्यमें लोरेन्सो मार्क्विस शहर-में भारत-समाजकी तरफसे जमीन खरीदी गई, इमारतके लिए धन इकट्ठा किया गया और सन् १९३७ में दीवालीके दिन मैंने वेद-मंदिरकी

नींव भी डाल दी। श्रीरामजी रघुनाथने मंदिर-निर्माणका भार स्वीकार किया और नौ मासमें बनाकर तैयार भी कर दिया। अतएव सन् १९३८-की जुलाईमें मेरी ही अध्यक्षतामें वेद-मंदिरका उद्घाटन पोर्तुगीज पूर्व अफ्रिकाके तत्कालीन गवर्नर-जनरल डाक्टर न्यून्स-डि-ओलिविराके हाथों बड़ी धूम-धामसे हुआ। ब्रिटिश राजदूत श्री एस० ई० के और दक्षिण अफ्रिकाके राजदूत लेफ्टिनेंट कर्नल एफ० एफ० पिनार तथा पोर्तुगीज सरकारके मंत्रि-मंडलके सदस्योंने प्रवासी भारतीयोंकी इस प्रवृत्तिकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और उनको बधाई दी। वहाँके प्रवासी भारतीयोंके इतिहासमें यह एक अभूतपूर्व घटना थी।

वेद-मंदिरके निर्माणमें लगभग पचास हजार रुपया लगा था। रुपये जुटानेमें मुझे काफी मेहनत और दिक्कत उठानी पड़ी थी। वेद-मंदिरमें कई छोटे-बड़े कमरे हैं और बीचमें एक विशाल और भव्य हॉल है। इस हॉलमें पाठशाला भी चलती है और सभा भी होती है। इस ज्ञान-मंदिरमें न सम्प्रदाय-भेद है, न वर्ण-भेद है और न वर्ग-भेद। पाठशालामें मुसलमान और वर्ण-संकर बच्चे भी पढ़ते हैं और सबके साथ एक-सा व्यवहार होता है। मंदिरमें एक पुस्तकालय भी है, जिसमें हिन्दी, गुजराती और अंग्रेजी ग्रंथोंका अच्छा संग्रह है। देशसे अनेक साप्ताहिक और मासिक पत्र भी पुस्तकालयमें आते हैं। भारत-समाजके अन्तर्गत एक व्यायामशाला भी है और एक स्वयंसेवक-दल भी। वास्तवमें यह संस्था मेरे जीवनके एक स्वप्न और संकल्पकी पूर्ति है।

पोर्तुगीज पूर्व अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंमें यह भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि लोरेन्सो मार्क्विसमें जो कुछ सार्वजनिक कार्य हुआ है उसका सारा श्रेय मुझको है। यहाँ यह कहावत ठीक घट जाती है कि "लड़ें सिपाही, नाम सरदारका।" वास्तवमें काम करने वाले तो और ही हैं, यद्यपि नाम मेरा चल रहा है। सार्वजनिक सभाओं और व्यक्तिगत गोष्ठियोंमें जब मेरी स्तुति होती है तो मुझे ग्लानि हुए बिना नहीं रहती। सोचता हूँ कि संसारमें लोग काम नहीं, नाम देखते हैं।

लोरेन्सो मार्क्विसमें मुझे अनेक कर्मठ, सेवा-भावी और त्यागी कार्यकर्ता मिले। उनमें सबसे पहले जिनकी याद आती है वह हैं श्री भीखाभाई मूलाभाई। भारत-समाजका यह सौभाग्य है कि उसे भीखा-भाई जैसा निरहंकारी, निस्पृही एवं निष्ठावान प्रधान मिल गया था। उनका स्वभाव इतना सौम्य है कि अक्सर लोग उनकी सरलतासे नाजा-यज फायदा भी उठाते थे, फिर भी वह जनताका नियंत्रण करनेमें सिद्ध-हस्त हैं। वह बोलते हैं कम, सोचते हैं अधिक। सभापतित्वको सम्मान-का नहीं, उत्तरदायित्वका पद समझते हैं। भारत-समाजकी जहाँ उन्होंने सबसे अधिक सेवा की वहाँ सबसे अधिक आर्थिक सहायता भी दी। वह काम करना तो जानते ही हैं, पर दूसरोंसे काम लेना भी खूब जानते हैं। उनको कामकी फिक्र लगी रहती, नामकी कोई पर्वाह नहीं। भीखाभाई सदृश सच्चे कार्यकर्ताके कारण ही भारत-समाज प्रगति-पथपर अग्रसर हो सका।

भारत-समाजके संरक्षक श्री भगवानजी काकूभाई वहाँके सार्वजनिक जीवनकी ज्योति हैं। जहाँ वह समाजकी सेवा और सहायतामें कटिबद्ध रहते हैं वहाँ उन्होंने एक और ऐसा कार्य किया है जिसपर प्रवासी भाई गर्व कर सकते हैं। लोरेन्सो मार्क्विसके अस्पतालोंमें भारतीयोंके लिए कोई विशेष व्यवस्था न थी—वे लावारिस मालकी तरह इधर-उधर मारे-मारे फिरते थे। यह अभाव सभीको अखरता था, पर इसकी पूर्तिके लिए कोई आगे न आता था। आखिर भगवानजी भाईने अपने खर्चसे 'स्विस-मिशन-अस्पताल'में 'भारतीय-विभाग' बनवाया। इसके निर्माण और सजावटमें एक हजार पौण्ड व्यय हुआ है। कई सुन्दर कमरे हैं; जिनमें रोगियोंके आरामके लिए आवश्यक सामग्रियाँ संकलित हैं। गुसलखाना, भंडारघर, रसोईघर और पाखाने भी इस विभागकी विशेषता हैं। लोरेन्सो मार्क्विसकी कोई भी सार्वजनिक संस्था अथवा जन-सेवाकी प्रवृत्ति भगवानजी भाईकी सहायतासे वंचित नहीं रहने पाई है। भारत-समाजको उनसे निरंतर प्रेरणा और आर्थिक सहायता मिलती

रही है, पर जब सर्वानुमतसे उनको समाजका प्रधान बनानेका विचार किया गया तो उन्होंने यह कहकर यह पद अस्वीकार कर दिया कि किसी ऐसे उत्साही व्यक्तिको, चाहे वह रंक ही क्यों न हो, इस आसनपर बैठाना चाहिए, जो अपना समय और अपनी शक्ति समाजकी सेवामें लगा सके। एक व्यस्त व्यापारी होनेके कारण इस पदके साथ वह न्याय न कर सकेंगे। वास्तवमें वह कामके प्रेमी हैं, नामके भूखे नहीं।

वहाँके व्यापारी-वर्गमें भगवानजी भाईके सिवा श्रीपोपटलाल हरिभाई एण्ड कम्पनीके श्रीपोपटलाल, श्री उधव भाई, श्री गोपालदास, श्री प्रभुदास,प्रभृति सभी हिस्सेदार भारत-समाजकी सेवा-सहायता करते रहे हैं। नवयुवक-कार्यकर्ताओंमें श्रीमोरारजी जीवनजी और श्रीकानजी लगाभाई भारत-समाजके अनमोल रत्न हैं। मोरारजी भाई स्वतंत्र प्रकृतिके व्यक्ति हैं, निर्भीक एवं स्पष्ट वक्ता हैं। खरी-खरी बात कहनेमें किसीकी पर्वाह नहीं करते, इसलिए कुछ लोग उनसे नाराज भी रहते हैं। उनकी वाणी जितनी तेज है, हृदय उतना ही कोमल। कानजी भाई बड़े शान्त स्वभावके व्यक्ति हैं, झगड़े-टंटेसे दूर भागते हैं।

भारत-समाजको दो पारसी कार्यकर्ता भी मिल गए हैं—श्री सावक जमशेदजी पटेल और श्रीकावसजी आदरजी सरकारी। श्री भीखाभाईके स्वदेश आजानेपर सावकजी ही भारत-समाजके प्रधान चुने गए थे। उनकी लोग बड़ी इज्जत करते हैं और 'काका' कहकर पुकारते हैं। विनम्रता और विनयशीलताकी तो वह सजीव प्रतिमा हैं। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती नवाजबाई भी एक पढ़ी-लिखी एवं मिलनसार महिला हैं और समाजके काममें काफी दिलचस्पी लेती हैं। श्रीकावसजी शुरूसे ही वेद-मन्दिरके सभापति रहे। वह सजीवता और व्यंग-विनोदकी प्रतिमूर्ति हैं। हँसी-दिल्लगी उनके मिजाजकी सबसे बड़ी खूबी है। वह ऐसी चुटकी लेते हैं कि तबियत फड़क उठती है, मुरझाया मन खिल उठता है। वेद-मंदिरके वह एक गौरव-स्तम्भ हैं।

श्रीमूलजी बेचरभाई, श्री नारणभाई खुशाल, श्री कालीदास जेराम-

भाई, श्रीलल्लूभाई मूलाभाई, श्रीडाह्याभाई जीवनजी, श्रीदलपतभाई-कालीदास, श्री मगनभाई नरोत्तम, श्रीभाणाभाई भवन, श्रीभीखाभाई लल्लूभाई, श्रीमगनभाई खुशाल, श्रीसोमाभाईबावजी, श्रीदुल्लभभाई रामा, श्रीछगनलाल कालीदास, श्रीलालभाई मकनजी प्रभृति कार्यकर्ताओंने अपने स्नेह और सेवा-वारिसे सींचकर भारत-समाजको एक हरा-भरा वट-वृक्ष बना दिया है, जिसकी छायामें आज वहाँके प्रवासी भाइयोंको आश्रय मिल रहा है।

श्रीवनमाली जयराम पटेल और श्रीकेशवलाल मोरारजीकी सेवाओं-का आदर पूर्वक उल्लेख किये विना यह अध्याय अधूरा ही रहेगा। आर्थिक दृष्टिसे यह दोनों कार्यकर्ता गरीब थे, सार्वजनिक सेवाके विचार-से अनमोल रत्न। वनमालीभाई मुंशीगीरी करते थे और केशवलाल अध्यापकी। एक समाजके मंत्री थे और दूसरे सहायक मंत्री। जिनके लिए पैसा ही भगवान् है, वे इनकी सेवाओंका मूल्यांकन नहीं कर सकते। इन्होंने समाजके लिए अपना तन-मन अर्पण कर दिया था। जहाँ वनमाली-भाई रूखा-सूखा खाकर समाजकी सेवामें सन्नद्ध रहते थे--समाज ही उनका इष्टदेव बन गया था और उसीकी पूजा-अर्चा उनका एक-मात्र धर्म; वहाँ केशवलाल भी समाजके लिए अलमस्त फकीर बने फिरते थे। प्रतिज्ञात धन वसूल करनेका कठिन काम केशवभाईको सौंपा गया था। एक बार एक व्यक्तिके यहाँ चंदेके लिए उन्होंने बारह बार फेरी लगाई थी। इस काममें असीम धैर्यकी जरूरत पड़ती है, पर केशवभाईमें यह गुण पूर्णरूपसे विद्यमान था। शोक कि वनमालीभाई अब इस लोकमें नहीं रहे, पर वेद-मंदिर उनकी सेवाओंका स्मरण दिलाता रहेगा। केशवलाल आज भी समाजकी सेवामें कटिबद्ध हैं।

यहाँ मैं भारत-समाजके सभी कार्यकर्ताओंका परिचय नहीं दे सका। इसका यह मतलब नहीं कि मैं उनकी सेवाओंका मूल्य कम आँकता हूँ। वहाँके कर्मठ कार्यकर्ताओंके लिए मेरे हृदयमें बड़ा सम्मान है और उनको मैं वहाँके सार्वजनिक जीवनका प्राण समझता हूँ। मैं तो लाज-

भरमें एक बार जाता रहा हूँ और सलाहकारकी हैसियतसे उनकी मदद करता रहा हूँ, पर असली काम तो उन्हींको करना पड़ता था। इसलिए श्रेय तो उन्हींको मिलना चाहिए, जिन्होंने समाजकी सेवामें अपना शरीर गलाया, लोगोंको समझा-बुझाकर राहपर लानेमें अपना मगज खपाया और मंदिरके निर्माणमें अपना संचित धन लगाया है।

यह तो सभीको स्वीकार करना पड़ेगा कि पोर्तुगीज पूर्व अफ्रिकामें भारत-समाज ही एक ऐसी संस्था है, जो नवीन युगकी संदेश-वाहिका है, प्रवासी भारतीयोंके जातीय-जीवनकी ज्योति है और है उनके उज्ज्वल भविष्यका आशा-स्तंभ। मुझे वह दिन कभी भूल न सकेगा, जब मैं वहाँके प्रवासी भाइयोंसे विदा ले रहा था। कैसा करुणाजनक था वह दृश्य! वृद्ध, तरुण और बालक सबकी आँखोंमें आँसू थे, सबके हृदयमें विछोहकी वेदना और सबके चेहरेपर विषादकी छाया थी। ऐसे सच्चे मित्रों और सहकर्मियोंसे सदाके लिए बिछुड़ते समय मेरे दिलमें जो दुःख व्याप रहा था, वह लिखकर बताने की नहीं, अनुभवकी ही वस्तु है।

: ४१ :

कांग्रेसका सभापतित्व

यद्यपि मैं राजनीतिक आन्दोलनके झंझटोंसे अलग होकर अपने जीवनके शेष दिन साहित्य-सेवामें बिताना चाहता था क्योंकि इस कार्यमें मेरा सदासे अनुराग रहा है। यद्यपि मनुष्य अपने मानस-पटलपर भिन्न-भिन्न भावों और विचारोंके रंगसे मनोरथ-चित्र खींचा करता है, तो भी विधिके विधानसे क्षण-मात्रमें वह विलुप्त हो जाता है।

"फलकके सामने क्या मजहबी बहाना चले।
चलेंगे हम भी उसी रुख जिधर जमाना चले॥"

जमानेने मुझे राजनीतिमें घसीटा, मनोकामना मिट्टीमें मिल गई। सैयद रजाअली अपना कार्य-काल समाप्त कर स्वदेशको प्रस्थान कर चुके थे, इसलिए उनकी शादीके कारण कांग्रेस-कर्मियोंमें जो परस्पर मतभेद और मनो-मालिन्य हो गया था वह मिट गया। भोरके भूले साँझको घर आ गए—बिछुड़े भाई फिर कांग्रेसमें आ मिले।

कांग्रेसका नवीन निर्वाचन

पाँच सालके बाद सन् १९३८की पहली मईको डरबनके 'रायल पिक्चर पैलेस'में नेटाल इंडियन कांग्रेसका वार्षिक अधिवेशन हुआ, जिसमें एक हजारसे अधिक सदस्य शरीक हुए थे। इससे पहले कांग्रेसके किसी भी वार्षिक या महाधिवेशनमें न तो सदस्योंकी इतनी बड़ी उपस्थिति हुई थी, न जोशकी ऐसी जबर्दस्त प्रदर्शिनी और न पदाधिकारके लिए ऐसी प्रचंड प्रतिस्पर्द्धा। कार्य-कारिणी-समितिके पैंतालीस सदस्य चुननेमें पाँच घण्टे लग गए। एक ऐसे प्रधानकी जरूरत महसूस

की गई, जो सभी सम्प्रदाय, वर्ग एवं दलका विश्वास-पात्र हो; क्योंकि सैयद साहबकी शादीके बहाने कुछ चलते-पुर्जे आदमियोंने साम्प्रदायिक वैमनस्य फैलाकर स्वार्थ-सिद्धिमें कोताही नहीं की थी। मुस्लिम मित्रोंने इस पदके लिए मुझे उपयुक्त समझा, पर मैं अपने रुग्ण-शरीर और भग्न स्वास्थ्यके कारण इस गुरुतर भारको वहन करनेको प्रस्तुत न था। इस जिम्मेदारीसे बचनेके लिए मैंने बहुत चिरौरी-विनती की, पर पिण्ड न छुड़ा पाया—गोड़में बेड़ी पड़ गई। जनताके निर्णयके सामने नत-मस्तक होना ही पड़ा।

कांग्रेसके पिछले पैंतालीस सालके इतिहासमें पहले-पहल एक हिन्दूको उसका प्रधान चुना गया और वह भी मुसलमान भाइयोंके प्रस्तावसे। इससे पूर्व कोई भी हिन्दू इस आसनका अधिकारी नहीं समझा गया था। यहाँतक कि महात्मा गांधी भी, कांग्रेसके संस्थापक होते हुए भी, उसके मंत्री ही रहे। प्रधान पद तो एक खास सम्प्रदायके महाभागोंके लिए ही सुरक्षित था, उसपर किसी हिन्दूको बैठानेका कभी विचार नहीं किया गया। इस आसनपर अभिषिक्त होना मेरे लिए कोई व्यक्तिगत सम्मानकी नहीं, बल्कि समग्र हिन्दुओंके लिए अभिमानकी बात थी।

इस बार कांग्रेसके मन्त्री चुने गए—श्री अब्दुल्ला इस्माइल काजी और बैरिस्टर जे० डबल्यु० गोडफ्रे। उस समय काजीसे बढ़कर प्रवासी भारतीयोंके प्रश्नका विशेषज्ञ दक्षिण अफ्रिकामें दूसरा कोई न था। डरबनकी डिपटी-मेयर श्रीमती बेन्सनने एक बार भरी सभामें स्वीकार किया था कि काजी साहब प्रवासी भारतीयोंकी समस्याओंके सजीव विश्वकोष हैं। एक प्रसिद्ध अंग्रेजी अखबारने यहाँ तक कह डाला था कि काजी यदि श्यामाङ्ग भारतीयके बदले गौराङ्ग यूरोपियन होते तो यूनियन-सरकारके मंत्रि-मंडलका सदस्य हो जाना उनके लिए कोई बड़ी बात न थी। सैयद रजाअलीने फर्माया था कि हिन्दुस्थानके किसी भी प्रांतके वह प्रधानमंत्री तक होनेकी योग्यता रखते हैं। अब्दुल्ला काजीने

गुंजरातमें जन्म लिया था—सूरत जिलेके 'कठोर' नामक एक गाँवमें। एक साधारण सेवककी हैसियतसे वह नेटाल इंडियन कांग्रेसमें शरीक हुए, पर पन्द्रह सालके अंदर अपनी नीतिज्ञता, दूरदर्शिता एवं कार्य-क्षमताके प्रतापसे दक्षिण अफ्रिकाके राजनीतिक क्षेत्रमें सबसे आगे बढ़ गए। यहाँ उनके व्यक्तित्व और कार्य-कलापका परिचय देना संभव नहीं है, इस विषयपर मैंने अंग्रेजी में 'अब्दुल्ला इस्माइल काजी'नामक एक पुस्तक ही लिख डाली है।*

बैरिस्टर गोडफ्रे एक भारतीय ईसाई हैं और डरबनके एक प्रसिद्ध वकील हैं। बिहारके हजारीबाग जिलेसे इनके पूर्वज वहाँ गये थे। मद्रास-में उनका विवाह हुआ और वह प्रसिद्ध कांग्रेस-कर्मी श्री जे० सी० कुमा-रप्पाके नातेदार हैं।

ऐसे सुयोग्य, अनुभवी और कार्य-दक्ष मंत्रियोंके सहयोगसे मैंने नेटाल इंडियन कांग्रेसका प्रधान-पद सँभाला। उन्हीं दिनों भारतसे नये एजेण्ट-जनरल सर रामराव वहाँ पहुँचे और कुछ दिन बाद उनकी धर्म-पत्नी भी आ पहुँची। डरबनके सिटी-हॉलमें बड़ी धूम-धामसे उनका आगत-स्वागत हुआ। कई वर्षके बाद कांग्रेसकी ओरसे यह सार्वजनिक जलसा हुआ था, जिसमें हजारों नर-नारियोंने शरीक होकर यह सिद्ध कर दिया कि कांग्रेस ही प्रवासी भारतीयोंका सर्वोपरि राजनीतिक संघ है। पर इस प्रकारके बाह्य प्रदर्शनसे मुझे संतोष कहाँ? मैंने तो रचनात्मक कार्योंको ही अपना लक्ष्य बना रखा था।

गरीबोंकी सेवा

डरबनमें कांग्रेसका दफ्तर खुल गया। गरीब दुखियोंकी सेवा और सहायताके लिए दो क्लर्क रखे गए। काजी साहबने सार्वजनिक रूपसे यह घोषणा कर दी थी कि भविष्यमें कौमके गरीब वर्गके कामकी तरफ कांग्रेस अधिक ध्यान देगी। यद्यपि कांग्रेस सभी वर्गके भारतीयोंकी

* ABDULLA ISMAIL KAJEE: By Bhawani Dayal Sannyasi Published at Pravasi-Bhawan, adarshnagar, AJMER. India.

स्वत्व रक्षामें बद्ध-परिकर रही है, पर इधर क्रिस्टफर-मणीलाल-पार्टीने जनतामें यह भ्रान्ति फैला रखी थी कि कांग्रेस व्यापारी-वर्गके हाथोंकी कठपुतली है, गरीबोंसे उसका कोई वास्ता और नाता नहीं है। इस आक्षेपका हमने क्रियात्मक उत्तर देना उचित समझा।

दक्षिण अफ्रिकामें गोरे और उनकी वर्ण-संकरी औलादको बुढ़ापेमें पेन्शन(Old Age Pension) मिलती है, पर भारतीयों और अफ्रिकनोंको नहीं। कांग्रेस वर्षोंसे यह कोशिश कर रही थी कि कम-से-कम अपङ्ग और लावारिस वृद्ध भारतीयोंको सरकारकी तरफ़से कुछ-न-कुछ आर्थिक सहायता मिलनी ही चाहिए और हर साल अर्थ-मंत्री श्रीहेवङ्गाका दरवाजा खटखटाती और इस बातकी ओर उनका ध्यान दिलाती थी। असलमें दक्षिण अफ्रिका गौराङ्गोंकी बपौती है, उन्हींको शासन करने और सुख भोगनेका अधिकार है। हिन्दुस्थानियोंके लिए कोई सुख-सुभीता नहीं, उनको न सरकारी नौकरी मिल सकती है और न वृद्धावस्थामें सरकारी सहायता ही। वे निरे गुलाम समझे जाते हैं और उनको आदमियतके अख्तियारसे भी वंचित रखा जाता है। स्वदेशसे दूर दक्षिण अफ्रिकामें प्रवासी भारतीय असहाय अवस्थामें पड़े हुए हैं, दुःखसे दिन काटते हैं, गौराङ्गोंके जोर-जुल्म सहते हैं, पर उफ तक नहीं कर पाते, खूनके घूँट पीकर रह जाते हैं। जिस तरह नारंगीका रस चूसकर उसका छिलका फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार प्रवासी भारतीयोंके यौवनका रक्त पीकर गौराङ्ग उनको वृद्धावस्थामें अपने भाग्य-पर छोड़ देते हैं।

खैर, लगातार उद्योग करनेपर कांग्रेसकी मुराद आंशिक रूपमें पूरी हो पाई। कानून तो नहीं बदला, पर सरकारकी नीति कुछ अवश्य बदली। पैंसठ सालसे अधिक आयुके निराश्रित पुरुष, साठ सालसे अधिककी अनाश्रित स्त्री और असहाय अपङ्ग भारतीयोंको दस शिलिङ्ग मासिक सहायता देनेके लिए सरकार राजी होगई। कांग्रेसके दफ्तरसे ऐसे अनाश्रित आदमियोंकी सहायताके लिए जो अर्जियाँ भेजी जाती थीं

उनको सरकार स्वीकार कर लेती थी और इस प्रकार लगभग एक हज़ार व्यक्तियोंके पेन्शन पानेकी व्यवस्था होगई।

गरीबोंकी सेवा करके कांग्रेस ऐसी लोकप्रिय होगई कि उसकी घर-घर चर्चा होने लगी। सवेरेसे शाम तक कांग्रेसके दफ्तरमें गरीबोंकी भीड़ लगी रहती। विधवा स्त्रियों और अनाथ बच्चोंकी सहायताके लिए भी कांग्रेसने सरकारसे पैरवी की। इस श्रेणीके व्यक्तियोंको जब तक सरकारी सहायताकी व्यवस्था न हो जाती थी तब तक उनको कांग्रेसकी तरफ़से रसद दी जाने लगी। सदावर्त बाँटनेके लिए कांग्रेसने एक डिपो खोल दिया था। इस डिपोमें प्रति सप्ताह रसद बँटती थी। विधवा स्त्रियों और अनाथ बच्चोंके सिवा उन मजदूरोंको भी रसद दी जाती थी, जो बेकार थे और जिनको खोजनेपर भी नौकरी नहीं मिलती थी।

नेटालमें हर बालिग व्यक्तिको व्यक्तिगत टैक्स (Personal tax) भरना पड़ता है। कुँवारे और विधुर पुरुषपर एक पौण्ड सालाना टैक्स है और बाल-बच्चे वाले गृहस्थपर उसका आधा दस शिलिंग। पर गरीबी और बेकारीके कारण कांग्रेस जिसकी सिफारिश कर देती उसका टैक्स माफ हो जाता। कांग्रेसके दफ्तरसे टैक्स छुड़ानेके लिए सैकड़ों अर्जियाँ भेजी जाने लगीं। इस तरह कांग्रेसका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत होगया और साथ ही उसका प्रभाव भी जनतामें व्यापक होता गया।

कांग्रेसका संगठन

मैं कांग्रेसको नये सिरेसे संगठित करनेमें कटि-बद्ध हुआ। उस समय कई नगरोंमें कांग्रेस-कमेटियाँ थीं ही नहीं; और जहाँ थीं भी वहाँ अस्त-व्यस्त अवस्थामें नाम-मात्रको। इसलिए मैंने सदस्य बनाने, पुरानी कमेटियोंके पुनर्संगठन और नई कमेटियोंकी स्थापनाका काम शुरू किया। इस काममें सभी वर्गके भारतीयोंने मेरा हाथ बटाया। उत्तरीय नेटालमें ग्लंकोके श्री एस० भगवानदीनसे मुझे सदस्य बनाने और कांग्रेस कमेटियोंको संगठित करनेमें बड़ी सहायता मिली। वह मेरे व्यक्तिगत मंत्री (Personal Secretary) की हैसियतसे बराबर

काममें लगे रहे। उनके उद्योग और परिश्रमकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी होगी। वह अपने घर-बार और बाल-बच्चोंको छोड़कर महीनों मेरे साथ घूमने और कांग्रेसको जनताका संघ बनानेके कार्यमें कटिबद्ध रहे। कांग्रेसपर उसका स्नेह दिन-पर-दिन बढ़ता ही गया, कभी घटा नहीं। अनेक कांग्रेस-कर्मी संकटकी घड़ीमें फिसल गए, पर भगवानदीन अपने पथसे विचलित न हुए।

स्वल्पकालमें कांग्रेसके पाँच हजारसे अधिक सदस्य हो गए। यहाँके इतिहासमें यह एक अभूतपूर्व बात थी। सन् १८९४से लेकर आजतक कांग्रेस कुछ शिक्षित और मालदारोंकी संस्था बनी रही। सदस्योंकी संख्या सैकड़ों तक ही सीमित रहती, पर अब उसके सदस्योंकी तादाद पाँच सहस्रसे अधिक हो गई और वह सर्वसाधारणकी सम्पत्ति बन गई। मार्केकी बात यह हुई कि स्त्रियाँ भी कांग्रेसमें शरीक होने लगीं। हिन्दू और मुसलमान, पारसी और ईसाई, अमीर और गरीब, किसान और मजदूर, व्यापारी और जमींदार, वृद्ध और युवक, स्त्री और पुरुष—सभी धर्म, सभी वर्ग और सभी स्थितिके हिन्दुस्थानी कांग्रेसके झंडेके नीचे एकत्र हो गए।

कांग्रेसकी यश-चन्द्रिका सर्वत्र छिटक गई। जहाँ घटाटोप अँधेरा छा रहा था वहाँ प्रकाशकी झलक दिखाई पड़ी। कांग्रेसकी तरफसे लगातार प्रचारका फल यह हुआ कि प्रवासी भारतीयोंकी सोई हुई आत्मा जाग गई। वह निद्रा नहीं थी, प्राण हारी मूर्च्छा थी। उनके हृदयमें जीवन-दायिनी गति और शक्ति उत्पन्न हो आई, मन और मस्तिष्ककी क्रियाएँ ठीक हो चलीं, नसोंमें जोशका संचार हो आया। उस समय जनताकी जुबानपर यदि कोई बात थी तो वह कांग्रेस और उसके संगठनकी चर्चा।

नेटालके भारतीयोंमें अपूर्व जागृति

नेटालके भारतीयोंका इतिहास गुलामी और उससे पैदा होने वाली आफत, मुसीबत और बेइज्जतीका इतिहास है। स्वदेशकी पराधीनताके

कारण परदेशमें आदमीको अपमानका कड़ुवा प्याला पीना पड़ता है। प्रवासी भारतीयोंमें कुछकी आर्थिक अवस्था अच्छी हो गई है। पेट-भर भोजन तो सभीको मिल जाता है, किसीको भूखा रहना नहीं पड़ता। परन्तु पेट-पूर्ति ही तो मानव-जीवनका ध्येय नहीं है, पेट तो किसी तरह पशु-पक्षी भी भर लेते हैं। अपमानपूर्ण जीवनसे तो मृत्यु ही अच्छी है। इसिए अफ्रिकामें हम कुली-कबाड़ी समझे जाते हैं, हमारी न कोई इज्जत है और न प्रतिष्ठा। इस अधमावस्थाका जो लोग अनुभव करते हैं वे लज्जा और ग्लानिसे गड़ जाते हैं और सर्द आहें भरकर रह जाते हैं। पहली पीढ़ीके प्रवासी भारतीय मानवी अधिकारोंसे अनभिज्ञ होनेके कारण गौराङ्गोंके अपमानपूर्ण व्यवहारको अपने कर्मका लिखान, अभाग्यका परिणाम या भगवान्‌का विधान समझकर मौन साधे रहते हैं, आधुनिक पीढ़ीका दृष्टिकोण बदल गया है। यद्यपि वे अपनी असमर्थताके कारण गोरोंके अत्याचारपर खूनका घूँट पीकर और दिल मसोसकर रह जाते हैं, तो भी उनमें प्रतिशोधकी भावना दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाती है। नेटाल इंडियन कांग्रेसका यही उद्देश्य है कि वह भारतीयोंमें आत्म-सम्मानका भाव जगावे, उनको अपने अधिकारोंका ज्ञान करावे और उनकी प्राप्तिके लिए उनको संगठित रूपसे तैयार करे।

नेटालके प्रवासी भारतीयोंमें जो नई चेतना और उमंग पैदा हुई उससे मैंने कौमको पूरा फायदा पहुँचाना उचित समझा। इसलिए जहाँ मैंने शहरोंमें कांग्रेसका संदेश सुनाया वहाँ जंगलोंमें भी जाकर प्रवासी भारतीयोंको जगाया। नेटालमें कोई ऐसा शहर और कस्बा नहीं बचा जहाँ कांग्रेस कमेटी कायम न हुई हो। मैंने पीटर मेरिट्सबर्ग, एस्टकोर्ट, लेडीस्मिथ, वायहेड, डंडी, ग्लेंको, डेनहाउसर, न्यूकासल, ग्रेटाउन, सीव्यू, पोर्टशेप्स्टन, इस्पिगो, क्लेरउड, स्टैंगर, चाकसक्राल, टोंगाट, वेरूलम आदि नगरोंका दौरा किया। जहाँ कांग्रेस कमेटी थी वहाँ उनका नवीन निर्वाचन और संगठन किया गया और जहाँ नहीं थी वहाँ नई कांग्रेस-कमेटीकी स्थापना की गई।

यद्यपि कांग्रेसके इतिहासमें यह अद्भुत संगठन और प्रवासी भारतीयोंमें नवजीवन और नवजागरण उत्पन्न करनेका श्रेय मुझे दिया गया, पर उसे मैंने अपने लिए स्वीकार नहीं किया, परमात्माके चरणोंपर चढ़ा दिया। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि विश्वके सारे कार्य ईश्वरके सहारे हो रहे हैं, उसकी आज्ञा बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। मनुष्य तो उसके कार्यका हथियार-मात्र है। मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा था कि प्रवासी भारतीयोंमें यह चेतना कहाँसे आगई। उन्होंने गहरी निद्राके बाद आँखें खोलीं तो देखा कि नैराश्यमयी रजनी बीत चली है और आशा-ऊषाकी अरुण आभा छिटकने लगी है। भाग्य-भास्करके उदय होनेपर उन्होंने हर्षोच्छ्वासके साथ कर्म-क्षेत्रमें डग बढ़ाया।

नेटालमें प्रथम भारतीय परिषद्

सन् १९३८के दिसम्बरमें प्रवासी भारतीयोंकी तत्कालीन स्थितिपर विचार-विमर्श करने और रचनात्मक कार्योंको आगे बढ़ानेके अभिप्रायसे नेटाल इंडियन कांग्रेसकी प्रथम परिषद् हुई। यह सम्मेलन क्या था? प्रवासियोंके लिए शुभाशाका एक संदेश था। मैं तो जनतामें अभूतपूर्व उत्साह-उमंग देखकर विस्मय-विमुग्ध हो रहा था। इस परिषद्में नेटालके कोने-कोनेसे प्रतिनिधि पधारे थे। उनका स्वागत किया डरबनके मेयर श्री फ्लेमिङ्ग जानस्टन और हिन्दुस्थानके एजेन्ट-जनरल सर रामरावने। यूनियन-पार्लमेन्टके एक-मात्र साम्यवादी सदस्य श्री डङ्कन बर्नसाइडने परिषद्का उद्घाटन किया था। नेटालके भारतीयोंके इतिहासमें यह परिषद् एक नई चीज थी और एक नये युगके आगमनकी सूचना दे रही थी। सर रामरावने डरबनके एक बड़े अंग्रेजी होटलमें, जहाँ पहले भारतीयोंका प्रवेश वर्जित था, प्रतिनिधियोंको चाय-पार्टी दी थी।

मैंने प्रधानकी हैसियतसे जो भाषण दिया था, अखबारोंमें उसकी काफी चर्चा हुई। 'नेटाल मरक्युरी,' 'नेटाल डेलीन्यूज' और 'नेटाल विटनेस' जैसे प्रख्यात अंग्रेजी दैनिकोंने परिषद्की सचित्र रिपोर्ट छापकर अपनी

उदारताका ही परिचय दिया अन्यथा भारतीयोंकी उपेक्षा करनाही अंग्रेजी अखबारोंका धर्म और ध्येय बन गया है। इस अवसरपर कांग्रेसकी तरफसे एक पुस्तक भी प्रकाशित की गई थी, जिसमें प्रधानके भाषण, कांग्रेसकी नियमावली, सर रामराव और श्री बर्न साइडकी वक्तृताएँ तथा देश-विदेशोंके महापुरुषोंके संदेशोंके अतिरिक्त नेटालके प्रवासी भारतीयोंकी शिक्षा, समाज-सेवा, औद्योगिक विधान, गंदी बस्तियाँ और मकानकी समस्या, व्यवसायके लायसेन्स,जमीनकी मिलकियत, हथियार-कानून, कांग्रेसकी पुरानी जायदाद, संगठन, डाकखानेकी दिक्कतें, रेलकी असुविधाएँ, गन्नेकी खेती, अस्पतालमें भारतीयोंके साथ बर्ताव आदि सामयिक समस्याओंपर गंभीर गवेषणापूर्ण लेख भी थे। सभी लेख अपने विषयके विशेषज्ञोंके लिखे हुए थे। इस पुस्तकको तत्कालीन स्थितिका शब्द-चित्र ही कहना चाहिए। इसके संकलन, सम्पादन और प्रकाशनमें काफी श्रम और व्यय हुआ था।

परिषद्में अनेक प्रस्ताव पास हुए, पर सबसे महत्त्वका प्रस्ताव वह था। जिसमें गरीब बच्चोंको छुट्टीका समय बितानेके लिए समुद्र-तटपर एक प्रमोद-भवन (Holiday Home for Poor Indian Children) बनानेका निश्चय किया गया। स्कूलकी छुट्टीके दिनोंमें अमीरोंके बच्चे जहाँ सैर-सपाटा करने और मौज-मजा लूटते हैं वहाँ गरीबोंके बच्चे घरमें बैठे-बैठे अपनी किस्मतपर रोते हैं। इसलिए जब कौन्सिलर (बादमें मेयर और सिनेटर) सिडनी स्मिथने निर्धन बालकोंके प्रमोद-भवनका प्रस्ताव पेश किया तो जहाँ वह सर्वानुमतसे पास हुआ वहाँ उसको कार्यान्वित करनेके लिए उसी समय एक हजार पौण्डसे अधिक धन भी एकत्र होगया।

दूसरी खास बात यह हुई कि कांग्रेसके अन्तर्गत 'बाल-कल्याण-विभाग' (Child Welfare Department) खोलनेका निश्चय किया गया और वह भी नेटालके उन सभी नगरोंमें, जहाँ कांग्रेस-कमेटियाँ थीं। इस विभागके संगठन और संचालनका भार पीटर मेरित्सबर्ग-

की गौराङ्ग महिला कार्य-कर्त्री श्रीमती इ० एम० शेर्लीने उठा लिया। यह काम तत्क्षण आरम्भ भी कर दिया गया। यदि शुद्ध हृदयसे, विमल-बुद्धिसे कोई भी जन-हितका कार्य किया जाता है तो उसकी सफलता निश्चित है।

नवीन निर्वाचनके बाद आठ मासके अन्दर कांग्रेसकी ओरसे जो कुछ काम हुआ वह कल्पनातीत और अद्वितीय था। वास्तवमें जनताके जीवनका नकशा बदल गया। अब तक हम मुसीबतोंका मुकाबला करनेमें मशगूल रहे; इसलिए रचनात्मक कामोंकी ओर ध्यान देनेका मौका ही नहीं मिला था। असलमें संगठनका महल उठानेका मसाला तो मौजूद था, केवल उसका यथायोग्य उपयोग करनेकी आवश्यकता थी। प्रवासियोंके पास भी आत्मा और हृदय है; देह और दिमाग है; बुद्धि और विवेक है; धैर्य और धन है—सब कुछ है पर सच्चा संगठन नहीं है। यदि उनकी सारी शक्ति संगठित होजाय तो वे क्या नहीं कर सकते?

दक्षिण अफ्रिकामें प्रवासियोंको पौन सदी गुजर गई लेकिन सुदृढ संगठनका अभाव ही रहा। सत्याग्रहकी बात छोड दीजिये, वह तो एक महापुरुषके आत्म-बल का चमत्कार था। स्वदेशसे प्रचारक जाते हैं उनको एक सूतमें पिरोने के लिए नहीं, बल्कि उनमें फूट डालकर अपना मतलब गाँठने के लिए। शिक्षा-शास्त्री जाते हैं, उनके बच्चोंमें शिक्षा-प्रचार करनेके लिए नहीं, किन्तु झोली लेकर अपनी संस्थाके वास्ते चन्दा उगाहनेके लिए। स्वर्गीय श्री विठ्ठलभाई पटेल और श्रीभूलाभाई देसाई जैसे नर-रत्नोंकी जब तबियत बिगड जाती थी तो हवा-पानी बदलनेके लिए यूरोप पहुँच जाते थे, उपनिवेशोंमें जानेका कोई नाम नहीं लेता। यह प्रवासियोंका दुर्भाग्य ही है?

खैर, कांग्रेसका संगठन देखकर मुझे विश्वास हो चला कि अब प्रवासियोंकी ऐसी बुलन्द आवाज होगी, जिसे कोई अनसुनी नहीं कर सकेगा। उनकी माँगकी उपेक्षा करना सत्ता-धारियोंके लिए आसान न होगा। इस जीवनमें पहले कभी ऐसा संतोष और हर्षोल्लास मुझे नहीं

हुआ था। मैंने अपनी सारी शक्ति कांग्रेस-संगठनमें लगाई, जो निष्फल नहीं जाने पाई। जनताने मुझपर विश्वास किया और मैंने उसका विश्वास-पात्र होनेके लिए हृदयका शोणित दान कर दिया। उस समय न मुझे खाने-पीनेकी चिन्ता थी और न आराम-विश्रामकी। बस यही रट लगी थी–

"आगे कैसे बढ़ूँ, सूझता नहीं भयानक पथ है आज।
पीछे हटना नहीं जानता, रख लो भगवन्! मेरी लाज॥"

यह कार्य सचमुच सहज नहीं था, अनेक कठिनाइयोंसे परिपूर्ण था। इस मार्गमें मखमलके मुलायम मसनद नहीं, काँटोंकी कटीली कनात थी। खिले हुए फूलोंकी फुलवारी नहीं, झाड़-झंखाड़से भरा हुआ बीहड़ वन था। भादोंकी अमावस्याकी कूहू-यामिनीमें मैं जुगनू बनकर चमक रहा था।

अत्यधिक परिश्रमका परिणाम यह हुआ कि मैं बहुत बीमार हो गया। रोग-शय्याकी शरण लेनी पड़ी। दौरेमें खान-पानका नियम भङ्ग हो गया था। अतएव संयमका बाँध टूट जानेसे संग्रहणी हो गई। एक तो योंही मेरा शरीर दुबला-पतला और कोमल-कमजोर है, तिसपर संग्रहणीने उसका सत्व खींच लिया, ज्वरने उसे जर्जर बना दिया। डाक्टर दौड़ने लगे, दवाइयोंसे आलमारी भर गई। प्राणोंमें प्राणोंकी कैसी ममता होती है, उसकी रक्षाके लिए वह क्या-क्या नहीं करता। इधर मैं जीवनसे जूआ खेल रहा था, उधर प्रवासियोंके जीवनमें फिर विपद्की वेला आ गई।

: ४२ :

खतरेकी घंटी

इधर हम नेटाल इंडियन कांग्रेसकी छत्रच्छायामें रचनात्मक कार्योंमें सन्नद्ध थे उधर दक्षिण अफ्रिकाके तत्कालीन आंतरिक मंत्रीने पृथक्करण-नीतिकी अचानक ऐसी घोषणा कर दी कि जिससे भारतीयोंमें आतंक छा गया। प्रिटोरियाके गोराङ्गोंके एक डेपुटेशनको उन्होंने सरकारकी तरफसे आश्वासन दे दिया कि शीघ्र ही ऐसा कानून बन जायगा कि भारतीयोंको अछूतकी भाँति अपनी अलग बस्ती बसानेपर बाध्य होना पड़ेगा। जहाँके पचहत्तर प्रतिशत गोरे चाहेंगे, अपने इलाकेसे भारतीयोंको गर्दनिया देकर निकाल बाहर कर सकेंगे। केपटाउन-संधिकी विद्यमानतामें यूनियन-सरकारकी इस पृथक्करण नीति-(Segretion policy) से भारत-सरकारके एजेन्ट-जनरलको भी चकित रह जाना पड़ा।

प्रवासी भारतीयोंमें बड़ी बेचैनी फैली। कांग्रेसका एक डेपुटेशन केपटाउन पहुँचा। मैं रुग्णावस्थाके कारण डेपुटेशनमें शरीक न हो सका। शिष्ट-मंडलके सदस्य प्रधान-मंत्री जनरल हर्टजोग और आंतरिक मंत्री श्री स्टेटाफोर्डके सिवा मंत्रि-मंडलके अन्य सदस्योंसे भी मिले और पृथक्करण नीतिके खिलाफ इन्साफ और इन्सानियतकी दुहाई दी, पर सब व्यर्थ। श्वेताङ्ग सत्ताधीशोंपर कोई असर न हुआ। निराश होकर डेपुटेशन नेटाल लौट आया।

डेपुटेशनके सदस्य श्री काजी और श्री सोराबजीने जब कांग्रेस कमेटी-

में केपटाउनकी कार्रवाईकी रिपोर्ट पेश की तो प्रवासी भारतीयोंके होश उड़ गए। जब उन्होंने देखा कि खतरेकी घंटी बज चुकी, सिरपर विपत्तियोंके बादल मँडरा रहे हैं। उनकी आवाज अरण्य-रोदन सिद्ध हुई और इस बलासे बचनेका और कोई उपाय नहीं रहा तो स्वभावतः उनकी दृष्टि अपनी मातृ-भूमिपर पड़ी।

भारतके लिए प्रतिनिधि

केपटाउनसे २३ फरवरी सन् १९३९ को डेपुटेशन लौटा था, दूसरे ही दिन २४ फरवरीको कांग्रेस कमेटीमें उनकी रिपोर्टपर विचार हुआ, जिसमें यह निश्चय हो गया कि कांग्रेसका एक डेपुटेशन फौरन भारत जाना चाहिए और यह भी तै हो गया कि डेपुटेशनको एक दिन बाद २६ फरवरीको या तो वायुयानसे अथवा स्टीमरसे हिन्दुस्थानको प्रस्थान कर देना चाहिए। यदि वायुयानमें जगह मिल गई तो डेपुटेशन त्रिपुरी-कांग्रेसमें भी शरीक हो सकेगा। जब यह सवाल उठा कि डेपुटेशनमें कितने और किनको सदस्य चुनना चाहिए तो सभीने एकमतसे यही राय दी कि मेरे सिवा और किसीको नहीं। मैं धर्म संकटमें पड़ गया और मैंने कमेटीके सदस्योंको समझानेकी कोशिश की कि मेरा रुग्ण शरीर और भग्न स्वास्थ्य लम्बी यात्रामें बाधक है। जब चलना-फिरना कठिन है तो वहाँ पहुँचकर मैं काम भी क्या कर सकूँगा? इसपर सोराबजी जोशमें आकर बोल बैठे, "जब यहाँके दो लाखसे अधिक हिन्दुस्थानी इस दमन-चक्रमें पड़कर मर जायंगे तो आप अकेले जीकर क्या करेंगे? इस संसारमें कौन अमर होकर आया है। खाटपर पड़े-पड़े मरनेके बदले कौमी काममें मर जाना अधिक अच्छा है।"

इसका मेरे पास कोई जवाब न था। नेटाल इंडियन कांग्रेसके सिवा ट्रांसवाल इंडियन कांग्रेस और केप इंडियन कांग्रेसने भी मुझे प्रतिनिधि चुन दिया। इस प्रकार सारे दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंकी ओरसे मैं एक-मात्र प्रतिनिधि चुना गया। यद्यपि ऐसी प्रतिष्ठा इससे पूर्व किसी भी भारतीयको नहीं मिली थी, पर इसके साथ ही इतनी बड़ी

जिम्मेदारी भी थी, जिसकी कल्पनासे ही मैं काँप उठा।

एक अमेरिकन ग्रंथकार

समयके अभावसे वायुयानमें मेरी यात्राकी व्यवस्था न हो सकी। अतएव मुझे एक दिनमें तैयार होकर 'तकजीवा' नामक डाक-जहाज-से भारतको कूच कर देना पड़ा। इस बारकी यात्रामें मुझे एक ऐसे सहयात्री मिले, जो अंग्रेजीके विश्व-विख्यात ग्रंथकार और पत्रकार हैं। उनका नाम है श्री नेगली फार्सन। उन्होंने अनेक ग्रंथोंकी रचना की है, जिनमें The way of transgressor, The story of a lake, Transgressor of tropics आदि ग्रंथोंका संसारमें काफी आदर और प्रचार हुआ है। फार्सन एक अमेरिकन हैं और उस समय लण्डनके 'डेली मेल'के प्रतिनिधि थे। उन्होंने अपने व्यक्तिगत अनुभवों-के आधारपर ही ग्रंथोंकी रचना की है और सामग्री-संकलनमें वर्षों बिताये हैं, इसीसे उनकी कृतियोंको संसारमें इतना सम्मान मिला है। जैसी सरस उनकी भाषा होती है, वैसी ही सुन्दर विवेचना-पद्धति भी। सन् १९३० में जिस समय यहाँ सत्याग्रह-संग्रामने उग्र रूप धारण किया था, उस समय फार्सन वायुयानपर हिन्दुस्थान आये थे महात्मा गांधीसे मिलने और देशकी स्थिति देखनेके लिए। महात्माजीको वह श्रद्धा और सम्मानसे स्मरण किया करते थे।

उस समय फार्सन अफ्रिकापर एक ग्रंथ लिखनेके लिए सामग्री-संग्रह कर रहे थे। उन्होंने दक्षिण-पश्चिम अफ्रिकासे, जो पहले जर्मनीका उपनिवेश था और अब दक्षिण अफ्रिकाके संरक्षणमें है, अपनी यात्राका श्री गणेश किया था। वह ओवम्बालेण्ड (Ovambaland)में भी प्रवेश कर पाये, जहाँ किसीको जानेकी इजाजत नहीं है। वहाँ सत्रह हजार वर्ग मीलमें केवल आठ श्वेताङ्ग रहते हैं। पोर्तुगीज पूर्व अफ्रिकाकी सर-हदपर वह कुनेनी-नदीतक पहुँच गए जो अभी तक उजाड़ पड़ी है और कोई वहाँ बसनेका साहस नहीं करता है। कलाहारी मरुस्थलके किनारे पहुँचकर फार्सनने उन 'बुशमेन' कौमके आदमियोंको देखा, जो बौनेकी

भाँति छोटे कद और पीले रङ्गके होते हैं और पिछली सदियोंमें गोराङ्गों-की गोलियोंके शिकार हो चुके हैं—केवल बानगीके तौरपर इने-गिने बच गए हैं। दक्षिण अफ्रिकाका पर्यटन करके अब वह दारस्सलाम जा रहे थे। वहाँ उन्होंने एक मोटर खरीद ली और उसपर टंगेनिका, केनिया, यूगाण्डा, रुआण्डा-उरुण्डी, बेलजियम काँगो और फ्रेंच-केमरून्स तकका चक्कर लगाया। जहाँ उन्होंने 'किलीमँजारो' जैसा अफ्रिकाका विशाल-पर्वत देखा वहाँ 'रुआण्डा-उरुण्डो' जैसा भयानक ज्वालामुखी पहाड़ भी। इस अफ्रिका-यात्रामें उनका लगभग पैंसठ हजार रुपया खर्च हुआ था और इतना खर्च उन्होंने किया था केवल अफ्रिकापर एक ग्रंथ लिखने-के लिए।

जहाजपर एक सप्ताह उनके साथ बड़ा आनन्द रहा। प्रवासी भारतीयोंकी समस्यापर खूब बातें हुईं और भारतकी सामयिक स्थितिपर भी। वह दारस्सलाममें जहाजसे उतर गए, मैं हिन्दुस्थान चला आया। अफ्रिकापर उनका जो ग्रंथ निकला, उसका नाम है—'परमात्माकी पीठ पीछे' (Behind God's Back)* यह साढ़े चार सौ पृष्ठोंकी पुस्तक है। इसकी पहली आवृत्ति सन १९४० के अगस्तमें निकली, जो बाजारमें पहुँचते ही खप गई, सितम्बरमें दूसरी और तीसरी आवृत्तियाँ, अक्टूबरमें चौथी, नवम्बरमें पाँचवीं और दिसम्बरमें छठी आवृत्ति निकल गई। अबतक तो उसकी अनेक आवृत्तियाँ निकल चुकीं और और लाखों प्रतियाँ खप चुकी हैं।

इस ग्रंथमें फार्सनने मेरे विषयमें एक खास अध्याय ही लिखा है जिसमें मेरे व्यक्तित्वका जहाँ अतिशयोक्तिपूर्ण बखान है वहाँ मेरे विचारों-की व्यङ्ग-पूर्ण समालोचना भी है। जहाँ प्रवासी भारतीयोंकी शिकायतों-को उचित बतलाया गया है वहाँ उनके रहन-सहनकी खिल्ली भी उड़ाई गई है। उन्होंने अपने साम्राज्यवादी स्वभावके अनुसार ही अपने विचारोंका इजहार किया है।

*BEHIND GOD'S BACK: By Negley Farson, Published by Victor Gollancz Limited, London.

हिन्दीके ग्रंथकार और पत्रकार अक्सर इस बातकी शिकायत करते हैं कि उनके श्रमका उचित पुरस्कार नहीं मिलता। पर यह वे भूल जाते हैं कि हिन्दी-संसारमें कितने नेगली फार्सन मिलेंगे जो एक ग्रंथके लिए सामग्री-संकलनमें हजारों पौण्ड अपनी गाँठसे खर्च करके और वर्षों तक जान जोखिममें डालकर भयंकर जंगलोंका भ्रमण और कठोर परिश्रम कर सकते हैं? यहाँ तो बस 'येन केन प्रकारेण प्रसिद्धिं पुरुषो लभेत्' की धुन लगी है—'कहींकी ईंट कहींका रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा'का नजारा दिखाई देता है। इधर-उधरसे मसाला इकट्ठा कर लिया कि बस एक बृहद् ग्रंथ तैयार हो गया। अतएव अंग्रेजीके अच्छे लेखक जहाँ लाखों कमाते हैं और गुलछर्रे उड़ाते हैं वहाँ हमारे देशके ख्यातनामा लेखक भी

"लिखें जब तक जियें खबरनामे।
चल दिये हाथमें कलम थामे॥"

उनके कफन और दफन का भी ठिकाना नहीं रहता है; यह हिन्द और हिन्दीके लिए दुर्भाग्यकी ही बात है।

अफ्रिकाके बंदरगाहोंपर

नेटालसे विदा होनेपर मुझे जो पहला बंदरगाह मिला उसका नाम है लोरेन्सो मार्क्विस। इस नगरके प्रवासी भारतीयोंसे मेरा घनिष्ठ स्नेह-सम्बन्ध है और इस विषयपर पिछले एक अध्यायमें मैं लिख भी चुका हूं। दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंकी विपत्तिमें सहानुभूति प्रकट करनेके लिए यहाँके वेद-मंदिरमें श्री भीखाभाईके सभापतित्वमें एक सार्वजनिक सभा हुई जिसमें मैंने यूनियन-सरकारकी पृथक्करण-नीतिपर प्रकाश डाला। सभामें नेगली फार्सन भी पधारे थे और उन्होंने अपने ग्रंथमें इस सभा और मेरी वक्तृताकी बड़ी मनोरंजक चर्चा की है।

दारस्सलाम के बंदरगाहपर जहाज लगते ही वहाँ के इंडियन एसो-सियेशनके प्रतिनिधियोंके दर्शन हुए; जिनमें प्रसिद्ध सेठ मथुरादास कालीदास मेहता, 'टंगेनिका ओपीनियन'के सम्पादक श्री उछंगराय

ओझा, 'टंगेनिका हेरल्ड'के सम्पादक श्री० बी० आर० घोल, धारा-सभाके सदस्य आनरेबल डी० के० पटेल तथा आनरेबल डाक्टर मल्लिक और श्री अब्दुलकरीम यूसफअली आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। पहले यह उपनिवेश जर्मनीका था, प्रथम महायुद्धके बाद राष्ट्र-संघने इसे ब्रिटिश सरकारके संरक्षणमें सौंप दिया। टंगेनिका-प्रदेशमें भारतीय व्यापारियों और जमींदारोंकी अच्छी आबादी है। दारस्सलाममें पहले-से ही नोटिस बँट चुके थे और सार्वजनिक सभाकी व्यवस्था हो चुकी थी। मैं स्टीमरसे उतरकर सभामें पहुँचा तो प्रवासी भारतीयोंकी भीड़ देखकर चकित रह गया। मेरे व्याख्यानके बाद एक प्रस्ताव द्वारा यूनियन-सरकारकी पृथक्करण-नीतिकी निन्दा और वहाँके भारतीयोंके प्रति सहानुभूति प्रकट की गई। दारस्सलाममें आर्यसमाजकी भी विशेष प्रतिष्ठा और प्रभाव है। समाजकी पाठशाला प्रवासी भारतीयोंके विद्यानुरागका एक उदाहरण है। 'टंगेनिका ओपिनियन' दैनिक रूपसे और 'टंगेनिका हेरल्ड' साप्ताहिक रूपसे अंग्रेजी और गुजरातीमें निकलते हैं। गुर्जर-साहित्यके प्रकांड पंडित श्री उछंगराय ओझा, जिन्होंने स्वर्गीय महाकवि नन्हालाल दलपतरामके 'जया-जयंत'का अंग्रेजी अनुवाद किया है, उस समय दारस्सलाममें 'टंगेनिका ओपिनियन'का सम्पादन कर रहे थे।

दारस्सलामसे आगे बढ़नेपर जंजीबार मिला। यह समुद्रसे घिरा हुआ एक छोटा-सा द्वीप है और यहाँके शासक हैं सुलतान; जिनसे कई बार मेरी भेंट हो चुकी है। एक बार वह डरबन पधारे थे। वहीं उनसे परिचय हुआ था। इसलिए सन १९२९में जब मैं जंजीबारमें उनके राज-महलमें पहुँचकर मिला तो उन्होंने स्मृति-चिह्नके रूपमें हस्ताक्षर करके अपनी एक तसवीर मुझे भेंट की थी, जो आज भी 'प्रवासी-भवन'-के अलबममें सुरक्षित है। सुलतान होते हुए भी वह सत्ता-हीन हैं। शासनका सूत्र ब्रिटिश रेजिडेन्टके हाथमें है। वहाँ अधिकतर लौंगकी पैदावार है। जंजीबार-कौन्सिलके सदस्य श्री गुलामअली कादरभाईके

सभापतित्वमें सार्वजनिक सभा हुई जिसमें मेरी कहानी सुनकर दक्षिण अफ्रिकाके भाइयोंके साथ हमदर्दी जाहिर की गई। सभापति महोदयने अपने भाषणमें स्वीकार किया कि लौग-आन्दोलनके बाद ऐसी बड़ी सभा वहाँ नहीं हुई थी। जंजीबारसे भारतीयोंके दो साप्ताहिक अखबार अंग्रेजी-गुजरातीमें निकलते हैं एकका नाम है 'जंजीबार वोयस' और दूसरेका 'समाचार'। 'जंजीबार वोइस'के प्रवर्त्तक श्री बिहारीलाल अनंतानी वहाँके सार्वजनिक जीवनके प्राण थे, पर बादमें वह बैरिस्टर बनकर जामनगरके मन्त्रि-मंडलमें शरीक हो गए। जंजीबारमें भी आर्य-समाज बड़ा लोकप्रिय है। समाजकी कन्या पाठशालासे वहाँकी जनता-को बड़ा लाभ पहुँच रहा है।

वहाँसे मोम्बासा पहुँचकर मैं 'पाण्ड्या-विला'में ठहरा; जो पूर्व अफ्रिकाके सर्वमान्य नेता और केनिया-कौन्सिलके सदस्य आनरेबल श्री जे० बी० पाण्ड्याका निवास-स्थान है। उस समय वह स्वदेशमें थे। उनके अनुज श्री० आर० बी० पाण्ड्याने मेरी मेहमानदारी की। पाण्ड्याजीका 'केनिया डेली मेल' अंग्रेजी-गुजरातीमें दैनिक रूपसे निक-लता है। मोम्बासाकी सार्वजनिक सभा केनिया-कौन्सिलके सदस्य आन-रेबल ए० बी० पटेल बैरिस्टरकी अध्यक्षतामें हुई थी। मेरी बातें सुनकर जनतामें बड़ा जोश और रोष उमड़ आया और दक्षिण अफ्रिका-की श्वेतांग-नीतिकी बड़ी भर्त्सना की गई। यहाँके श्री० पी०डी० मास्टर पूर्व अफ्रिकाकी भारतीय समस्याओंके सजीव विश्व-कोष ही हैं और उनके पास इस विषयकी जितनी सामग्री जमा है उतनी उस प्रदेशमें किसी व्यक्ति तो क्या, किसी संस्थाके पास भी न मिल सकेगी। यहाँ भी आर्यसमाजका भव्य मंदिर है, पर केनिया-प्रदेशमें नैरोबीका आर्य-समाज सर्वोपरि है। उसके मंदिरके निर्माणमें लाखों रुपया खर्च हुआ है। उसी मंदिरमें पूर्व अफ्रिकाकी आर्य प्रतिनिधि सभाका कार्यालय भी है।

इस प्रकार अफ्रिका महाद्वीपके सभी समुद्र-तटवर्ती शहरोंमें सार्व-जनिक सभाएँ हुईं; जिनमें यूनियन-सरकारकी वर्ण-विद्वेष-मूलक नीति-

की निन्दा की गई और वहाँ प्रवासी भाइयोंकी संकटपूर्ण स्थितिपर सहानुभूति प्रकट की गई। मेरे कार्यका श्रीगणेश संतोषजनक हुआ, जिससे मेरी बहुत कुछ चिन्ता और शंका मिट गई और मेरा हौसला बढ़ गया।

: ४३ :

मातृ-भूमिकी शरणमें

इक्कीस दिनकी समुद्र-यात्रा पूरी करके मैं १८ वीं मार्च (सन् १९३९) को बम्बई पहुँचा। बन्दरगाहपर जहाज लगते ही सबसे पहले जिनके दर्शन हुए, वह थे—'एसोसियेटेड प्रेस'के प्रतिनिधि और 'टाइम्स आफ इण्डिया'के सम्वाददाता। उनसे निपटनेके बाद केनियाके आनरेबल श्री जे० बी० पाण्ड्या और इंडियन इम्पीरियल सिटीजनशिप एसोसियेशनके मंत्री श्री एस. ए. वझ़से मिलनेका मौका मिल सका। वझ़ साहबने मेरी डाकका जो पुलिन्दा मेरे हवाले किया उसे देखकर लोग दंग रह गए। तीन सप्ताहके अन्दर इतनी चिट्ठियाँ बम्बईमें मेरे लिए इकट्ठी होगई थीं कि वह मेरे लिए एक समस्या बन गईं। मैं अकेला था, मुझे न साथी मिला था और न सेक्रेटरी। समुद्रमें ही मुझे वझ़का तार मिल गया था कि उसी दिन स्टीमरसे उतरकर इम्पीरियल इंडियन सिटीजनशिप एसोसियेशनमें मुझे अपनी राम-कहानी सुनानी पड़ेगी। इस आदेशका पालन करना मेरे लिए आवश्यक था।

बम्बईमें वर्ण-विद्वेषका विरोध

मैं निश्चित समयपर एसोसियेशनकी कौन्सिलमें हाजिर होगया और दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंकी दुःखद कहानी कह सुनाई। सभापतिके आसनपर सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास विराज रहे थे। मेरी फरियाद सुनकर उनका चेहरा तमतमा आया। उन्होंने भारत-सरकारको जो पत्र लिखा था वह उनकी आंतरिक पीड़ाकी प्रतिध्वनि था।

एसोसियेशनके सभापति सर पुरुषोत्तमदास और मंत्री श्री नटराजनके स्वभाव और विचारमें अन्तर देखकर मुझे आश्चर्य हुए बिना न रहा। यद्यपि दोनों मॉडरेट हैं तो भी जहाँ प्रवासी भारतीयोंके प्रश्नपर सर पुरुषोत्तम भारत-सरकारकी शिथिलतापर फटकार बता सकते हैं वहाँ नटराजनजी खुशामदसे ही काम लेना नीतिज्ञता समझते हैं। मेरे मिशन-पर सर पुरुषोत्तमदासकी चिट्ठी जहाँ देश-विदेशोंके अखबारोंमें छपी वहाँ उसे पुस्तकाकार भी छपवाकर हजारोंकी संख्यामें बाँटा गया।

मैं बम्बईमें अक्सर आर्यसमाज मन्दिरमें ही ठहरा करता हूँ। समाजके अधिकारी मुझपर विशेष स्नेह रखते हैं और अतिथि-गृहमें मेरे लिए केवल अलग कमरेका ही नहीं, बल्कि सब तरहसे आराम पहुँचानेका इन्तजाम कर देते हैं, पर इस बार मैं अपने एक मुस्लिम मित्रके यहाँ ठहर गया। उनका नाम श्री इब्राहाम हसन मामूजी है, पर लोग उनको 'बाबू सेठ'के नामसे ही पुकारते हैं। मालाबार पहाड़ी-के बालकेश्वर रोडपर वह परिवार सहित रहते हैं। बाबू सेठ एक शिष्ट, मृदुभाषी और मिलनसार व्यक्ति हैं। बम्बई, कलकत्ता और मद्रासमें उनके व्यापार और दफ्तर हैं। उनके घरपर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो मैं अपने ही घरमें और अपने ही परिवारके बीच विचर रहा हूँ। मुझे कहीं बाहर जानेका अवसर ही न मिला। बाबू सेठके घरपर पत्रकारोंका जमघट लगा रहता था। हर एक पत्रकारको दक्षिण अफ्रिका-की गाथा सुनानी पड़ती थी और सारे दिन एक ही बात रटते-रटते मैं थक भी जाता था। इससे यह लाभ अवश्य हुआ कि बम्बईके अखबारोंमें दक्षिण अफ्रिका-सरकारकी पृथक्करण नीति और कार्यान्वित होनेपर उसके परिणामकी इतनी विशद और व्यापक चर्चा हुई कि सारा हिन्दु-स्थान क्रोधसे काँप उठा।

यहींपर ठाकुर राजबहादुरसिंहसे पहले-पहल परिचय हुआ जो शनैः-शनैः प्रगाढ़ मित्रतामें परिणत होता गया। ठाकुर साहबने ही आत्म-कथा लिखनेका प्रस्ताव मेरे सामने रखा था जिसे मैंने यह कहकर

हँसीमें उड़ा दिया कि :—

"मेरे खामेसे यह हर्फो हिकायत ।
कहावत है कि छोटा मुँह बड़ी बात ॥"

अन्ततः किस स्थितिमें ठाकुर साहबके विचारोंकी विजय हुई और 'प्रवासीकी कहानी' लिखी गई, उसकी दास्तान मैं शुरूमें ही बयान कर चुका हूँ। ठाकुर साहब साफ दिल, तेज दिमाग और मिलनसार मिजाजके व्यक्ति हैं। हिन्दी-साहित्य-संसारके वह एक प्रसिद्ध पत्रकार और ग्रंथकार हैं। अनेक अखबारोंका सम्पादन कर चुके हैं और अनेक पुस्तकोंका प्रणयन। अब तक उनकी करीब चालीस पुस्तकें छप चुकी हैं,जिनमें कुछ मौलिक हैं और कुछ अनूदित। कुछ पुस्तकें जब्त भी हो चुकी हैं।

बम्बईमें राजा नारायणलालजी पित्तीसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। प्रवासी भाइयोंके प्रश्नपर उन्होंने बड़ी दिलचस्पी दिखाई और हर प्रकारसे सहायता करनेकी तत्परता। शिक्षाके कार्यमें उनका बड़ा अनुराग है। बड़ौदाके आर्य कन्या महाविद्यालयके वह एक ट्रस्टी हैं जिसमें अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंकी कुछ लड़कियाँ भी शिक्षा पाती हैं। मारवाड़ी समाज यदि सेठ घनश्यामदास बिड़ला, सेठ रामकृष्ण डालमिया, सेठ युगलकिशोर बिड़ला, राजा नारायणलाल प्रभृतिकी भाँति लोक-सेवाकी ओर भी ध्यान देवे तो देशोद्धारमें देर न लगेगी। पर अफसोस है कि इने-गिने अपवादोंको छोड़कर मारवाड़ी-समाजके कर्णधार व्यक्तिगत हानि-लाभका ही अधिक ध्यान रखते हैं, समष्टिके स्वार्थका नहीं।

दिल्लीका दौरा

बम्बईमें एक सप्ताह बिताकर मैं दिल्ली पहुँचा। स्टेशनपर अनेक पुराने मित्रों और केन्द्रीय धारा-सभाके सदस्योंके सिवा रूटर और प्रेस-प्रतिनिधियोंका भारी जमाव था। मैं नई दिल्लीमें लाला नारायणदत्तजीकी कोठीपर ठहरा। स्टेशनपर ही सेठ गोविन्ददासजीसे मान्यु एण्डरूजका यह संदेश मिला कि मुझे सबसे पहले साधुजीसे

भेंट कर लेनी चाहिए। उस समय साधुजी दिल्लीमें ही थे। सेण्ट स्टिफेन्स कालेजका शिलान्यास करनेको आये थे और लाला रघुवीरसिंहके मकान-पर ठहरे हुए थे। मैं दूसरे ही दिन बड़े सवेरे उनकी सेवामें पहुँचा और उनके दर्शनसे कृतकृत्य हुआ। उनका वह प्रेमालिंगन और प्रेमालाप मेरे स्मृति-कोषमें सदा सुरक्षित रहेगा। वह महात्मा गांधीसे मिलकर दक्षिण अफ्रिकाकी संकट-संकुल स्थितिपर बातचीत कर चुके थे और चाहते थे कि इस विपद्‌की घड़ीमें दक्षिण अफ्रिका पहुँचकर प्रवासी भारतीयों-की यथाशक्ति सेवा-सहायता करें। पर उनको अपनी इच्छाकी पूर्तिमें बापूकी अनुमति नहीं मिली। बापूने उनको भारतमें रहकर प्रवासी भारतीयोंके पक्षमें आवाज उठानेके लिए यूरोपियनोंको तैयार करनेकी सलाह दी। इससे साधुजी कुछ निराश हो गए थे क्योंकि बापूकी बात उनके लिए वज्र-वाक्य थी। उनका खयाल था कि यदि इस मौकेपर वह दक्षिण अफ्रिका जा पाते तो डाक्टर मलान आदि राष्ट्रवादी नेताओं-पर असर डाल सकते। इसलिए साधुजी यह चाहते थे कि बापूसे भेंट होनेपर मैं उनके दक्षिण अफ्रिका जानेकी आवश्यकताका प्रतिपादन करूँ।

बापू 'बिड़ला-भवन'में ठहरे थे। उनसे मिलना कोई आसान बात नहीं थी। दरवाजेपर सख्त पहरा था। सेवक और सहकर्मियोंके सिवा अन्य किसीको अन्दर जानेकी इजाजत नहीं थी। बापूकी तबियत भी अच्छी नहीं थी, फिर भी खबर पाते ही बापूने मुझे अन्दर बुला लिया। उनके पास जानेसे पहले राजा सर महाराजसिंहकी बहन राजकुमारी अमृतकौरने मुझसे प्रतिज्ञा करा ली कि मैं बापूके स्वास्थ्यका ध्यान रख-कर अधिक बात-चीतसे उनको परेशान न करूँगा। मैं बापूसे जरूरी बात-चीत करके और उनका आशीर्वाद लेकर अपने कामपर निकल पड़ा।

उन दिनों दिल्लीमें कौन्सिल ऑफ स्टेट और लेजिस्लेटिव असेम्बली-की बैठकें भी हो रही थीं, इसलिए देश-भरके प्रतिनिधियोंसे मिलने और दक्षिण अफ्रिकाकी दास्तान सुनानेका मौका मिल गया। कौन्सिल और

असेम्बलीके अधिवेशन भी मैंने दर्शक रूपसे देखे और उनकी गैलरीमें बैठकर यही सोचता रहा कि स्वतंत्र और परतंत्र देशकी पार्लमेंटोंमें कितना अंतर है ? यह असली पार्लमेंट तो है नहीं, उसका कृत्रिम रूप अवश्य है । इसकी आवाजमें कोई दम नहीं—कोई शक्ति नहीं । इसके किसी प्रस्तावको मान लेना या ठुकरा देना वायसरायकी मर्जीकी बात है । यह बात मैं नहीं समझ पाया कि देशके ऐसे दिग्गज दिमाग यहाँ क्यों अपना समय बरबाद कर रहे हैं ? इस वाग्-युद्धसे लाभ ? जहाँ यह शक्ति देशमें क्रान्तिकी भावना फैलानेमें लगनी चाहिए वहाँ वह वाद-विवादमें व्यर्थ ही नष्ट हो रही है ।

यद्यपि मैंने हिन्दुस्थान-सरकारके प्रतिनिधियोंसे मिलनेकी कोई कोशिश नहीं की, तो भी उन्होंने मुझसे मिल लेना आवश्यक समझा । प्रवास-विभागके कुँवर सर जगदीशप्रसाद और सर गिरिजाशंकर बाज-पेयीने मुझे बुलाकर विश्वास दिलाया कि भारत-सरकार दक्षिण अफ्रिकाके भारतीयोंकी समस्याकी ओरसे उदासीन नहीं है-और वह अपने एजेण्ट-जनरलके जरिये यह प्रयत्न कर रही है कि पृथक्करण-नीति किसी भी रूपमें कार्यान्वित न होने पावे । उन दिनों श्री बोजमेन प्रवास-विभागके अन्डर-सेक्रेटरी थे । वह दक्षिण अफ्रिकामें एजेन्ट-जनरलके सेक्रेटरी रह चुके थे, अतएव उनसे मेरा व्यक्तिगत परिचय था । उन्होंने प्रवास-विभागके चपरासियोंको बुलाकर हिदायत कर दी कि मेरे आनेपर प्रचलित नियमका पालन करनेकी जरूरत नहीं । वह चाहे किसी काममें व्यस्त अथवा किसीसे बातचीत ही क्यों न कर रहे हों, उनको मेरे आग-मनकी इत्तिला फौरन दी जाय ।

साधु एण्ड्रूजसे अन्तिम मिलन

दूसरी बार जब मैं साधु एण्ड्रूजसे मिला तो उनका चेहरा देख-कर अज्ञात आशंकासे घबरा उठा । कुछ पूछनेसे पहले उन्होंने कहा—''भाई ! मेरी तबियत बहुत खराब है । मालूम नहीं, क्या हो गया है ? यों तो कोई बीमारी नहीं जान पड़ती है, पर सिरमें चक्कर आता है और

मनमें बड़ी बेचैनी है। मैं फौरन अस्पताल जाना चाहता हूँ, पर आपसे यह वचन चाहता हूँ कि आप इस-बातको बिलकुल गुप्त रखें और किसी-से कुछ कहें नहीं।" उनकी हालत देखकर मेरे होश उड़ गए, लेकिन उनसे कुछ कहने-सुननेकी हिम्मत न पड़ी। अतएव यह पूछना भी भूल गया कि वह किस अस्पतालमें जानेकी तैयारी कर रहे हैं? दूसरे दिन उनका पता लगानेमें मुझे बड़ी दिक़्क़त हुई। नई और पुरानी दिल्लीके प्रायः सभी अस्पतालोंमें टेलीफोनसे पूछा, पर कहीं उनका पता न लगा। आखिर शहरसे बाहर हिन्दूराव अस्पतालमें उनको खोज निकाला। वहाँ पहुँचनेपर मेट्रनने कहा कि रेवरेण्ड एण्ड्रूज सख्त बीमार हैं और डाक्टरकी हिदायत है कि उनसे कोई मिलने और बातचीत न करने पाये। मेरी बेचैनी देखकर मेट्रनने मेरे बारेमें रोगीसे दरियाफ्त कर लेना मुनासिब समझा।

"चलिये, रेवरेण्ड एण्ड्रूज आपसे अवश्य मिलना चाहते हैं," कहकर मेट्रन मुझे अस्पतालके एक कमरेके दरवाजेपर ले गई जहाँ एक तख्ता लटक रहा था और उसपर बड़े-बड़े अक्षरोंमें लिखा था—'दर्शकों-का प्रवेश वर्जित' (Visitors are not allowed)। डाक्टरने उनको पूर्ण विश्राम करनेकी सलाह दी थी, पर जब मैं उनके कमरेमें पहुँचा तो उनको रुग्ण-शय्यापर नहीं, बल्कि एक मेजपर लिखनेमें व्यस्त पाया। मेरी हैरानीकी हद नहीं रही। "आओ भाई! तुम्हें देखनेकी बड़ी इच्छा थी," कुर्सीसे उठते हुए उन्होंने कहा—"लो, इस चिट्ठीको पढ़ लो, जो मैंने दक्षिण अफ्रिकाकी समस्यापर वायसरायको लिखी है।" मुझे चिट्ठी पढ़नेकी चाह नहीं थी, उनकी बीमारीकी चिन्ता थी। मेरे मनो-गत भाव समझकर वह हँसते हुए बोले, "हाँ, यहाँ आनेपर डाक्टरोंसे मालूम हुआ कि मुझे रक्तके दबाव (Blood Pressure) की शिका-यत है और इसका उपचार है—समुद्र-तटपर प्रवास एवं पूर्ण विश्राम।"

"लेकिन आप तो खूब आराम कर रहे हैं? डाक्टरोंकी रायके खिलाफ इस नाजुक स्थितिमें आपको चिट्ठी लिखनेकी क्या जरूरत

थी ?" मैंने कुछ रोषसे पूछा। पर मेरी रोषपूर्ण बात उनकी मधुर मुस्कानमें उड़ गई और वह स्वयं वायसरायके नाम लिखी हुई चिट्ठी पढ़कर सुनाने लगे। सच पूछिये तो चिट्ठीकी तरफ मेरा बिलकुल ध्यान न था। मैं तो यही सोच रहा था कि इस महात्माके हृदयमें पीड़ित मानवताके लिए कितनी वेदना है, जो इस रुग्णावस्थामें भी चैनसे बैठने नहीं देती।

इसी बीच वहाँ मेट्रन आगई। "आपका रोगी तो विश्रामकी जगह काममें व्यस्त है। आप इनको नियम भंग करनेसे रोकती क्यों नहीं," मैंने व्यङ्ग भावसे पूछा ? "मेरा रोगी और सब बातोंमें तो अद्वितीय है, लेकिन उसमें यही एक ऐसा दुर्गुण है, जो हमारी सारी परिचर्याको निरर्थक बना देगा।" कहकर हँसती हुई वह कमरेसे चली गई।

मैं हिन्दूराव अस्पतालमें अक्सर उनसे मिला करता था। जब अंतिम बार उनसे मिला तो उनका स्वास्थ्य कुछ सुधर गया था। वह अस्पतालसे निकलकर किसी समुद्र-तटवर्ती स्वास्थ्य-प्रद स्थानपर जानेका संकल्प कर चुके थे। उस दिन उनसे बहुत देर तक बात-चीत हुई। न उनकी बातें खत्म होनेमें आती थीं और न मैं वहाँसे हटना चाहता था। पर मेट्रनने आकर मुझे उनसे विदा लेनेको बाध्य कर दिया। कौन जानता था कि उनसे मेरी यह अन्तिम भेंट है—इस जीवनमें अब पुनर्मिलनकी आशा नहीं है ? किसे खबर थी कि यही उस महारोगका आरंभ है, जो साल-भरमें उनकी जीवन-यात्राका अन्त ला देगा। एक बार वह फिर दक्षिण अफ्रिका आने और मेरे साथ जेकब्सकी पहाड़ीपर शान्त-एकान्त स्थानमें ठहरनेको बहुत उत्सुक थे, पर अफसोस कि उनकी इच्छा पूरी न होने पाई, उनके जीवनका प्रदीप बुझ गया—पीड़ित प्रजाके भाग्याकाशमें घटाटोप अँधेरा छा गया।

इसके ठीक साल-भर बाद सन् १९४०के ४ अप्रैलको रूटरने दक्षिण अफ्रिकामें यह खबर पहुँचाई कि साधु एण्ड्रूज उस अमर धामको चल बसे, जहाँसे लौटकर कोई नहीं आता। उस दिन जेकब्सकी

अपनी झोंपड़ीमें बैठकर मैं इतना रोया, जितना इस जीवनमें शायद ही कभी रोया हूँ।

"बहना कुछ अपने चश्मका दस्तूर हो गया।
दी थी खुदाने आँख सो नासूर हो गया।"

रोते-रोते आँखें सूज गईं, दुःखसे छाती फट गई। प्रवासी भारतीयोंका, पीड़ित प्राणियोंका, दलित वर्गोंका मसीहा संसारसे उठ गया। प्रवासी भारतीयोंका तो मानो सर्वस्व ही लुट गया—उनके सन्तापकी सीमा नहीं रही।

"आँखोंमें कौन आके इलाही निकल गया।
किसकी तलाशमें मेरे अश्के रवाँ चले।"

भारत और बृहत्तर भारतके इतिहासमें इस अंग्रेज महापुरुषका नाम अजर-अमर बना रहेगा।

कुछ महत्त्व-मण्डित मुलाकातें

पं० हृदयनाथ कुँजरूने मुझे कुछ खास महाभागोंसे मिलानेके लिए अपने यहाँ एक प्रीति-भोजकी व्यवस्था की, जिसमें श्री रामदास पन्तलु, श्री एन० एम० जोशी, श्री पी० एन० सप्रू प्रभृति सम्मिलित हुए थे। कुँजरूजी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिसे प्रवासी भारतीयोंके प्रश्नको उतना ही महत्त्वपूर्ण समझते हैं जितना कि राष्ट्रीय दृष्टिसे भारतकी स्वाधीनताको। वह राजर्षि गोखलेकी 'सर्वेन्ट्स् ऑफ इंडिया सोसायटी'के सभापति हैं, कौन्सिल ऑफ स्टेटके माननीय सदस्य हैं और लिबरल दलके अग्रनेता हैं। देशके काममें व्यस्त होते हुए भी प्रवासी भारतीयोंकी समस्याओंमें वे काफी दिलचस्पी रखते हैं। वह पूर्व अफ्रिकाकी इंडियन नेशनल कांग्रेसके भी प्रधान रह चुके हैं। वे उग्र विचारके राष्ट्रवादी नहीं हैं; पर ब्रिटिश सरकारके अन्याय-मूलक व्यवहारको भी सहन नहीं कर सकते। वह स्पष्टवक्ता, विचारशील और भारतके त्यागी महापुरुषोंमेंसे एक हैं।

दिल्लीमें अनेक साहित्य-सेवियोंसे भी भेंट हुई। प्रवासी-साहित्यके प्रथम प्रकाशक श्री द्वारिकाप्रसाद 'सेवक'से बहुत दिनोंके बाद भेंट हुई।

उनके जीवनकी किश्ती मझधारमें ही भटक रही थी और उसके कहीं किनारे लगनेकी सूरत नहीं दिखाई पड़ती थी। आगराके 'किरण' मासिक पत्रके सम्पादक श्री कुँवर कप्तानसिंहजी 'चंचल' तो खासकर मुझसे मिलनेके लिए ही दिल्ली आये थे। उनसे हिन्दी-साहित्यकी स्थितिपर विशेष चर्चा हुई। चार मासके बाद 'पंच-प्रदीप' नामक उनकी कहानियोंकी एक पुस्तक निकली, जिसमें लेखकके वक्तव्यसे विदित हुआ कि यह पुस्तक उसी वार्तालापका परिणाम है। मुरादाबादके मानसरोवर-साहित्य-निकेतनके संचालक श्री राजनारायण मेहरोत्रा भी आ मिले। उन्होंने श्री प्रेमनारायण अग्रवालकी 'प्रवासी भारतीयोंकी समस्याएँ' नामक पुस्तक प्रकाशित की थी इसलिए उनसे परिचय हो गया था।

एक दिन अचानक स्वर्गीय स्वामी सदानंदजी भी आ पहुँचे। वह मेरे जिलेके आरा शहरके निवासी थे। सन् १९३० में जब मैंने शाहाबाद जिला कांग्रेस कमेटीके सभापतिकी हैसियतसे आरामें भाषण देते हुए पूर्ण स्वाधीनता-प्राप्तिके लिए सत्याग्रह-संग्रामकी घोषणा की तो वह एक सिपाही बनकर जेल चले गए। एक हलवाई-परिवारमें वह जन्मे थे। जेलसे लौटनेपर उनको वैराग्य हो गया और उन्होंने घर-बार त्यागकर संन्यास ले लिया। इसके बाद वह पंजाब चले गए, वहाँ तीन-चार साल हिन्दी और संस्कृतके अध्ययनमें बिताये। अल्पकालमें ही जहाँ वह एक प्रभावशाली वक्ता बन गए, वहाँ हिन्दीके एक अच्छे लेखक भी। उन्होंने कई छोटी-बड़ी पुस्तकें लिख डालीं, जिनमें 'हिन्दुस्थानका राष्ट्रस्वरूप', 'वेद और साम्यवाद', 'वैदिक-संध्या या समाजवाद' आदि रचनाएँ विचारपूर्ण हैं। उन दिनों उन्होंने एक नई पुस्तक लिखकर तैयार की थी, जिसका नाम था—'एशियाका वेनिस'। इसमें बर्मा, मलाया, सिंगापुर, स्याम आदि देशोंके निवासियोंकी धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक अवस्थाका आँखों-देखा दिलचस्प और आलोचनात्मक वर्णन तथा वहाँके प्रवासी भारतीयोंकी स्थितिका दिग्दर्शन था। इसी पुस्तककी भूमिका मुझसे लिखानेके वास्ते स्वामीजी दिल्ली

आये थे। उस समय तो मुझे फुर्सत नहीं मिली, पर अजमेर पहुँचकर मैंने उनकी इच्छाकी पूर्ति कर दी थी। यह ३०० पन्नेकी मोटी-ताजी पुस्तक मेरी भूमिकाके साथ सचित्र प्रकाशित हुई, जो स्वामी सदानंदजी-की एक अनुभव-सिद्ध कृति और प्रवासी-साहित्यमें एक अमूल्य अभि-वृद्धि है। शोक है कि वह तरुण संन्यासी अब इस संसारमें नहीं है।

एक दिन थका-माँदा जब मैं कोठीपर लौटा तो यह सूचना मिली कि दिल्लीके एक पत्रकार मुझसे मिलना चाहते हैं। इससे मुझे न हर्षोल्लास हुआ और न उनसे मिलनेका हौसला ही। सोचा कि यह बला कहाँ से आ टपकी? बहाना बनानेकी भी गुंजाइश नहीं थी, क्योंकि आगन्तुकको मालूम हो चुका था कि मैं बाहरसे वापस आगया हूँ। अतएव उनसे मिलकर और दो-चार बातें करके पिण्ड छुड़ा लेना ही उचित जँचा।

मैंने उनको अपने कमरेके अन्दर बुलवाया। उनपर जो मेरी दृष्टि पड़ी तो हटाये नहीं हटती थी। उनके शरीरपर देशी पोशाक थी—पायजामा और अँगरखा तथा सिरपर गांधी टोपी। ऊँचा कद, सुघड़ शरीर, भव्य भाल, रसाल नयन तथा तेजोमय रूप। चेहरेपर प्रतिभा और बुद्धिमत्ताकी झलक। मैं बरबस उनकी तरफ खिंच गया। साधारण शिष्टाचारके बाद नाम पूछनेपर जब आगन्तुकने कहा—'लंका सुन्दरम्', तो मैं चौंक पड़ा। यह नाम मेरे लिए नया नहीं, वर्षोंका पुराना परिचित था। डाक्टर लंका सुन्दरम् एम० ए० पी-एच० डी० भारत और बृहत्तर भारतके उन इने-गिने सेवकोंमें हैं, जिन्होंने प्रवासी भारतीयों-की सेवामें अपने जीवनका सर्वोत्तम भाग उत्सर्ग किया है। वह मलाया, बर्मा, सिंगापुर, स्याम, हिंद चीन, लंका आदि देशोंमें भ्रमण करके प्रवासी बंधुओंकी दशा देख आए हैं और उनके हितमें अपनी गाँठसे हजारों रुपये लगा चुके हैं। कुछ काल पूर्व 'प्रवासी हिन्दुस्थानी' (Indians Overseas) नामक उनकी अंग्रेजी पुस्तक भी पढ़ चुका था जिसे मद्रासके प्रसिद्ध प्रकाशक और 'इंडियन रिव्यू'के सम्पादक श्री जी. ए.

नटेसनने प्रकाशित किया था। डाक्टर लंका सुन्दरम् अपना सारा जीवन प्रवासी भारतीयोंकी सेवामें न्योछावर करना चाहते थे, पर उनको प्रवासियों और देशवासियोंसे प्रोत्साहन न मिला; इसलिए पंडित बनारसीदास चतुर्वेदीकी भाँति उन्हें भी इस क्षेत्रसे अलग होना पड़ा और अपने निर्वाहके लिए दूसरा क्षेत्र ढूँढना पड़ा। पर चतुर्वेदीजी ने जहाँ प्रवासी भारतीयोंसे सर्वथा नेह-नाता तोड़ लिया वहाँ डाक्टर लंका सुन्दरम् आजतक उनकी सेवामें सन्नद्ध हैं और अभी हाल हीमें श्रीमती विजय-लक्ष्मी पंडितके नेतृत्वमें भारतका जो प्रतिनिधि-मंडल संयुक्त राष्ट्र-संघ (United Nations Organisation)में सम्मिलित होने अमेरिका गया था और जिसने दक्षिण अफ्रिकाके सर्वेसर्वा जनरल स्मट्सको प्रवासी भारतीयोंके साथ वर्ण-विद्वेष-मूलक व्यवहार करनेके कारण संसारकी दृष्टिमें घृणाका पात्र सिद्ध कर दिया, उस मंडलके डाक्टर लंका सुन्दरम् सलाहकार चुने गए थे। अमेरिका-प्रवासके समय उन्होंने हिन्दुस्थान और दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंकी जो सेवाएँ की हैं वह इतिहासकी एक स्मरणीय घटना बन चुकी है।

डाक्टर लङ्का सुन्दरम्से मिलनेकी मेरी चिरभिलाषा उस दिन अनायास ही पूरी होगई। शामको चाय-पानका आमंत्रण पाकर मैं उनके घर पहुँचा। वहाँ उनकी विदुषी धर्मपत्नी अनसूयासे भेंट हुई। इस देवीकी क्रियाशीलता देखकर मैं दंग रह गया। वह अपने चरित्र और कार्यसे अर्धाङ्गिनी शब्दको सार्थक बना रही थीं और प्रवासी भारतीयोंकी सेवामें पतिका हाथ बँटा रही थीं। वह प्रतिदिन दर्जनों अखबार ध्यानसे देखतीं, उनमें यदि प्रवासी भारतीयोंके विषयमें कोई अग्रलेख, विशेष लेख या समाचार पातीं तो उनको काट लेतीं और 'कतरनकी किताब'में उनको सिलसिलेसे तारीखवार सटाती जातीं। इससे लङ्का-सुन्दरम्को संदर्भ ढूँढने और लेख लिखनेमें बड़ी आसानी होती। उन दिनों वह लन्दन और भारतके अनेक अखबारोंमें लेख लिखते थे। 'स्टेट्समैन'में प्रति सप्ताह उनका एक विशेष लेख छपता था। उनके

लेखोंसे मुझे अपने काममें सहायता मिली।

पहली भेंटमें ही लङ्का सुन्दरम् और अनसूयासे मेरा जो स्नेह-सम्बन्ध स्थापित हुआ वह दिन-पर-दिन घनिष्ठ ही होता गया। उनके जैसे सहृदय मित्र और कर्मनिष्ठ सहकर्मी संसारमें सौभाग्यसे ही प्राप्त होते हैं। वह अन्तर्राष्ट्रीय समस्याके प्रकाण्ड पंडित हैं। भारतकी समस्याओं पर भी उनके विचार गंभीर गवेषणापूर्ण हैं। विश्वकी राजनीतिमें भारत (India in World Politics), भारतकी सेनाएँ और उनका खर्च (India's Armies and Their Costs), राष्ट्रीयता और आत्म-निर्भरता(Nationalism and Self-Sufficiency), हिन्दुस्थानके लिए सार्वजनिक राज्य (A Secular State For India) और प्रवासी हिन्दुस्थानी (Indiana Overseas) आदि ग्रंथ उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा एवं अगाध विद्वत्ताके परिचायक हैं। नई दिल्लीसे कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री (The Commerce & Industry) नामक अंग्रेजी साप्ताहिक पत्रका वह योग्यतापूर्वक संचालन और सम्पादन कर रहे हैं। व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्रमें इस अखबारकी बड़ी धाक है।

एक दिन एक तरुण कार्यकर्ता मेरे पास पहुँचे और विनम्रता और तेजीसे बोले, "मैं यहाँ गढ़वाल प्रजा-परिषद्की आयोजना कर रहा हूँ उसमें देशके सभी प्रमुख नेता आनेका वचन दे चुके हैं। श्री भूलाभाई देसाई परिषद्के प्रधान पदको सुशोभित करेंगे। आपसे प्रार्थना करने आया हूँ कि आप भी अवश्य पधारें।" मैंने हँसते हुए जवाब दिया कि "आपका उद्योग्य तो स्तुत्य है। पर मैं न तो देशका नेता हूँ और न देशी राज्योंकी समस्याका ज्ञाता ही। अतएव मेरी उपस्थिति परिषद्के लिए उपयोगी न होगी। आप हैं कौन और यहाँ क्या करते हैं? पहले अपना परिचय तो दीजिये।" उन्होंने अपना नाम बतलाया—श्रीदेव 'सुमन'। उस समय कौन जानता था कि यह तरुण देशी राज्यकी पीड़ित प्रजाके उद्धारमें अपने जीवनका बलिदान चढ़ा देगा और भारतके इतिहासमें

अमर शहीद कहकर पुकारा जायगा।

मैं सुमनजीकी परिषद्में शरीक हुआ। वह नई दिल्लीमें हनुमान-रोडके आर्यसमाज मंदिरमें हुई थी। गढ़वालियोंसे मंदिर खचाखच भरा था, पर बड़े-बड़े नेताओंका कहीं पता न था। केन्द्रीय धारा-सभाके सदस्योंमें केवल पं० बद्रीदत्तजी पांडे वहाँ दृष्टिगोचर हुए और वह भी इसलिए कि एक तो वह स्वयं गढ़वाली हैं और दूसरे परिषद्के स्वागताध्यक्ष भी थे। बड़े-बड़े नेताओंके इस व्यवहारसे सुमनजी बड़े निराश और खिन्न थे। मेरे समीप आकर कहने लगे कि "देखिए न, क्या यह कोई अच्छी बात है! यदि नहीं आ सकते थे तो वचन देनेकी जरूरत ही क्या थी? क्या वे अपने वचनका कोई मूल्य ही नहीं समझते?" वास्तवमें वह बड़े-बड़े नेताओंके आनेकी चर्चा करके अब उनकी अनुपस्थितिसे मेरे सामने झेंप रहे थे।

खैर, श्री भूलाभाईदेसाई भी बहुत देरसे आये और प्रधान-पदसे आध घड़ीमें कुछ कह-सुनकर वहाँसे विदा हो गए। आखिर मुझको ही स्थानापन्न प्रधान बनकर परिषद्का संचालन करना पड़ा और श्रीभूलाभाईके अधूरे कामको पूरा करना पड़ा।

वर्षों बीत गए, पर सुमनजीको मैं नहीं भूला। इसलिए जब मैंने अखबारोंमें पढ़ा कि सुमनजी टिहरी राज्यकी जेलमें करीब सत्तर दिन अनशन करनेके बाद एक देशी राज्यकी बर्बरताकी वेदीपर बलिदान हो गए तो मेरे हृदयपर गहरी चोट पहुँची। टिहरी रियासतमें ही उनका जन्म हुआ था और उसी राज्यके बंदीघरमें उन्होंने अपने शरीरको गला-खपा दिया। स्वाधीनताके लिए आत्मोत्सर्ग करने वाले शहीदोंमें अपना नाम लिखाकर सुमनजी अमर हो गए।

इस अभागे देशके लिए देशी रियासतें एक गंभीर समस्या बन गई हैं। यदि दो-चार रियासतें होतीं तो कोई चिन्ताकी बात न थी, पर यहाँ तो छोटी-बड़ी सैकड़ों रियासतोंकी समस्या है। उनमें कोई तो पन्द्रहवीं सदीकी बानगी है और कोई उन्नीसवीं सदीकी। पर बीसवीं सदीके इस

संसारमें उनका अस्तित्व ब्रिटिश सरकारके हथियारपर ही निर्भर है। इसलिए ब्रिटिश सरकारके वे बड़े वफादार हैं, पर अपनी प्रजाके लिए अत्याचारके अवतार। इस परिषद्में मुझे यह अनुभव हुआ कि देशी रियासतोंकी प्रजामें क्रान्तिकी आग सुलगने लगी है जो निकट-भविष्यमें अत्याचारी सत्ताको जलाकर खाक कर देगी। यदि रजवाड़े अपनी हस्ती बनाये रखना चाहते हैं तो उनको संसारकी प्रगतिपर ध्यान देना चाहिए और प्रजाको सारी सत्ता सौंपकर इङ्गलैण्डके बादशाहकी भाँति उनका श्रद्धा-भाजन बन जाना चाहिए अन्यथा रूसके जार और फ्रांसके लूईकी भाँति उनका भी विनाश अनिवार्य है।

उन्हीं दिनों दिल्लीमें सेठ जमशेद्जी मेहताकी अध्यक्षतामें "फैडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री" का वार्षिकाधिवेशन हुआ, जिसमें सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास और श्री गगनविहारी मेहताकी कृपासे दक्षिण अफ्रिकाकी वर्ण-विद्वेष-मूलक नीतिकी भी अच्छी चर्चा हुई और उसका घोर प्रतिवाद भी किया गया। मैं व्यापारियोंकी इस सभामें भी शरीक हुआ था।

आर्यसमाजियोंकी अदूरदर्शिता

मैंने दिल्लीमें एक सार्वजनिक सभा बुलानेका विचार कर लिया। हाल हीमें 'इण्डियन ओवरसीज सेण्ट्रल एसोसियेशन' नामक एक सभाकी स्थापना हुई थी, जिसके सभापति (स्वर्गीय) श्री सत्यमूर्ति थे और मन्त्री थे श्री सी० एल० पटेल। इसी सभाके द्वारा सार्वजनिक सभाकी आयोजना करना उचित प्रतीत हुआ। सौभाग्यवश उन दिनों श्रीमती सरोजिनीदेवी भी दिल्लीमें ही थीं। उनसे मुझे प्रवासी भारतीयोंके कार्यमें हमेशा सहायता मिलती रही है और इस बार भी मेरे आग्रहपर अस्वस्थ होते हुए भी उन्होंने सभाकी अध्यक्षता मंजूर कर ली। मंत्री पटेल महाशयने टाउन-हॉलकी अपेक्षा दीवान-हॉलमें सभा बुलाकर भारी भूल कर डाली। यह हॉल आर्यसमाजका है और स्वर्गीय लाला दीवानचन्दकी पुण्य-स्मृतिमें उन्हींकी सम्पत्तिसे बना है। उन

दिनों हैदराबाद-सत्याग्रहके कारण आर्य-जगत्में बड़ा जोश और रोष फैला हुआ था। इस हॉलमें हैदराबादके निज़ामकी साम्प्रदायिक नीति और मुसलमानोंकी मतान्धतापर उग्र-से-उग्र भाषण हुआ करते थे और कुछ हैदराबादके सत्याग्रही वहाँ ठहरे हुए भी थे। अतएव वहाँका वातावरण बड़ा उत्तेजनापूर्ण था। सभानेत्री सरोजिनीदेवीने जब मुझसे कहा कि सभामें कुछ आर्य-समाजी हुल्लड़ मचाने वाले हैं तो मुझे विश्वास नहीं हुआ। सोचा कि प्रवासी भारतीयोंकी विपत्तिमें तो भारतके सभी सम्प्रदायों और वर्गोंकी सहानुभूति है, फिर शिक्षित और समझदार आर्यसमाजी उसमें क्यों विघ्न डालेंगे? उस समय दीवान-हॉलके पास ही एक स्वदेशी प्रदर्शिनी भी हो रही थी। उसके संचालकोंने यह अनुरोध भी किया कि प्रदर्शिनीके प्रांगणमें ही सभा की जाय। वहाँ शामियाने और कुर्सियोंका भी अच्छा इन्तजाम है, पर दुर्भाग्यवश उनका आमंत्रण अस्वीकृत हो गया।

श्रीमती सरोजिनी देवी, इंगलैंडकी कुमारी एगथा हेरिसन और अमेरिकाकी श्रीमती फिशरके साथ जब मैं दीवान-हॉलमें पहुँचा तो देखा कि कट्टर और जोशीले आर्यसमाजियोंका वहाँ अच्छा जमाव हो चुका है। दिल्लीके नागरिकोंके सिवा सभामें फैडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्रीजके कुछ प्रतिनिधि तथा कौन्सिल और असेम्बलीके कुछ सदस्य भी पधारे थे। जब सभानेत्री सरोजिनी देवीने सभाका आरम्भ करते हुए दक्षिण अफ्रिका-प्रवासी भारतीयोंके प्रति यूनियन-सरकारकी अत्याचार-मूलक नीतिकी चर्चा की तो उनके भाषणके बीचमें ही एक कट्टरपंथी आर्य महाशय चिल्ला उठे—"आप दक्षिण अफ्रिकाकी कहानी तो कह रही हैं, पर हैदराबादकी गाथा क्यों नहीं गाती हैं?"

"यह सभा प्रवासी भारतीयोंके साथ सहानुभूति प्रकट करनेके लिए हुई है, हैदराबादके सत्याग्रहपर विचार करनेके लिए नहीं। आप उसके लिए अलग सभाकी व्यवस्था कर सकते हैं।" सभानेत्रीने माकूल जवाब

देकर किसी तरह अपने भाषणको समाप्त किया। जब माननीय पंडित हृदयनाथ कुँजरू प्रस्ताव पेश करनेको उठे तो फिर कुछ अबोध और अज्ञानी आर्यसमाजियोंने शोर-गुल मचाया, पर जब सैयद सर रजाअली प्रस्तावके समर्थनमें बोलनेको उठे तब तो सभामें हुल्लड़ और तूफान मच गया। उस समय उन अदूरदर्शी और उद्दंड आर्यसमाजियोंका हुड़दंग देखकर एक आर्यसमाजीकी हैसियतसे मेरा सिर शर्मसे झुक गया। वह गला फाड़-फाड़ कर चिल्ला रहे थे, "जो बोले सो अभय, वैदक धर्मकी जय"। पर उनका विवेक नष्ट होगया था, बुद्धि भ्रष्ट होगई थी, अतएव उनमें यह सोचनेकी शक्ति कहाँ थी कि उनकी करतूतसे वैदिक धर्म और आर्य-संस्कृतिकी विजय नहीं हो रही है, पर उनपर लांछन लग रहा है। उनको इस बातका कोई ध्यान न रहा कि यह भारतीयोंके सम्बन्धमें बुलाई गई है और इसमें भारतीयकी हैसियतसे सभी सम्प्रदाय, वर्ग और दलके मनुष्य हाजिर हुए हैं। उनकी इस उद्दंडतासे आर्यसमाजका गौरव बढ़ा नहीं, घटा अवश्य। वे इस साधारण शिष्टाचार और समझसे भी हाथ धो बैठे कि दीवान हॉल आर्यसमाजियोंका होनेके कारण अन्य धर्मावलम्बियोंके साथ वहाँ सम्मानपूर्वक व्यवहार करना ही आर्यत्वका गौरव है। संतोषकी बात यही है कि उस समय कोई जिम्मेदार आर्यसमाजी नेता दिल्लीमें न था। लाला नारायणदत्तजी, प्रोफेसर सुधाकरजी, श्री देशबन्धु गुप्त आदि हैदराबादके समझौतेके सिलसिलेमें शोलापुर गये हुए थे अन्यथा ऐसी अप्रिय और अवांछनीय घटना न घटने पाती। सैयद रजाअलीके साथ असभ्यतापूर्ण बर्ताव करके आर्यसमाजियोंने अपने समाजका उपहास ही कराया।

इसके बाद मैं उठा। मैंने हुल्लड़बाजोंको ऐसी फटकार बतलाई कि उनकी सारी चिल्ल-पों गायब होगई और सभामें पूर्ण शान्ति छा गई। सेठ गोविन्ददासजीने भी दो-चार शब्द कहे। अन्तमें सभानेत्रीने सभा-विसर्जित करते हुए हुल्लड़बाजोंसे पूछा, "क्या यही तुम्हारा वैदिक-

धर्म है ? क्या यही आर्य-संस्कृति है ? क्या यही आर्यसमाजका सिद्धांत है और क्या यही स्वामी दयानन्दकी शिक्षा है ?" जवाब कौन देता ? समझदार आर्यसमाजी ग्लानिसे गड़ गए। पं० सत्यदेव विद्यालंकारने दैनिक 'हिन्दुस्तान'में इस विषयपर जो अग्रलेख लिखा था वह वास्तवमें विवेकशील आर्यसमाजियोंकी व्यथाकी प्रतिध्वनि था।

सभामें महात्मा गांधीसे लेकर युक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त और उड़ीसाके प्रधान-मन्त्रियों, दक्षिण अफ्रिकाके भूतपूर्व एजेण्ट-जनरलों, सभी दलके अग्रनेताओं और प्रसिद्ध पत्रकारोंके सन्देश पढ़कर सुनाये गए थे। सभाके विवरण, भाषण और सन्देश तो अखबारोंमें छपे ही, पर उनको नेटाल इंडियन कांग्रेस तथा इण्डियन ओवरसीज सेन्ट्रल एसोसियेशनकी तरफ-से पुस्तकाकार भी छपवाकर हजारों प्रतियाँ देश-विदेशों में बाँटी गईं।

: ४४ :

हिन्दुस्थानमें हलचल

दिल्लीमें तीन सप्ताह बिताकर मैं आगराको रवाना हुआ। दिल्लीकी दौड़-धूपमें इतना थक गया था कि आगरामें दो-चार दिन विश्राम कर लेनेका विचार था। इसलिए मैंने दयानन्द अनाथालयके मंत्री श्री राजबहादुरजी और मैनेजर श्री द्वारिकाप्रसाद शर्माके सिवा और किसीको अपने आनेकी सूचना नहीं दी थी। पर इन मित्रोंकी कृपासे शहरमें ढिंढोरा पिट गया था। इसलिए जब मैं राजामंडी स्टेशनपर पहुँचा तो वहाँ बैण्ड बाजेकी आवाज और सैकड़ों कंठोंके तुमुल जय-नादसे मेरी तबियत घबरा उठी। सोचा, चला था विश्राम करने और यहाँ पड़ गया मानव-मेदिनीसे पाला। आये थे नमाज छुड़ाने, पड़ गया रोजा गले।

मजा भी आता है दुनियामें मशहूर होनेमें।
सजा भी मिलती है दुनियामें मशहूर होनेपर॥

चैतकी कड़ी धूप, दोपहरकी वेला, पसीनेसे शरीर सराबोर और प्यासकी शिद्दत—तिसपर प्रेम-प्रदर्शनका यह झमेला? खैरियत यही हुई कि स्टेशनके समीप ही शिष्टाचारकी विधि पूरी करके छुट्टी दे दी गई। मैं दयानन्द अनाथालयमें ठहरा। यह आर्यसमाजकी एक प्रतिष्ठित संस्था है और यहाँ सैकड़ों अनाथ बच्चोंको भोजन-वस्त्र और शिक्षा मिलती है। मेरे आरामके लिए पूरा इन्तजाम किया गया था, पर साथ ही वृषभकी भाँति सार्वजनिक छकड़ेमें अच्छी तरह जोतनेका भी। जो

कुछ खान-पानमें खर्च हुआ, वह सूद सहित वसूल भी कर लिया गया। कहीं आर्यसमाजकी सभा हो रही है तो कहीं कांग्रेसकी;यहाँ विद्यार्थियों-की सभा है तो वहाँ कन्याओंकी। समयका सदुपयोग करनेमें आगरा-निवासी बड़े प्रवीण हैं।

बहुत वर्षोंके बाद यहाँ स्वामी परमानन्दजीसे मुलाकात होगई। आर्यसमाजके वह एक आभूषण हैं और हिन्दीके हिमायती। उन्होंने पं० हरिशंकरजी शर्माके सहयोगसे 'आर्य-संदेश' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला था, जो अर्थाभावके कारण अस्त होगया। श्री शालिग्रामजी, श्री पूर्णचन्द्रजी, श्री राजबहादुरजी आदि महाभागोंके सत्संगसे लाभान्वित हुआ, परन्तु पं० हरिशंकरजीजी शर्माके दर्शनसे वंचित ही रहा। वह हैदराबाद-सत्याग्रहके सिलसिलेमें शोलापुर गये थे। न आगराका किला देख पाया और न ताजमहल ही। सन् १९५२में उनको देखा था फिर देखनेका मौका ही न मिला। इस बार तो सारा समय सभा-समितियोंमें प्रवासी भारतीयोंकी कहानी सुनानेमें बीत गया।

अजमेरमें अस्पतालका आश्रय

आगरासे अजमेर पहुँचा। यहाँ आर्य-साहित्य-मंडलके संचालक श्री मथुराप्रसाद शिवहरेका मेहमान बना। शिवहरेजीने पं० जयदेवजी विद्यालंकारसे चारों वेदोंका हिन्दी अनुवाद कराके उनको मंडल द्वारा प्रकाशित किया है। वह बड़े कार्य-कुशल व्यक्ति हैं। उनके उद्योग और परिश्रमसे आर्य-साहित्य-मंडल और फाइनआर्ट प्रिंटिंग प्रेस केवल राज-स्थानमें ही नहीं, हिन्दुस्थान-भरमें प्रख्यात हो गए हैं और विदेशोंमें भी उनकी प्रतिष्ठा जम गई है। इस समय शिवहरेजी म्युनिसिपल्टी-का मेम्बर बननेके लिए परेशान थे। यह बात मेरी समझमें न आई कि ऐसे अच्छे कार्यकर्ता चुनावके झमेलेमें पड़कर क्यों अपनी बुद्धि और शक्तिको नष्ट करते हैं? म्युनिसिपल्टी और कौन्सिलकी कुर्सीमें कौन-सी ऐसी खूबी है, जिसके लिए लोग फकीर बने फिरते हैं। सन् १९२१में डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजीके सभापतित्वमें कांग्रेस कमेटीकी बैठक पटनामें

हो रही थी। जब अखिल भारत कांग्रेस कमेटीके लिए सदस्योंका चुनाव शुरू हुआ तो आरा जिलेकी तरफसे किसीने मेरा नाम पेश कर दिया। मेरे मुकाबलेमें सरदार हरिहरसिंह उम्मीदवार खड़े हो गए, अतएव मैंने अपना नाम वापस ले लिया। जब प्रान्तकी तरफसे पन्द्रह सदस्य चुननेका प्रसंग आया और तीस सदस्य मैदानमें आगए तो मैंने यह कहकर अपना नाम फिर वापस ले लिया कि "जिस कामको करनेके लिए पन्द्रहकी जगह तीस भाई तैयार हैं वह मुझे नहीं चाहिए. मैं अपने लिए और कोई काम ढूँढ लूँगा। देशमें कामकी कमी कहाँ है, कार्यकर्त्ताओंकी कमी अवश्य है।" श्रद्धेय राजेन्द्र बाबूसे लेकर प्रान्तके सभी प्रमुख नेताओंकी यह राय और सलाह थी कि मेरा चुनाव भारी बहुमतसे निश्चित है और मुझे आल इंडिया कांग्रेस कमेटीमें जाना ही चाहिए। पर मैं अपने संकल्पसे नहीं डिगा। मैं तो देखता हूँ कि यह चुनावकी प्रतिद्वन्द्विता कार्यकर्ताओंमें पारस्परिक वैमनस्य फैलाने वाली संक्रामक व्याधि बन रही है।

अजमेरमें प्रिन्सिपल शेषाद्रिसे मिलनेकी बड़ी अभिलाषा थी वह पूरी हो गई। शेषाद्रि साहब भारतके उच्चतम विद्वानोंमें एक थे और उन दिनों अजमेरके सरकारी कालेजमें वे प्रिन्सिपल थे। अजमेरमें ही अचानक मैं मलेरियाकी चपेटमें आगया। जब रोग असाध्य हो चला तो विक्टोरिया अस्पतालका आश्रय लेना पड़ा। अस्पतालमें ही रुग्ण-शय्या पर पड़े-पड़े एक प्रवासी-भवन बनानेकी कल्पना सूझी जिसे तीन सालके बाद अजमेरके ही आदर्शनगरमें कार्यान्वित कर पाया। यहीं ठा० राज बहादुरसिंहके प्रस्तावकी आवश्यकता और उपयोगिताका अनुभव हुआ और यहाँसे बड़ौदा जाकर मैंने उनकी 'प्रवासीकी कहानी' लिख डाली। इस विषयपर मैं विस्तारपूर्वक इस पुस्तकके प्रारम्भमें ही 'ग्रन्थकीगाथा' शीर्षक पंक्तियोंमें लिख चुका हूँ अतएव यहाँ उसकी पुनरावृत्ति निरर्थक है।

बड़ौदामें विश्राम

अजमेरमें अस्पतालसे निकलकर मैं ठहरा नहीं, विश्रामके लिए बड़ौदा चला गया और वहाँ आर्य कन्या महाविद्यालयमें आसन जमाया। बड़ौदामें जहाँ ठाकुर राजबहादुरसिंहके सत्संगका आनन्द रहा, वहाँ सुप्रसिद्ध स्वामी शंकरानन्दजीके भी दर्शन हो गए। स्वामीजी दक्षिण अफ्रिकामें चार वर्ष वैदिक धर्मका प्रचार करके प्रवासी हिन्दुओंको चिर-ऋणी बना चुके थे। इधर वृद्धावस्थाके कारण वह कई वर्षोंसे वीरपुरमें रहते थे और काठियावाड़के राज-वंशमें वैदिक धर्मका प्रचार कर रहे थे। मैंने उनको सूचित किया था कि यदि ईश्वरकी कृपा हुई तो अफ्रिका लौटनेसे पहले उनके दर्शन कर लूँगा। इसके जवाबमें स्वामी जीने लिखा कि "आपके ईश्वरकी न जाने कबतक कृपा होगी, पर मेरे ईश्वरकी कृपा इसी समय हो गई है और मैं आपसे मिलने बड़ौदा आ रहा हूँ।" स्वामी जी अंग्रेजी और हिन्दीके शक्तिशाली वक्ता थे। उनके निधनसे आर्य-जगत्‌को भारी क्षति हुई है। मैंने तो उनके जीवनपर 'स्वामी शंकरानन्द-संदर्शन' नामक एक बृहद् ग्रंथ ही लिखा है; जो 'प्रवासी भवन'से प्रकाशित हुआ है।

बड़ौदामें "० आनन्दप्रियजीके परिवारने बड़ी लगनसे मेरी सेवा-शुश्रूषा की, जिससे एक पखवारेमें ही मेरे शरीरमें यथेष्ट शक्ति आ गई और मैंने वहाँसे बम्बईकी ओर प्रस्थान कर दिया। आर्य कन्या विद्यालयकी देवियोंने मेरी विदाईके उपलक्ष्यमें एक जलसा कर डाला, जिसमें उनके संगीत और गरबा-नृत्य हुए। धनुर्विद्या और व्यायामके अद्भुत चमत्कार दिखाये गए और मद्र-देशके नारी-जीवनकी एक प्रहसनात्मक झाँकी भी दिखाई गई। कन्याओंने मुझसे संदेश माँगा। मैं और तो क्या कहता? यही कहना उचित जँचा कि उनके जीवनमें भारतकी स्वतंत्रताके लिए तड़पन, एक जलन और एक लगन होनी चाहिए। जबतक मातृ-भूमि पराधीनताकी पीड़ासे कराह रही है तबतक आमोद-प्रमोद और सिंगार-पटारको भूल जाना

चाहिए। "जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"को अपने जीवनका मूल-मंत्र बना लेना चाहिए।

बड़ौदासे मैंने नवसारीके निकट 'सालेज' गाँवमें पहुँचकर गुजरातके ग्रामीण-जीवनकी एक झलक भी देख ली। उस गाँवमें मेरे एक पुराने मित्र श्री प्रागजी खंडुभाई देसाई रहते हैं, जो दक्षिण अफ्रिकामें प्रवासी भारतीयोंकी सेवा करके वहाँके इतिहासमें अपना नाम अमर कर चुके हैं। वह महात्माजीकी सत्याग्रह-सेनामें शुरूमें ही भर्ती हो गए थे और ट्रांसवालकी लड़ाईमें कई बार जेल भोग आए थे। वह लेखक हैं, सम्पादक हैं और सच्चे जन-नायक हैं। वह साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसके मंत्री रह चुके हैं; नेटालमें महात्मा गांधीके अखबार 'इंडियन ओपीनियन' और सूरतके 'नवयुग'का सम्पादन भी कर चुके हैं और भारतीय स्वाधीनताके युद्धमें भी कई बार बन्दी-घरमें बसेरा कर चुके हैं। उन दिनों वह सूरत जिला-बोर्डके उपसभापति थे और बम्बईमें ही मुझसे मिलकर अपने गाँवपर आनेका वचन ले चुके थे। उनकी धर्मपत्नी देवी पार्वती कुछ काल महात्माजीके साथ साबरमती-आश्रममें रह चुकी हैं और दक्षिण अफ्रिका भी अपने पतिदेवके साथ जा चुकी हैं। प्रागजी भाईकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं है, पर देश-सेवाका नशा एक बार चढ़ जानेपर फिर कहाँ उतरने वाला ?

यह दर्दे-सर ऐसा है कि सर जाय तो जाये।
उल्फतका नशा जब कोई मर जाये तो जाये ॥

ट्रांसवालमें मिआदी कानून और सत्याग्रह

बम्बई पहुँचनेपर मुझे खबर मिली कि दक्षिण अफ्रिकाकी स्थिति दिन पर-दिन खराब ही होती जाती है, ट्रांसवालमें डाक्टर दादूके नेतृत्वमें राष्ट्रीय दलने सत्याग्रह-संग्राम छेड़नेका संकल्प कर लिया है। हिन्दुस्तानके अखबारोंमें प्रवासी भारतीयोंकी काफी चर्चा हो रही थी, लोक-मत क्षुब्ध हो रहा था, देशके नेता भी चिन्तित और चौकन्ने हो रहे थे। भारत-सरकारकी कुम्भकर्णी नींद भी टूट चुकी थी और वह

अपने एजेण्ट-जनरलके द्वारा पृथक्करण-नीतिका घोर विरोध कर रही थी। इसलिए यूनियन-सरकारको आगे बढ़ने और इच्छित कानूनको पास कर डालनेमें कुछ हिचकिचाहट हुई। उसकी वर्ण-विद्वेष-पूर्ण योजनामें मेरा आन्दोलन विघ्न बन गया। अतएव अपनी बातकी लाज रखने तथा श्वेताङ्ग आन्दोलनकारियोंको संतुष्ट करनेके लिए एक मिआदी कानून पास किया गया,जो केवल ट्रांसवाल-प्रदेशपर दो सालके लिए लागू होता था।

इस मिआदी कानूनपर मैंने हिन्दुस्थानके तत्कालीन वायसराय लार्ड लिनलिथगोको एक खुली चिट्ठी लिखी, जो दक्षिण अफ्रिकाके भारतीयोंके संकटपूर्ण इतिहासका शोक-पर्व थी। वह चिट्ठी हिन्दुस्तान-भरके अखबारोंमें प्रकाशित हुई और उसपर भारत तथा दक्षिण अफ्रिकामें काफी चर्चा हुई। उत्तरमें वायसरायकी तरफसे मुझे विश्वास दिलाया गया कि दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंकी समस्यामें भारत-सरकारकी पूरी सहानुभूति और दिलचस्पी है। भारत-सरकार पृथक्करण-योजनाको किसी भी रूपमें स्वीकार न करेगी और सरकारकी इस नीतिमें न कोई फर्क पड़ा है और न पड़ेगा। मुझे दक्षिण अफ्रिका लौटनेसे पूर्व शिमला आनेका भी आमंत्रण मिला।

उन दिनों महात्मा गांधी भी बम्बईमें ही थे। मालाबार पहाड़ी-पर बिड़ला-भवनमें ठहरे हुए थे। अस्वस्थ और कार्य-व्यस्त होते हुए भी बापूने मुझसे मिलनेका कष्ट उठाया। बापू हँसते हुए बोले, "ध्यान रखना कि मेरी तबियत अच्छी नहीं है। इसलिए आज किसीसे मिलनेका मेरा इरादा नहीं था, पर तुमसे मिलनेमें इन्कार नहीं कर सका। अधिक बातचीत करके मुझे हैरान मत करना।" मैंने जवाबमें प्यारेलालजीकी तरफ उँगलीसे इशारा करके कहा, "बापू! यदि आपको तकलीफ हुई हो तो इसकी जिम्मेदारी भाई प्यारेलालपर है। मैंने इनसे साफ कह दिया था कि यदि बापूकी तबियत अच्छी न हो तो आज ही उनसे मिलनेकी मुझे कोई उतावली नहीं है, पर इन्होंने तुरन्त आपसे मुलाकात करा दी।" बापूकी यह

राय थी कि ट्रांसवालमें सत्याग्रह करनेका समय नहीं आया है। जब तक सारे व्यवस्थित आन्दोलन निरर्थक न हो जायं तब तक सत्याग्रहका सहारा लेना उचित नहीं। मेरा काम हो गया, मैंने साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसको तार द्वारा बापूके अभिमतसे सूचित कर दिया।

बापूकी उम्र अब बहुत ढल गई। अब वह तीस सालके युवक थे तभीसे मैं उनको देखता आ रहा हूं। बचपनमें उनकी गोदमें बैठकर खेल भी चुका हूँ। युवावस्थामें उनके सत्याग्रहका एक सिपाही बना और उनको नेटालकी नीची-ऊँची, ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी सड़कोंपर मीलों पैदल चलते, कुदालसे खेत गोड़ते, कुल्हाड़ेसे लकड़ी चीरते और एक बारमें घण्टा-भर प्रेसकी भारी सिलेण्डर मशीन चलाते हुए भी देखा। पर अब तो बापू बहुत वृद्ध होगए। ज्यों-ज्यों उनकी उम्र ढलती जाती है त्यों-त्यों ताकत भी घटती जाती है। अब तो उनको अधिक बोलनेमें भी थकावट आ जाती है। इस बार बापूकी स्थिति देखकर मुझे कविवर 'दाग'की यह बात याद हो आई—

रहती है कब बहारे जवानी तमाम उम्र।
मानिन्द बूये गुल इधर आई उधर गई॥
जो जाकर न आये, वह जवानी देखी।
जो आकर न जाये, वह बुढ़ापा देखा॥

बिड़ला-भवनमें ही तत्कालीन राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजीसे भी मुलाकात होगई। ठाकुर राजबहादुरसिंहके साथ जब मैं उनके कमरेमें पहुँचा तो उनके कृश गातपर क्लान्तिकी छाया पाई, पर मुखपर वही मधुर मुस्कान की रेखा और वाणीमें वही मोहक ध्वनिकी गूँज। मैंने राष्ट्रदेवको दक्षिण-अफ्रिका-प्रवासी भाइयोंकी दुःख-भरी कहानी संक्षेपमें सुना दी और उनसे भारतकी सहायताके लिए याचना की। उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि प्रवासी भारतीयोंका यह अपमान भारत-राष्ट्रका अपमान है और कांग्रेस इसका तीव्र प्रतिवाद करेगी। राष्ट्रपतिने एक वक्तव्य निकालकर ब्रिटिश और यूनियन-सरकारको कड़ी

चेतावनी दी कि यद्यपि इस समय भारत पराधीन होनेके कारण अशक्त और असमर्थ है तो भी निकट भविष्य में स्वतन्त्र होनेपर वह इस अपमानको भूलेगा नहीं, याद रखेगा और इसका बदला चुकाकर ही दम लेगा। उन्होंने आठ प्रान्तोंकी कांग्रेसी-सरकारोंको भी आदेश दिया कि भारत-सरकारके जरिये वे ब्रिटिश-सरकारपर दबाव डालें और प्रवासी भारतीयोंको इस रंग-द्वेष-मूलक अपमान और आपदासे बचानेकी कोशिश करें। 'खूँटेके बल बछड़ा कूदे' मातृ-भूमिका सहारा पाकर मेरी शक्ति बढ़ गई। ठाकुर राजबहादुरसिंहने 'प्रवासीकी कहानी'के लिए राष्ट्रपतिसे भूमिका भी लिखवा ली।

उनसे मिलकर ठाकुर साहबके साथ मैं श्री हाथीसिंहके मकानपर पहुँचकर पं० जवाहरलाल नेहरूसे मिला। उनके दोनों भानजे, देवी कृष्णाके बच्चे, उनसे खिलवाड़ कर रहे थे, कभी कन्धेपर कूदते, कभी गोदमें उछलते। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिका वह प्रकांड पंडित और भारतीय स्वाधीनताका वह अग्रनेता उन बच्चोंके साथ निरा बच्चा बना हुआ था। दक्षिण अफ्रिकाकी गाथा सुनकर उनका चेहरा बदल गया। क्रोधसे शरीर काँप उठा, आँखोंमें खून उतर आया। सर्द आह भरकर वह बोले कि "हमारी गुलामीका यह नतीजा है। गुलामोंकी दुनियामें कहीं कद्र नहीं हो सकती।" उनकी बातसे मेरा दिल भी भर आया। सोचा कि काश! अगर आज हमारा देश आजाद होता और होती हमारी कौमी सरकार, तो हमारे मानवीय अधिकारोंको कुचलनेकी ढिठाई कौन कर सकता? दक्षिण अफ्रिकामें हम केवल इन्साफ चाहते हैं, इन्सानियतका व्यवहार चाहते हैं, पर कौन सुनता है? गुलामों और कमजोरोंके साथ वाचिक सहानुभूति प्रकट कर उनका गला घोंटा जा सकता है, उनको वचन देकर भंग किया जा सकता है, समझौता करके ठुकराया जा सकता है और उनपर दया-सिक्त बातोंकी बौछार करके दुनियाको धोखा भी दिया जा सकता है, पर उनके साथ इन्साफ कौन करता है, उनको इन्सानियतका अख्तियार कौन देता है? कहावत भी

तो है—

उन्हींकी भैंस है भाई कि जिनकी लाठी है।
उन्हींका गाँव है 'अकबर' जो बन सके ठाकुर ॥

यही इस युगका सिद्धान्त है। न्याय और मनुष्यताकी पुकार मचाने वालोंपर दो-चार चपत और जड़ देना सामयिक सभ्यताकी सर्वोपरि विशेषता है। इस जमानेमें उसीका गुजर हो सकता है जो "कण्टके-नैव कण्टकम्"को कार्यान्वित करनेकी शक्ति रखता है। कौन नहीं जानता कि जब तक भारत पराधीनता और दासताकी बेड़ीमें बँधा है तब तक उसकी प्रवासी संतानको श्वेताङ्गोंकी ठोकरें खानी ही पड़ेंगी, दिल थामकर और खूनके घूँट पीकर दिन काटनेके सिवा और कोई उपाय नहीं। महाकवि तुलसीदासका वचन "पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं" अक्षरशः सत्य है।

खैर, राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी और पंडित जवाहरलाल नेहरूसे मुझे बड़ा प्रोत्साहन मिला। भारतीय राष्ट्रके इन दोनों सूत्रधारोंके वक्तव्यकी भारत और दक्षिण अफ्रिकामें बड़ी चर्चा हुई और प्रवासी भारतीयोंमें आशा और विश्वासकी एक नई लहर फैल गई। 'बॉम्बे-क्रॉनिकल'के सैयद अब्दुल्ला ब्रेलवी, श्री प्रभु और ख्वाजा अहमद अब्बास प्रभृतिसे परिचय होनेके कारण उनसे मुझे प्रचार-कार्यमें बड़ी मदद मिली। बम्बईके अन्य पत्रकारोंने भी प्रवासी भारतीयोंकी सामयिक स्थितिकी चर्चा करनेमें कोई कोताही नहीं की। अब्बासजीने तो अंग्रेजीमें 'हिन्दुस्थानसे बाहर' (Outside India) नामक एक पुस्तक ही लिखी है, जिसमें उन्होंने अपने अनुभवोंके आधारपर बतलाया है कि पराधीनताके कारण विदेशोंमें भारतीयोंका कैसा तिरस्कार होता है।

कलकत्तेकी कार-गुजारी

बम्बईसे जूनके दूसरे सप्ताहमें मैं कलकत्ता पहुँचा। एक सप्ताह तो आर्यसमाजमें ठहरा और उसके बाद सेठ गोविन्ददासजीके साथ बाली-

गंजमें । सेठजीने स्वागताध्यक्षकी हैसियतसे त्रिपुरी-कांग्रेसमें आनेको मुझे आमंत्रित किया था, पर वायुयानकी व्यवस्था न हो सकनेके कारण मैं डाक-जहाजसे आया और त्रिपुरी-कांग्रेसके बाद भारत पहुँचा। सेठजी अफ्रिकाका भ्रमण कर चुके हैं और उस यात्राका मनोरंजक विवरण 'हमारा उपनिवेश' नामक उनके ग्रंथमें दिया गया है। उस समय वह आदर्श फिल्म कम्पनीके लिए अफ्रिकापर ही एक फ़िल्म तैयार करा रहे थे ।

कलकत्तेमें मैं तीन सप्ताह ठहरा । इस बीचमें एक दिन भी ऐसा नागा न गया, जिस दिन कि कलकत्तेके अखबारोंमें प्रवासी भारतीयों-की चर्चा न हुई हो । 'एसोसियेटेड प्रेस' और 'यूनाइटेड प्रेस'के प्रति-निधियोंने तो नित्य सवेरे दर्शन दे जानेका नियम बना लिया था । मेरी यह शिकायत थी कि बंगाली पत्रकार प्रवासी भारतीयोंकी समस्यामें यथेष्ट दिलचस्पी नहीं लेते हैं, पर इस बार उन्होंने यह शिकायत मिटा दी । अमृत बाजार पत्रिका, हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड, एडवान्स, आनन्द बाजार पत्रिका, युगान्तर, मातृ-भूमि आदि दैनिक पत्रोंमें प्रवासी भार-तीयोंपर इतने लेख छपे कि यदि उनको एकत्र कर दिया जाय तो एक अच्छी पोथी तैयार हो जायगी । एक दिन एक बंगाली देवीने मुझे 'जयश्री' नामक मासिक पत्रिकाकी एक प्रति भेंट की । यह देखकर मेरे आश्चर्यकी सीमा न रही कि उसमें मेरे मिशन एवं दक्षिण अफ्रिका-प्रवासी भारतीयोंपर ऐसा सुन्दर, प्रामाणिक और विस्तृत लेख निकला था जैसा कि हिन्दीके किसी दैनिक, साप्ताहिक अथवा मासिक पत्रमें दृष्टिगोचर नहीं हुआ ।

कलकत्तेमें ऋषि-कल्प पं० मदनमोहन मालवीयके भी दर्शन होगए । यह सुनकर मैं चिन्तित हो उठा कि पंडितजी असाध्य रूपसे बीमार हैं और बिड़ला-भवनमें उनका उपचार होरहा है । डाक्टरोंने किसीसे मिलने-जुलने और बातचीत करनेकी सख्त मनाही कर दी थी; पर पंडितजीने अपने दर्शनोंसे वंचित रखना उचित न समझा।

मैंने भी उनके समीप जाते समय संकल्प कर लिया था कि अधिक बातचीत करके डाक्टरकी सलाहकी उपेक्षा न करूँगा। यद्यपि उनका शरीर सर्वथा शक्ति-हीन होगया था, वाणी-क्षीण होगई थी और बोलनेमें कष्ट हो रहा था, तथापि उनके हृदयमें प्रवासी भारतीयोंके लिए इतनी वेदना थी कि वह लगे दक्षिण अफ्रिकाकी परिस्थितिपर प्रश्न-पर-प्रश्न करने। उनकी अवस्था देखकर मैंने वहाँ ठहरना अनुचित समझा और यह कहकर उनसे विदा ली, "बस दर्शन हो चुके, अब मुझे आज्ञा और आशीर्वाद दीजिये। इस हालतमें बात-चीतसे आपको तकलीफ और हानि होगी।" सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला और सेठ युगलकिशोरजी बिड़लासे भी भेंट होगई। प्रवासी भारतीयोंके सेवा-कार्यमें जब-जब भी जरूरत पड़ी है, बिड़ला-बन्धुओंसे तब-तब ही मुझे आर्थिक सहायता मिली है। उनके दरवाजेसे मुझे कभी निराश होकर नहीं लौटना पड़ा है—मेरी याचना कभी व्यर्थ नहीं गई है। उनके दिलमें दलित और पीड़ित प्रवासी भारतीयोंके लिए दर्द है। ईश्वरने उनको धन तो दिया ही है, पर उसके सदुपयोगके लिए विवेकसे भी वंचित नहीं रखा है।

कलकत्तेमें हिन्दी-पत्रकारोंसे भी मुझे काफी मदद मिली। इस बार पं० बनारसीदास चतुर्वेदीकी अनुपस्थिति मुझे अखरे बिना न रही। प्रवासी भारतीयोंके सेवा-क्षेत्रसे वह विरक्त हो ही चुके थे, अब 'विशाल-भारत'से भी उनको वैराग्य होचुका था और कलकत्तेकी कुटिया त्यागकर वे ओरछाके राज-महलमें गुलछर्रे उड़ा रहे थे। 'विशालभारत'-कार्यालय वीरान और सूना पड़ा था—वह वहाँ न चौबेजी का चाय-चक्रम था, न शर्माजी की विनोद-वारुणी और न शर्माजी की शिकार शिखरिणी थी—बेचारे कमलाकान्तजी शान्तिसे एकांतमें बैठकर बिरहा गा रहे थे। 'विश्व-मित्र' की आलीशान अट्टालिकामें पं० मातासेवक पाठक, पं० बाबूराम मिश्र, पं० श्रीकान्त ठाकुर, पं० देवदत्त मिश्र और पं० शिवदेव उपाध्याय 'सतीश'की अच्छी गोष्ठी जम गई थी। सभी प्रवासी भारतीयोंको वर्ण-विद्वेषकी वेदीपर बलि चढ़ते देखकर व्यथित हो रहे थे। पंडित

बाबूराम मिश्रने तो 'केनियामें हिन्दुस्तानी' नामकी एक पुस्तक ही लिख डालीथी, जिसमें ब्रिटिश सरकारकी रङ्ग-द्वेष-मूलक नीतिका सजीव वर्णन था। 'विश्वमित्र'के सर्वेसर्वा श्री मूलचन्द्रजी अग्रवाल उन दिनों 'एडवान्स'के मामलेमें बंगाली बाबुओंकी मनोवृत्ति और प्रवृत्तिसे बड़े चिन्तित और दुःखित थे। बेचारे 'एडवान्स'को बचानेके लिए हजारों रुपये गाँठसे लगा चुके थे. पर बङ्गाली बाबू देशबंधुके 'एडवान्स'को किसी गैर-बङ्गालीके हाथमें जाने देना कैसे सहन कर सकते ? इसी खटपटसे वह खिन्न थे। 'जागृति'के कार्यालयमें श्री मिहिरचन्द्र धीमान् और श्रीजगदीशचन्द्र 'हिमकर'के सिवा प्रसिद्ध पत्रकार मुंशी नवजादिक-लाल श्रीवास्तवसे भी अंतिम भेंट हुई। कुछ ही कालके बाद मुंशीजी 'जागृति'की ज्योति जगाकर और हिन्दी-संसारको रुलाकर चल बसे।

आर्यसमाजकी ओर दृष्टि डाली तो पं० अयोध्याप्रसादजीको हरिसन रोडके अपने कमरेमें बैठकर विश्वमें वैदिक धर्मकी विजय-वैजयन्ती फहराते हुए पाया। उनके जैसे प्रकांड पण्डितमें यदि कुछ क्रियाशीलता भी होती तो आर्यसमाजका बहुत कुछ हित हो सकता। पं०सुरेन्द्रनाथ शर्मा और उनकी धर्मपत्नी पंडिता कौशल्या देवी, पं०अवधविहारीलाल और पं० नित्यानन्द आर्यसमाजके कार्यमें मशगूल मिले। एक और आर्य महाशय मिले, उनका नाम तो याद नहीं, पर उनकी बात कभी भूल नहीं सकता। वह मेरे समीप आकर बड़े तपाकसे बोले, "देखा आपने ?" मैंने इधर-उधर नजर दौड़ाई तो उनकी सूरतके सिवाय और कोई खास चीज दिखाई न पड़ी। मुझे चकित देखकर वह और भी चपलतासे बोले, 'अजी, इसमें विस्मयकी बात ही क्या है ? ऋषिका यह कथन "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" क्या कभी वृथा हो सकता है ? इसी वचनके आधारपर हमारे आर्य-संगीताचार्य गाया करते हैं कि

"आवाज अपने कानों एक दिन सुनोगे प्यारे।
यूरोपमें आर्योंका झंडा लहरा रहा है॥"

इसकी सचाई देखिये न ? आज जर्मनीमें आर्य-राष्ट्रका निर्माण हो रहा है, स्वस्तिककी पताका शानसे फहरा रही है। आर्यत्वकी रक्षाके लिए हिटलरका अवतार हुआ है। वह आर्यजातिके सिवा अन्य सभी जातियोंको अधम और नीच बतला रहा है। इससे बढ़कर आर्यसमाज-की विजयका प्रमाण और किसीको क्या चाहिए ?' मुझे उनकी बुद्धि-पर दया आये बिना न रही। सोचा कि इन महाशय को यह नहीं मालूम कि हिन्दुस्तानियोंको हिटलर आर्य मानता ही नहीं। पर उनसे माथा-पच्ची करनेकी हिम्मत न पड़ी—'मौनं सर्वार्थ साधनम्' नीति-को अमलमें लाना ही ठीक जँचा।

मारीशस द्वीपके बहुत-से विद्यार्थी भी मिले। उनका यही रोना था कि हिन्दुस्थान उनके लिए वीरान बन गया है और उनकी खोज खबर लेनेवाला यहाँ कोई नहीं है। पर वे इस बातको भूल रहे थे कि उन्होंने स्वयं अपनी मातृ-भूमिसे कहाँ तक ममता और नेह-नेता बनाये रखा है। उन विद्यार्थियोंमें कुछ युक्तप्रांतके थे और कुछ बिहारके, पर किसी-को अपने बाप-दादेके गाँवका नाम तक मालूम न था।

कलकत्तेमें दक्षिण-अफ्रिका-प्रवासी भारतीयोंके साथ हमदर्दी दिखानेके लिए कई सभाएँ भी हुईं; जिनमें इंडियन चैम्बर आफ कामर्स-के सभापति श्री गगनविहारी मेहताकी अध्यक्षतामें श्रीरामकृष्ण मठकी सांस्कृतिक संघकी, बंग प्रांतीय कांग्रेसकी महिला-समितिकी तरफसे महाबोधि सोसायटी हॉलकी, मद्रासियोंकी ओरसे मैसूर-लॉजकी, और गुजरातियों की तरफसे श्री वीरचन्द पन्नालालकी कोठीकी सार्वजनिक सभाएँ उल्लेखनीय हैं। इन सभाओंमें मेरी वक्तृताएँ क्या थीं मानो प्रवासी भाइयोंके करुण-क्रन्दनकी प्रतिध्वनि थीं। एक दिन जबर्दस्ती आर्यसमाजमें भी मुझे घसीटा गया और हैदराबाद-सत्याग्रहपर कुछ कहनेके लिए मजबूर किया गया। यद्यपि मैं प्रवासी भारतीयोंके सिवा भारतकी समस्याओंपर मौन रहना ही उचित समझता था, क्योंकि—

इन्सानके लिए गो है जबाँ नियामत।
लेकिन फिजूलगोई है एक बुरी आदत ॥

उस समय मेरी स्थिति ऐसी थी कि मैं हैदराबाद सत्याग्रहमें कोई क्रियात्मक भाग नहीं ले सकता था, अतएव 'परोपदेशे पाण्डित्यम्'-की लोकोक्ति चरितार्थ करना मुझे पसंद नहीं था, तथापि मेरा पिण्ड नहीं छोड़ा गया और यह कहकर कि कांग्रेस-कर्मी होनेके कारण मैं हैदराबादके अन्यायपर मुँह खोलना नहीं चाहता, बोलनेको बाध्य किया गया। मैंने सत्याग्रहियोंके साहस और शौर्यकी सराहना करते हुए उन नेताओंकी खूब खबर ली, जो दूसरोंको तो जेल जानेका उपदेश दे रहे थे, पर स्वयं अपने उपदेशपर अमल करनेको तैयार नहीं थे। इस-पर सभाके प्रधान श्री हरगोविन्दजी ऐसे बिगड़े कि आपेसे बाहर होगए। बात यह थी कि वह बहुत-से लोगोंको जेल भेज चुके थे, पर अपने लिए बहाना बना रहे थे कि यदि वह स्वयं जेल चले गए तो उनके स्थानकी पूर्ति न हो सकेगी और कलकत्तेमें आन्दोलनका अंत हो जायगा। मेरी यह दलील कि गांधीजी, नेहरूजी, राजेन्द्र बाबू, पटेल, बोस आदि अग्र-नेताओंके जेल चले जानेसे देशका काम नहीं रुका, कांग्रेसकी शक्ति नहीं घटी तो कलकत्ताके आर्य-नेताओंके बन्दी-घरमें बसेरा करनेसे सत्याग्रहकी गति क्यों शिथिल पड़ जायगी, प्रधानजीकी छातीमें तीर-सी चुभ गई। मेरे इस अपराधके लिए गांधीजी, नेहरूजी, राजेन्द्र बाबू, राजाजी, श्री बाबू आदि कांग्रेस नेताओंपर प्रधानजीने अपशब्दोंकी झड़ी लगा दी।

मेरे इस भाषणकी आनंद बाजार पत्रिका, हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड, विश्वमित्र, लोकमान्य आदि कलकतिया अखबारोंमें बड़ी चर्चा हुई और उससे आर्यसमाजकी कीर्तिमें अभिवृद्धि ही हुई। पर मुझे आर्यसमाजके भविष्यपर चिन्ता हुए बिना न रही। वास्तवमें आर्यसमाज कोई राजनीतिक संस्था नहीं, एक विशुद्ध धर्म-मंदिर है। जिसमें उन सबको प्रवेश करनेका अधिकार है, जो वैदिक धर्म और आर्य संस्कृतिपर श्रद्धा

रखते हैं—चाहें उनका राजनीतिक सिद्धान्त कुछ भी क्यों न हो। जहाँ उसमें राज भक्त ईश्वरोपासनाके लिए प्रविष्ट हो सकते है वहाँ राज-विद्रोही भी। चाहे कोई कांग्रेस-कर्मी हो अथवा हिन्दू महासभावादी, उग्र क्रान्तिकारी हो या शान्तिका संदेश-वाहक, सभीके लिए आर्य-समाजका दरवाजा खुला रहना चाहिए। आर्य समाजकी वेदीसे किसी राजनीतिक दलका खंडन मंडन करना उसके अस्तित्वके लिए घातक है। खेद है कि कहीं-कहीं समाजकी बागडोर ऐसे व्यक्तियोंके हाथमें आ गई है जो अपने पदकी जिम्मेदारी नहीं समझते और अपनी अदूर-दर्शितासे आर्य समाजको भारी हानि पहुँचा रहे हैं।

मेरे लिए तो आर्यसमाज वह माता है जिसकी गोदमें बैठकर मैंने सार्वजनिक सेवाका सबक सीखा है। पर दकियानूसी आर्यसमाजियों-की प्रवृत्ति मुझे पसंद नहीं आती, उनसे कभी-कभी कहा-सुनी भी हो जाती है। एक बार मैं आरा आर्य समाजके वार्षिकोत्सवमें सभापतित्व कर रहा था। श्रोताओंकी संख्या दस हजारसे अधिक थी। उस समय सदियोंका हिन्दू-मुसलिम स्नेह-सम्बन्ध टूट रहा था, देशकी दयनीय दशा थी, जगह-जगह हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे थे। कविकी यह वाणी रह-रहकर याद हो आती थी—

वह लुत्फ अब हिन्दुओं मुसलमाँमें कहाँ।
अगयार इनपर गुजरते हैं खन्दाँ—जनाँ॥
झगड़ा कभी गायका, जबाँकी कभी बहस,
है सख्त मुजिर यह नुसखये-गावजबाँ॥

उधर इस्लाम खतरेमें था, इधर हिन्दू-हित संकटमें। इधर भाले चलते थे, उधर बर्छे। धर्म और मजहबके नामपर गर्दन काटी जा रही थी। स्त्री-बच्चे तक तलवारके घाट उतारे जा रहे थे। इस दूषित वातावरणमें कहींसे एक आर्यमुसाफिर साहब आ गए थे। लोगोंका दावा था कि वह अरबीके आलिम, फारसीके फाजिल और कुरानके हाफिज हैं, पर मुझे तो उनकी करतूतसे यही जान पड़ा कि—

पढ़-पढ़ के पत्थर भये, लिख-लिख के भये ईंट।
ढो-ढो के गारा भये, चुनन लगे तब भीत॥

मुसाफिर महाशयने अपने भाषणकी भूमिका बाँधकर जब हजरत मुहम्मदपर कमीना हमला शुरू किया तो मेरी सहनशीलताने जवाब दे दिया और मैंने उनको यह कहकर आगे बढ़नेसे रोक दिया कि धर्मोपदेशकके मुखसे गन्दी बातें शोभा नहीं देती हैं। किसीके गुणोंको उपेक्षा करके दोष ढूँढना मानो मक्खीकी भाँति अच्छे अंगोंको छोड़कर घावपर जा बैठना है, जो सज्जनका नहीं, दुर्जनका काम है।

भ्रमरा मधुमिच्छन्ति व्रणमिच्छन्ति मक्षिका।
सज्जना गुणमिच्छन्ति दोषमिच्छन्ति पामरा॥

मुसाफिर महाशय तो बैठ गए, पर जनता मुझपर बिगड़ पड़ी। उसको ऐसी वाहियात बातमें मजा आ रहा था। पर मैंने यह साफ कह दिया कि जबतक मैं इस आसनपर बैठा रहूँगा तबतक यहाँ गन्दी गाथाओंकी गुंजाइश नहीं है।

इसी तरह सन् १९२६में सहसराम (बिहार) के आर्यसमाजका वार्षिकोत्सव मेरे सभापतित्वमें हो रहा था। एक राजगुरुजीने अपने भाषणमें उन लोगोंकी खूब खिल्ली उड़ाई और फटकार बताई जो कहते हैं कि जिनको संस्कृतका ज्ञान नहीं है उनको राष्ट्र-भाषा हिन्दीमें सन्ध्या प्रार्थना करना उचित है। उनके भाषणके बाद जब मैंने कहा कि मैं भी उन्हींमेंसे एक हूँ और मेरी भी यही धारणा है कि भगवान् भाषा नहीं, भाव देखते हैं। वह संसारकी सभी भाषाएँ समझते हैं, किसी भी भाषामें उनकी प्रार्थना करना पाप नहीं है। और यदि वैदिक धर्म सार्वभौम धर्म है तब तो संसारकी सभी भाषाओंमें वैदिक प्रार्थनाका अनुवाद हो जाना चाहिए। अर्थ और भावार्थ समझे बिना तोतेकी तरह संस्कृतमें सन्ध्याके मंत्र रटना व्यर्थ है। जो प्रार्थना अन्तरतमसे नहीं [illegible] वह एक दिखावटी तमाशा है, आत्म-प्रवंचना है।

[illegible] अधिकांश आर्यसमाजी [illegible] नहीं जानते, इसीलिए

सन्ध्याका अर्थ और मर्म भी नहीं समझ पाते। मुँहसे ध्वनि निकलती है, पर वह हृदयको स्पर्श नहीं करती। वह अपनी कही बात आप ही नहीं समझते। इससे फायदा? बस, फिर क्या था? राजगुरु इतने खफा हो गए कि उन्होंने मेरे सभापतित्वमें भाषण न देनेकी शपथ खा ली। अफसोस कि सहसरामके आर्य पुरुषोंने राजगुरुको संतुष्ट करनेके लिए सभापतिको बदल देना ठीक नहीं समझा, इसीलिए उनको राजगुरुके उपदेशामृतसे वंचित ही रहना पड़ा।

उसी सभामें एक तरुण संन्यासी (स्वामी सदानन्द) ने कह दिया कि वर्तमान वर्ण-व्यवस्था हिन्दुओंके लिए मरण-शय्या है, इसका मूलोच्छेद करके एक आर्य राष्ट्रके निर्माणमें ही देशका कल्याण है। इस बातसे तो राजगुरुजीकी वही हालत हुई--

> ग्रह ग्रहीत पुनि वात वस, तेहि पुनि बीछी मार।
> ताहि पियाइय वारूनी, कहहु कवन उपचार॥

वह अपने गुस्सेका गुबार निकालनेके लिए उस तरुण संन्यासीको पकड़कर दिन-भर शास्त्रार्थ करते रहे। आर्यसमाजको कुछ लोग मठ बनाकर स्वयं उसका महंत बनना चाहते हैं। वे अपनेको आर्यसमाजका सर्वेसर्वा समझते हैं और चाहते हैं कि उनकी बातपर कोई कुछ भी आपत्ति न करें। ऐसे ही महाभागोंके कारण आर्यसमाजकी गति मंद हो गई है और उसका भविष्य निराशाजनक दिखाई देता है।

: ४५ :

अफ्रिकासे आवाहन

कलकत्तेसे अपने प्यारे प्रान्त बिहार जानेका विचार था। सोचा कि इस बार लहेरियासरायसे ही बिहार-यात्राका आरम्भ होना चाहिए। अतएव कलकत्तेसे कूच करके रात रेलगाड़ीमें बिताई, दूसरे दिन सवेरे मोकामामें एक अग्निबोटपर बैठकर गंगा पार करनी पड़ी और वहाँसे फिर रेलकी सवारीपर उत्तरीय बिहारकी प्राकृतिक सुषमा देखते हुए दोपहरको लहेरियासराय पहुँच गया। वहाँ प्रसिद्ध कलाकार श्री उपेन्द्र महारथीके बंगलेपर ठहरा। शरीरमें इतनी थकावट थी कि तीन दिन तक वहाँसे टलनेकी हिम्मत न हुई।

साहित्यकारोंसे साक्षात्कार

हिन्दीकी सेवामें जीवनोत्सर्ग करने वाले आचार्य रामलोचनशरण बिहारीके दर्शनोंकी चिरभिलाषा ही मुझे लहेरियासराय खींच ले गई थी। मित्रवर श्री शिवपूजनसहायजी भी उन दिनों वहीं 'बालक'के सम्पादन-में योग दे रहे थे। वह मेरे ही आरा जिलेके एक रत्न हैं; अतएव उन-पर मेरी स्वभावतः ममता है। उन्होंने हिन्दी-साहित्यकी जो अनुपम सेवाएँ की हैं उनसे हिन्दी-संसारमें कौन अनभिज्ञ है? वह आत्म-विज्ञप्ति-से दूर भागते हैं, इसलिए हिन्दी-जगत्‌में उनकी प्रसिद्धि बहुत देरसे हुई। यदि साहित्य-सृजनमें वह अपनी सारी शक्ति लगाते तो उनके ग्रंथोंका एक ढेर लग गया होता, पर उनका अधिकांश समय दूसरोंकी कृतियोंको सँवारने-सुधारनेमें ही बीत जाता है। सैकड़ों नये लेखक उनसे

प्रोत्साहन पाकर आगे बढ़ चुके हैं। हिन्दीकी सेवा ही उनका एक-मात्र धर्म है। डाक्टर राजेन्द्र प्रसादजीकी 'आत्म-कथा' और राजा राधिका-रमण प्रसादसिंहके 'राम-रहीम' जैसी उच्चतम रचनाएँ उनकी सेवाकी साक्षी दे रही हैं। प्रोफेसर शिवपूजन सहाय हिन्दी-साहित्यके उन सपूतों-मेंसे एक हैं जिनपर हम गर्व कर सकते हैं।

आचार्य रामलोचन शरणजी यहाँ 'मास्टर साहब'के नामसे मशहूर हैं। वह भी मेरे आरा जिलेके ही निवासी हैं, परन्तु अब स्थायी रूपसे लहेरियासरायमें जा बसे हैं। आचार्यजी मुझ प्रवासीसे वैसे ही मिले, जैसे कोई अपने बिछुड़े भाईसे मिलता है। उस मधुर-मिलनकी स्मृति मेरे हृदयमें सदा सुरक्षित रहेगी। आचार्यजी बिहारकी एक साहित्यिक विभूति हैं। राष्ट्र-भाषाके चरणोंपर उन्होंने अपना जीवन निछावर कर दिया है। उनके साहित्यिक कार्योंका विवरण वास्तवमें बिहारके हिन्दी-साहित्यके इतिहासका एक अनुपम अध्याय है। मास्टर साहबको मैंने विशुद्ध साहित्यिक पाया। मुझे तो ऐसा प्रतीत हुआ कि साहित्य ही उनका धर्म, कर्म और भगवान् है।

मास्टर साहबने मुझे 'पुस्तक-भंडार'के भिन्न-भिन्न भाग दिखलाये। विशाल मुद्रणालय देखा, गोदाम देखा, पुस्तकोंका थोक देखा, 'बालक'-का दफ्तर देखा। सब कुछ देख-सुनकर जब मास्टर साहबके निजी दफ्तरमें आया तो वहाँ दीवारोंपर टँगी हुई तस्वीरोंपर मेरी आँखें अटक गईं। बिहारके सभी प्रमुख साहित्यकारोंके बड़े आकारके चित्ता-कर्षक चित्र थे। उनमें अपना भी एक चित्र देखकर मुझे बड़ा संकोच हुआ। वास्तवमें न तो मैं साहित्यकार हूँ और न भाषा-विज्ञानका जानकार ही। पर जिस प्रकार एक प्रवासी हिन्दी-प्रेमी होनेके कारण मुझे अखिल भारतीय हिन्दी-सम्पादक-सम्मेलन और बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके सभापतिके आसनपर बैठाया गया, शायद उसी प्रकार मास्टर साहबने भी मुझे बिहारके साहित्यकारोंकी पंक्तिमें स्थान दे देना उचित समझा।

श्री उपेन्द्र महारथीकी शक्ल-सूरत देखकर मैं यह कल्पना भी न कर सका कि वह बिहारके एक ऐसे कलाकार हैं, जिन्होंने अपनी कृतियोंसे स्वदेशका मुख उज्ज्वल किया है। महारथीजीका स्वभाव जैसा नम्र है, हृदय भी वैसा ही कोमल। उनमें श्रेष्ठ कलाकारके सभी गुण विद्यमान हैं। प्रतिकूल परिस्थितियोंमें उनको अपनी कलाका विकास करना पड़ा है, यदि उनको अनुकूल अवसर मिला होता तो आज भारतीय कलाकारोंमें उनका अपना एक स्थान होता। मास्टर साहबने इस कलाकारको पहचाना और इनकी कलाओंसे जहाँ अपने 'भंडार'को सजाया वहाँ देशको भी लाभ पहुँचाया।

प्रोफेसर शिवपूजन सहाय और श्री उपेन्द्र महारथीको 'भंडार'की छत्रच्छायामें पाकर मैं समझ गया कि मास्टर साहब कैसे नर-रत्न पारखी हैं। अब तो भंडारकी शाखा पटनामें भी खुल गई है और वहाँसे 'हिमालय' नामक मासिक-पुस्तकका प्रकाशन हो रहा है। प्रो० शिवपूजन, कविवर दिनकर, पं० रामवृक्ष बेनीपुरी आदि प्रसिद्ध साहित्यकारोंके सम्पादकत्वमें 'हिमालय' हिन्दी-प्रेमियोंकी मानसिक क्षुधा मिटा रहा है।

उन दिनों आचार्य रामलोचन शरणके विरुद्ध एक आन्दोलन चल रहा था कि वह हिन्दीका गला घोंटकर 'हिन्दुस्तानी'के अग्रदूत बन रहे हैं। उन्होंने ऐसी पुस्तकें छापी हैं, जिनमें महाराज रामचन्द्रको 'बादशाह राम' और महारानी सीताको 'बेगम सीता' कहा गया है। पर वहाँ जाँच करनेपर और उनकी रीडरें देखनेपर यह आक्षेप सर्वथा निराधार ही निकला। यहाँ 'कौआ कान ले गया' वाली कहावत ठीक-ठीक घटती दिखाई पड़ी। किसीने बस अफवाह उड़ा दी कि रामलोचन शरणकी किताबमें रामको बादशाह और सीताको बेगमकी उपाधि दी गई है। बस, लोग बिना देखे-भाले इस बातको ले उड़े। यहाँ तक कि बम्बईमें हिन्दी विद्यापीठके जलसेमें मैंने श्री कन्हैयालाल मुंशी जैसे जिम्मेदार विद्वानके मुँहसे भी यह बात सुनी थी, पर जाँच करनेपर मुझे कवि 'वृन्द'की यह उक्ति याद हो आई—

देखा-देखी करत सब, नाहिं न तत्त्व विचार।
या कौ यह अनुमान है, भेड़ चाल संसार॥

हिन्दी-संसारमें कुछ छिद्रान्वेषी लोग आचार्यजीकी सुकीर्ति और समृद्धि देखकर जलते हैं और उनपर यह दोषारोपण करते हैं कि वह साहित्य-सेवी ब्राह्मण नहीं नकद-नारायणके उपासक बनिये हैं। पर आधुनिक संसारमें चाहे कोई पत्रकार हो अथवा ग्रंथकार, लेखक हो या प्रकाशक, किसको द्रव्यकी आवश्यकता नहीं होती है। इस वैज्ञानिक युगमें तो पैसेके बिना न साहित्यकी सृष्टि हो सकती है, न उसका प्रकाशन और प्रचार ही हो सकता है। अब व्यास और वाल्मीकि, तुलसी और सूरका समय नहीं रहा, इस जमानेमें तो महात्मा गांधी जैसे संसारके सर्वोपरि सन्तको भी हरिजनोद्धार आदि कार्योंके लिए पैसेकी जरूरत होती है। आजकल पैसेके बिना कौन किसको पूछता है--

वृक्षं क्षीणफलं त्यजंति विहगा शुष्कं सरः सारसा।
पुष्पं पर्युषितं त्यजंति मधुपा दग्धं वनांकं मृगा॥
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति मित्रं भ्रष्टं श्रियं मंत्रिणः।
सर्वं कार्यवशाज्जनोभिरमते कस्यास्ति को वल्लभः॥

साहित्यके निर्माण और प्रकाशनके लिए जिस साधनकी आवश्यकता होती है उसीका नाम है रुपया। पर साधनको उन्होंने साध्य नहीं बनाया है, रुपया कमानेके विचारसे उन्होंने इस व्यवसायको नहीं अपनाया है। वह जन्मसे वैश्य हैं सही, पर उनके धर्ममें वैश्य-वृत्तिके साथ ब्राह्मण-वृत्तिका भी विलक्षण सम्मिश्रण है। जहाँ उन्होंने स्वयं साहित्यकी सेवा, सृष्टि और अभिवृद्धि की है वहाँ दूसरे साहित्यकारोंको भी प्रोत्साहन और सहायता देकर वैसा ही करनेका अवसर दिया है। उनके जीवनकी स्वर्ण-जयन्तीके अवसरपर उनको जो अभिनन्दन-ग्रंथ अर्पित किया गया था उससे पता लग सकता है कि बिहारके साहित्यकार आचार्य रामलोचन शरणको किस स्नेह और श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं।

यद्यपि मैं उपेन्द्रजीके बँगलेसे बाहर निकला नहीं; तो भी तीसरे

दिन वहाँसे विदाईकी घड़ीमें कांग्रेस-कर्मियोंको पता लग ही गया और चटपट सार्वजनिक सभाकी व्यवस्था हो गई। जनताकी भीड़ दरियाकी तरह उमड़ आई। उनको प्रवासी भारतीयोंकी कथा सुनाकर ही मैं लहेरियासरायसे छुटकारा पा सका।

नेटालसे चिन्ता-जनक तार

आरा पहुँचनेपर मुझे नेटाल इंडियन कांग्रेसके मंत्री श्री अब्दुल्ला-इस्माइल काजीका तार मिला कि दक्षिण अफ्रिकाकी हालत बहुत खराब हो रही है—आपसमें भी फूट फैलनेकी सूरत पैदा हो गई है, अतएव मुझे यथासंभव शीघ्र नेटाल लौटनेकी कोशिश करनी चाहिए। इस खबर-से मेरी चिन्ताकी सीमा नहीं रही, मैं गंभीर विचारमें पड़ गया। फिर भी यही उचित प्रतीत हुआ कि जहाँतक दौरेका कार्य-क्रम बन चुका है उसको पूरा करके ही नेटालको प्रस्थान करना चाहिए।

आरामें श्री रामायणप्रसाद, श्री विन्ध्याचलप्रसाद, श्री सिद्धेश्वरी-प्रसाद, श्री रंगबहादुरप्रसाद, ठाकुर राजकिशोरसिंह, सरदार रघुवंश-नारायणसिंह, डाक्टर रघुवरदयाल प्रभृति अपने पुराने सहकर्मियोंसे मिलकर मैं आनन्दसे उछल पड़ा। इन्हीं भाइयोंके सहयोग और सहा-यतासे सन् १९२०में मैंने आरा जिलेमें स्वाधीनता-संग्रामका संचालन किया था। इनमें श्री रंगबाबू तो पिछले बीस वर्षोंसे जब-जब मैंने आरा जिलेका दौरा किया, मेरे व्यक्तिगत सेक्रेटरीकी हैसियतसे सेवा करते आए हैं। वह एक भावुक कवि और शक्तिशाली वक्ता हैं।

यहाँ भी सार्वजनिक सभा हुई; नवयुवक-संघ और विद्यार्थियोंकी भी सभाएँ हुईं और मुझे अभिनन्दन-पत्र दिये गए। जिले-भरके मुख्य-मुख्य कांग्रेस-कर्मी और सार्वजनिक कार्यकर्ता आरा पहुँचकर मुझसे मिले और सबने अपने-अपने इलाकेकी परिस्थिति और प्रगतिकी खबरें सुनाईं। जो मिलता, वह अपने यहाँ आनेका आग्रह करता, पर अवकाश कहाँ था? मुझे अपने गाँव और पूर्वाश्रमकी ससुराल जानेका इरादा भी छोड़ देना पड़ा। नेटालके तारसे मैं खिन्न और उद्विग्न हो रहा था।

पटनामें पाँच दिन

आरासे रंगबाबूके साथ पटना गया। वहाँ डाक्टर दुखनरामके यहाँ ठहरा। पटनाके मेडिकल कालेजके विद्वान् लेक्चरारोंमें वह एक हैं और अपने सद्गुणों एवं सत्कार्योंसे बड़े लोक-प्रिय हो गए हैं। अनेक निर्धन विद्यार्थियोंको आर्थिक सहायता देकर उन्होंने आगे बढ़ाया है। आर्य-समाजके रचनात्मक कार्योंमें भी उनका बड़ा अनुराग है और वह समाजके सेवा-कार्यमें बराबर भाग लेते हैं। सहसरामके निवासी होनेके कारण उनसे मेरी विशेष घनिष्ठता है। उनको अपने कामसे दम लेनेकी भी फुर्सत नहीं मिलती है, फिर भी उन्होंने मेरे सेवा-सत्कारमें कोई त्रुटि नहीं होने दी।

बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलनका नवीन भवन देखकर जहाँ हर्ष हुआ वहाँ विषाद भी। हर्ष तो इसलिए कि पं० छविनाथ पाण्डेयके उद्योग और परिश्रमसे इस भव्य भवनकी बुनियाद पड़ गई और कुछ इमारत तैयार भी हो गई है, पर विषादकी बात यह थी कि बिहारके हिन्दी-प्रेमियोंकी उदासीनता और अकर्मण्यतासे यह सरस्वती-मंदिर अधूरा पड़ा अपने भाग्यके नामपर रो रहा है। श्रद्धेय राजेन्द्रबाबूकी एक लाख रुपयेकी अपीलका क्या फल हुआ, कुछ खबर नहीं। बिहारके हिन्दी-प्रेमियोंको अपनी उदारता और दानशीलताका परिचय देकर भवनके अधूरे कामको पूरा करानेमें देर नहीं करनी चाहिए।

पटनाके पं० रामदहिन मिश्र हिन्दीके एक पुराने सेवक और वयोवृद्ध साहित्यकार हैं। आरा जिलेने जिन साहित्यकारोंको सृष्टि की है उनमें मिश्रजीका आसन बहुत ऊँचा है। उनके अनेक ग्रंथ हिन्दी-साहित्य-भंडारकी शोभा बढ़ा रहे हैं। उनके हिन्दुस्थानी प्रेससे हिन्दीके सैकड़ों उपयोगी ग्रंथ निकल चुके हैं। 'किशोर' और 'पारिजात' नामक दो मासिक पत्र भी मिश्रजीके साहित्यानुरागके पुखराज हैं। उनके पुत्र श्री देवकुमार मिश्र भी पिताके पद-चिन्होंपर चलकर हिन्दी-साहित्यकी सेवामें सन्नद्ध रहते हैं। वह बड़े सहृदय और भावुक युवक हैं। शरीर

निर्बल होते हुए भी उनकी लेखनी बड़ी बलवती है। पं० रामदहिनजी-को साहित्य-सेवाके सामने श्रद्धासे मेरा शीश झुक गया।

पं० रामवृक्ष बेनीपुरीसे मेरा पुराना परिचय है। उनसे मिला तो देखा कि वह 'जनता'के कार्यालयको क्रान्तिका केन्द्र बनाये बैठे हैं। जब मैंने पूछा, "कहिये, आनंदित तो हैं?" तो वह व्यथासे बोले, "आज भारतमें कौन आनंदित है? इस समाजमें कौन संतुष्ट है? हमारा यह समाज, जिसमें इतना भेद-भाव है, जहाँ इतने आपसी झगड़े और झमेले हैं। जहाँ एक ओर थोड़े-से महल हैं; उनके अन्दर गद्दे और गलीचे बिछे हैं, मौज और ऐश हैं और दुनिया-भरके घिनौने कर्म और पाप हैं। दूसरी तरफ झोंपड़ोंका नजारा है—हड्डियोंके ढाँचे हैं; जहाँ पापी पेटकी आग बुझानेके लिए—मुट्ठी-भर अन्नके लिए आबरू बेची जाती है, बुरे-से-बुरे कर्म होते रहते हैं। फिर कोढ़में खाज-की तरह धर्मके ढकोसले-मजहबी तअस्सुब हैं। एक कल्पित-हवाई नाम-पर, जिसे ईश्वर या अल्लाह कहते हैं, इन्सान इन्सानका गला काटता है। संसारमें कौन ऐसा न्यायशील व्यक्ति होगा, जो इस सड़े-गले समाजको जड़-मूलसे उखाड़ फेंकना और इसकी समाधिपर एक नया समाज बनाना अच्छा न समझेगा। तबतक संसारमें आनन्दोल्लास कहाँ, भाई साहब?" उनकी बातें सुनने और विचार करनेके लिए थीं, जवाब देनेके लिए नहीं।

बेनीपुरीजीके धार्मिक और राजनीतिक विचारोंसे मैं सहमत नहीं, पर उनके लिए मेरे हृदयमें बड़ा आदर और उच्च भाव है। उनकी सेवा और त्यागसे कौन इन्कार कर सकता है? हिन्दीके प्रथम श्रेणीके साहित्यकारोंमें वह एक हैं। साम्यवादको वह देशोद्धारके लिए अनिवार्य मानते हैं। उन्होंने एक सर्द आह भरकर कहा, "देखिये न, कांग्रेसके राज्यमें राहुलजी जैसे महापंडितके सिरपर लाठियाँ बरस रही हैं?" सचमुच राहुलजीके साथ जो बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया गया वह बिहार-सरकारके लिए कलंककी बात थी।

पं० देवव्रत शास्त्रीकी 'नवशक्ति' बिहारमें कांग्रेसकी एक प्रचण्ड शक्ति बन गई थी। शास्त्रीजीको इस पत्रको प्रगतिशील बनानेमें अच्छी सफलता मिली। 'नवशक्ति' कांग्रेस-सरकारकी नीति और प्रवृत्तिका समर्थन कर रही थी और प्रतिक्रियावादी तथा वामपक्षियोंके विचारोंपर निर्मम प्रहार भी। बेचारे 'योगी' को अलख जगाते हुए देखा। वह अपने ढंगसे बिहारकी जनताको दुनियाका रंग दिखा रहा था।

पटनाके प्रसिद्ध वकील श्री ब्रह्मदेव नारायणने अपने घरपर मुझे एक चाय-पार्टी दी थी, जिसमें 'सर्चलाइट' के सम्पादक श्री मुरलीमनोहर प्रसाद और 'इंडियन नेशन'के सम्पादक श्री सी. वी. एच. रावके सिवा रायबहादुर ब्रजनंदन सिंह, डाक्टर आर०पी० लाल प्रभृति महाभाग भी शरीक हुए थे। बिहारके दोनों अंग्रेजी दैनिकोंके सम्पादकोंने प्रवासी भारतीयोंकी समस्याओंमें बड़ी दिलचस्पी दिखलाई। मुरली बाबू बिहारी हैं और राव महोदय हैं मद्रासी। दोनों बिहारके सार्वजनिक जीवनके दो पहलुओंका नेतृत्व कर रहे थे। 'सर्चलाइट'के प्रतिनिधि श्री मणीन्द्र बाबू और 'इंडियन नेशन' के प्रतिनिधि आजाद महाशयने भी अपनी लेखनीसे मुझे बड़ी सहायता पहुंचाई।

बिहारकी राजधानीमें कई सार्वजनिक सभाएँ भी हुईं,जिनमें आचार्य बद्रीनाथ वर्माके सभापतित्वमें अंजुमन इस्लामिया हॉलकी, स्वामी रामानन्दजीकी प्रधानतामें आर्यसमाजकी और पं० महादेवशरणजीकी अध्यक्षतामें दानापुरकी सभाएं विशेष महत्त्वपूर्ण थीं। सबसे बड़ी दानापुरकी सभा थी, जिसका श्रेय पं० महादेवशरणको था। वह बिहारके आर्यसमाजके एक स्तंभ हैं। 'आर्यावर्त'के वह सहकारी सम्पादक थे। उन दिनों आर्य प्रतिनिधि सभाके मंत्री थे और आजकल गुरुकुल वैद्यनाथ धामके मुख्याधिष्ठाता हैं। हिन्दीमें वैदिक सिद्धांतोंपर कुछ ग्रंथ भी आप लिख चुके हैं।

पटनामें ही श्री गुरुनाथसिंहभी आ मिले। उनसे हजारीबाग जेलमें मेरा परिचय हुआ था। वह हमारे ही आरा जिलेके निवासी हैं।

स्वधर्म और स्वदेशपर उनका अनुराग देखकर जेलमें ही उनसे मेरा स्नेह हो गया था। कालेज छोड़कर वह स्वाधीनता-संग्राममें सम्मिलित हो गए थे। मेरे बहुत समझानेपर वह फिर कालेजमें प्रविष्ट हुए और वहाँसे ग्रेज्युएट होकर निकले। उनको मैंने दक्षिण अफ्रिका बुला लेनेकी बड़ी कोशिश की, पर मुझे सफलता न हुई। वह बेकार बैठे थे, कोई अच्छी नौकरी नहीं मिलती थी, इससे उनको बड़ी ग्लानि हो रही थी। उनको मैंने पं० प्रजापति मिश्रको सौंप दिया, जो बिहार-सरकारके ग्राम-सुधार विभागके अधिष्ठाता थे। गुप्तनाथसिंह ग्राम-सुधार-कार्यके अमलदार बनाये गए और उन्होंने बड़ी निष्ठासे ग्रामवासियोंकी सेवा की। सन् १९४२ की क्रान्तिमें उन्होंने नौकरी ठुकरा दी। मेरे अनुरोधसे वह काशीके 'सात्विक जीवन' के सम्पादक हुए। पिछले चुनावमें वह अपने जिलेसे बिहारकी धारा-सभाके सदस्य चुने गए और इसके बाद भारतकी विधान-परिषद्के सदस्य भी। उन्होंने अपने उद्योग और परिश्रमसे अब तक इतनी उन्नति कर ली है और मुझे यह भी विश्वास है कि चाहे शीघ्र ही या कुछ देरसे, वह बिहारके मंत्रि-मण्डलमें भी स्थान पायंगे।

गयाका गश्त

पटनामें पाँच दिन बिताकर रज्जबाबू और पं० वाचस्पतिके साथ मैं गया पहुँचा। रात्रिकी मूसलाधार वृष्टिमें स्टेशनपर जनताकी भीड़ देखकर मैं चकित रह गया। मुझे राजेन्द्र-आश्रममें ठहराया गया। कविवर जगेश्वरप्रसाद 'खलिश' और श्रीनारायणजी ने मेरे स्वास्थ्यके विचारसे आरामका पूरा इन्तजाम कर रखा था। यहाँ मेरे दो भाषण हुए—एक तो जस्टिस सर ख्वाजा मुहम्मद नूरकी अध्यक्षतामें साक्षरता-प्रसारक सभामें और दूसरा पं० रमाशंकर मिश्रके सभापतित्वमें गयाके टाउन-हॉलमें। टाउन-हॉलकी सभा तो खास प्रवासी भारतीयोंके प्रति सहानुभूति प्रकट करनेके लिए ही बुलाई गई थी।

जिस प्रकार आराके श्री रामायणप्रसादजी और श्री बनारसीप्रसाद

भोजपुरीने अपने साप्ताहिक 'स्वाधीन-भारत' पत्रका मेरे सम्पादकत्वमें 'दक्षिण अफ्रिका-विशेषाङ्क' निकाला था, उसी प्रकार गयाके श्री जगेश्वरप्रसाद 'खलिश'ने भी अपने 'लोकमत'का 'दक्षिण अफ्रिका-विशेषाङ्क' निकालकर मेरे प्रचार-कार्यमें सहायता पहुँचाई। जब-जब मैं गया जाता हूँ, 'दुर्गा-विहार बाग'के श्री बनविहारी प्रसाद वर्मा 'भूप'के स्नेहसे वंचित नहीं रहने पाता। वह बड़े सहृदय, विनयशील और मिलनसार व्यक्ति हैं। साहित्यकारोंका सत्कार करना और उनको आर्थिक सहायता देना उनके स्वभावकी खूबी है। जबसे उन्होंने प्रवासी भारतीयोंकी दुःख-भरी कहानी सुनी है, उनके प्रति 'भूप'जी को हमदर्दी हो गई है और जब-जब जरूरत पड़ी, उन्होंने आर्थिक सहायता देकर उनके काममें मेरा हाथ बँटाया है।

एक दिन गया-जेलके सुपरिन्टेन्डेन्ट कर्नल चन्द्राकी एक चिट्ठी मिली; जिसमें जेल देखने और कैदियोंसे मिलनेके लिए मुझे आमंत्रित किया गया था। यह मेरे लिए नई बात थी। जेलमें अनेक बार गया हूँ, पर कैदीके रूपमें—दर्शकके रूपमें नहीं। समयका अभाव होते हुए भी मैंने आमंत्रण स्वीकार कर लिया। जेलमें जाकर जो कुछ देखा उससे मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा। वह जेल अब नौकरशाहीकी जेल नहीं थी, कांग्रेस-सरकारकी कृपासे वह आश्रम बन गई थी। जहाँ पहले कैदियोंसे बैलकी भाँति कोल्हूमें तेल पेरनेका काम लिया जाता था वहाँ अब चरखे और करघे चल रहे थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि कैदियोंकी एक पंचायत (Parliament) बन गई थी। जेलमें ३८ वार्ड थे, प्रत्येक वार्डसे एक प्रतिनिधि इस पंचायतके लिए चुना जाता था। इस चुनावमें सभी कैदियोंको मताधिकार प्राप्त था। इस पंचायतमें कैदियोंकी स्थितिपर विचार होता, उनकी शिकायतोंकी ओर अधिकारियोंका ध्यान दिलाया जाता और उनमें शिक्षा-प्रचारकी व्यवस्था की जाती थी। अल्प-कालमें ही ७१ फीसदी कैदियोंको अक्षर-ज्ञान हो गया था। इस पंचायतमें मैंने भाषण भी दिया। कर्नल चन्द्रा मेरे साथ नहीं थे। वह

चाहते थे कि उनकी अनुपस्थितिमें ही कैदी मुझसे दिल खोलकर बात करें। वह उस समय आये जब मैं कैदियोंकी पार्लमेन्टमें भाषण दे रहा था और उन्होंने ही धन्यवादकी विधि पूरी की थी। जनाना वार्डमें जन्म-कैदकी सजा पाई हुई स्त्री-कैदियोंका कसीदा काढ़नेका काम देखकर मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। जब मैंने उनसे विदा माँगी तो उन्होंने एक देश-भक्ति पूर्ण गीत गाकर मुझे नमस्कार किया, उसका एक पद्य मुझे अबतक याद है—

"सोनेका यह देश हमारा, प्यारा हिन्दुस्थान"।

उस समय मेरा हृदय इतना भर आया कि नयनोंसे नीर ढल पड़ा।

पितृ-भूमिसे प्रयाण

गयासे मैं फिर अपनी पितृ-भूमिमें पहुँचा। आरा जिलेके डिहरी, सहसराम, तिलौथू और नासरीगंजका दौरा किया। डिहरी शोणभद्रके तटपर एक छोटा-सा नगर है। वहीं अब नया 'डालमिया नगर' भी बसा है। सेठ रामकृष्ण डालमियाका यहाँ शकरका कारखाना है। डिहरी-में मैं अपने पुराने मित्र श्री अब्दुल क्यूम अन्सारीके घरपर ठहरा। क्यूम जब किशोर थे, तभीसे उनपर मेरा स्नेह था। उनको मैं जिलेके दौरेमें साथ लिये फिरता था और उस समय उनके हृदयमें राष्ट्रीयताका जो बीज बोया गया, वह बेकार नहीं जाने पाया। इस समय तो हिन्दु-स्थान भरके मोमिन मुसलमानोंके वह सर्वश्रेष्ठ नेता हैं और जनाब जिन्ना तथा उनकी मुस्लिम लीगके जबर्दस्त विरोधी। उनका दावा है कि हिन्दुस्थानमें मोमिनोंकी तादाद करीब छः करोड़ है; पर दलित एवं दरिद्र होनेके कारण उनकी कोई पर्वाह नहीं की जाती है। वह यह भी कहते हैं कि सवर्ण हिन्दू यदि हरिजनोंके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते हैं तो उच्च वर्गके मुसलमान उससे भी बुरा बर्ताव मोमिनोंके साथ करते हैं। अब तो क्यूम साहब बिहार-सरकारके मंत्रि-मंडलके एक सदस्य बना लिये गए हैं।

क्यूम साहबसे मिलकर मेरी खुशीकी हद नहीं रही। वह कलकत्तेमें

मुझसे मिले थे और डेहरी आनेका वचन ले चुके थे। जब डेहरीमें पहले-पहल मुसलमानोंने पैगम्बर मुहम्मदकी जयंती मनानेका निश्चय किया गया तो सभापति चुननेके लिए मुसलमानोंकी एक बहुत बड़ी सभा हुई। पुराने ढर्रेके मुसलमानोंमें किसीने मौलाना सनाउल्लाका नाम पेश किया और किसीने ख्वाजा हसन निजामीका। क्यूमने उठकर मेरा नाम पेश कर दिया। दूसरोंने बड़ा विरोध किया, कट्टरपंथियोंने कोलाहल मचाया कि पैगम्बर-दिवसका सभापति एक हिन्दू और तिसपर एक आर्यसमाजी? पर क्यूम जरा भी विचलित न हुए—अपने प्रस्तावपर डटे रहे। जब राय ली गई तो क्यूम भाई भारी बहुमतसे जीत गए। वह 'डिहरी'से रेलपर 'कुदरा' और वहाँसे पाँच कोस पैदल चलकर मेरे गाँव में पहुँचे। बरसातकी ऋतु थी, इसलिए इक्केकी सवारी भी न मिली। कँदई-कीचसे कपड़े लथ-पथ और धूपसे चेहरा लाल-गुलाल हो रहा था। वह अंग्रेजीमें मुहम्मद साहबके कई जीवन-चरित्र भी अपने साथ लाये थे, उनको मेरे हवाले करते हुए बोले, "इनको सरसरी निगाहसे देख जाइये और अपनी स्पीच फौरन तैयार कर लीजिये।" मैंने पैगम्बर-दिवसपर जो भाषण दिया उसकी देशमें ही नहीं, विदेशोंके मुसलमानोंमें भी काफी चर्चा हुई।

उनके घरपर मैं दो-तीन दिन ठहरा। इस बीचमें उनके यहाँ चाय-पार्टी भी हुई और डिहरीमें सार्वजनिक सभा भी। वहाँसे विदा होकर मैं सहसराम पहुँचा। सहसराम ही मेरे सार्वजनिक कार्यका पहला क्षेत्र है। अतएव यहाँके निवासी मुझपर बहुत स्नेह रखते हैं। यहाँके श्री सखीचन्द्र, श्री गुलाबचन्द्र, डाक्टर रामराजप्रसाद, डाक्टर सीता-लाल, सेठ राजाराम, श्री हीरालाल, श्री हरिहरप्रसाद, श्री कृष्णबहादुर-सिंह आदि मित्रोंको मैं कभी भूल नहीं सकता। इनसे मुझे चाहे देशके काममें अथवा चाहे प्रवासियोंके काममें, सदा सहयोग मिलता आया है। इस बार अमर-शहीद सरदार भगतसिंहके साथी श्री बटुकेश्वरदत्तको भी सहसरामके निवासियोंने बुलाया था और उनको भी मेरे साथ ही डाक-

बँगलेमें ठहराया था। इस क्रान्तिकारीके आचार, विचार और व्यवहार-का मुझपर बहुत प्रभाव पड़ा। उनके राजनीतिक विचारोंसे किसीका मतभेद हो सकता है, पर उन्होंने देशोद्धारके लिए जो उत्सर्ग किया है, जो यातनाएँ भोगी हैं उसकी उपेक्षा कौन कर सकता है? सहसराममें बहुत बड़ी सभा हुई जिसमें मैंने दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भाइयोंकी व्यथाकी गाथा गाई और बटुकेश्वरदत्तने मातृ-भूमिकी पराधीनता रूपी पीड़ाकी।

यहीं अपने छोटे भाई देवीदयालसे मेरी अंतिम मुलाकात हुई। यद्यपि सन् १९३६में वह मेरे साथ दक्षिण अफ्रिका चले गए थे, पर वहाँ उनका चित्त नहीं लगा और अपने चार छोटे-छोटे बच्चोंको लेकर वे देश लौट आए। नेटालके सभी हितू-मित्र उनको समझा-बुझाकर हार गए लेकिन उनपर कोई असर न हुआ और वह अपने बच्चोंके प्रवासाधिकारपर चौका फेरकर चले ही आये।

"तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिले सहाय।
आपु न आवे ताहि पै ताहि तहाँ ले जाय॥"

युवावस्थामें वह एक हट्टे-कट्टे पहलवान थे, पर व्यसनमें फँसकर उन्होंने अपना स्वास्थ्य नष्ट कर डाला। उनका भग्न स्वास्थ्य देखकर मैं चिन्तित तो हुआ, पर मैं यह नहीं सोच सका कि इस जीवनमें फिर उनसे मुलाकात न होगी और साल-भरमें उनके जीवन-नाटकका अंतिम परदा गिर जायगा। उन्होंने यह लोकोक्ति चरितार्थ कर दिखाई—

'मरना भला विदेशका, जहाँ न अपना कोय।
माटी खायें जनावरा, महा महोत्सव होय॥'

उनके प्राणान्तके समय परिवारका कोई भी प्राणी उनके पास न था। छोटे-छोटे चारों बच्चे आगरामें थे और परिवारके शेष सदस्य अफ्रिकामें-उन्होंने अपने मानव-जीवनको निरर्थक ही गँवाया।

श्रीरामप्रसादसिंहके विशेष आग्रहसे मैं एक दिनके लिए सहसरामसे 'तिलौथू' भी गया। वहाँ भी प्रवासी भारतीयोंके सम्बन्धमें सभा हुई

और उनकी दुर्गतिपर दुःख प्रकट किया गया। श्रीराधा बाबू 'तिलौथू'के मशहूर जमींदार और आरा जिलेके एक नामी रईस हैं। उनको लोग 'तिलौथूके राजा' भी कहते हैं। उनका स्वभाव बड़ा सरल है और हृदय दर्पणकी भाँति निर्मल। वह एक विद्वान् हैं और अवस्थाके अनुसार व्यवस्था करना ही बुद्धिमत्ता समझते हैं। बिहारमें श्रीमगनलाल गांधीके निधनके बाद जब परदा-प्रथा उठा देनेका आन्दोलन चला तो राधाबाबूने अपने महलसे इस प्रथाको गर्दनिया देकर निकाल दिया। उस समयकी स्थितिपर कविकी यह उक्ति याद हो आती है--

"बेपर्द नजर आईं जो कल चन्द बीबियाँ।
अकबर, जमींमें गैरते कौमीसे गड़ गया॥
पूछा जब उनसे, 'आपका परदा कहाँ गया'?
कहने लगीं कि 'अकलपै मरदोंकी पड़ गया'॥"

परदा उठा देनेपर गाँवके गँवारोंने राधा बाबूकी बड़ी निन्दा की। उनको गालियाँ देने और देवियोंकी दिल्लगी उड़ानेसे भी पोंगापंथी बाज न आये। पर वह अपने संकल्पपर अटल रहे। निन्दक आखिर थककर खामोश हो गए। ग्रामोत्थानके काममें भी उनकी विशेष अभिरुचि है। तिलौथूके हाईस्कूल, पुस्तकालय, रूरल अपलिफ्टमेंट क्लब आदि संस्थाएँ उनके रचनात्मक कार्योंके फल हैं। तिलौथूमें श्रीबनारसीलाल साहित्य-रत्नका काशी-साहित्य-मंडल भी एक प्रगतिशील साहित्यिक संस्था है।

तिलौथूसे मैं मोटरपर नासरीगंज पहुँचा। इसी थानेके सवरा गाँवमें जगरानीका जन्म हुआ था। सोन नदीके किनारे यह एक अच्छा कस्बा है और शक्करके व्यवसायके कारण मशहूर हो गया है। बाबू श्रीनिवाससिंह, श्रीमथुराप्रसाद शाह, श्रीमहावीरप्रसाद शाह, श्रीसरजू-प्रसाद शाह, श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसाद शाह, प्रभृति नासरीगंजके प्रमुख रईसोंने मेरे आगमनके उपलक्ष्यमें नगरको ऐसा सजाया था कि उसको देख-कर उनके उत्साहके सम्बन्धमें सहसा यह उद्‌गार निकल आता—

"न खानेकी सुध, न पीनेका होश ।
भरा उनके दिलमें मुहब्बतका जोश ॥"

हर एक नाकेपर बाँसके लगभग एक दर्जन मेहराबदार दरवाजे बनाये गए थे और सारी बस्तीको फूल-पत्तियों और बन्दनवारोंसे सजाया गया था। मुझे तो इस प्रदर्शनसे कोई प्रसन्नता नहीं हुई, पर नासरी-गंज-निवासियोंके अरमान पूरे हो गए । नगरसे बाहर प्रवेश-द्वारपर हजारों मनुष्य राष्ट्रीय झंडा फहराते हुए नारे लगा रहे थे। मुझे जुलूसके साथ शहरमें घुमाकर स्वराज्य-आश्रममें ठहराया गया । यहाँकी सार्वजनिक सभा उस इलाकेके राष्ट्रीय जागरणकी प्रतीक थी। यूनियन-बोर्ड, छात्र-संघ, आर्य-नवयुवक सभा, राष्ट्रीय पुस्तकालय, आर्यसमाज, स्वराज्य-आश्रम, सोमनाथ पब्लिक लाइब्रेरी आदि संस्थाओंकी तरफसे मुझे अभिनन्दन-पत्र देकर वहाँके निवासियोंने अपने विशुद्ध प्रेमका परिचय दिया, पर वे बेचारे उस मसलको भूल गए—

परदेशीकी प्रीतिको सबका मन ललचाय ।
दोई बातकी खोट है, रहे न सँग ले जाय ॥

उस देहातमें यह कहावत मशहूर है भी कि

"परदेशीकी प्रीति फूँसका तपना,
दिया कलेजा काढ़ हुआ नहिं अपना ।"

फिर भी नासरीगंजके भाई इस तथ्यको भूल गए और अपने एक प्रवासी भाईके आदर-सत्कारमें कोई कोर-कसर नहीं होने दी ।

इसके बाद मेरा स्वास्थ्य भंग होगया । इच्छा-शक्तिके आधारपर मैं अब तक काम करता रहा, पर उसकी भी कोई हद है । उधर नासरी-गंजकी सार्वजनिक सभा समाप्त हुई, इधर मैंने रोग-शय्याकी शरण ली। ज्वरके साथ ही आँव-खूनसे बेहाल हो उठा ।

"तन्दुरुस्तीको निपट फजलेइलाही बूझिये ।
आबरू जगमें रहे तो बादशाही बूझिये ॥"

स्थानीय डाक्टर जी. एच. दास और डाक्टर रासबिहारी शरणका

उपचार आरम्भ हुआ। डाक्टर शरयाने मेरे हाथमें इंजेक्शनकी ऐसी सुई चुभाई कि छठीका दूध याद हो आया। इस जीवनमें मुझे सैकड़ों इंजेक्शन लग चुके हैं,पर वैसा दर्द कभी नहीं हुआ था। उस इंजेक्शन-की बदौलत मेरा हाथ सूज आया और उसको हिलाना-डुलाना अथवा उठाना मुश्किल होगया। बादमें बम्बईके डाक्टरोंने उस दर्दको मिटाकर मुझे आराम पहुँचाया। बिहार आयुर्वेदिक फार्मेसीके डाक्टर मिश्रीलाल गुप्त और होमियोपैथीके डाक्टर अनन्त शास्त्री घण्टों मेरे पास बैठकर नाना प्रकारकी व्याधियोंके विश्लेषण और उनके उपचारका निरूपण किया करते। उस रुग्णावस्थामें एलोपैथी, होमियोपैथी, आयुर्वेदिक और यूनानी उपचारोंके आख्यान और व्याख्यान सुननेमें कुछ समय भी कट जाता और कुछ मनोरंजन भी होजाता। श्री चेतशाह, श्री सत्यनारा-यणलाल, श्री रामस्वरूप आदि सज्जन भी समय-समयपर आकर अपने प्रेमका परिचय दे जाते थे। सखरासे मेरे साले बाबू नन्दकेश्वर राय भी आये और मुझे अपने गाँव ले जानेकी उन्होंने कोशिश भी की। यद्यपि जगरानीकी स्मृति मुझे सदा सखरा खींच ले जाती थी, पर इस बार बीमारीके कारण उनके जन्म-स्थानमें पहुँचकर उनकी स्नेहमयी स्मृतियोंपर सुमनांजलि नहीं चढ़ा पाया।

नासरीगंजसे कुछ दूरीपर 'कोआथ' नामक कस्बा है। वहाँके प्रसिद्ध कांग्रेस-कर्मी वैद्यराज यज्ञेश्वर प्रसाद केसरी, श्री रामेश्वर प्रसाद केसरी, श्री औलाद मुहम्मद खाँ, श्री इन्द्रदेव पाण्डे, श्री यज्ञनारायण त्रिपाठो, श्रीउमानाथ ओझा प्रभृति मित्रोंको वचन देकर भी मैं बीमारीके कारण पूरा न कर पाया। 'कोआथ' में सार्वजनिक सभाको व्यवस्था हो चुकी थी, विज्ञापन बँट चुके थे, हजारों देशवासी अपने प्रवासी भाईसे मिलनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे। पर उस दिन मैं कोआथके बदले बम्बई पहुँच गया। श्री यज्ञेश्वर प्रसाद बड़े सरल, सहृदय और सच्चे कार्यकर्ता हैं, मुल्क और कौमके लिए उन्होंने बहुत कुछ त्याग किया है और जेलकी यातनाएँ भोगी हैं। उनसे मिलनेकी मेरी बड़ी उत्कण्ठा

थी। मैंने कोआथसे काशी, प्रयाग, लखनऊ, इटावा, दिल्ली और शिमलाका दौरा करते हुए बम्बई पहुँचनेका इरादा किया था,पर विधिकी विडंवनासे मैं अपने विचारको कार्यान्वित न कर पाया।

मेरा स्वास्थ्य सुधरा नहीं, पर 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की' वाली कहावत ठीक निकली। इस बीच मुझे २१ जुलाईको फिर नेटालसे काजी साहबका तार मिला कि मुझे प्रथम डाक-जहाजसे नेटाल-को प्रस्थान कर देना चाहिए क्योंकि वहाँकी हालत बड़ी नाजुक होगई हैं। नेटालमें कांग्रेसको दफनानेके लिए कब्र खुद रही है और ट्रांसवालमें सत्याग्रह शुरू होने जारहा है। यह सब बातें ऐसी थीं कि जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। अतएव मैं सारा कार्य-क्रम रद्द करके रुग्णावस्थामें ही बम्बईको प्रस्थान कर गया। रङ्ग बाबू मेरे साथ मुगल-सराय तक गये और वहाँसे बम्बई-मेलमें मुझे बैठाकर अपने कर्म-क्षेत्रको लौट गए।

: ४६ :

नेटालके हिन्दुस्थानियोंके दुर्दिन

जब २६ जुलाईके सवेरे बम्बई पहुँचा तो स्टेशनपर ही मेरे मेजबान बाबू सेठने मुझे यह खबर दी कि दूसरी अगस्तको जो 'करंजा' नामक स्टीमर डरबन जाने वाला था उसपर सरकारने सैनिक-कार्यके लिए अधिकार कर लिया है और अब वह अफ्रिकाके बदले सुदूर पूर्वको तरफ फौज लेकर जायगा। इस खबरसे मानो मुझपर वज्र गिर पड़ा। इस स्टीमरसे मेरे नेटाल न पहुँचनेके कारण वहाँ ऐसा गोल-माल मच गया जिसकी याद आनेपर आज भी दिल दर्दसे भर आता है। पर मेरे पास उपाय ही क्या था ?

अनहोनीके होनको ताकत हैं सब कोय।
अनहोनी होनी नहीं, होनी हो सो होय ॥"

विधनाके विधानके सामने किसीकी क्या बिसात ? विवश होकर बम्बईमें सोलह अगस्त तक और ठहरना पड़ा और इस बीचमें नेटाल इंडियन कांग्रेसका बेड़ा ही डूब गया। इधर बीस वर्षोंमें अफ्रिकाके डाक-जहाजके टाइम-टेबलमें कोई फर्क नहीं पड़ा था, पर इस बार भाग्यके फेरसे अकस्मात् सरकारको उसकी आवश्यकता आ पड़ी और मैं समय-पर वहाँ नहीं पहुँच पाया।

भगवान् जो कुछ करता है अच्छा ही करता है। उस समय रुग्ण-शरीर और भग्न-स्वास्थ्य लेकर वर्षा ऋतुमें बाईस दिनकी समुद्र-यात्रा करना मेरे लिए खतरेसे खाली नहीं था। बाबू सेठने मेरी सेवा-शुश्रूषाकी

ऐसी अच्छी व्यवस्था की कि दो सप्ताहमें ही मेरी हालत बहुत कुछ बदल गई। उस मुस्लिम मित्रकी सेवा-सहायताको मैं कभी भूल नहीं सकता।

बम्बईसे विदाई

बम्बईसे विदा होनेसे दो दिन पहले इम्पीरियल इंडियन सिटीजनशिप एसोसियेशनकी कौन्सिल बैठी, जिसमें मुझे दक्षिण-अफ्रिकाकी तत्कालीन स्थितिपर वार्तालाप करनेके लिए आमंत्रित किया गया। सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, सर रहीमतुल्ला चिनोई, श्री नटराजन, डाक्टर टी० एम० काजी, श्री मावजी सेठ आदि एसोसियेशनके कर्णधारोंके सिवा भारत-सरकारके प्रवास-विभागके सदस्य कुँवर सर जगदीशप्रसाद भी इस गोष्ठीमें शरीक हुए थे। मैंने कुँवर साहब तथा बम्बईके महानुभावोंसे जो कुछ निवेदन किया उसका आशय यही था—

"वतनसे दूर तबाहीमें है, वतनका जहाज।
हुआ है जुल्मके परदेमें, हश्रका आगाज॥
सुनें तो मुल्कके हमदर्द, कौमके दमसाज।
हवाके साथ यह आई है, दुख-भरी आवाज—
'वतनसे दूर हैं हम पर निगाह कर लेना।
इधर भी आग लगी है,जरा खबर लेना'॥"

हिन्दुस्थानमें पाँच मास प्रवासी भारतीयोंकी दुख-भरी कहानी सुनाकर १६ अगस्त १९३१को बम्बईसे 'टायरिया' डाक-जहाजपर सवार होकर मैंने दक्षिण अफ्रिकाको प्रस्थान कर दिया। बन्दरगाहपर इम्पीरियल इंडियन सिटीजनशिप एसोसियेशनके सेक्रेटरी श्री एस० ए० वइज, श्री इब्राहीम हसन मामूजी, ठा० राजबहादुरसिंह, श्री जालभाई रुस्तमजी आदि मित्रोंने प्रेमसे विदाई दी। पत्रकारों और चित्रकारोंने भी मुझे विस्मरण नहीं किया, बंदरगाहपर उनका अच्छा जमाव था। उनको मैंने विशेष रूपसे धन्यवाद दिया; क्योंकि उन्हींके सहयोग और सहायतासे मैं अपने मिशनमें सफल होकर लौट रहा था। विश्वके

लोकतंत्रात्मक देशोंमें तीन ही तो शक्ति हैं--प्रजा, पंचायत और पत्र। इनकी कौन उपेक्षा कर सकता है? मैं पाँच मासमें जो कुछ प्रचार-कार्य कर पाया उसका सारा श्रेय भारतीय पत्रकारोंको ही मिलना चाहिए अन्यथा मेरी आवाज़ अरण्य-रोदन ही सिद्ध होती। उन्होंने मेरी आवाजको देशमें एक ओरसे दूसरे छोरतक पहुँचा दिया।

इस बारकी समुद्र-यात्रा अत्यन्त कष्टकर सिद्ध हुई। वर्षा ऋतुके कारण हिन्द महासागर प्रक्षुब्ध होकर तांडव-नृत्य कर रहा था, उसकी पहाड़-सी लहरें उठती, जहाजसे टकराती और टायरियाको गेंदकी तरह उछाल-उछालकर फेंक देती। कई दिनों तक यात्रियोंकी बड़ी बुरी हालत रही, किसीको होश-हवास ठिकाने नहीं था, खान-पान और आराम हराम होगया। उलटी करते-करते आँतें बाहर आजाती थीं, चक्करसे पैर नहीं टिकते थे। मोम्बासा तक यात्रियोंकी यही दुर्गति हुई। उसके बाद कहीं शान्त समुद्र मिला।

द्वितीय विश्व-युद्धकी घोषणा

समुद्रका शान्त रूप देखकर यात्रियोंको कुछ संतोष तो हुआ, पर विश्वकी अशान्तिकी खबरें पाकर हमारे हृदयमें उथल-पुथल मचे बिना न रही। उस समय जर्मनी और पोलेण्डका मामला गम्भीर और गर्म हो उठा था। २३ अगस्तको जर्मनीके सर्वेसर्वा हर हिटलरने ग्रेट ब्रिटेनके प्रधानमंत्री श्री चेम्बरलेनको एक पत्र लिखा कि पोलेण्डकी उलझन शीघ्र सुलझ जानी चाहिए और जर्मनीके साथ इङ्गलैण्डकी मैत्री बनी रहनी चाहिए। इस पत्रको लेकर ब्रिटिश राजदूत सर नेविल हेण्डरसन वायुयानसे इङ्गलैण्ड गए। पर उस पत्रका जवाब देनेसे पहले ही २५ अगस्तको ग्रेट ब्रिटेनने पोलेण्डको स्वाधीनताकी गारण्टी कर दी। इसके बाद हिटलरको उत्तर मिला कि पोलेण्डकी स्वाधीनताकी रक्षा करनेके लिए ग्रेट ब्रिटेन वचन-बद्ध हो चुका है, अतएव जर्मनीको पोलेण्डसे समझौता कर लेना चाहिए और शक्तिके प्रयोगसे बाज आना चाहिए। इसपर हिटलरने ब्रिटिश राजदूत हेण्डरसनको बुलाकर फतवा दे दिया

कि यदि पोलेण्ड समझौतेके लिए तैयार है तो चौबीस घण्टेके अन्दर उसको अपना प्रतिनिधि भेज देना चाहिए अन्यथा स्थिति काबूसे बाहर हो जायगी।

हिटलरकी निर्धारित अवधि बीत गई, ग्रेट ब्रिटेनका सहारा पाकर पोलेण्डने हिटलरकी बातकी कोई पर्वाह नहीं की; अतएव पहली सितम्बरको जर्मनीने पोलेण्डपर चढ़ाई कर दी। मारू बाजा बज गया, रणचण्डी अट्टहास कर उठी, भैरवियाँ नर-रक्तसे खप्पर भरनेके लिए सँभल बैठीं। सारी बसुन्धरा काँप उठी। मानव-समाज इसका परिणाम सोचकर चिन्ता और व्यथासे अधीर हो उठा। संसारका भविष्य अन्धकारमें छिप गया। इधर वर्षोंसे यूरोप बारूदका ढेर बन गया था, उसमें हिटलरने दियासलाई लगा दी। इस आगसे यूरोप तो भस्म होगा ही, पर उसकी लपटसे एशिया और अफ्रिका भी न बच सकेगा। जो संसारकी गतिकी कुछ भी जानकारी रखते थे उनके लिए तो यह लड़ाईकी घोषणा मानो विश्वके विनाशकी सूचना थी।

उस समय 'टायरिया' बैराके बंदरगाहपर जा लगा था। इच्छा न होते हुए भी बैराके प्रवासी भाइयोंके आग्रहसे मुझे वहाँ उतरना पड़ा और उनकी एक सभामें बोलना भी पड़ा। उस सभामें विश्वके भविष्यपर जो कुछ मैंने कहा था, वह अंकगणितकी भाँति सत्य निकला। उस समय अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितिकी विषमता और गंभीरताके कारण किसीके भी होश ठिकाने न थे——सभी चिन्तित और उद्विग्न हो रहे थे। तीसरी सितम्बरको दोपहरके समय 'रेडियो'ने यह खबर सुनाई कि इङ्गलैंड और फ्रांसने जर्मनीके विरुद्ध युद्धकी घोषणा कर दी। उसी क्षण सारे जहाज 'एडमिरल्टी'के हुक्मके अधीन हो गए। पृथ्वी, आकाश और जलमें युद्धकी घनघोर घटा घिर आई। संसारके प्राणियोंमें त्राहि त्राहि मच गई।

लण्डनसे अमेरिका जाते हुए 'अथेनिया' स्टीमरको जर्मन पनडुब्बीने डुबा दिया, जिससे सभी जहाजके यात्रियोंमें आतंक छा गया।

'टायरिया'ने बैरासे कूच तो किया, पर किनारा छोड़कर उसने बीच-समुद्रसे जाना ही हितकर समझा। खिड़कियाँ रंग लगाकर काली कर दी गईं और ऐसा सख्त इन्तजाम हुआ कि रातमें रोशनीकी एक रश्मि भी बाहरसे दिखाई न देने पावे। बैरासे लोरेन्सो मार्क्विस होते हुए सही सलामत 'टायरिया' डरबनके बंदरगाहपर जा लगा और हम अपने निर्दिष्ट स्थानपर पहुँच गए।

डरबन पहुँचकर देखा कि दक्षिण अफ्रिकामें भी उथल-पुथल मची है। युद्धके प्रश्नपर यूनियनके मंत्रि-मंडलमें मत-भेद हो गया। प्रधान-मंत्री जनरल हर्टजोग दक्षिण-अफ्रिकाको तटस्थ रखना चाहते थे और न्याय-मंत्री जनरल स्मट्स उसे लड़ाईकी आगमें झोंक देना चाहते थे। यूनियन-पार्लमेंट में हर्टजोग हार गए और तीन-चार वोटके बहुमतसे स्मट्सकी विजय हो गई। हर्टजोगने देशकी राय जाननेके लिए पार्लमेंटके पुनर्निर्वाचनकी आवाज उठाई और मंत्रि-मंडलकी तरफसे इस्तीफा देकर गवर्नर जनरलको पार्लमेंट भंग करनेकी सलाह दी। गवर्नर-जनरल थे——स्मट्सके लंगोटिया यार और उनके दलके एक अग्र-नेता सर पेट्रिक डङ्कन, जिन्होंने दक्षिण अफ्रिकामें पहले-पहल भारतीयोंके विरुद्ध सन् १९२४ में पृथक्करण कानून (Class Areas Bill) बनानेकी चेष्टा की थी। हर्टजोगका इस्तीफा मंजूर करनेमें उनको देर न लगी, पर पार्लमेंट भंग करनेसे उन्होंने इन्कार कर दिया और स्मट्सको बुलाकर अपनी सरकार बना लेनेकी सत्ता सौंप दी। पन्द्रह सालके बाद फिर जनरल स्मट्सके हाथमें दक्षिण अफ्रिकाके शासनकी बागडोर आ गई। उनकी नई सरकार बन गई जिसने जर्मनीके विरुद्ध युद्धकी घोषणा कर दी।

तीन सप्ताहके अन्दर यह सारी बातें हो गईं। मेरे बम्बईसे प्रयाण करके डरबन पहुँचने तक संसारमें कितनी उथल-पुथल हो गई——एक ऐसा युद्ध छिड़ गया जिसका दूसरा उदाहरण विश्वके इतिहासमें मिलना असंभव है। डरबनके बंदरगाहपर प्रवासी भाइयोंने मेरा बड़ा स्वागत-

सत्कार किया, पर मेरा स्वास्थ्य तो इतना गिर गया था कि जेकबसके अपने भवनपर पहुँचकर मैं जो रोग-शय्यापर गिरा तो फिर महीनोंतक नहीं उठ पाया।

कांग्रेसपर कुठाराघात

नेटाल पहुँचकर नेताओंकी जो दशा देखी, वह कौमी क्रियाशीलता-की कथा नहीं, ग्लानिकी गाथा है। कांग्रेसको मैं किस संगठित और उन्नत अवस्थामें छोड़कर गया था, किन्तु हिन्दुस्थानसे लौटकर देखा कि कांग्रेस-कर्मियोंमें द्वेष और वैमनस्यकी आग धधक रही है। एक दल तो मेल-मिलापकी आड़में कांग्रेसको ही दफनानेको तैयार हो गया है। छः मासके अन्दर क्या-से-क्या हो गया था ?

"जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीत बहार।
अब अलि रही गुलाबमें अपत कँटीली डार।"

कांग्रेसकी शक्ति छिन्न-भिन्न हो रही थी, नेताओंमें वाग्-युद्ध चल रहा था, सदस्योंमें निराशा छा रही थी। फूटकी खेती लहलहाने लगी थी। कौमकी किश्ती मझधारमें भटक रही थी, खिवैये उसकी तरफसे गाफिल और लापर्वाह थे, वे तो आपसमें कुश्ती लड़ रहे थे, एक दूसरे-को पछाड़नेके लिए दाव-पेंच खेल रहे थे। मैं हिन्दुस्थानसे रुग्ण-शरीर और भग्न-स्वास्थ्य लेकर लौटा था, जो डाक्टरोंके उपचार और बच्चोंकी सेवा-शुश्रूषासे सुधर जाता, पर नेटालका हाल देखकर दिल और दिमाग-पर जो गहरी चोट पहुँची उसका कोई इलाज न था। उस व्यथासे जीवनकी ज्योति मंद पड़ने लगी, आशाकी डोरी टूट गई। मेरे मकान-पर एक ओर डाक्टरोंका जमाव होता और दूसरी तरफ लीडरों का। डाक्टर इलाज करते, लीडर माथा-पच्ची। इधर बीमारी और कमजोरी, उधर नेताओंकी मुँहजोरी। मेरे संतापकी सीमा नहीं रही, मेरी जान आफतमें आगई।

बीती बातोंपर विहंगम-दृष्टि

इस पारस्परिक संघर्षका रहस्य समझनेके लिए पिछली घटनाओं-

पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है। सन् १९३३ में जब स्वदेश-प्रत्यागमनकी योजना असफल होगई और विदेश-निवासकी योजना (Colonization Scheme) की जाँचके लिए यूनियन-सरकारने एक कमेटी बैठाई तो उस समय व्यक्तिगत द्वेषके कारण कांग्रेसके नेताओं-में मतभेद होगया। एक पक्ष कमेटीसे सहकार करना और दूसरा उसका बहिष्कार करना चाहता था। उस विग्रहका वर्णन पिछले एक अध्यायमें आ चुका है, उसीकी पुनरावृत्ति यहाँ निरर्थक है। जब श्री अलबर्ट क्रिस्टफर और श्री मणीलाल गांधी कांग्रेसपर कब्ज़ा न कर सके तो उन्होंने 'कलोनियल-योर्न-एण्ड सेटलर्स एसोसियेशन' (The Colonial-Born and Settlers Association) नामक एक नया राजनीतिक संघ बना लिया। क्रिस्टफर कलोनियन-बोर्न है, और मणी-लाल 'सेटलर' हैं। एकको कमिश्नर नहीं चुना गया था, दूसरेको कांग्रेस-का मंत्री। बस जोड़ा बैठ गया, तूफ़ान उठ पड़ा। कुछ दिनों तक इनका सितारा चमकता रहा, आवाज बुलंद होती रही, पर कलोनाइज़ेशन-कमीशनकी रिपोर्ट निकलते ही इनके नेतृत्वपर चौका फिर गया। मिथ्या-प्रचारकी बुनियादपर इस एसोसियेशनकी इमारत खड़ी की गई थी, जो सचाईका झोंका खाते ही बह गई।

जब सैयद सर रजाअली एजेण्ट-जनरल बनकर दक्षिण अफ्रिका गये तो उनको मुट्ठी-भर हिन्दुस्तानियोंमें दो राजनीतिक संघोंका अस्तित्व अवांछनीय प्रतीत हुआ। परस्पर सिद्धान्तका तो कोई भेद था ही नहीं—केवल लीडरोंकी हेकड़ी बनी हुई थी—

"है कब्रमें भी मुझे तेरी जुल्फोंका ध्यान।
गो रस्सी जल गई मगर बल न गया॥"

सैयद साहबने दोनों दलोंको मिला देनेके लिए एक परिषद् बुलाई, उसमें कुछ चुने हुए नेता शरीक हुए। सभीको यह स्वीकार करना पड़ा कि प्रवासी भारतीयोंकी हित-दृष्टिसे एक ही राजनीतिक संघ वांछ-नीय है, अलग-अलग ढफली बजाने और राग गानेसे कोई फायदा

नहीं। पर जो कांग्रेससे विद्रोह करके चले गए थे, उनको कांग्रेसमें वापस आनेमें लाज लगती थी। उनको कौमकी उतनी पर्वाह न थी, जितनी अपनी नाक की। उनका कथन था कि लोग हँसी उड़ायेंगे और कहेंगे कि आखिर ये हजरत नाक रगड़कर कांग्रेसमें वापस गए ही। इसलिए उन्होंने यह तजवीज पेश की कि कांग्रेसका नाम बदल दिया जाय और कोई नया नाम चुन लिया जाय ताकि उनकी आबरूमें बट्टा न लगे। इसपर और सब तो खामोश रहे, पर श्री सोराबजी रुस्तमजीने उठकर साफ कह दिया कि विपक्षियोंकी सारी बातें मंजूर कर लेनेको हम तैयार हैं,पर कांग्रेसका नाम बदलनेको नहीं। मेरे लिए तो कांग्रेस-का नाम बदलना मानो अपने बापका नाम बदल देना है।

इसी बातपर सभा भंग हो गई। जब सोराबजीसे मेरी मुलाकात हुई तो मैंने उनको हार्दिक बधाई दी थी। मेरे लिए तो 'कांग्रेस' शब्द बड़ा ही प्यारा है—जीवनसे भी प्यारा। बचपनमें ही कांग्रेसपर मेरा अनुराग हो गया और वह दिन-पर-दिन बढ़ता ही गया, घटा नहीं। यह मान लेनेमें मुझे कोई एतराज नहीं कि कांग्रेसके कर्णधार अयोग्य और अवांछनीय हो सकते हैं; उसका सहज इलाज तो यह है कि उनको पद-च्युत करके उनकी जगह ऐसे व्यक्ति चुने जायं, जो कौमी कामके लिए अधिक वफादार और जिम्मेदार हों। पर 'कांग्रेस' नामने कौन-सा ऐसा अपराध किया है कि उसको मिटा डालनेके लिए यह हठ और दुराग्रह? जिस नामको बहुत सोच-विचारकर महात्मा गांधीने चुना था, जिसकी बुनियाद उनके हाथों पड़ी थी, जो उनकी पहली कृति और प्रवासी भारतीयोंकी सबसे पुरानी सभा है उसका नाम मिटानेकी चेष्टा और वह भी महात्माजीके द्वितीय पुत्र मणीलाल गांधीके नेतृत्व में? संसारका इसे आठवाँ आश्चर्य ही समझना चाहिए।

मैंने स्वयं मेल-मिलापके ख्यालसे अपने सहकर्मियोंसे पूछे-ताछे बिना ही साधु एण्ड्रूज, सैयद रजाअली, और सेठ गोविन्ददासको वचन दे दिया था कि हम कांग्रेस ही क्रिस्टकर—मणीलालको सौंप देनेको तैयार

हैं, मौजूदा अमलदार एक साथ इस्तीफा दाखिल कर देंगे और वे अपनी कार्य-समिति बनाकर कांग्रेसका काम सँभाल लेवें। नाम बदलने की बात हठ और दुराग्रहके सिवा और क्या है ? कांग्रेस नामसे नफरत क्यों, जो भारतकी कौमियत और आजादीकी निशानी है और जिसके झंडेके नीचे हजारों देशवासियोंने आत्मोत्सर्ग किया है।

क्रिस्टफर—मणीलाल—दल अपने हठ और दुराग्रहपर डटा रहा। दुर्भाग्यवश सैयद रजाअलीके जमानेमें फिर कांग्रेस-कर्मियोंमें फूट हो गई। सैयद साहबने एक हिन्दू महिलासे शादी कर ली। उनके विरुद्ध सोराबजीने एक तूफान खड़ा कर दिया। श्रीअब्दुल्ला इस्माइल काजीने कांग्रेसको साम्प्रदायिक संघर्षसे अलग रखनेकी कोशिश की तो हिन्दू-हितके हिमायतियोंने कांग्रेससे ही नाता तोड़ लिया। जब काजीने सोराबजीके सामने झुककर 'ऊँट बिलैया ले गई, हाँजी हाँजी कहना' मंजूर न किया तो सोराबजीने काजी और कांग्रेसको ही मिटा डालनेका मनसूबा बाँध लिया। पर काजीकी दृढ़ताके सामने उनके छक्के छूट गए।

काजीपर कोप

सन् १९३८ में मैं प्रधान चुना गया और कांग्रेसका ऐसा सुदृढ़ संगठन होगया कि सोराबजीको झख मारकर उसकी छत्रच्छायामें आना ही पड़ा। पर काजीके विरुद्ध प्रचार होता रहा। कहा जाता कि काजी प्रवासी भारतीयोंका डिक्टेटर बनना चाहते हैं, जो कांग्रेसके भविष्यके लिए घातक है। हिन्दूओंको समझाया जाता कि काजी मतान्ध मुसलमान हैं और उनके नेतृत्वमें हिन्दू-हित खतरेमें है। मुँहपर उनकी प्रशंसा और पीठ-पीछे ऐसा गन्दा प्रचार ? वास्तवमें काजीने कभी डिक्टेटरी नहीं चलाई; कांग्रेस-कमेटीकी राय और सलाहके बिना वह कोई काम नहीं करते थे। वह एक सच्चे राष्ट्रवादी मुसलमान हैं, उन्होंने हिन्दू-हितकी कभी उपेक्षा नहीं की। पन्द्रह सालके व्यक्तिगत अनुभवके आधारपर मैं कह सकता हूं कि काजीके जोड़का राष्ट्रवादी मुसलमान दक्षिण अफ्रिकामें मिलना दुर्लभ ही है। उनके राष्ट्रीय विचारके कारण

कुछ पोंगापंथी मुसलमान तो उनको बेदीन और काफिर तक कहा करते हैं।

जिस समय मुझे भारत जानेके लिए कांग्रेसका एक-मात्र प्रतिनिधि चुना गया। उस समय मुझे ऐसी अंतर्ध्वनि सुनाई पड़ी कि मेरी अनुपस्थितिमें कांग्रेसका अमंगल होगा। मैं चौंक पड़ा। इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई तो वह सोराबजीपर जाकर अटकी। सोचा कि यह व्यक्ति बात का धनी है। इसलिए मैंने भरी सभामें कहा कि यदि भाई सोराबजी मुझे आश्वासन देवें कि वह कांग्रेसकी देख-भाल और सँभाल करेंगे तभी मैं जानेका निश्चय कर सकता हूँ। उन्होंने उठकर फौरन वचन दिया कि आप निश्चिन्त होकर जाइये, आपकी अनुपस्थितिमें कांग्रेसका अहित न होने पायगा।

भारतके लिए प्रस्थान करनेसे कुछ दिन पहले जोहान्सबर्गमें सर रामरावसे भेंट होनेपर उन्होंने मुझे यह सूचना दी कि लगातार प्रयत्न करनेपर सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् चार सप्ताहके लिए दक्षिण अफ्रिका आनेको तैयार होगए हैं। उनके मार्ग-व्ययकी व्यवस्था होनी चाहिए। ट्रांसवाल इंडियन कांग्रेस वाले आधा खर्च देनेको तैयार हैं और आप नेटाल वालोंसे शेष आधा दिलवा दीजिये। मैंने यह बात मंजूर कर ली और नेटाल इंडियन कांग्रेसके हिस्सेके रुपये उनके पास भेज भी दिये और इसके बाद ही मुझे पृथक्करण-नीतिके विरुद्ध आन्दोलन करनेके लिए ,भारतको कूच कर देना पड़ा।

मेरी अनुपस्थितिमें ही डाक्टर राधाकृष्णन् दक्षिण अफ्रिका पधारे। संसारके महान् तत्त्वज्ञानियोंमें वह एक हैं, यूरोप और अमेरिकामें भी उनका काफी प्रभाव है। वह हिन्दू-धर्मके उद्भट पंडित, विलक्षण वक्ता अप्रतिम तार्किक एवं विश्रुत विद्वान् हैं। उन्होंने दक्षिण अफ्रिकाके श्वेतांगोंको आर्य-संस्कृतिका सन्देश सुनाकर जहाँ भारत-भूमिका गौरव बढ़ाया वहाँ प्रवासी भारतीयोंको भी गौरांगोंकी दृष्टिमें कुछ ऊपर उठाया। प्रवासी भारतीयोंमें फूट देखकर सर राधाकृष्णन्‌का व्यथित होना स्वाभा-

विक ही था। फूटसे किसका भला हुआ है? इसी फूटसे रावणकी लंका गई और बालीका मद्रास। हिन्दुओंकी फूटसे हिन्दुस्थानमें मुगल आये और मुसलमानोंकी फूटसे अंग्रेज। मुट्ठी-भर प्रवासी भारतीयोंमें फूटका फल सर्वनाशके सिवा और क्या होगा? अतएव सर राधाकृष्णन्‌ने सोराबजी, क्रिस्टफर, मणीलाल गांधी आदिको बुलाकर समझाया कि आपसका झगड़ा मिटा डालो। बीती बातोंको बिसारकर आगे हिल-मिलकर रहो। यहाँ तो और कोई भेद नहीं, केवल कांग्रेसके नामका झगड़ा है। इसका फैसला महात्मा गांधीपर छोड़ दो। जो वह निर्णय कर दें, सभीको मंजूर कर लेना चाहिए।

इधर काजीका सार्वजनिक क्षेत्रमें बहुत आगे बढ़ जाना कुछ लोगोंको बेतरह खटक रहा था। उनके खिलाफ काफी प्रोपेगंडा भी हो चुका था। उनको सार्वजनिक क्षेत्रसे मार भगानेके लिए एक प्रबल पार्टीकी जरूरत थी। मैं हिन्दुस्थानमें था, मैदान साफ मिला। सोराबजीको अपनी शपथ तोड़नेका एक बहाना भी मिल गया। वह कहने लगे कि यदि बापू कह देंगे तो कांग्रेस तो क्या, मुझे अपने बापका नाम बदलनेमें भी कोई संकोच न होगा। डूबते हुए क्रिस्टफर और मणीलालको डोंगीका सहारा मिल गया। उनके तो भाग्य ही जग गए——बिल्ली की किस्मतसे छींका ही टूट पड़ा।

काजी इस षड्यंत्रका रहस्य नहीं समझ पाए और यही रट लगाये रहे कि किसी भी कीमतपर आपसमें एकता हो जानी चाहिए। वह खुद एकताका फरिश्ता बननेमें सबसे आगे रहना चाहते थे। एक मसविदा तैयार किया गया, जिसका आशय यह था कि दोनों दल इस शर्तपर मिल रहे हैं कि महात्मा गांधी सभाका जो नाम पसंद करेंगे वही सर्वमान्य होगा। इस विषयपर कमेटी बराबर बैठती रही, खानगी गोष्ठियोंमें चर्चा चलती रही। एकताको कौन बुरा कह सकता था? कौन उसके खिलाफ आवाज उठानेका साहस कर सकता था? कौन छाती ठोंककर कह सकता था कि—

"न रीझें भूलकर भी आप बाहरकी सफाईपर।
वरक सोनेका चिपकाया है गोबरकी मिठाईपर॥"

जनता तो क्या, स्वयं काजी गफलतमें पड़े रहे और इस मैत्रीका मर्म नहीं समझ पाए, जिनके विरुद्ध यह सारा षड्यन्त्र रचा जा रहा था। जब उन्होंने देखा कि एकताके अग्रदूतोंकी नीयत अच्छी नहीं है और उनके दिलमें दूषित भावनाएँ छिपी हैं। जब तक वह सजग और सचेत हुए तबतक तो उनके सार्वजनिक जीवनके लिए फाँसीका तख्ता तैयार हो चुका था।

"आछे दिन पाछे गये, समझ न पाया हेत।
अब पछताये होत क्या,चिड़ियाँ चुग गईं खेत॥"

कांग्रेसका अमंगल और अनिष्ट देखकर वह विकल हो उठे। उनके पश्चात्ताप, विवशता और हार्दिक-यंत्रणा का चित्र कौन खींच सकता है? उन्होंने यह पुकार मचाई कि हिन्दुस्थानसे कांग्रेस-प्रेसिडेण्टके लौट आनेपर इस बातका विचार और निर्णय होना चाहिए, पर अब उनकी कौन सुनता है? सोराबजी अच्छी तरह जानते थे कि मेरे आनेपर उनकी चालबाजी नहीं चलने पायगी—कांग्रेसका नाम बदलना असंभव हो जायगा। इसलिए उन्होंने वोटें खरीदकर कांग्रेसके वार्षिकाधिवेशनके लिए २७ अगस्त निश्चित करा लिया।

इधर मैं भी काजीका तार पाकर बिहारसे विदा हो गया। सोचा कि २७ अगस्तको कांग्रेसका वार्षिकाधिवेशन होगा और मैं वहाँ पाँच दिन पहले २३ अगस्तको ही पहुँच जाऊँगा। पर दुर्भाग्यवश मुझे जहाज ही नहीं मिला। जिस 'करंजा' स्टीमरके लिए मैं बिहारका कार्यक्रम रद्द करके बम्बई पहुँचा था उसपर फौजी कामके लिए सरकारने अधिकार कर लिया। दो सप्ताहके बाद मुझे दूसरा जहाज मिला। जो किसी भी हालतमें समयपर नहीं पहुँच सकता था। मोम्बासा पहुँचनेपर मालूम हुआ कि स्वयं सोराबजी कांग्रेसके प्रधान-पदके लिए उम्मीदवार खड़े हुए हैं। उन्होंने एक पर्चा भी निकाला है, जिसमें एकताके नामपर

उनको प्रधान चुननेके लिए जनतासे अपील की गई है। इससे पूर्व किसीने प्रधान बननेके लिए इस तरीकेको अख्तियार करनेका साहस नहीं किया था। चुनावकी ऐसी धूम मची कि हजारों नये सदस्य बनाये गए और उनकी फीस इस शर्तपर भर दी गई कि वे सोराबजीके पक्षमें वोट देंगे।

सिटी-हॉलकी सभा

मुझे प्रधान-पदपर बने रहनेकी जरा भी इच्छा न थी। मैंने जनताके आग्रहसे ही साल-भरके लिए सभापतित्व स्वीकार किया था। जब साल पूरा होनेको आया तो मैंने हिन्दुस्थानसे कांग्रेस-कमेटीको साफ-साफ लिख भी दिया था कि मेरी प्रतीक्षा करनेकी जरूरत नहीं है। ठीक समयपर कांग्रेसका वार्षिकोधिवेशन और निर्वाचन हो जाना चाहिए और किसी दूसरेको प्रधान चुन लेना चाहिए, क्योंकि मेरा स्वास्थ्य इस भारके वहन करनेकी इजाजत नहीं देता है। मेरी बीमारी और कमजोरी मुझे सार्वजनिक जीवनसे अवकाश ले लेनेको मजबूर कर रही है और जिस पदकी जिम्मेदारीको मैं सचाई और ईमानदारीके साथ पूरा नहीं कर सकता, उस पदपर नामके लिए चिपटे रहना मेरे सिद्धान्तके विरुद्ध है।

मोम्बासामें जहाजपर भाई सोराबजीका एक पत्र भी मुझे मिला; जिसमें उनके सभापतित्वका समर्थन करनेके लिए मुझसे अपीलकी गई थी ताकि उनको प्रधान बननेमें कोई विघ्न-बाधा न पड़े। *मैंने वहाँसे

---

*"But one thing is certain and I want to repeat it again that I shall not accept the Presidentship for the next year. In fact my public life ends with my present mission, if fortunately I returned alive to South Africa. As you are fully aware, I have become a physical wreck, and my weak health does not permit me to proceed any further. It is of no avail and rather impos-

एक तार दे दिया कि यदि कांग्रेसका नाम बदलनेके लिए यह प्रपंच रचा जा रहा है तो मैं नवीन निर्वाचनमें कोई पद स्वीकार नहीं कर सकता।

निदान २७ अगस्तको डरबनके विशाल सिटी-हॉलमें कांग्रेसका वार्षिकाधिवेशन हुआ। इस अधिवेशनमें हिन्दुस्थानके एजेन्ट-जनरल सर रामराव भी उपस्थित थे। काजीके मंत्रित्वकी रिपोर्ट शान्तिसे सुनी गई। इसके बाद ऐसी अशान्ति मची कि सभाका संचालन दुस्तर हो गया। जब सोराबजीके सभापतित्वका प्रस्ताव हुआ तो चारों तरफसे धिक्कारोंकी बौछार होने लगी। जब-जब वह अपनी सफाई देनेको उठते तो जनता शोर-गुल मचाकर उनकी जबान बंद कर देती। सभी इस बातसे हैरान थे कि सोराबजीके सिरपर सभापतित्वकी सनक कैसे सवार होगई? लोग सवाल करते कि कांग्रेसके प्रधानको हम लोगोंने हिन्दुस्थान भेजा, वह स्वदेशसे आरहे हैं, इस समय मार्गमें हैं। उनके आजानेपर यदि चुनाव होता तो क्या हर्ज हो जाता? इतनी उतावली क्यों की जा रही है? लगभग छः घण्टे तक सभा चली, पर सोराबजी एक शब्द भी बोलने न पाये। उनके उठते ही लानतकी आवाज उठने लगती थीं। उनकी इस दुर्गतिपर श्री वी० के० रिलजेने भरी सभामें कहा था कि यदि इस बेहज्जतीके साथ उनको नेटालका राज्य भी मिलता हो तो वह उसपर थूक देंगे। पर सोराबजी खूब जानते थे कि 'घड़ीमें घर जले, नौ घड़ी भद्रा' मनानेसे उनके सारे मनसूबे हवा हो जायंगे। यदि अभी उनका काम न बना तो फिर कभी न बनेगा (Now or never)

sible for me to nominally accept a responsibility which I cannot carry on with honesty and sincerity. Therefore, I beseech you that somebody else should be elected as the President at the next Annual General Meeting." —Extract from "An open Letter" to Swami Bhawani Dayal by Sorabjee Rustomjee.

यदि मेरे आजाने तक ठहर जाते हैं तो उस कब्रमें उन्हींकी नेतागीरी दफनाई जायगी, जो उन्होंने कांग्रेसके लिए खोदी है। इस अवसरपर पर यदि काजी कुछ भी विवेकसे काम लेते तो प्रवासी भाइयोंको बुरे दिन देखने न पड़ते, पर

"न शस्त्रमध्ये न च दृष्टपूर्वा न श्रूयते हेममयी कुरंगी।
तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य विनाश काले विपरीति बुद्धिः॥"

काजी ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिनकी बात सभामें शान्तिसे सुनी जाती थी। अन्य सभोकी बातें वहाँ 'नक्कारखानेमें तूतीकी आवाज' बन रही थीं। जब काजीने उठकर नये पदाधिकारियोंकी सूची पढ़कर सुनाई और सदस्योंसे प्रार्थना की कि जो लोग ओहदे और अख्तियारके भूखे हैं उन्हींको कांग्रेसकी बागडोर थमा देनी चाहिए। इनके चुनावमें विघ्न डालनेपर और फूट फैलेगी और उसकी जिम्मेदारी हमारे सिरपर थोपी जायगी। तब भी जनता शान्त और सन्तुष्ट नहीं हुई। काजीके भाषणसे कुछ शान्ति देखकर सामयिक सभापतिने सोचा कि यह अच्छा मौका हाथ लगा, अतएव उन्होंने झटपट उठकर घोषणा कर दी कि काजी साहबने पदाधिकारियोंकी जो सूची पेश की है उसके अनुसार नया चुनाव होगया। न नियमपूर्वक पदाधिकारियोंके नामके प्रस्ताव पेश हुए, न समर्थन हुए और न सदस्योंके मत लिये गए। सदस्य इस नियम-विरुद्ध कार्रवाहीपर चिल्ल-पों करते ही रह गए।

इसके बाद वह प्रस्ताव पेश हुआ, जो एकताके नामपर तैयार किया गया था और कांग्रेस-विधानके अनुसार तीस दिन पहले सदस्योंके पास भेजा भी गया था। पर ऐन मौकेपर उसमेंसे वह अंश निकाल दिया गया, जिसमें नामका फैसला महात्मा गांधीपर छोड़ा गया था। सोराबजीके दल वालोंने वहीं बैठकर यह निश्चय कर लिया कि प्रस्तावसे इस अंशको निकाल देना चाहिए। महात्मा गांधीसे

फैसला कराना फिजूल है, स्वयं कोई नाम चुन लेना चाहिए। सदस्योंको इस बातकी कोई खबर न थी। यदि महात्मा गांधीके फैसलेकी जरूरत नहीं रह गई थी तो नियमानुसार सदस्योंको तीस दिन पहले इसकी सूचना दे देना अनिवार्यतः आवश्यक था और यदि उसी समय कुछ परिवर्तन करनेकी आवश्यकता प्रतीत होगई तो विधि-पूर्वक पहले मूल प्रस्ताव पेश करना चाहिए था और फिर उसके मुकाबलेमें संशोधन। संशोधन (Amendment) पर सदस्योंकी सम्मति लेकर किसी निर्णयपर पहुँचना चाहिए। पर वहाँ कुछ नहीं हुआ। उसी गुल-गपाड़ेमें वह संशोधित प्रस्ताव पढ़ दिया गया। और सभापति सोराबजी ने एलान कर दिया कि 'प्रस्ताव पास और सभा समाप्त'।

सोराबजी और उनके साथी स्वयंभू नेताओंकी इस उच्छृङ्खलता और स्वेच्छाचरितापर नेटालके प्रवासी भारतीयोंमें असन्तोषकी ऐसी आग सुलगी कि वह वर्षों धू-धू करती रही। एकताके नामपर फूटकी विष-बेलि लगाई गई।

: ४७ :

प्रवासी भारतीयोंमें फूटका ज्वालामुखी

नेटाल पहुँचकर मैंने देखा कि प्रवासी भारतीयोंमें असन्तोषकी आग धधक रही है, वैमनस्यका बाजार गर्म हो रहा है, मनो-मालिन्यका मृदंग बज रहा है। लोरेन्सो मार्क्विससे ही मैंने कांग्रेसको तार दे दिया था कि मैं किसी प्रकारका स्वागत-सत्कार स्वीकार न करूँगा। क्योंकि मैंने जो कुछ किया है वह अपना कर्त्तव्य समझकर, मान-सम्मानके लिए नहीं। रुग्ण शरीर लेकर नेटाल लौटा था, पर वहाँकी स्थिति देखकर मेरा हृदय भी भग्न हो गया। इसलिए आगत-स्वागतका नाटक मुझे पसन्द नहीं था। पर सोराबजी और उनके सहयोगियोंने मुझे कांग्रेसका अभिनन्दन-पत्र स्वीकार करनेको मजबूर कर दिया। मैं यह सोचकर उनके दबावमें आ गया कि मेरी अस्वीकृतिसे जनतामें कहीं यह भ्रम न फैले कि मैं सभापतित्वके लिए असन्तुष्ट हूँ। मेरा वह पत्र तो बादमें सोराबजीने छपवाया, जो मैंने कांग्रेसको लिखा था और जिसमें नवीन निर्वाचनमें सभापति बननेसे इन्कार किया था।

अभिनन्दनका अभिनय

कांग्रेस-कमेटीने चाँदीकी तश्तरी (Silver Salver) पर अंकित मान-पत्र देनेका प्रस्ताव पास किया था, जिसमें पाँच-सात सौ रुपयेसे कम खर्च न होता। सोराबजी ऐसे तो पब्लिकके पैसेको फूँसकी तरह फूँकनेमें प्रसिद्ध हैं; पर इस बार उन्होंने बड़ी बुद्धिमत्तासे काम लिया और इस वाहियात खर्चसे कांग्रेसको बचा लिया। उन्होंने कांग्रेस-कमेटीके

प्रस्तावको रद्दीकी टोकरीमें फेंक दिया और कागजपर छपा हुआ मान-पत्र देकर किसी तरह इस बलाको टाल देना ही हितकर समझा। मुझे तो उसकी भी जरूरत न थी। मैंने उनसे बार-बार विनती भी की कि मान-पत्रकी बात ही छोड़ दी जाय। इस जीवनमें देश और विदेशोंमें मुझे इतने मान-पत्र मिल चुके हैं कि अब उसकी कोई आकांक्षा बाकी नहीं रह गई है। पर वह कांग्रेस-कमेटीके निश्चयकी दुहाई देकर मान-पत्रकी रट लगाये जाते थे।

खैर, डरबनके समुद्र-तटपर 'पेविलियन' (Pavilion)में सार्वजनिक सभा हुई। यह उस कांग्रेसकी अन्तिम सभा थी, जिसकी बागडोर सोराबजीने सँभाली थी। उस समय मैं इतना बीमार था कि डाक्टरोंने सभामें शरीक होनेकी इजाजत नहीं दी थी, पर उधर सोराबजी यह दुहाई दे रहे थे कि यदि मैं सभामें शरीक नहीं होता हूँ तो कांग्रेसके सैकड़ों रुपयेका नुकसान होगा क्योंकि सात हजार निमंत्रण-पत्र छपवाकर डाक द्वारा सदस्योंके पास भेजे जा चुके हैं, पोस्टर और सरकुलरमें भी काफी खर्च हो चुका है और 'पेविलियन'के भाड़ेसे भी पिण्ड नहीं छूट सकता। कांग्रेसको आर्थिक हानि पहुँचाना मुझे अभीष्ट न था, इसलिए रुग्ण-शरीर लेकर मैं सभामें शरीक हुआ। वहाँ बड़ी लम्बी-चौड़ी स्पीचें हुईं, मेरी प्रशंसामें अत्युक्तिकी हद कर दी गई। पर 'मुँहमें राम बगलमें छुरी'का मर्म मैं समझता था। इसलिए मुझे उस अभिनयसे आनन्द कहाँ?

कांग्रेसके दफ्तरमें ताला लग गया था। गरीबोंको रसद बाँटनेके लिए जो कांग्रेस-डिपो खुला था, उसका दरवाजा भी बंद हो चुका था। शिशु-हितकारक विभाग (Child Welfare Department) अपने नामपर रो रहा था। गरीब बच्चोंके आमोद-प्रमोदके लिए जो भवन (Holiday Home for Poor Indian Children) बनानेका निश्चय हुआ था और उदार व्यक्तियोंने एक हजार पौण्डसे अधिक इस कोषमें दान भी दिया था, कांग्रेसमें धाँधली मची हुई देखकर

उन्होंने अपना धन वापस ले लिया। मैंने अपने सभापतित्वके समय जितने रचनात्मक कामका सूत्रपात किया था, उनपर सोराबजी और उनके मित्रोंकी बदौलत चौका फिर चुका था। अब तो कांग्रेसको ही दफनानेकी तैयारी हो रही थी। सोराबजीके लिए तो बस—

"बुलबुलने आशियाना चमनसे उठा दिया,
उसकी बलासे बू हो रहे या हुमा रहे।"

कांग्रेसके नवीन कर्णधारोंकी करतूतसे जनतामें अशान्ति छा रही थी। फिर मुझे शान्ति कहाँ? जिस तरह सोराबजीके सभापतित्वमें कांग्रेसकी वह अंतिम सभा थी उसी तरह उस ऐतिहासिक 'पेविलियन'के जीवनमें भी। दूसरे ही दिन वह जलकर भस्म हो गया।

सोराबजीकी स्वेच्छाचारिता

कांग्रेसके कुछ हितचिन्तकों ने सोचा कि २७ अगस्तकी सभामें जो नियम-विरुद्ध कार्रवाई हो गई है उसके संशोधनके लिए व्यवस्थित उपायोंसे काम लेना चाहिए। अतएव कांग्रेस-कमेटीके तीस सदस्योंने एक आवेदन-पत्र (Requisition) भेजा कि कांग्रेसका विशेष अधिवेशन करके एकता वाले प्रस्तावपर पुनर्विचार होना चाहिए। सोराबजीने उसको दाखिल-दफ्तर कर दिया और उसपर कोई ध्यान नहीं दिया, जो कांग्रेस-विधानसे सर्वथा प्रतिकूल था। इसके बाद पाँच सौ सदस्योंने दूसरा आवेदन-पत्र वकीलकी मार्फत भेजा, पर उसकी भी उपेक्षा ही करना उचित समझा गया। अन्तमें कांग्रेसके संरक्षक श्री पारख सेठ तथा अन्य प्रमुख व्यक्तियोंने सोराबजीको एक पत्र लिखकर प्रार्थना की कि अभी कुछ नहीं बिगड़ा है, जो कुछ नियम-विरुद्ध कार्रवाई हो गई है और जिससे सदस्योंमें घोर असंतोष फैला हुआ है, उसको दूसरी सभा बुलाकर ठीक—दुरुस्त—कर लेना चाहिए। इस प्रकार पहले कांग्रेसके सदस्योंमें एकता कायम हो जानी चाहिए और उसके बाद दूसरे दल-वालोंको एकताके झंडेके नीचे आनेके लिए आवाहन करना उचित होगा। जब घरमें चिरागका धुँधला प्रकाश भी नहीं—अँधेरा छा रहा

है, तब बाहर मशाल जलाना कहाँकी बुद्धिमानी है, पर सोराबजी अपनी हठसे नहीं हटे, वह अपने दुराग्रहके लिए दक्षिण अफ्रिकामें मशहूर हैं।

नेटाल इण्डियन एसोसियेशनकी स्थापना

इस तरह सोराबजीने कांग्रेसको कब्रमें दफनाकर कलोनियन-बॉर्न एसोसियेशन वालोंको छातीसे लगाया। नवीन राजनीतिक संघका नाम 'नेटाल इंडियन एसोसियेशन' चुना गया और उसके पदाधिकारियोंके चुनावके लिए जो सभा हुई उसमें इने-गिनेको छोड़कर कांग्रेस-कर्मियोंने भाग ही नहीं लिया। नेटालमें फूटकी आग धधक रही थी, पर दुनियाकी आँखोंमें धूल झोंकनेके लिए 'रूटर'के जरिये यह खबर फैला दी गई कि नेटालके प्रवासी भारतीयोंमें पूरी एकता होगई। कांग्रेस और कलोनियल बॉर्न एसोसियेशन वाले भेद-भाव भुलाकर 'नेटाल इंडियन एसोसियेशन' के झंडेके नीचे एकत्र होगए। इस नई सभाका निर्वाचन ऐसा हुआ जैसा कि न पहले कभी देखा गया था और न सुना ही गया था। ऑल-इंडिया-कांग्रेस-वर्किङ्ग कमेटीमें केवल १५ सदस्य हैं, पर नेटालके इस एसोसियेशनकी कमेटीमें १५० मेम्बर चुने गए। हिन्दुस्थान-से दस गुना अधिक। सभी अगुआ होनेको उत्कंठित, अनुयायी कौन बनता है।

"लीडरोंकी धूम है और फालवर कोई नहीं।
सब तो जनरल हैं यहाँ आखिर सिपाही कौन है?"

मुझे भी ६५ मेंसे प्रथम उपप्रधान चुना गया, पर मैंने सोराबजीको पत्र लिखकर इस पद-प्रतिष्ठाको अस्वीकार कर दिया और साफ कह दिया कि यदि कांग्रेसका अन्त हो गया तो उसके साथ ही मेरे सार्वजनिक जीवनकी भी समाप्ति है। वह कसम खाकर उसे तोड़ सकते हैं; बापका नाम बदल सकते हैं, पर यहाँ तो—

"सिंह गवन सुपुरुष वचन, कदलि फरै इक बार।
तिरिया, तेल, हमीर हठ, चढ़ै न दूजी बार॥"

उनको अच्छी तरह मालूम था कि मैं उनकी नई मजलिसमें कोई

*ओहदा मंजूर न करूँगा, फिर भी उन्होंने जान-बूझकर गुस्ताखी की थी—जनताको भ्रममें डालनेके लिए। इस विषयपर जो पत्र मैंने लिखा, उसे लेकर वह मेरे पास दौड़े आए और बोले, "मैं जानता हूँ कि आपका एक खास उसूल है, जिससे आप डिग नहीं सकते। पर आपका पत्र तो हमारे लिए श्राप है, उसे आशीर्वादके रूपमें बदल दीजिये।" मैंने उस पत्रमें यह वाक्य जोड़ दिया कि "मैं आपके उद्योगमें सफलताकी कामना करता हूँ।" मेरे इस सौजन्यसे उन्होंने नाजायज लाभ उठाया और नेटाल-भरमें यह अफवाह फैला दी कि मैं उनके नये एसोसियेशनसे सहानुभूति रखता हूँ। मेरी स्थितिपर जनताको भ्रम होने लगा। इसलिए मुझे एक वक्तव्य निकालना पड़ा। वह वक्तव्य अखबारोंमें तो छपा ही,पर कांग्रेस-कर्मियोंने उसकी दस हजार प्रतियाँ अलग पैम्फलेटके रूपमें छपवाकर नेटाल-भरमें बँटवाईं।

इस वक्तव्यकी बड़ी चर्चा हुई। इसमें सोराबजीकी मनोवृत्ति और प्रवृत्तिकी सच्ची तस्वीर खींची गई थी और उनसे जनताको सावधान किया गया था। मुझे अपने एक पुराने सहकर्मीके विरुद्ध वक्तव्य निकालनेमें जो मनोवेदना हुई वह लिखकर बताना कठिन है, पर सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे वक्तव्य निकालनेपर मुझे बाध्य होना पड़ा। इसपर सोराबजी क्रोधसे पागल हो उठे। उन्होंने उसके जवाबमें एक पोथी छपवा डाली। सत्यके विचारसे मुझे यहाँ यह कह देना चाहिए कि उस पोथीको छपवानेसे पहले उन्होंने उसकी कापी मुझे दिखला दी थी और मैंने भी उनको खुशीसे छपवानेकी अनुमति दे दी थी क्योंकि मेरा यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने विचारको प्रकट करनेकी पूरी आजादी होनी चाहिए। वह पोथी छपी* और हजारोंकी संख्यामें नेटाल-भरमें बाँटी गई, पर इसीसे हमारे भाईको संतोष कहाँ?

---

*An Open Letter to Swami Bhawani Dayal: His Professions and Performances Revealed by Sorabjee RustomJee.

उन्होंने डरबनके साप्ताहिक 'इंडियन व्यूज' (Indian Views) अखबारपर मान-हानिका दावा भी दायर कर दिया और वह भी नेटालकी सर्वोच्च अदालत सुप्रीम कोर्टमें। 'इंडियन व्यूज'का यही अपराध था कि उसने सोराबजी भाईकी स्वेच्छाचारिता और शरारतकी कठोर समालोचना की थी और उनके हथकंडोंका पूरा भंडाफोड़ कर दिया था। मेरे वक्तव्यको छापते हुए 'व्यूज'ने एक अग्रलेख भी लिखा था, जिसमें मेरे सभापतित्वको कांग्रेसका सर्वोत्तम काल बतलाया था।* उसकी लगातार टीका-टिप्पणियोंसे सोराबजी बौखला उठे। पहले उन्होंने वकीलके द्वारा माफीका तकाजा किया, पर जब 'व्यूज'ने माफी माँगनेसे इन्कार कर दिया तो उसपर सुप्रीम कोर्टसे समन्स जारी कराया गया। समन्ससे भी वह विचलित न हुआ और सुप्रीम कोर्टमें जवाब दाखिल कर दिया कि उसने जो कुछ प्रकाशित किया है—सार्वजनिक हितके खयालसे ही और वह उसकी सचाई साबित करनेको तैयार है। पर मामला यहीं अटक गया, सोराबजीको आगे बढ़नेकी हिम्मत न पड़ी और बहुत दिनों तक वह मामला सुप्रीम कोर्टके विचाराधीन रहकर अन्तमें खारिज हो गया।

अदालतमें जानेसे पहले, मत-भेद होते हुए भी, मैंने सोराबजी भाईको बहुत समझाया था कि सार्वजनिक कार्यकर्ताके लिए मुकदमेबाजी अच्छी चीज नहीं है। जो जन-सेवाका दम भरता है उसको सार्वजनिक समालोचना सहनेको भी तैयार रहना चाहिए। जिन महात्मा

*"Of the various Presidents who have so far graced the chair of the Natal Indian Congress, there is none to whom we owe more than we do to Swami Bhawani Dayal and there are few among our leaders—however tall or fat they may be or regard themselves to be—who have worked half as hard as he has for the cause of people in this country."—The Indian views, Duroan Natal.

गांधीके अनुयायी होनेका वे दावा करते हैं उनके विरुद्ध आजतक जितना लिखा गया है, यदि उनका संग्रह कर दिया जाय तो एक पुस्तकालय तैयार हो जायगा। मैंने स्वयं अपना उदाहरण देकर समझाया कि मेरे विरुद्ध अनेक पुस्तकें छप चुकी हैं, परन्तु मैंने उनकी उपेक्षा ही करना ठीक समझा और इससे मेरी प्रतिष्ठामें कोई अन्तर नहीं आया। उन्होंने व्यंग भावसे जवाब दिया, "गांधीजी महात्मा हैं और आप हैं संन्यासी। मैं एक गृहस्थ ठहरा, अतएव आप लोगोंकी तरह सहन-शक्ति मुझमें नहीं है।" मैंने यह कहकर बात खत्म कर दी कि, "यदि यही बात है तो आपको जन-सेवाका काम छोड़कर अपने घरका धन्धा देखना चाहिए। फिर तो किसीको आपके खिलाफ एक शब्द भी कहनेकी जरूरत न पड़ेगी। अखबारके दो-चार लेखोंमें जिसकी इज्जत बरबाद हो सकती है, सार्वजनिक जीवनमें उसकी गुंजाइश कहाँ?"

विषाक्त वातावरण

सोराबजीका नया एसोसियेशन बन गया, नये सहयोगियोंके साथ वह कार्य-क्षेत्रमें अग्रसर हुए। मेरे पास यदि कोई कुछ शिकायत लेकर आता तो मैं उसको यही कहकर विदा कर देता कि अब सभीको शान्त हो जाना चाहिए, एसोसियेशनके कार्यमें कोई विघ्न नहीं डालना चाहिए। सोराबजी भाईसे कौमका हित ही होगा, अनहित नहीं। उन्होंने अपने सिरपर बहुत बड़ी जिम्मेदारी ओट ली है और इससे हमारा भार हल्का हो गया है। यदि हम उनके साथ नहीं चल सकते तो उनके पथमें रोड़े भी नहीं अटकाने चाहिएं। उनसे मिलकर राजनीतिक काम कर सकना मुश्किल है तो हमें सामाजिक या शिक्षाके क्षेत्रमें कोई काम ढूंढ लेना चाहिए। काम की कहाँ कमी है? पर एसोसियेशनके मुकाबलेमें दूसरा राजनीतिक संघ बनानेका विचार त्याग देना चाहिए। सोराबजी चाहे और जो कुछ करें—आपसमें चाहे कितनी धाँधली मचावें, परन्तु कौमको वह कभी नुकसान न पहुँचावेंगे—उसके हक और अख्तियारको कभी न बेचेंगे। जिसने प्रवासी भारतीयोंकी सेवामें अपना सर्वस्व

स्वाहा कर डाला है उससे कौमी अनिष्टकी कोई आशंका नहीं है।

मेरी यह नीति कुछ लोगोंको बहुत खटकी, क्योंकि कांग्रेस-कर्मियोंमें एक ऐसी जबर्दस्त पार्टी थी, जो एसोसियेशनके मुकाबलेमें कांग्रेसको जारी रखना चाहती थी। उनकी धारणा थी कि सोराबजीके हाथमें कौमकी बागडोर छोड़ देना और उनके विश्वासपर बैठे रहना भविष्यके लिए बड़ा घातक होगा। वे कहते कि सोराबजीके मनमें कुछ होता है, वाणीमें कुछ और, तथा कर्म कुछ और ही होते हैं, अतएव उनका एतबार कर लेना किसी भी दृष्टिसे वांछनीय नहीं है। पर मुझपर उनकी दलीलोंका कोई असर न होता। सोराबजीसे मतभेद हो जानेपर भी उनकी ईमानदारी और सचाईमें मुझे रत्ती-भर भी संदेह न था।

सोराबजीसे भी मैंने साफ-साफ कह दिया कि यद्यपि मैं उनकी नीति और प्रवृत्तिको पसंद नहीं करता और उनको प्रवासी भारतीयोंके लिए हानिकारक समझता हूं, तो भी उनके एसोसियेशनके मुकाबलेमें दूसरी राजनीतिक सभा खड़ी करना भी उचित नहीं समझता, बशर्ते कि वह सचाईसे कौमकी भलाईका काम करते रहें और कोई ऐसा काम न कर बैठें जिससे भारतीयोंके बचे-खुचे अधिकारोंमें कोई खलल पड़ता हो। मेरे इस आश्वासनसे सोराबजीका हौसला और भी बढ़ गया और कुछ ही दिनोंके बाद उन्होंने ऐसा कर्म कर डाला जैसा कोई 'न भूतो न भविष्यति' न पूर्वकालमें किया और न आगे कर पावेगा। सच कहा है कि उठनेमें देर लगती है, गिरनेमें देर नहीं लगती।

'आश्वासन'की अफवाह

उसी साल (सन् १६३१के अन्तमें) नेटाल इंडियन एसोसियेशनकी स्थापनाके बाद ही नेटालमें यह अफवाह उड़ी कि सोराबजीने एसोसियेशनकी तरफसे युनियन-सरकारकी पृथक्करण-नीति (Segregation Policy) को मंजूर कर लिया है और प्रवासी भारतीयोंकी तरफसे सरकारको यह लिखित आश्वासन (Assurance) भी दे दिया है कि भविष्यमें कोई हिन्दुस्थानी श्वेताङ्गोंके मुहल्लेमें न तो जमीन-मकान

खरीदेगा और न वहाँ बसेगा। यदि कोई इस आश्वासनको भंग करनेका दुस्साहस करेगा तो उसको समझा-बुझाकर राहपर लानेकी जिम्मेदारी एसोसियेशनपर होगी।

जहाँ देखो, यही चर्चा; जिसके मुँहसे सुनो, बस यही बात। पर मुझे इसपर विश्वास कहाँ? मैं इसे चंडूखानेकी गप्पके सिवा और कोई महत्त्व देना नहीं चाहता था। मेरे लिए तो कहाँ सोराबजीकी देशभक्ति और कहाँ यह सरकारकी पृथक्करण-नीति (Segregation Policy) की स्वीकृति! यदि कोई कहता कि जनाब जिन्नाने मीर जाफरका पार्ट खेलना छोड़ दिया तो शायद मैं विश्वास कर लेता, पर सोराबजीकी नेक-नीयतीमें संदेह करना मेरे लिए असंभव था। जिस व्यक्तिने आज पन्द्रह सालसे यूनियन-सरकारकी पृथकरण-नीतिके विरुद्ध आन्दोलन करनेमें अपनी सारी शक्ति लगा दी है उसपर यह कमीना हमला? क्या वह ऐसी गहरी खाईमें जान-बूझकर गिर सकता है? कदापि नहीं। यह सब सोराबजीको गिरानेके पैशाचिक प्रयत्न हैं; कलुषित षड्यंत्र हैं।

मैं सोचता, किसीसे मतभेद हो जानेपर उसको गिरानेके लिए कैसे ओछे उपाय काम में लिये जाते हैं। अभी छः महीने नहीं बीते, ट्रांसवालमें पृथक्करणके आधारपर जो मियादी कानून बना है, सोराबजी उसके विरुद्ध सत्याग्रह करने और जेल जानेको तैयार थे। जिन्होंने मेरे पास भारतमें पैगाम भेजा था कि जब मैं देशसे लौटूँगा तो सोराबजीको जेलमें पाऊँगा। जिसने ट्रांसवालके छः हजार प्रवासी भारतीयोंकी सभामें सरकारकी पृथक्करण नीतिके खिलाफ लड़नेकी शपथ खाई थी और डरबनके सिटी-हॉलकी सभामें उस शपथको दोहराया था, उस व्यक्तिके विरुद्ध यह अफवाह उड़ाना कि उसने पृथक्करण नीतिको स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया है और सरकारको लिखित आश्वासन दे दिया है, मेरे खयालमें अनुचित ही नहीं, अपराध भी था। जिसने मुझे रुग्ण-शैयासे उठकर पृथक्करण-नीतिके विरुद्ध भारतमें आन्दोलन करनेके लिए जानेको बाध्य कर दिया था उस व्यक्तिसे ऐसा दुष्कर्म कैसे हो

सकता है ? लोग द्वेष से अंधे हो रहे हैं,सत्यासत्यके विचारकी शक्ति खो बैठे हैं, इसमें सोराबजीका क्या दोष ?

"आँखें अगरचे बंद हैं तो दिन भी रात है।
इसमें कसूर क्या है भला आफताबका ॥"

इधर सोराबजीको राजनीतिक दाव-पेंच खेलते, वचन-भंग करते और पतनके पथकी तरफ जाते मैं अवश्य देख रहा था, पर वह ऐसा राष्ट्र-द्रोह करेंगे, कौमको बेच देंगे, इसकी मुझे कदापि आशंका न थी। कुछ लोग मेरे इस भोलेपनपर हँसते और कहते—

"इब्तदाये इश्क है रोता है क्या,
आगे-आगे देखना होता है क्या।"

जब देशभक्त सोराबजी, सत्याग्रही सोराबजी, शेरमर्द सोराबजीका सच्चा स्वरूप मेरे सामने आया तो मेरी आँखोंके आगे अँधेरा छा गया और मुँहसे सहसा निकल पड़ा—

"कोठेपै रहने वाली जीनेपै आगई।
वो रफ्ते-रफ्ते अपने करीनेपै आ गई॥"

: ४८ :

विश्वास-घात

सन् १९३९के दिसम्बरमें मैं लोरेन्सो मार्क्विसकी यात्रामें डरबनसे जोहान्सबर्ग गया। वहाँ अपने मित्र श्री रणछोड़ केसूर केपिटानके घरपर ठहरा। रणछोड़ भाईसे मेरा परिचय बहुत पुराना है। सन् १९२०में जब मैं हजारीबागमें बन्दी था तो वह अपनी पत्नीके साथ नवसारीसे हजारीबाग पहुँचकर जेलमें मुझसे मिले थे। नेटालकी आर्य प्रतिनिधि सभाके वह प्रधान रह चुके हैं और उन दिनों ट्रांसवाल हिन्दू-सेवा-समाजके सभापति थे। इस समाजने लगभग बीस हजार पौण्ड (ढाई लाख रुपयेसे अधिक) लगाकर जोहान्सबर्ग शहरके बीचमें बापूकी स्मृतिमें एक 'गांधी-हॉल' बनवाया है, जिसमें गुजरातीकी पाठशाला भी चलती है।

वहीं श्री प्राणशंकर सोमेश्वर जोशीसे भेंट हुई। जोशीजी एक प्रसिद्ध पत्रकार और ग्रंथकार हैं। गुजराती साहित्यमें उनका एक विशिष्ट स्थान है। गुजरातीमें प्रवासी-साहित्यकी सृष्टि और अभिवृद्धिका बहुत-कुछ श्रेय उनको प्राप्त है। गुजरातीमें उनके अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें 'रंगद्वेषनो दुर्ग' तथा 'दक्षिण अफ्रिकानी रंगभूमि' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'रङ्ग-द्वेष नो दुर्ग'का अंग्रेजी रूपान्तर भी 'टरेनी ऑफ कॉलर' (The Tyranny of Colour)के नामसे छप चुका है और उसकी दूसरी आवृत्ति बम्बईके प्रसिद्ध प्रकाशक 'थैकर एण्ड कंपनी'-ने 'वेरडिक्ट ऑन साउथ अफ्रिका' (Verdict on South Africa)

के नामसे प्रकाशित की है। इस ग्रंथमें दक्षिण अफ्रिकाकी श्वेतांग-नीति-का समालोचनात्मक विश्लेषण है और इसका संसारमें काफी प्रचार और आदर हुआ है। मेरे खयालमें जोशीजीकी यही सर्वोत्तम कृति है। उनकी लेखनी और वाणीसे दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंकी स्थितिपर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। जोशीजी एक अध्यापक हैं और सार्वजनिक कार्यकर्ता भी। परन्तु, उनका लेखन-कार्य ही अधिक महत्त्व-पूर्ण है।

गद्दारीकी गाथा

मुझे जोहान्सबर्गमें केवल एक दिन ठहरना था। ट्रांसवाल इंडियन कांग्रेसके मंत्री श्री सुलेमान नानाने मुझे एक चाय-पार्टी दी। नाना साहब दक्षिण अफ्रिकाके उच्च श्रेणीके इने-गिने नेताओंमें एक थे। जब तक वह जीवित रहे, ट्रांसवालके सर्वोपरि भारतीय नेता बने रहे। डाक्टर दादू कोशिश करके थक गए पर नानाको पराजित न कर पाए। ट्रांसवालमें उनके जोड़का दूसरा कोई नेता न था। उनपर प्रवासी भारतीयोंका पूरा विश्वास था और वह भी जीवनकी अन्तिम घड़ी तक उनकी सेवामें सन्नद्ध रहे। चूँकि भारतसे वापस जानेके बाद मैं पहले-पहल जोहान्सबर्ग गया था, इसलिए उन्होंने चाय-पार्टी-की व्यवस्था की, जिसमें ट्रांसवालके प्रमुख नेताओं और रईसोंके सिवा हिन्दुस्थानके एजेन्ट-जनरल सर रामराव भी शरीक हुए थे। चायके साथ ही सामयिक स्थितिकी चर्चा भी शुरू हुई। मुझे नेटालकी अफवाह याद हो आई और मैंने सोचा कि राव महाशयसे वस्तु-स्थिति का ठीक पता लग सकता है। अतएव मैं उनसे पूछ ही बैठा, "क्या यह बात सत्य है कि आपकी राय और सलाहसे नेटाल-इंडियन-एसोसियेशनकी तरफसे सरकारको लिखित आश्वासन दिया गया है कि भविष्यमें कोई भारतीय न श्वेतांगोंके इलाकेमें भी जमीन-मकान मोल लेगा और न वहां बसेगा ? इस प्रकार स्वेच्छापूर्वक पृथक्करण-नीतिको स्वीकार कर लिया है ? मुझे तो इस बातपर विश्वास

नहीं होता, पर आप इसपर अधिकार पूर्वक प्रकाश डाल सकते हैं।''

''बात यह हुई कि,'' रामरावजी कुछ सँभलकर बोले, ''हर्टजोग-के शासनका अन्त आगया, और स्मट्सके हाथमें राज्य-सत्ता आगई। नवीन मंत्रि-मंडलके सदस्य-स्मट्स, हॉफमेयर, लॉरेन्स आदि— प्रवासी भारतीयोंके मित्र हैं और उनकी सहायता करना हमारा कर्तव्य है। पार्लमेण्टमें विपक्षी दलकी तरफसे पृथक्करण कानून बनानेपर खास तौरसे जोर दिया जायगा और स्मट्सकी सरकारको हर तरहसे इस युद्धके जमानेमें परेशान करनेकी चेष्टा की जायगी। इस विकट परि-स्थितिमें एसोसियेशनका आश्वासन-पत्र सरकारके लिए एक हथि-यारका काम देगा। सरकार उसके आधारपर पार्लमेण्टमें यह कह-कर विपक्षियोंका मुँह बन्द कर सकेगी कि जब भारतीयोंने स्वयं गौराङ्गोंके मुहल्लेसे अलग रहनेका आश्वासन दे दिया है तो फिर कानून बनानेकी जरूरत क्या और उससे फायदा ही क्या? इस तरह सरकारका हाथ भी मजबूत रहेगा, और भारतीय भी पृथक्करण कानूनकी बलासे बच जायंगे।''

हिन्दुस्थान-सरकारके इस वफादार नौकरके मुँहसे यह स्पष्टीकरण सुनकर मुझे तो ऐसा लगा कि मानो मेरे पैरों तलेसे धरती खिसक गई और सिरपर आकाश फट पड़ा। मैं किस धोखेमें पड़ा हुआ था? अफवाह झूठ नहीं, सच थी। हठात् मेरे मुँहसे निकल पड़ा, ''स्मट्स और उनकी सरकारको मदद करने और उनको खुश रखनेके लिए अपने प्रवासी हिन्दुस्थानियों——अपने भाइयोंकी गर्दनपर छुरी चला दी, उनका जन्म-सिद्ध अधिकार बेच दिया, उनका सर्वनाश कर डाला। जिस पृथक्करण-नीतिके विरुद्ध आज पन्द्रह सालसे——सन् १९२४से - हम लड़ते आ रहे हैं उसको आपने एसोसियेशनके द्वारा स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करा दिया। स्मट्स कबसे प्रवासी भारतीयोंके हितैषी बन गए——वृद्धा-वेश्या कबसे तपस्विनी बन गई? जिसकी नीतिके खिलाफ महात्मा गांधीको सन् १९०७ से १९१४ तक सत्याग्रहकी लड़ाई लड़नी पड़ी, जो महात्माजीको

वचन देकर भंग करता रहा, उनके साथ विश्वास-घात करता रहा और जिसने पहले-पहल सन् १९२५ में भारतीयोंको अलग बसानेके लिए कानून बनानेकी कोशिश की, वह व्यक्ति आपकी दृष्टिमें प्रवासी भारतीयोंका हितैषी है ? आपने यह क्या किया ? एसोसियेशनसे क्या करा दिया आपने ?''

राव साहब मेरी बात सुनकर चौंके और नाराज होकर बोले, "चाहे कुछ भी हो, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि हर्टजोग और मलानसे स्मट्स और हॉफमेयर तो भारतीयोंके हकमें अच्छे ही हैं। अगर आश्वासन दिया जाता तो सरकारको कानून बनानेपर मजबूर होना पड़ता। कानूनसे बचनेका और कोई उपाय था ही नहीं, अवस्थाके अनुसार व्यवस्था करना ही बुद्धिमानी है।''

"मै आपकी दलील माननेको तैयार नहीं," मैंने व्यथित होकर उत्तर दिया, "हर्टजोग और मलानकी स्पष्टवादिता स्मट्सकी कूट-नीतिज्ञतासे कहीं अधिक श्रेयस्कर है। स्मट्सने ही पृथक्करण—(Segregation) कानून बनाकर प्रवासी भारतीयोंके सर्वनाशका आयोजन किया था और वे हर्टजोग और मलान थे, जिन्होंने उस विग्रहको मिटानेके लिए केपटाउनकी गोल-मेज परिषद्में हिन्दुस्थानके साथ संधि कर ली थी। मलानने ही ट्रांसवालमें 'फ्रिदम-कमीशन' इस अभिप्रायसे बैठाया था कि चूँकि सन् १८८५के गोल्ड-लॉके कारण ट्रांसवालमें कोई भारतीय एक इंच भी जमीन नहीं खरीद सकता, अतएव एक कानून बनाकर उनको खास-खास स्थानोंमें जमीन मोल लेनेका अधिकार दे देना चाहिए। हमारे दुर्भाग्यसे वह ऐन मौकेपर मंत्रि-मंडलसे अलग हो गए और फिर वह मामला वर्षों अधरमें लटकता रहा। स्मट्स तो विश्वास-घात करनेमें अपना जोड़ ही नहीं रखते, हॉफमेयरभी वचन देकर मुकर गए और स्टालार्फोर्डने तो गड़े मुर्देको उखाड़ा—पृथक्करण-का पचड़ा उठाया और ट्रांसवालमें मिआदी कानून बनाकर ही दम लिया। इन नादान-धूर्त दोस्तोंसे तो दाना दुश्मन अच्छा है।

"है दोस्त तुम्हारा मैंने माना अच्छा,
कहता है उसको एक जमाना अच्छा।
बावस्फ़ इसके भी वो अगर है नादान,
उससे कहीं दुश्मने दाना अच्छा।"

यदि हमारे बदनके कानूनकी तलवारसे टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते तो भी हमारी आत्मा बेदाग बची रहती। आत्माको मारकर शरीरकी रक्षा? मुँहमें रोटीके लिए सिरपर जूती खाना? मातृ-भूमि हिन्दुस्थानका यह अपमान? प्रवासी भारतीयोंका यह गहरा पतन? गजब होगया!"

मेरी मनोवेदना

इस फटकारसे सर साहब खामोश हो गए और जरूरी कामका बहाना बनाकर वहाँसे रवाना भी हो गए। मैं उस समय पोर्तुगीज पूर्व अफ्रिकाकी यात्रापर था। सोचा कि वहाँका कार्यक्रम निश्चित हो चुका है, उसको पूरा करना ही चाहिए। उधरसे लौटनेपर सोराबजी और एसोसियेशनके इस कौम-द्रोही कामका विचार और उसका प्रतिकार करना अनिवार्यतः आवश्यक है। यूनियन-सरकारकी जिस पृथक्करण-नीतिके विरोधमें पिछले पन्द्रह सालसे मैं फकीर बना फिरता हूँ; जिसकी वेदीपर अपनी प्यारी 'हिन्दी' पत्रिकाकी बलि चढ़ा देनी पड़ी। जिसके खिलाफ अपनी जान जोखिममें डालकर इसी साल गर्मीकी ऋतुमें भारतका चक्कर काटता फिरा; हरे! हरे!! उसी पृथक्करण-नीतिको हमारे नेताओंने—सोराबजी और उनके साथियोंने—स्वेच्छासे कैसे स्वीकार कर लिया? कैसे वह पतनके गहरे गर्त्तमें जा गिरे? सरकार कानून बनानेकी धमकी देती थी तो बनाने देते और मनमानी करने देते। हम भी उसके खिलाफ लड़ते, सत्याग्रह करते, जेल जाते, मर मिटते। दुनिया भी देखती कि वे आबरू की जिन्दगी बसर करनेके बदले हमने जानपर खेल जाना ही पसंद किया।

"गुजरकी जब न हो सूरत, गुजर जाना ही बेहतर है।
हुई जब जिन्दगी दुश्वार मर जाना ही बेहतर है॥"

हाय अब हम दुनियाको क्या मुँह दिखावेंगे ? क्या कहकर अपनी सफाई देंगे ? राम और कृष्णकी सन्तान, अकबर और शेरशाहकी औलाद; बुद्ध-शंकर और दयानन्दके अनुयायी, मसीह और मुहम्मदके फॉलवर होकर भी हमने दक्षिण अफ्रिकामें राजी-खुशीसे अधम स्थिति स्वीकार कर ली, अपने पूर्वजोंके नामपर कलंक लगा दिया और अपने पैरोंपर आप कुल्हाड़ी मार ली। भगवन् ! यह क्या हो गया ? मैं जगा हुआ हूँ या स्वप्न देख रहा हूँ ? हमारा भीषण पतन ? यह बुरे दिन ?? सर्वनाशकी यह घड़ी ???

मेरे दिलमें उथल-पुथल मच गई। चित्तमें चिन्ताकी भट्टी सुलगने लगी। स्वास्थ्य-सुधारके विचारसे पोर्तुगीज पूर्व अफ्रिका जा रहा था, पर मार्गमें ही ऐसी गहरी चोट लगी कि मर्माहत हो उठा। लोरेन्सो मार्क्विसके मित्रोंने मेरे इलाज और आरामके लिए बड़ा अच्छा इन्तजाम कर रखा था। पर मानसिक वेदनाकी मौजूदगीमें शारीरिक स्वास्थ्य कैसे सुधर सकता है ? मन तो उद्विग्न रहता था, फिर शरीरको सुख कहाँ ? जड़ कट जानेपर पल्लवपर पानी देनेसे क्या वह हरा रह सकता है ?

संघर्षका संकल्प

किसी तरह कुछ दिन वहाँ बिताकर सन् १९४०की जनवरीमें मैं नेटाल वापस आगया। तब तक जनताको एसोसियेशन वालोंकी करतूतका पता लग चुका था, सर्वत्र उनके कौम-द्रोहकी चर्चा हो रही थी। जेकबसमें मेरे भवनपर प्रवासी नेताओं तथा कार्य-कर्त्ताओंकी भीड़ जुटने लगी। सबके मुँहसे एक ही सवाल—"अब कहिये ?" किन्तु मुँहसे कहता क्या, खाक ! यहाँ तो हृदय-मंथन हो रहा था। सोचता—

"बुराई है आज बोलनेमें न बोलनेमें भी है बुराई।
खड़ा हूँ ऐसी विकट जगहपर, इधर कुआं है उधर है खाई॥"

यदि बोलता हूँ तो एसोशियेशनके आश्वासनके विरुद्ध एक सबल दल खड़ा हो जाता है और सोई हुई कांग्रेस भी उठ पड़ती है। इस

प्रकार फिर नेटालके प्रवासी भारतीयोंकी दो राजनीतिक सभाएँ बन जाती हैं। जिस एकताका दुनियामें ढिंढोरा पीटा गया था, उसका विनाश हो जाता है। यदि चुप रहता हूँ तो प्रवासी भारतीयोंकी वर्तमान और भावी पीढ़ीका ऐसा अमङ्गल और अनिष्ट होता है, जिसको इतिहास कभी क्षमा न कर सकेगा। मैंने अन्तिम निश्चय करनेके लिए मित्रोंसे एक सप्ताहकी मुहलत माँग ली।

वे सात दिन मेरे लिए सात युग बन गए थे। दिनमें चैन नहीं पड़ता था, रातमें नींद नहीं आती थी। एक ओर फूटाग्निमें घृताहुति पड़नेकी आशंका, दूसरी तरफ कर्त्तव्यकी पुकार। यह बात तो सर्वथा निश्चित थी कि एसोसियेशनने जो आश्वासन दिया था, उसको स्वीकार करना मानो क़ौमी आत्म-घात करना था। उसका विरोध तो आवश्यक हो गया था। अर्जुनकी भाँति मेरा मोह भी मिट गया। कबतक अन्तर-तमकी आवाज़को दबाये रहता? कबतक क़ौमकी किश्ती डूबती देखकर भी मौन साधे रहता?

सातवें दिन जेकबके 'भवानी-भवन'पर फिर सार्वजनिक सेवकोंकी गोष्ठी जुट गई और मेरे सामने फिर वही सवाल आया—'अब कहिये?' उत्तर देनेमें अब कोई हिचक न थी, सोच चुका था, कर्त्तव्य निश्चित कर चुका था, अन्तरात्माकी आज्ञा मिल चुकी थी। इसलिए कह दिया कि "अब कांग्रेसको जारी करनेके सिवा और कोई उपाय नहीं रहा। उसीके द्वारा एसोसियेशनके आश्वासनका प्रभावजनक प्रतिवाद किया जा सकता है।"

सोराबजी और काजी दोनों मेरे मित्र और सहकर्मी थे। कांग्रेस और एसोसियेशनके कर्णधार समान रूपसे मेरा आदर करते थे। मैं चाहता तो मौन साधकर सर्वप्रिय हर दिल अज़ीज़—बना रहता, पर व्यक्तिगत लाभके विचारसे जनताका अहित होने देना तो अपराध था। मुझे प्रवासी भारतीयोंकी हित-दृष्टिसे शान्त जीवन व्यतीत करने की तृष्णा छोड़ देनी पड़ी और कोलाहल-

पूर्ण सार्वजनिक क्षेत्रमें कूदना पड़ा। सर्व-प्रियताके लिए सिद्धान्तकी हत्या करना और मित्रताके लिए आत्म-हनन करना वह पाप है जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं। मेरा मार्ग स्पष्ट हो गया, मेरा प्रोग्राम बन गया।

सन् १९४९को फरवरीमें कांग्रेसको पुनर्संगठित किया गया। जो पदाधिकारी कांग्रेस छोड़कर एसोसियेशनमें चले गए थे, उनकी जगह नए अमलदार चुन लिये गए। कांग्रेसका काम जारी हो गया, डरबन शहरमें उसका दफ्तर खुल गया। सोराबजीके होश उड़ गए, उनके एसोसियेशनपर मानो बमका गोला फूट पड़ा। उनकी दौड़ती हुई डाक-गाड़ीमें ब्रेक लग गई। उन्होंने यह कहकर कांग्रेस-कर्मियोंको धमकाना और दबाना चाहा कि "कानूनसे कांग्रेस खत्म हो चुकी है, उसकी हस्ती एसोसियेशनमें लीन हो चुकी है। उस नामसे सभा चलाने और काम लेनेका अब किसीको अधिकार नहीं है,यदि कांग्रेस-कर्मी अपनी हरकतसे बाज न आयंगे तो सुप्रीम कोर्टमें दरख्वास्त देनी पड़ेगी, मामला चलेगा और कांग्रेस दफ्तरमें ताला लग जायगा।" यहाँ भी कोई कुम्हड़ बतिया न था, जो तर्जनी देखकर मुरझा जाता। इधरसे भी स्पष्ट घोषणा कर दी गई कि यदि सोराबजी अदालतकी शरणमें आना चाहते हैं तो हम भी उसके लिए तैयार हैं, क्योंकि हमें भी यह साबित करनेका मौका मिल जायगा कि २७ अगस्तकी सिटी-हॉलकी सभाकी कार्रवाई सर्वथा विधान-विरुद्ध और गैर-कानूनी थी। वास्तवमें सोराबजी अपनी गलती और कमजोरीका अनुभव कर रहे थे, इसीलिए कोर्टमें जानेका खयाल उनको छोड़ देना पड़ा।

अब सोराबजी एण्ड कम्पनीने यह प्रचार आरम्भ कर दिया कि कांग्रेसमें है कौन? कुछ इने-गिने व्यक्तियोंकी वह गोष्ठी है उसकी उपेक्षा ही करना उचित है। इसका क्रियात्मक उत्तर देनेके लिए कांग्रेस-का वार्षिकाधिवेशन किया गया, जिसमें लगभग डेढ़ हजार सदस्य शरीक हुए। इसके बाद ही कांग्रेसकी दूसरी परिषद् बुलाई गई,जिसमें नेटाल-के सभी शहरोंके प्रतिनिधि पधारे। न्यूकासल, डेनहाउसर, ग्लेंको,डंडी,

मायहेड, लेडीस्मिथ, एस्कोर्ट, ग्रेटाउन, पीटर मेरीत्सबर्ग, वेरूलम, इक्सिपञ्जो, पोर्ट शेप्सटन आदि नगरोंकी कांग्रेस-कमेटियोंका सम्बन्ध डर-बनकी केन्द्रीय कमेटीके साथ अक्षुण्ण बना रहा। इसके विपक्षियोंके छक्के छूट गए, उनकी आँखें खुल गईं। सोराबजीने कांग्रेसकी हस्ती मिटानेके लिए जितनी शक्ति लगाई थी, जितना धन खर्च किया था, सब व्यर्थ गया। कांग्रेस फिर एक शक्तिशाली संघके रूपमें प्रवासी भारतीयोंके सामने आई। जनताने उसे हृदयसे अपनाया।

: ४६ :

संघर्ष

कांग्रेसका पुनर्सङ्गठन हो जानेके बाद मैंने दक्षिण अफ्रिकाके भारतीयोंकी सामयिक समस्याओंपर एक विस्तृत वक्तव्य निकाला, जिसमें मैंने एसोसियेशनके आश्वासनका विश्लेषण करके बतलाया था कि वह प्रवासी भारतीयोंके भविष्यके लिए बड़ा ही घातक होगा। स्मट्सकी सरकार जिस पृथक्करणकी नीति और योजनाको हजार प्रयत्न करनेपर भी कार्यान्वित न कर पाई थी, एसोसियेशन वालोंकी अदूरदर्शिता एवं कौम-द्रोहसे वह कार्य सहज ही हो गया। वास्तवमें वह आश्वासन प्रवासी भाइयोंके लिए फाँसीका पर्वाना था। उसपर हमारे मित्रोंने स्वेच्छासे हस्ताक्षर बनाकर उनके सर्वनाशका मार्ग प्रशस्त कर दिया था। मैंने यह भी एलान कर दिया कि नेटालके प्रवासी भारतीयोंका प्रतिनिधित्व करनेका एसोसियेशनको कोई अधिकार नहीं है, वह एक दलका संघ है, अतएव उसकी ओरसे सरकारको जो आश्वासन दिया गया है वह एक विशेष दलका कारनामा है, उसके लिए प्रवासी भारतीय जिम्मेदार नहीं हैं। हम जहाँ चाहें जमीन खरीदने और बसनेका अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते हैं और उसपर किसी तरहका हस्तक्षेप सहन करनेको तैयार नहीं है। इस वक्तव्यकी जितनी चर्चा दक्षिण अफ्रिकामें हुई उतनी ही हिन्दुस्थानमें भी। कांग्रेसने इसकी दस हजार प्रतियाँ छपवाकर देश और विदेशोंमें बँटवाई। इससे संसारको पता चल गया कि एसोसियेशनने जो आश्वासन यूनियन-सरकारको

दिया है वह कुछ स्वयंभू नेताओंकी दुष्कृति है, प्रवासी भारतीय जनताकी तरफसे पृथक्करण-नीतिकी स्वीकृति नहीं।

सत्य तो यह है कि सोराबजी और उनके मित्रोंने आश्वासन देनेसे पूर्व अपने एसोसियेशनसे भी कोई राय-सलाह नहीं ली थी। सार्वजनिक सभामें इस मामलेको पेश करना तो अलग रहा, एसोसियेशनकी कमेटीकी मीटिंगमें भी इसकी कोई चर्चा नहीं की गई थी। सर रामराव की झाँसा-पट्टीमें आकर कुछ स्वयंभू नेताओंने स्मट्सको संतुष्ट करनेके विचारसे आश्वासन दे दिया था। जब यह भेद खुला तो चारों तरफसे उनपर जनताकी धिक्कारें पड़ने लगीं। मेरे वक्तव्यमें वस्तु-स्थितिपर पूरा प्रकाश डाला गया था। अतएव यूनियन-सरकार, भारतके एजेन्ट-जनरल और एसोसियेशनके कर्णधार मेरे वक्तव्यसे बड़े उत्तेजित और कुपित हो उठे। स्मट्स सोच रहे थे कि उन्होंने अपनी कूटनीतिके प्रतापसे मैदान मार लिया है, पर उस वक्तव्यसे उनकी आशा-लतापर तुषार-पात होगया। एजेन्ट-जनरल और सोराबजी एण्ड कम्पनीका तो आपेसे बाहर हो जाना स्वाभाविक ही था।

मेरे वक्तव्यके जवाबमें एसोसियेशनकी तरफसे दो किताबें निकलीं एक लाल और दूसरी हरे कवरकी। एकका नाम था "Statement on Alleged Indian Penetration" और दूसरीका "A True Story of the Unity Move"। एजेन्ट-जनरल सर रामरावने 'नेटाल मरक्युरी' (Natal Mercury) में अपना एक लम्बा चौड़ा वक्तव्य छपवाया। जब इसपर भी हमारे मित्रोंको सन्तोष न हुआ तो यूनियन-सरकारके आंतरिक मंत्री (Minister of Interior) श्री लॉरेन्सका डरबन आनेपर पुष्प-हारसे सत्कार किया गया और उनके मुखसे विपक्षियोंको धमकी दिलवाई गई कि यदि हम अपने विरोधसे बाज न आयेंगे तो सरकार कानून बनाकर हमें ठीक—दुरुस्त कर देगी। हमने भी कांग्रेसकी तरफसे मिनिस्टर महाशयको साफ जवाब दे दिया कि इस तरह डरा-धमकाकर हमसे पृथक्करणकी

नीति मंजूर नहीं कराई जा सकती। यदि अपने स्वतंत्र विचार प्रकट करनेमें हमारे मार्गमें रुकावट डाली जायगी तो इसका यही अर्थ होगा कि दक्षिण अफ्रिकामें हिटलरशाहीकी पुनरावृत्ति हो रही है।

कांग्रेसकी तरफसे महत्त्वकी दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं। एकका नाम था 'सहकारके साथ पृथक्करण' (Segregation with Co-operation) और दूसरीका 'परिषद्-पुस्तक' (Conference Book) इनमें पृथक्करण सम्बन्धी उपयोगी एवं आवश्यक सामग्रियोंका संकलन था और सरकारको आश्वासन देने वाले स्वयंभू नेताओंकी मनोवृत्ति और प्रवृत्तिकी प्रखर समालोचना भी। इधर सोराबजी-कुछ ऐसी कार्रवाई करनेमें लगे थे जिसकी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। उधर सर रामराव हाकिमोंके साथ इन नामधारी नेताओंको डिनर खिला रहे थे और ये नादान नेता कौमको कानूनसे बचानेके बहाने उनकी गर्दनपर छुरी चला रहे थे। उनपर कविकी यह उक्ति ठीक घट रही थी—

"कौमके गममें डिनर खाते हैं हुक्कामके साथ।
रंज लीडरको बहुत है मगर आरामके साथ॥"

वास्तवमें सरकारका कृपा-पात्र बनने और सरकारी महकमोंमें एसोसियेशनकी धाक जमानेके लिए प्रवासी भारतीयोंके साथ यह घोर विश्वास-घात किया गया था। जनताकी आँखोंमें धूल झोंकनेके लिए कहा जाने लगा कि हमने कोई नई नीति अख्तियार नहीं की है बल्कि आश्वासन देकर कांग्रेसकी पूर्व नीतिकी ही पुनरावृत्ति की है।

बात यह है कि कुछ साल पहले नेटालके म्युनिसिपल एसोसियेशनने यह हल्ला-गुल्ला मचाया कि नेटालमें गोराङ्गोंकी हस्ती खतरेमें पड़ गई है। भारतीय श्वेताङ्गोंकी बस्तीमें बड़ी तेजीसे प्रवेश (Penetrate) कर रहे हैं, यदि कानून बनाकर इस खतरेसे श्वेताङ्गोंको बचाया न गया तो नेटालमें उनका रहना असंभव हो जायगा और उनको अपना बोरिया-बसना लेकर भाग जाना पड़ेगा। उस समय श्री हॉफमेयर आंतरिक

मंत्री थे। उन्होंने म्युनिसिपल एसोसियेशन वालोंको समझाया कि केप-टाउन-संधिकी विद्यमानतामें पृथक्करण कानून बनाना कठिन है, अतएव उचित तो यह है कि इस प्रश्नपर नेटाल इंडियन कांग्रेससे विचार-विमर्श करके परस्पर कोई समझौता कर लेना चाहिए। म्युनिसिपल एसोसियेशनके मंत्री श्रीत्राकरने काजी तथा अन्य कांग्रेस-नेताओंसे भेंट की और आपसमें विचारके बाद यह निश्चित हुआ कि एक गोल मेज परिषद् बुलाई जाय, जिसमें म्युनिसिपल एसोसियेशन और इंडियन कांग्रेसके प्रतिनिधि बैठकर इस समस्याको हल कर डालें।

उस समय सैयद रजाअलीकी शादीके कारण कांग्रेसके सदस्यों-में सद्भाव नहीं था, इसलिए काजीने त्राकरको समझाया कि अभी हम कांग्रेसकी तरफसे परिषद्के लिए प्रतिनिधि चुननेमें असमर्थ हैं। सैयद साहबकी विदाईके बाद जब कांग्रेसका नया निर्वाचन होगा, तभी कांग्रेस अधिकार पूर्वक इस प्रश्नपर विचार कर सकेगी। इस बीचमें यदि कहीं ऐसा प्रसंग आ पड़े कि कोई भारतीय गोरोंके मुहल्लेमें जमीन खरीदना चाहता हो और उसपर पास-पड़ोसके गोरे आपत्ति उठाते हों तो हम व्यक्तिगत रूपसे अपने भाईको समझा-बुझाकर ऐसी कोशिश करेंगे कि आपसमें दुर्भाव और द्वेष न फैलने पावे।

यद्यपि म्युनिसिपल एसोसियेशन और नेटाल इंडियन कांग्रेसके प्रतिनिधियोंकी कोई परिषद् नहीं होने पाई, पर जहाँ गोरोंने भारतीयों-के जमीन खरीदनेमें एतराज उठाये, उनकी सूचना मिलनेपर काजी आदि कांग्रेस-कर्मियोंने अपने भाइयोंको समझा बुझाकर वैमनस्य और विग्रह बढ़ने नहीं दिया।

सच पूछिये तो इने-गिने मालदार आदमियोंको छोड़कर नेटाल-के भारतीय अलग ही बसे हुए हैं, गोरोंकी बस्तीमें रहना वे स्वयं पसंद नहीं करते। कांग्रेसकी नीति यही रही है कि जबरन बसकर गोरोंसे वैर ठानना उचित नहीं। जहाँके गोरे हमें पड़ोसमें नहीं

चाहते और दुश्मनकी तरह व्यवहार करना चाहते हैं वहाँ बसनेकी जरूरत ही क्या है ? दुश्मनोंके मध्यमें रहनेसे हानिकी ही आशंका है मेरे सभापतित्वमें नेटालमें जब पहली भारतीय परिषद् हुई थी तो उसमें भी एक प्रस्ताव द्वारा प्रवासी भारतियोंसे अनुरोध किया गया था कि जहाँके गोरे आपत्ति उठावें वहाँ किसी भी भारतीयको जाकर नहीं बसना चाहिए। कांग्रेस अपने भाइयोंको झगड़े-टंटेसे दूर रहनेकी सलाह देती रही है, पर किसी भी रूपमें वह पृथक्करणका सिद्धान्त माननेको तैयार नहीं थी। सरकारकी पृथक्करण नीतिको कार्यान्वित करनेके लिए आश्वासन देना कांग्रेसकी दृष्टिमें मानो मातृ-भूमिकी मर्यादा मिट्टीमें मिलाना और प्रवासी भारतीयोंके आत्म सम्मानमें बट्टा लगाना था। कांग्रेसकी नीति यही रही है कि हिन्दुस्थानियोंके चालू हक बने रहें, उनपर कोई आँच न आने पावे। यह बात दूसरी है कि हम परिस्थितिपर ध्यान देकर उस अधिकारका उपयोग न करें।

डूबतेको तिनकेका सहारा ? उसी बातको तोड़-मरोड़कर सोराबजी और एसोसियेशन वाले जनताको समझानेकी चेष्टा करने करने लगे कि उन्होंने कांग्रेसकी निर्धारित नीतिके विरुद्ध कुछ भी नहीं किया है। पर कहाँ कांग्रेसकी यह प्रवासी भारतीयोंके लिए कल्याण एवं आत्म-सम्मान-मूलक नीति और कहाँ उनके अधिकारोंकी हत्या करने वाली एसोसियेशनकी दुष्प्रवृत्ति। खैर, स्मट्स और उनकी सरकारको तो अपनी कूटनीतिमें भारी सफलता मिल गई, एसोसियेशनसे आश्वासन क्या मिला मानो भारतीयोंके सर्वनाशके लिए नाग-पाश ही मिल गया। वह आश्वासन ही वर्तमान 'घेटो एक्ट'-की भूमिका था।

पर आश्वासनसे ही यूनियन-सरकारको संतोष कहाँ ? 'अंगुली पहुंचा लिये गहि बाँह' के अनुसार आन्तरिक मंत्री लारेन्सने उस आश्वासनको कार्यान्वित करनेके लिए एक कमेटी बना दी, ज

'लारेन्स-कमेटी'के नामसे मशहूर हुई। इसमें डरबन सिटी कौन्सिल और नेटाल इंडियन एसोसियेशनके एक दर्जन प्रतिनिधि शरीक हुए। इस कमेटीको यह काम सौंपा गया कि वह चौकीदारकी भाँति शहरका गश्त लगाया करें और इस बातका पूरा खयाल रखें कि कहीं कोई भारतीय किसी गोरेके मुहल्लेमें न जमीन मोल लेने पावे और न बसने पावे। जो काम डङ्कन, मलान और स्टाटफोर्ड लाख प्रयत्न करनेपर भी न कर पाये थे वह काम जनरल स्मट्सकी कूटनीतिने सोराबजी एण्ड कम्पनीसे सहज हीमें करा लिया। सोराबजी और उनके मित्र पुलिसकी तरह पहरेपर तैनात हुए और अगर कोई भारतीय कहीं जमीन खरीदनेका इरादा करता तो ये राज-भक्त पुलिसकी सहायतासे अपने भाइयोंको डराते-धमकाते और उसपर रौब जमाते।

सत्याग्रहीसे सरकार-परस्त

सत्याग्रही सोराबजीके इस पतनपर मेरे सन्तापकी सीमा नहीं थी। मैं सोचता कि जिस व्यक्तिने यूनियन-सरकारकी वर्ण-विद्वेष-मूलक नीतिके विरुद्ध लड़नेमें अपना जीवन बिता दिया, उसकी प्रवृत्तिमें यह परिवर्तन प्रवासी भारतीयोंके दुर्भाग्यका ही द्योतक है। सोराबजी राज-निष्ठाकी दौड़में काबुली घोड़ेको भी मात कर रहे थे, फौजके लिए रँगरूट भरती करनेमें भी अपनी सारी शक्ति लगा रहे थे। स्मट्सने साफ कह दिया था कि वह भारतीयोंको सिपाहीके रूपमें स्वीकार नहीं कर सकते, फौजमें उनसे श्वेतांग सैनिकोंकी सेवा टहलका काम लिया जा सकता है अथवा घायलोंको अस्पताल पहुँचाने, मुर्दे उठाने, मोटर-लारी चलाने, और घोड़ोंकी साईसीके काममें भी उनका उपयोग किया जा सकता है, पर उनको हथियार उठाने और लड़नेका मौका देकर वह अपने सनातन श्वेतांग धर्ममें बट्टा नहीं लगा सकते। इस अपमानजनक शर्तपर भी सोराबजी भाई रँगरूट भर्ती करनेकी दलाली-से बाज न आये। कितने ही युवकोंको उन्होंने फुसला फँसाकर उत्तरीय अफ्रिकाकी मरुभूमिमें कष्ट भोगने और मरनेके लिए भिजवा दिया और

उनके घर, स्त्रियाँ और बच्चे उनको कोसते और श्राप देते रह गए।

इस राज-भक्तिके प्रदर्शनपर भी स्मट्सका दिल नहीं पसीजा। लारेन्स-कमेटीके कामको असंतोषजनक बतलाकर उन्होंने एक 'इण्डियन पेनिट्रेशन कमीशन' (Indian Penetration Commission) भी बैठा दिया। युद्धके कारण जहाँ कई पुराने कमीशनों की कारंवाई स्थगित कर दी गई थी वहाँ भारतीयोंके सर्वनाशके लिए यह नया कमीशन बैठा दिया गया। स्मट्सके इस दुष्टतापूर्ण व्यवहारसे सोराबजी कुछ चिन्तित, विचलित और आतंकित अवश्य हुए और उन्होंने एक तार देकर स्मट्ससे प्रार्थना भी की कि उनके इस कृत्यसे रँगरूट भर्ती करनेमें बाधा पड़ेगी और भारतीयोंकी शक्ति कमीशनके काममें लग जायगी, अतएव युद्धके बाद ही कमीशन बैठाना उपयुक्त होगा। पर उनकी बात सुनता कौन है ? उनका तार स्मट्सकी रद्दीकी टोकरीकी शोभा बढ़ानेके सिवा और कोई असर न पहुँचा सका। वह चिल्ल-पों मचाकर थक गए, पर स्मट्स अपने दुराग्रहसे नहीं हटे। पृथक्करणकी स्वीकृतिका सरकारको लिखित आश्वासन मिल ही चुका था, उस आश्वासनके अनुसार लॉरेन्स-कमेटी की सृष्टि भी हो चुकी थी और आगेके लिए रास्ता साफ हो ही चुका था। अब सोराबजी होते हैं कौन, जिनकी बातके सामने यूनियन-सरकार झुक जावे ? स्मट्सने सोराबजीको साफ जवाब दे दिया कि सरकार कमीशनके कार्यको स्थगित नहीं कर सकती।

स्मट्सकी शैतानी

जस्टिस ब्रूमकी अध्यक्षतामें इण्डियन पेनिट्रेशन कमीशन बैठा और उसे यह काम सौंपा गया कि सन् १९२७की पहली जनवरी अर्थात् केपटाउन-संधिके बाद कहाँ और कितने भारतीयोंने गोरोंके मुहल्लेमें प्रवेश किया है और जमीन मकान मोल लिये हैं उसकी तहकीकात करके रिपोर्ट पेश करे। यद्यपि सोराबजीने इस बातकी बड़ी चेष्टा की कि कमीशन नेटाल इंडियन कांग्रेसका अस्तित्व और महत्त्व स्वीकार न करे

और नेटाल इंडियन एसोसियेशनको ही एक-मात्र प्रवासी भारतीयोंकी प्रतिनिधि सभा मान लें, पर कमीशनने उनके दावेको माननेसे इन्कार कर दिया और नेटाल इंडियन कांग्रेसको भी कमीशनमें भाग लेनेको यथा विधि आमन्त्रित किया। अतएव कांग्रेसकी तरफसे श्री अब्दुल्ला इस्माइल काजीके नेतृत्वमें कांग्रेस-मंत्री श्रीहँस मेघराज और श्रीअबूबकर मूसा तथा खजान्ची श्रीसुलेमान पारख प्रभृति तथा एसोसियेशनकी तरफसे अपने सहकर्मियोंके साथ भाई सोराबजी रुस्तमजी कमीशनके सामने बयान देने और गोरे गवाहोंकी जिरह करनेके लिए हाजिर होते रहे। कमीशनने कांग्रेसको आमंत्रित करके एसोसियेशनके प्रतिनिधित्वके दावेको उड़ा दिया था, इससे सोराबजी बहुत खिन्न और असन्तुष्ट थे, पर विवश होकर परिस्थितिके सामने उनको सिर झुका देना पड़ा।

विरोधका बवंडर

मेरा विरोध व्यर्थ नहीं गया। मैंने जो वक्तव्य निकाला था उससे सभीको वस्तु-स्थितिका परिचय मिल गया। आल-इंडिया-कांग्रेस-कमेटी-के प्रवास-विभागके मंत्री श्री धर्मयशदेवने कांग्रेसकी तरफसे एक वक्तव्य निकालकर मेरे मतका समर्थन किया और एसोसियेशनकी नीति-का प्रतिवाद। उधर श्री मणीलाल गांधी, जो एसोसियेशनके एक स्तम्भ थे, अपने आश्वासनके विरुद्ध 'इंडियन ओपीनियन'में अपना अभि-मत प्रकट करने लगे। सच कहा है—

"झूठकी टहनी कभी फलती नहीं,
नाव कागजकी कभी चलती नहीं।"

सोराबजीकी राष्ट्र-द्रोही नीति और प्रवृत्तिका परिणाम यह हुआ कि एसोसियेशनके सदस्योंमें ही फूट पड़ गई। एक नया राष्ट्रीय दल खड़ा हो गया, जो इन नेताओंकी घातक कार्यवाहियोंका विरोध करने लगा। यह दल एसोसियेशनके पृथकरण सम्बन्धी आश्वासन और लॉरेन्स-कमेटीका घोर विरोधी था। 'उघरे अंत न होंहि निबाहू' के अनुसार सोराबजीके कृत्योंका भण्डाफोड़ हो जानेसे सार्वजनिक

जीवनमें उनका निर्वाह दुस्तर हो गया। एसोसियेशनका राष्ट्रीय दल दिन-पर-दिन शक्तिशाली होता गया। और जनतापर उसका ऐसा प्रभाव जम गया कि सोराबजी एण्ड कम्पनीको डरबनमें किसी बातपर सार्वजनिक सभा बुलानेकी हिम्मत न रही।

राष्ट्रीय दलने यह भी घोषणा कर दी कि जबतक दक्षिण अफ्रिकामें भारतीयोंको नागरिकता अधिकार न मिल जाय तब तक उनको युद्धमें भाग लेनेकी जरूरत नहीं। उस समय डाक्टर दादू भी लड़ाईके बरखिलाफ प्रचार करते फिरते थे और उस विश्व-युद्धको साम्राज्यवादी युद्ध कहकर लोगोंको उससे अलग रहनेकी सलाह देते थे। उनकी युद्ध-विरोधी प्रवृत्तिको यूनियन-सरकार बरदाश्त न कर सकी। डाक्टर दादू गिरफ्तार हुए, उनपर मामला चला और जुर्माना तथा जुर्माना न देने पर कैदकी सजा हुई। डाक्टर दादूने जुर्माना न देकर जेल जाना ही पसंद किया, पर उनके पहुंचनेसे पहले ही किसी मित्रने जुर्माना दे दिया और वह छूट आए। डाक्टर दादूने स्वयं मुझे बतलाया था कि जुर्माना देने वाला दूसरा कोई नहीं, महात्माजीके पुत्र मणीलाल गांधी थे, जिन्होंने बैरिस्टर रिचकी सलाहसे यह अक्षम्य अपराध कर डाला था। इससे डाक्टर दादूकी दक्षिण अफ्रिकामें बड़ी अपकीर्ति हुई। उनके नेतृत्वपर जनताका जो विश्वास था वह लुप्त हो गया। लोग कहने लगे कि जो व्यक्ति अपने सिद्धान्तके लिए एक मास जेलमें नहीं रह सकता वह जन-कल्याणके लिए क्या उत्सर्ग करेगा? जनताकी इस धारणापर डाक्टर दादूको बड़ी आत्म-ग्लानि हुई थी और मणीलालके कृत्यपर असह्य मनोवेदना। महायुद्धके विरुद्ध आन्दोलन करनेमें वह फिर कटिबद्ध हो गए। इस बार सजा होनेपर जेल भी भोग आए। पर जिस दिन अदूरदर्शी और अहंकारी हिटलरने रूसपर हमला कर दिया उस दिनमें डाक्टर दादूकी 'कम्युनिस्ट' मनोवृत्ति भी बदल गई। साम्राज्यवादी [illegible] उनकी दृष्टिमें जन-युद्धके रूपमें बदल गया। वह युद्ध प्रयत्नमें मह[illegible] सहायता देनेको तैयार हो गए। पर सोराबजी तो कम्युनिस्ट

है नहीं, वह तो महात्मा गांधीके अनुयायी होनेका दम भरते हैं। वह आदिसे अन्त तक युद्ध-प्रयत्नमें सरकारसे सहयोग करते रहे। यद्यपि वह स्वयं लड़ाईके मोर्चेपर जाना पसंद नहीं करते क्योंकि उनकी नीति है कि 'गोली बीस कदम तो बंदा तीस कदम' तथापि दूसरोंको यह उपदेश देना कि 'चढ़ जा भैया सूली पर', वह अपना फर्ज समझते हैं।

डाक्टर दादू भी, जिनकी आड़में सोराबजीने अपना लुप्त प्रभाव प्राप्त करनेमें बहुत कुछ सफलता पाई थी, इनका राष्ट्र-द्रोही कर्म देखकर दंग रह गए। उनको भी सोराबजी एण्ड कम्पनीकी घातक प्रवृत्तिका 'इंडियन ओपीनियन'में लेख लिखकर सार्वजनिक रूपसे प्रतिवाद करना पड़ा था। वह लेख दादूके दिलके दर्दकी सच्ची प्रतिध्वनि थी। उस लेखमें उन्होंने यह सिद्ध किया था कि सोराबजी एण्ड कम्पनीने प्रवासी भारतीयोंके जन्म-सिद्ध अधिकारको उसी तरह बेच दिया, जिस तरह इंगलैण्डके प्रधान मंत्री चेम्बरलेनने 'जेकोस्लोवेकिया'को 'म्यूनिक'में हिटलरके हाथ बेच दिया था।

सन् १९३९में ट्रांसवालके मियादी कानूनके विरुद्ध सत्याग्रहकी आवाज उठाकर दादू भारतमें बहुत प्रसिद्ध हो गए। यद्यपि सत्याग्रह शुरू न होने पाया, महात्मा गांधीने उनको आगे बढ़नेसे रोक दिया, तो भी इस सिलसिलेमें दक्षिण अफ्रिका और भारतमें उनकी काफी शोहरत हो गई। डाक्टर दादू एक तरुण कम्युनिस्ट हैं। उनमें जवानीका जोश तो है पर अनुभवकी कमी है। एक तरफ तो वह भारतीय राष्ट्रवादी बनते हैं और दूसरी तरफ अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट भी। वहाँकी काली और रंगीन प्रजाके साथ भारतीयोंको मिलाकर वह गैर-यूरोपियन संयुक्त मोर्चा (Non-European United Front) बनानेकी कोशिश भी करते रहते हैं, जो भारतीयोंके हितमें वांछनीय नहीं है। हमारी स्थिति उनसे भिन्न है। काले और रंगीन लोगोंका सवाल दक्षिण अफ्रिकाके लिए राष्ट्रीय सवाल है और भारतीयोंका सवाल है अन्तर्राष्ट्रीय। जबतक हमें पूर्ण नागरिकताका अधिकार नहीं मिल जाता है तबतक वहाँके काले और

कलर्ड लोगोंसे मिलकर मोर्चा-बन्दी करना मानो अपने पैरोंपर आप कुल्हाड़ी मारना है।

सन् १९२५ में डाक्टर मलानका यही तो दावा था कि भारतीयोंका प्रश्न उनका राष्ट्रीय प्रश्न है — घरेलू प्रश्न है, अतएव जिस ढंगसे वह उचित समझेंगे इस प्रश्नको हल करेंगे। इसमें भारतको दखल देनेका कोई अधिकार नहीं है। इसपर हमें घोर आन्दोलन करना पड़ा था और उनको यह माननेके लिए मजबूर कर दिया था कि भारतीयोंका प्रश्न उनका घरेलू नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न है। इसी आधार-पर केपटाउनमें गोल मेज परिषद् बैठी और भारत तथा दक्षिण अफ्रिकाके बीच केपटाउनकी संधि हुई। जनरल स्मट्सको भी यही चिन्ता लगी हुई है कि प्रवासी भारतीयोंके प्रश्नको दक्षिण अफ्रिकाका घरेलू प्रश्न बना लिया जाय और इसीलिए 'घेटो-एक्ट'में उन्होंने भारतीयोंको पार्लमेन्टमें प्रतिनिधित्व देनेका भी ढोंग रचा है। इस कानूनके अनुसार प्रवासी भारतीय तीन गोरोंको सदस्य चुनकर यूनियन-पार्लमेन्टमें भेज सकेंगे, पर इस स्थितिको स्वीकार करते ही उनका प्रश्न दक्षिण-अफ्रिकाका घरेलू प्रश्न बन जायगा और फिर भारतको उनके मामलेमें दखल देनेका कोई हक और अख्तियार न रहेगा। महात्मा गांधीका भी यही अभिमत है कि प्रवासी भारतीयोंके प्रश्नको वहाँके बाँटू और रंगीन प्रजाके प्रश्नसे पृथक् रखनेमें ही उनका हित है।

मुझे भाई सोराबजीके सम्बन्धमें खरी-खरी बातें कहनेपर बाध्य होना पड़ा, इसके लिए मुझे खेद है। एक चौथाई सदी तक जो मेरा सहकर्मी रहा, जिसके साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर प्रवासी भारतीयोंके मानवी अधिकारोंके लिए लड़ता रहा, जिसके साथ अच्छे दिन भी देखे और बुरे दिन भी और जिसको अपने भाईकी भाँति प्यार करता रहा, उसकी गिरावट देखकर मुझे जो हार्दिक व्यथा हो रही थी वह किसकर बताऊँ? सार्वजनिक क्षेत्रमें गहरा मतभेद हो जानेपर भी मैं

व्यक्तिगत रूपसे उनको मित्र और भाई ही समझता रहा। वास्तवमें उनपर मुझे क्रोध नहीं, दया आती थी। मेरा ख्याल है कि उस समय वह परिस्थितिके फेरमें पड़कर पतनकी तरफ लुढ़क गए, पाँव फिसला तो वह सँभल न पाये, लुढ़कते ही चले गए। उनको पतनके पथपर ले जानेका यदि कोई जिम्मेदार है तो वह भारतके तत्कालीन एजेन्ट-जनरल सर रावराव हैं।

राव साहब इंडियन सिविल सर्विसके सच्चे नमूने हैं। जब कोई जन-नेता दक्षिण अफ्रिका जानेको राजी न हुआ तो भारत-सरकारको सरकारी नौकरीको भेजनेपर मजबूर होना पड़ा। उनको भेजा गया था—प्रवासी भारतीयोंके हक और अख्तियारकी रक्षा करनेके लिए, उन्होंने सर्वनाशकी कुंजी स्मट्सके हाथमें थमा दी। वह नौकरशाहीके स्कूलके ग्रेज्युएट थे, भेद-नीतिसे काम लेनेकी उन्हें पूरी शिक्षा मिली थी। एजेन्ट-जनरलके पदपर उनकी नियुक्ति हो गई सही, पर उनका स्वभाव कैसे बदल जाता —

"नीम न मीठा होय, सींच गुड़-घीसे।
जिसका जौन स्वभाव, जाय नहिं जीसे।"

केपटाउन संधिके समय यह बात तै होगई थी कि एजेन्ट-जनरलके पदपर देश-नेताओंकी ही नियुक्ति होगी सरकारी नौकरोंकी नहीं। वे नेता जहाँ दक्षिण अफ्रिकामें भारतकी भावनाओंका प्रतिनिधित्व करेंगे वह प्रवासी भारतीयोंके स्वत्वोंकी रक्षा भी। इसी ख्यालसे माननीय श्रीनिवास शास्त्री, सर कूर्म वेङ्कट रेड्डी, कुँवर सर महाराजसिंह और सैयद सर रजाअली एजेन्ट-जनरल चुने गए थे। पर इस बार भारत-सरकारने यह बहाना बनाया कि कोई लोक-नेता इस पदको ग्रहण करनेको तैयार नहीं है, इसलिए सर रामरावको एजेन्ट-जनरल नियुक्त किया गया है। जिस दिन सरकारका यह वफादार सेवक एजेन्ट-जनरल बनकर दक्षिण अफ्रिका पहुँचा उसी दिन प्रवासी भारतीयोंको बुरे ग्रहोंने आ घेरा।

नेटाल पहुँचते ही इन्होंने भेद-नीतिका व्यवसाय आरंभ कर दिया। मेलकी आड़में द्वेष फैलाया और एकताके नामपर फूट। कांग्रेसकी हस्ती मिटानेमें उन्होंने कोई बात उठा न रखी। जब प्रवासी भारतीयोंमें परस्पर झगड़ा हो गया, घरमें फूटकी आग लग गई तब सोराबजीको स्वभावतः एजेन्ट-जनरल और सरकारकी सहायताकी आवश्यकता हुई। उस स्थितिमें राव महाशयने उनसे नाजायज फायदा उठाया। उनको अपने हाथका खिलौना बना लिया। उनकी ही राय और सलाहसे सोराबजीने पृथक्करणकी नीति मंजूर कर ली, सरकारको लिखित आश्वासन दे दिया और लॉरेन्स-कमेटीमें शरीक होनेमें भी कोई संकोच न किया। वह अपने महान् अतीतको भूल गए और रावजीके इशारेपर कठपुतलीकी तरह नाचने लगे। यहाँ तक कि राव साहबने उनसे फौज-के लिए रंगरूट भर्ती करनेका निन्द्य कर्म भी करा लिया।

इसके बाद उन्होंने एक अनोखा काम कर दिखाया, एजेन्ट-जनरल-का पद ही तुड़वा दिया। स्मट्स और उनकी सरकारको सन्तुष्ट और खुश रखनेके लिए राव साहब क्या नहीं कर सकते थे? जनरल स्मट्स कूटनीतिज्ञोंके गुरु-घंटाल हैं। उन्होंने देखा कि केपटाउन-संधिमें एजेन्ट-जनरलको प्रवासी भारतीयोंका संरक्षक स्वीकार कर लिया गया है और उनके स्वत्वोंकी हिफाजत और वकालत करनेका अधिकार दिया गया, जो यूनियन-सरकारकी सत्ता और महत्ताके लिए एक खुली चुनौती है। प्रवासी भारतीय भी जब चाहें एजेन्ट-जनरलका उपयोग कर सकते हैं, उनकी बातोंकी उपेक्षा करना एजेन्टके बूतेसे बाहर है। इसलिए स्मट्स-ने एक ऐसा उपाय सोच निकाला कि साँप भी मर जावे और लाठी भी न टूटने पावे। उन्होंने यह राय दी कि एजेन्ट-जनरलका पद तोड़ देना चाहिए और उसकी जगहपर हाई कमिश्नरका पद कायम होना चाहिए। राव साहब और उनकी विदेशी सरकारको कहाँ इन्कार था। सन १९४१की पहली जनवरीको घोषणा हो गई कि आजसे दक्षिण अफ्रिकामें भारतके एजेन्ट-जनरलका अन्त हो रहा है और भविष्य

में हिन्दुस्थानका हाई कमिश्नर वहाँ रहेगा। सर रामराव प्रथम हाई-कमिश्नर बनाये गए हैं। इसपर एसोसियेशन वालोंने खुशीका इजहार किया, उनके घरोंमें घीके दीये जलाये गए, रावसाहबको पार्टी और बधाई दी गई और जनताको समझाया गया कि इससे हिन्दुस्थानकी स्थिति बहुत ऊँची हो गई, उसका दर्जा बहुत बढ़ गया।

अपने भाइयोंकी इस मन्द मतिपर मुझे बड़ा संताप हुआ। मैंने फिर एक सार्वजनिक वक्तव्य निकालकर जनताको सावधान किया कि यह खुशी मनानेकी नहीं, अफसोस करनेकी बात है। केपटाउन-संधिकी एक विशेष शर्त थी—एजेन्ट-जनरलकी नियुक्ति, और एजेन्ट-जनरलका काम था—प्रवासी भारतीयोंके अधिकारोंकी रक्षा। इसलिए जब कोई जरूरत आ पड़ती थी, लोग एजेन्ट-जनरलके पास पहुँच जाते थे और उनको अपनी शिकायत सुनने और उसे दूर करानेके लिए मजबूर कर सकते थे। पर हाई कमिश्नरको प्रवासी भारतीयोंसे कोई वास्ता न रहेगा। वह केवल यूनियन-सरकारके यहाँ भारत-सरकारका प्रतिनिधित्व कर सकेंगे। इसका यह मतलब हुआ कि प्रवासी भारतीयोंको उनके भाग्यके भरोसे छोड़ दिया गया और उनके स्वत्वकी रक्षाकी जिम्मेदारीसे भारत-सरकार बरी हो गई। हमारे हाथका एक हथियार जाता रहा, भारत-सरकारको एक बलासे छुट्टी मिल गई और प्रवासी-भारतीयोंके विनाशके लिए यूनियन सरकारका रास्ता साफ हो गया।

मेरे वक्तव्यसे सभी चौंक पड़े। एसोसियेशन वाले मौन साध बैठे। 'लीडर' और 'इंडियन व्यूज' जैसे भारतीय अखबारोंने मेरे मतका समर्थन किया और इस परिवर्तनको प्रवासी भारतीयोंके लिए अहित-कर बतलाया। जनता इस बारीक बातको समझ गई, लीडर सिर खुजलाने लगे। आखिर सर रामरावको स्वीकार करना ही पड़ा कि एजेन्ट-जनरलकी भाँति हाई कमिश्नर प्रवासी भारतीयोंका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकेंगे, भविष्यमें वह उनके शिष्ट-मंडलोंमें शरीक होकर यूनियन सरकारके दरबारमें न जा सकेंगे। भारत-सरकारका प्रतिनिधित्व

करना ही हाई कमिश्नरका एक-मात्र काम होगा। इस स्पष्टीकरणसे कपटका घड़ा फूट गया, सच्ची बात सबके सामने आ गई।

दो सालके अंदर दक्षिण अफ्रिकामें क्या-से-क्या हो गया? इधर दो सालकी कहानी इतनी लम्बी है कि यदि उसको विस्तारसे लिखें तो एक पोथा ही तैयार हो सकता है। इस पर कई छोटी-बड़ी पुस्तकें निकल भी चुकी हैं, पर मैंने तो पिछले अध्यायोंमें गागरमें सागर भरने की चेष्टा की है।

: ५० :

विदा

उन दिनों दक्षिण अफ्रिकाके विषाक्त वातावरणमें मेरा दम घुट रहा था। मेरा स्वास्थ्य सुधरा नहीं, दिन-पर-दिन क्षीण ही होता गया। जहाँ मानसिक व्यथा सता रही हो वहाँ शारीरिक सुख कहाँ ? प्रवासी भारतीयोंकी दुर्गतिपर दिलमें दर्द हुआ करता, चित्तमें चिन्ताकी भट्टी जला करती। शरीर गल-पचकर अस्थि-पंजर-मात्र रह गया, चेहरेपर झाँइयाँ पड़ने लगीं। पचास सालकी आयुमें पचहत्तर वर्षके वृद्ध-सा बन गया। सोचा था कि यह जीवन दक्षिण अफ्रिका-प्रवासी भारतीयोंकी सेवामें ही उत्सर्ग होगा और यह मिट्टी नेटालकी मिट्टीमें मिलेगी, पर दक्षिण अफ्रिकाकी गति देखकर मेरा मन वहाँसे विरक्त हो उठा, सहकर्मियोंके विश्वास घातसे मेरा चित्त उचट गया। उनकी धूर्तता, दगाबाजी और विश्वास-घातसे मेरा कोई व्यक्तिगत अहित तो नहीं हुआ, परन्तु उससे नेटाल इंडियन कांग्रेस और प्रवासी भारतीयोंकी जो हानि हुई वह मेरे लिए असह्य थी।

दक्षिण अफ्रिकामें मुझे अनेक मित्र मिले। उनमें कुछ तो सच्चे स्नेही थे और कुछ मतलबके यार भी। पर सार्वजनिक जीवनमें जिनसे मेरी सर्वाधिक घनिष्ठता थी उनमें एक तो सोराबजी रुस्तमजी थे और दूसरे थे अब्दुल्ला इस्माइल काजी। इन दोनोंमें भी सोराबजीपर मेरा अधिक भरोसा और विश्वास था और मेरी धारणा थी कि उनके जैसे मित्र संसारमें दुर्लभ ही हैं। एक चौथाई सदी तक उनके साथ मैं प्रवासी

भारतीयोंकी सेवामें सन्नद्ध रहा और ज्यों-ज्यों उनके निकट सम्पर्कमें आता गया त्यों-त्यों उनपर मेरा विश्वास और भी दृढ़ होता गया। पर सन् १९३९में मेरी भारत-यात्राके प्रसंगपर उन्होंने कांग्रेस कमेटीकी बैठकमें मुझे जो वचन दिया था कि मेरी अनुपस्थितिमें वह कांग्रेसकी देख-भाल और सँभाल रखेंगे और उसकी प्रतिष्ठा एवं महत्तापर कोई आँच न आने देंगे; उस वचनको उन्होंने भंग कर डाला, जिसको विश्वास-घातके सिवा और क्या कहा जा सकता है? मेरी ग़ैर हाजिरीमें उन्होंने कांग्रेसको दफनानेके लिए कब्र खोद डाली और मेरे सारे रचनात्मक कार्योंपर चौका लगा दिया। वह अपने वचनका मूल्य और महत्त्व भूल गए थूककर चाट गए, विश्वास-घात करनेमें उनको कोई शर्म और संकोच न हुआ। जब उनको यह कहते सुना कि "राजनीतिमें सब कुछ जायज़ है" (Any thing is fair in politics) तो मैंने कपाल ठोंक लिया। जिसको मैं बातका धनी समझता था वह कंगाल निकला। जिसपर मेरा अचल विश्वास था, वह विश्वास-घात कर बैठा। इससे मेरा दिल टूट गया और दक्षिण अफ्रिकामें रहना मेरे लिए असह्य हो गया।

दूसरे सहकर्मी अब्दुल्ला इस्माइल काजीने मित्रताको अवश्य निभाया। उन्होंने इस स्नेह-सम्बन्धको सूमकी सम्पत्तिकी भाँति रक्षाकी और उसमें कोई अन्तर न आने दिया। काजी हैं एक राष्ट्रवादी मुसलमान और मैं एक राष्ट्रवादी आर्य समाजी। अतएव राष्ट्रीयताके नाते हमारे बीच जो भाई-चारा कायम हुआ, वह जनाब जिन्नाकी इस बातका क्रियात्मक जवाब था कि हिन्दू और मुसलमान दो भिन्न-भिन्न कौम हैं और दोनों साँप तथा नेवलेकी भाँति एक दूसरेके वैरी हैं। मैं काजीको छोटे भाईकी तरह प्यार करता था, वह बड़े भाईकी भाँति मेरा आदर करते थे। अक्सर राजनीतिक समस्याओंपर मत भेद हो जाता था और उनको मैं डाँट-फटकार बतानेसे भी बाज न आता था। पर वह शान्तिसे मेरी कड़ी बातें भी सह लेते और मुझे अपनी दलीलोंसे कायल

करनेकी कोशिश करते। हम एक दूसरेके दृष्टिकोणको सहानुभूतिके साथ देखते और विचार-विनिमय करके समझौतेका कोई उपाय ढूँढ निकालते थे।

काजीमें अनेक दुर्गुण भी हैं, गुलाबमें काँटे भी होते हैं। सबसे भारी अवगुण उनमें यह है कि उनकी जबान काबूमें नहीं रहती, वह संयम और शिष्टाचारकी सीमा लाँघ जाता है। जब वह क्रोधमें आजाते हैं और उनके मुखसे दुर्वचन निकलने लगते हैं तो कोई भी भला आदमी कानमें उँगली डाले बिना नहीं रह सकता। इसका नतीजा यह हुआ कि उनके अनेक मित्र दुर्वचनकी चोट खाकर दुश्मन बन गए। मेरे सिवा शायद ही कोई उनका मित्र या सहकर्मी बचा हो जो उनके वचन-बाणसे मर्माहत न हुआ हो। सत्यके विचारसे मुझे यह स्वीकार करना ही चाहिए कि मुझे देखते ही उनका गुस्सा गायब हो जाता था और उनकी वाणी बन्द हो जाती थी। यदि वह अपनी जबानपर लगाम लगा सकते तो उनके जोड़का आदमी मिलना मुश्किल होता। उनकी जबान जितनी तीखी है, उनका दिल उतना ही कोमल और निर्मल है। मैंने खुद देखा कि एक व्यक्तिसे नाराज होकर काजी अंट-संट बक रहे हैं पर गुस्सा उतरते ही उसके सामने दुःखसे आँसू टपका रहे हैं और हाथ जोड़कर क्षमा माँग रहे हैं।

उधर कुछ समयसे मेरे पास यह शिकायत पहुँच रही है कि काजी अब राष्ट्रवादी भारतीय नहीं रहे, मुस्लिम-लीगी मुसलमान बन गए हैं। पहले वह काली टोपी पहनते थे, इधर वर्षोंसे उन्होंने टोपी पहनना ही छोड़ दिया था—सिर नंगा रखते थे। पर हाल हीमें जब सम्राट् जॉर्ज डरबन पधारे तो भारतीयोंकी तरफसे काजीने ही उनका स्वागत किया था। इस अवसरपर उन्होंने 'फेज़-टोप' पहन लिया था, जो उनकी साम्प्रदायिक मनोवृत्तिकी निशानी समझा गया। यदि इन शिकायतोंमें कुछ भी सचाई हो तो मानव-स्वभावपर मेरा जो विश्वास था वह विलुप्त हुए बिना न रहेगा। आजकल काजी राजनीतिक क्षेत्रमें जो

चाल चल रहे हैं वह उनको रसातल पहुँचाये बिना न छोड़ेगी। उन्होंने नेटालमें एक नई राजनीतिक सभा खड़ी कर ली है; उसकी तरफसे स्मट्सने मिलते हैं और नेहरूको तार देकर सलाह देते हैं कि भारतके हाई कमिश्नरको दक्षिण अफ्रिका वापस भेजना चाहिए और इस प्रकार दोनों देशोंमें सुलहका रास्ता खोल देना चाहिए। यदि काजोकी सलाह मान ली जावे तो जहाँ भारतकी प्रतिष्ठा मिट्टीमें मिल जायगी वहाँ संयुक्त राष्ट्र-संघका फैसला भी निरर्थक हो जायगा। काजीके इस पतनसे मुझे गहरा दुःख होता है इसे मैं भगवान्का अभिशाप और प्रवासी भारतीयोंका दुर्भाग्य समझता हूँ।

मेरे हृदयमें किसी अज्ञात और अदृश्य शक्तिकी तरफसे यह प्रेरणा होने लगी कि दक्षिण अफ्रिकामें मेरा कार्य-काल समाप्त हो चुका। अब यहाँ रहना अपने जीवनका बचा-खुचा समय व्यर्थ ही नष्ट करना है। दूसरी तरफसे मुझे अन्तर्ध्वनि सुनाई पड़ती कि मानो मातृ-भूमि मुझे पुकार रही है और अपनी गोदमें आ बैठनेके लिए इशारा कर रही है। इससे मेरी मानसिक स्थिति बड़ी डाँवाडोल हो उठी। इस चिन्तासे न दिनमें चैन पड़ता, न रातमें नींद आती। सन् १९२६ में मैंने भारतसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था। बिहारकी जमींदारी और मकान बेच-कर सदाके लिए नेटालमें जा बसा था। अब यदि भारतमें आता हूँ तो कहीं बैठनेका भी ठिकाना नहीं है। अतएव महीनों मन इसी उधेड़-बुन-में लगा रहा। अचानक एक दिन फिर ऐसी अन्तर्ध्वनि सुनाई पड़ी कि चित्त शान्त हो गया, भविष्यका नकशा नेत्रोंके सामने आगया। भार-तमें ही जीवनके शेष दिन बिताने चाहिएँ, यही अन्तरात्मा का आदेश था।

उनतीस वर्ष प्रवासी भारतीयोंकी सेवामें बिताकर मैं दक्षिण अफ्रिका-से विदा लेनेको प्रस्तुत हो गया। जहाँ जन्म लिया था, जहाँ जीवनमें पहले-पहल सूरज और चाँद देखे थे, जहाँ बाल-सुलभ क्रीड़ाएँ की थीं, जहाँ उनतीस साल-जीवनका सर्वोत्तम भाग सार्वजनिक सेवामें बिताया, जहाँने प्रवासी हिन्दुस्थानियोंके मानवी अधिकारोंके रक्षा रूपी यज्ञमें

केवल अपनी सम्पत्ति ही नहीं अपने स्वास्थ्यकी भी आहुति दे डाली थी, उस प्यारी भूमिको अन्तिम नमस्ते कर देना कोई महज बात नहीं थी। अतीतकी सारी स्मृतियाँ सिनेमा-फिल्मकी भाँति अन्तरंगके सामने चक्कर काटने लगीं। सगे-सनेहियों और सह कर्मियोंके विछोहकी कल्पना करुणाकी सृष्टि करने लगी। पर इस खयालसे कुछ संतोष हुआ कि जन्म-भूमिको छोड़कर मातृ-भूमिकी गोदमें जारहा हूँ जो हमारे पूर्वजोंकी पुण्य-भूमि है और जहाँकी मिट्टीमें हमारी पीढ़ी-दर पीढ़ीकी मिट्टी मिली हुई है।

"है ऐसो कोउ अधम मनुज जीवित जग माहीं।
जाके मुखसों वचन कबहुँ निकस्यो यह नाहीं॥
मातृ-भूमि अभिराम यही है मेरी प्यारी।
वारौं जापै तीन लोककी सम्पति सारी॥
सात समुन्दर पार विदेसन सों कर विचरन।
भयो नाहिं घर चलन समय हरषित जाको मन?"

मैंने दक्षिण अफ्रिकासे विदा लेनेका तो संकल्प कर लिया, पर प्रवासी भारतीयोंकी सेवासे विरक्त हो जाना तो मेरे लिए सर्वथा असंभव था। मैं जानता था कि भारतमें भी प्रवासी भारतीयोंकी संकट-संकुल-स्थिति मुझे बैठने न देगी। उनकी आर्त्तवाणी जब हिन्द-महासागरकी लहरोंको चीरकर मेरे कानों तक पहुँचेगी तो मेरे हृदयकी क्या गति होगी? यह तो निश्चित है कि चाहे मैं संसारके किसी भी भागमें जा बसूँ, प्रवासी भारतीयोंको भूल जाना अनहोनी बात है। मेरे हृदय-पटपर तो बड़े-बड़े अक्षरोंमें अंकित है "यह जीवन बृहत्तर भारतके प्रवासी भारतीयोंके लिए सुरक्षित है।"

दक्षिण अफ्रिकामें मैं केवल ढाई लाख प्रवासी भारतीयोंकी सेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सका, पर मातृ-भूमिमें मैं अपने कार्य-क्षेत्रकी परिधि बढ़ा सकूँगा और बृहत्तर भारतके पच्चीस-तीस लाख प्रवासी भारतीयोंकी थोड़ी-बहुत सेवा कर सकूँगा। यह कार्य मुझसे विधिवत्

हो सकेगा या नहीं, यह दूसरी बात है। इधर मेरे शरीरकी शक्ति क्षीण होती जाती है, वाणीका बल घटता जाता है, लेखनीकी गति मंद पड़ने लगी है। इन त्रुटियोंके होते हुए भी मनमें प्रवासी भारतीयोंकी सेवाके लिए उमंग तो है। दिल कहता है, "चुपचाप बैठोगे कैसे? जब तक जीना-तब तक सीना, यही तो मानवी कर्त्तव्य है, इसीमें तो जीवनकी सार्थकता है।"

हम महात्मा गांधीकी भाँति महान् कार्य नहीं कर सकते हैं, यह तो अङ्कगणितकी भाँति सत्य है। पर जो कुछ कर सकते हैं, उससे क्यों चूक जाना चाहिए? चाँद और सूरजके सामने अन्य किसी प्रकाशकी क्या बिसात? क्या यह सोचकर जुगनू अपने मन्द प्रकाशको फैलाना छोड़ देता है? प्रवासी भारतीयोंके भाग्यकी कुहू-यामिनीमें यदि हम चन्द्र-सूर्यका काम नहीं दे सकते तो जुगनू ही बनकर क्यों न चमकें? समय आयगा, जब भारत स्वतंत्र होगा और हमारे देशवासी वृहत्तर भारतके निर्माणका महत्त्व समझेंगे और तब हमारी छोटी-से-छोटी सेवा भी निरर्थक न समझी जायगी।

आखिर दक्षिण अफ्रिकासे मेरी बिदाईकी घड़ी आ पहुँची। जब प्रवासी भारतीयोंको मेरे संकल्पका समाचार मिला तो उनके संतापकी सीमा न रही। मेरी जुदाई उनके लिए एक दुःखदायी घटना थी और इसको वे धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रमें एक ऐसी क्षति समझते थे जिसकी पूर्त्तिकी कोई संभावना दृष्टिगोचर न होती थी पर साथ ही वह यह भी जानते थे कि "हाथी का दाँत निकल आया तो फिर भीतर नहीं जा सकता"; उसी प्रकार मुझे अपने संकल्पसे विचलित करना असंभव ही है। अतएव उन्होंने प्रेम पूर्वक विदा करना ही अपना कर्त्तव्य समझा।

निदान १४ सितम्बर सन् १९४१को नेटाल इंडियन कांग्रेसकी तरफसे 'अवलन थियेटर' (Avlon Theatre) में मुझे विदाई देने-के लिए सभा हुई, जिसमें डरबन ही नहीं नेटाल-भरके निर्वाचित प्रति-

निधि शरीक हुए थे। डरबन शहरके मेयर श्री आर० एलिस ब्राउन (Mayor R. Ellis Brown) ने सभापतिका आसन सुशोभित किया था। इस बार चाँदीकी तश्तरी पर खुदे हुए अक्षरोंमें (Silver-Salver) मान-पत्र मुझे अर्पित किया गया, जिसको बनवानेमें लगभग सात सौ रुपया व्यय हुआ था। कांग्रेसके कर्णधार जानते थे कि यदि मुझे इस मान-पत्रका पता लग गया तो मैं इस वाहियात खर्चको पसंद न करूँगा और उनको 'सिलवर सालवर' बनवानेसे रोक दूंगा। अगर आग्रह किया जायगा तो मैं मान-पत्र लेना ही मंजूर न करूँगा इसलिए 'सिलवर सालवर' गुप्त रूपसे तैयार किया गया था। मैंने तो उसे तब देखा, जब उसका मजमून सभामें पढ़ा गया और उस मूल्यवान मान पत्रको मेयरके हाथसे मुझे अर्पित कराया गया। मेरा वह अन्तिम भाषण मेरी आंतरिक पीड़ाकी प्रतिध्वनि था। मैंने उनसे निवेदन किया कि प्रवासी भाई बड़े भुलक्कड़ हैं। आज वे मेरे बिछोह-पर व्याकुल दिखाई पड़ते हैं, पर कल ही मुझे स्मरण करनेकी न उनको फुर्सत रहेगी और न ज़रूरत ही। काका रुस्तमजी, सेठ दाउद मुहम्मद, पी० के० नायडू, थम्बी नायडू और अमद भयातकी स्मृति-रक्षाके लिए, जिन्होंने अपना जीवन प्रवासी भारतीयोंकी सेवामें उत्सर्ग कर दिया था, हमने क्या किया? वृद्ध शहीद हरबतसिंह और कुमारी वेलिअम्माके स्मारक कहाँ हैं, जिन्होंने सन् १९१३ के सत्याग्रहके संग्राम-में अपने शरीरकी बलि चढ़ाकर भारतकी कीर्ति बढ़ाई और हमारे गले-में विजयकी माला पहनाई थी, हमने नेटाल प्रदेशमें अनेक पाठशालाएँ और संस्थाएँ खोल रखी हैं, पर क्या हमने कभी यह भी सोचा कि इन संस्थाओंके साथ उन देश-भक्तों और शहीदोंके नाम जोड़ दिये जायं, जिनके त्याग और बलिदानसे अबतक हमारी हस्ती बची हुई है, काका रुस्तमजी और एडवोकेट खानने तो अपने संचित धनसे अमर स्मारक बना लिये हैं जो युग-युगान्तर तक प्रवासी भारतीयोंको उनकी याद दिलाते रहेंगे। काकाजी प्रवासी भारतीयोंमें शिक्षा-प्रचारके लिए

पाठशालाएँ और एडवोकेट खान उनकी स्वास्थ्य-रक्षाके लिए अस्पताल और दवाखाना खोलनेके ट्रस्ट बना गए हैं, जिनसे आज प्रवासी भारतीयोंको यथेष्ट लाभ पहुँच रहा है, पर सवाल तो यह है कि उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेके लिए हमने अबतक क्या किया ? हम तो हरबतसिंह और वेलिअम्मा, थम्बी नायडू और पी०के० नायडू, काछलिया और अमद भयातकी भाँति इनको भी भूल गए होते पर इनके ट्रस्ट हमें इनकी याद दिलाते रहते हैं और हमें भूलने नहीं देते हैं।

मैंने जनतासे अन्तमें यही याचना की कि यदि मेरे लिए उनके हृदयमें कुछ भी अनुराग है तो उनको कांग्रेसका अस्तित्व, उसकी सत्ता और प्रतिष्ठा की रक्षा करनी चाहिए। महात्मा गांधी हमें कांग्रेसके रूपमें राष्ट्रीय धरोहर सौंप गए थे, उसकी रक्षा, विकास और उत्कर्षमें मैंने अपने जीवनकी लगभग एक चौथाई सदी लगा दी है। नेटालमें यही मेरा सर्वोत्तम स्मरण है। यह प्रवासी भारतीयोंकी सबसे पुरानी सभा है और महात्मा गांधीकी सबसे पहली राष्ट्रीय सुकृति। इसीकी छत्रछायामें प्रवासी भारतीयोंको विश्राम मिलेगा, उनका कल्याण और उत्थान हो सकेगा।

प्रवासी भाइयोंसे विदाई तो मिल गई, पर नेटालमें मुझे एक मास और ठहरना पड़ा। एक विकट समस्या सामने आ पड़ी। दक्षिण अफ्रिकामें प्रवासी भारतीयोंकी तीन प्रान्तीय कांग्रेस हैं—नेटाल इंडियन कांग्रेस, ट्रांसवाल इंडियन कांग्रेस और केप इंडियन कांग्रेस, और इन तीनोंको मिलाकर साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसका संगठन और निर्माण हुआ है। पहले नेटाल इंडियन कांग्रेसके सिवा और कोई कांग्रेस नामकी राजनीतिक सभा न थी। ट्रांसवालमें ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशन थी और केपमें ब्रिटिश इंडियन कौन्सिल। [उन दिनों प्रवासी भाई कांग्रेसवादी भारतीय होनेकी अपेक्षा 'ब्रिटिश इंडियन' कहलाना अधिक पसंद करते थे। उनकी धारणा थी कि ब्रिटिश इंडियन होनेके कारण वे ब्रिटिश सरकारकी सहानुभूति प्राप्त कर सकेंगे और ब्रिटिश प्रजा

होनेके अधिकारका दावा कर सकेंगे। महात्मा गांधीने स्वयं अपनी आत्म-कथामें यह बात मंजूर की है कि जब नेटालकी सभाका नामकरण करनेका प्रसंग आया तो वह गंभीर विचारमें पड़ गए। कांग्रेस नाम उनको पसंद था, पर इङ्गलैण्डके टोरी दल वाले उससे भड़कते थे और उसे भारतीय-विद्रोह-भावका द्योतक समझते थे। नेटाल उन दिनों 'राजकीय उपनिवेश' (क्राउन-कलोनी) था और प्रवासी भारतीयोंको इङ्गलैंडके औपनिवेशिक मंत्रीसे हरदम वास्ता पड़ा करता था, अतएव कांग्रेस नाम उनके हितमें बाधक होगा। बहुत विचारके बाद अन्तमें महात्माजीने कांग्रेस नाम ही चुना। उन्होंने सोचा कि चाहे इसका परिणाम कुछ भी हो,पर अन्तरात्माकी भावनाको दबाना और राष्ट्रीयतासे मुँह छिपाना तो कायरता है--भयंकर अपराध है।

पर ट्रांसवाल-बोअर-प्रजातंत्रके अधीन होनेके कारण वहांके भाइयोंने 'ब्रिटिश इंडियन' बनना हितकर समझा। केपके भाइयोंने भी उनका ही अनुकरण किया। पर जब इस सदीके प्रथम चरणके अन्तिम भागमें साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसकी स्थापना हुई तो शनैः-शनैः लोगोंके विचार बदलते गए। आखिर ट्रांसवाल ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशनका नाम ट्रांसवाल इंडियन कांग्रेस रखा गया और केप ब्रिटिश इंडियन कौन्सिलका केप इंडियन कांग्रेस। इस प्रकार सभी राजनीतिक सभाओंका नाम कांग्रेस हो गया।

इधर इस नाम-साम्यमें व्याघात पड़ गया। नेटालमें 'इंडियन एसोसियेशन' बन गई, जिसका यह दावा था कि नेटाल इंडियन कांग्रेसका अस्तित्व उसीमें लीन हो चुका है। एसोसियेशनकी तरफसे साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसके पास अर्जी पहुँची कि नेटाल इंडियन कांग्रेस मर गई और उसकी समाधिपर नेटाल इंडियन एसोसियेशन खड़ी हुई है अतएव एसोसियेशन ही साउथ अफ्रिकन इन्डियन कांग्रेसमें शामिल होने और उसका एक अंग बननेकी अधिकारिणी है। केन्द्रीय कांग्रेस देख रही थी कि नेटाल इंडियन कांग्रेसकी हस्ती बनी हुई है और उसकी

तरफ़से पूर्ववत् काम हो रहा है, फिर वह एसोसियेशनका दावा कैसे आँख मूँदकर मंजूर कर लेती ? उसने इस प्रश्नपर विचार करनेके लिए अक्तूबरके आरम्भमें डरबनमें ही कार्य-समितिकी बैठकका नोटिस निकाला। इसलिए मुझे एक मासके लिए अपनी यात्राको स्थगित कर देना पड़ा। डरबनमें साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसकी कार्य-समिति बैठी, एसोसियेशन और कांग्रेसकी तरफ़से उसके सामने वक्तव्य पेश हुए, बयान दिये गए, बहस हुई। एसोसियेशनका यह दावा था कि कांग्रेस एसोसियेशनमें विलीन हो चुकी है अतएव उसका अब कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहा। कांग्रेसका कथन था कि २७ अगस्त वाली सिटी हॉलकी सभा ही नाजायज और गैर-कानूनी थी और इसलिए कांग्रेसकी स्थितिमें कोई फर्क नहीं पड़ा है। दोनों पक्षकी दलीलें सुनकर केन्द्रीय कांग्रेसने तीन व्यक्तियोंकी एक कमेटी बना दी और उसको यह हिदायत दी कि दक्षिण अफ्रिकाके प्रसिद्ध धारा-शास्त्रियों और कानूनके पंडितोंसे राय लेकर इस मामलेका फैसला कर डाले। मैंने तो इसके बाद वहाँ ठहरना अनावश्यक समझा। कमेटी कानूनी पंडितोंकी राय और सलाहसे इसी नतीजेपर पहुँची कि एसोसियेशनका दावा गलत है। कांग्रेसकी हस्ती और स्थिति ज्यों-की-त्यों अक्षुण्ण है और वही साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसका अंग बने रहनेकी अधिकारिणी है। इस फैसलेसे सोराबजी एण्ड कम्पनीका रहा-सहा अहंकार भी चूर हो गया। १३ अक्टूबर सन् १९४१को मैं 'टायरिया' स्टीमरपर बैठ गया। युद्धके कारण बन्दरगाहपर 'पास'के बिना किसीको जानेकी इजाजत नहीं थी। फिर भी मुझे जहाजपर चढ़ानेके लिए एक दर्जन व्यक्तियों-को 'पास' मिल गए थे। उस दिन तो स्टीमरपर अपना सामान चढ़ा-कर मैं जेकब्स लौट आया और बच्चोंके साथ दिन बिताया। रातको स्टीमरपर जाकर सो रहा। १४ अक्टूबरको बड़े सबेरे 'टायरिया'ने डरबनसे कूचका डंका बजाया। धीरे-धीरे वह डरबनकी खाड़ीसे निकल-कर महासागरकी तरफ अग्रसर हुआ। कुछ मित्र और बच्चे उपसागरके

किनारे खड़े थे और रूमाल हिला-हिलाकर अंतिम विदाई दे रहे थे। 'ब्लफ'की गगन-चुम्बी पहाड़ी मानो झूम-झूम कर मुझसे कह रही थी कि बीस साल मेरी गोद (जेकब्स) में मोद करके अब कहाँ? जहाजकी रफ्तारके साथ नेटालका नजारा आँखोंसे ओझल होता गया। उस समय मेरे हृदयमें जो-जो भावनाएँ उठीं, उनका सम्यक् रूपसे वर्णन करना सहज नहीं है।

लोरेन्सो मार्क्विस, दारस्सलाम, ज़ंज़ीबार और मोम्बासाके प्रवासी भाइयोंकी सभाओंमें अपना संदेश सुनाते हुए मैं नवम्बरके द्वितीय सप्ताहमें बंबई पहुंच गया। दारस्सलामके श्रीसेठ मथुरादास कालीदास मेहता और मोम्बासाके आनरेबल जे०बी० पाण्ड्यासे अन्तिम भेंट हो गई। इस जीवनमें अब उनसे पुनर्मिलनकी आशा नहीं रही। सेठ मथुरादास एक साधु-प्रकृतिके व्यक्ति थे और सार्वजनिक कार्योंके लिए उनकी थैली सदा खुली रहती थी। पाण्ड्याजी तो पूर्व अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंके सर्वमान्य नेता ही थे। एक साधारण क्लर्क बनकर वह पूर्व अफ्रिका गए थे, पर अपने उद्योग और परिश्रमसे केनिया-कौन्सिलमें ही नहीं, एग्ज़ीक्यूटिव-कौन्सिलमें भी स्थान पा गए थे! दिल्लीमें जो युद्ध-प्रयत्नके बारेमें पूर्वीय देशोंकी परिषद् हुई थी उसमें पाण्ड्याजी एक-मात्र भारतीय सदस्य थे। यहाँ तक कि भारत-सरकारने भी गौराङ्गोंके सिवा किसी भारतीयको सदस्य नहीं चुना था। उनके निधनसे पूर्व अफ्रिकाका ही नहीं बृहत्तर भारतका भी एक महान् रत्न विलुप्त हो गया।

बम्बईमें एक सप्ताह बिताकर मैं नवम्बरके तीसरे सप्ताहमें अजमेर आगया और यहाँ प्रवासी-भवन बनवाकर प्रवासी भारतीयोंके सेवा-कार्यमें कटिबद्ध हुआ। इस प्रकार मेरे प्रवास-जीवनका अन्त आया, पर प्रवासी भारतीयोंकी सेवामें एक नया अध्याय आरम्भ हुआ।

: ५२ :

दक्षिण अफ्रिकाके भारतीयोंपर वज्र-पात

प्रवासी-भवन निर्माण करानेके बाद मैंने अजमेरमें ही नेटाल इंडियन कांग्रेसका दफ्तर भी खोल दिया था और नित्य शामको दफ्तर खोलने और आवश्यक काम करनेके लिए एक क्लर्क भी रख लिया था। दक्षिण अफ्रिकाकी राजनीतिक स्थितिकी सूचना मुझे तारों या हवाई डाकके पत्रोंसे बराबर मिलती रहती थी। उन खबरोंके आधारपर प्रवासी-भवनसे भारतमें प्रचार-कार्य अच्छी तरह हो रहा था।

जिस समय मैंने वहांसे प्रस्थान किया था उस समय जस्टिस ब्रूमकी अध्यक्षतामें एक कमीशन इस बातकी जाँच कर रहा था कि सन् १९२७ की केपटाउन-संधिके बादसे अबतक प्रवासी भारतीयोंने कहाँ-कहाँ और कितनी जमीनें श्वेताङ्गोंके मुहल्लोंमें खरीदी हैं। यह मैं लिख चुका हूँ कि नेटाल इंडियन एसोसियेशनसे लिखित आश्वासन लेकर और उस आश्वासनको कार्यान्वित करनेके लिए डरबनमें लॉरेन्स-कमेटी बनाकर भी जनरल जान स्मट्सको संतोष न हुआ और लड़ाईके जमानेमें उन्होंने ब्रूम-कमीशन बैठाकर ही दम लिया।

सर रामरावने कमीशनको यहाँतक बहकानेकी चेष्टा की कि नेटाल इंडियन एसोसियेशन ही एक ऐसी राजनीतिक सभा है, जो नेटाल-प्रवासी भारतीयोंका प्रतिनिधित्व करनेकी अधिकारिणी है। भारत-सरकार और यूनियन-सरकारने भी एसोसियेशनको इसी रूपमें स्वीकार किया है और कमीशनको भी इसी नीतिसे काम लेना चाहिए। नेटाल इंडियन कांग्रेस

तो मुट्ठी-भर गैर-जिम्मेदार आदमियोंकी जमात है, अतएव वह सर्वथा उपेक्षाके योग्य है। कमीशनने रावसाहबके इस गुप्त षड्यंत्रका भंडा फोड़ते हुए अपनी रिपोर्टमें साफ कह दिया कि, "यह तो मानना ही पड़ेगा कि नेटाल इंडियन कांग्रेस एक प्रभावशाली संघ है और उसके सदस्योंकी संख्या भी बहुत बड़ी है। इस स्थितिमें कमीशनने यही सोचा कि सरकारके संकुचित दृष्टिकोणके आधारपर काम करना उचित न होगा; क्योंकि कोई भी सभा, जिसके इतने अधिक सदस्य हों और जिसका जनतापर काफी प्रभाव हो, उपेक्षाके योग्य नहीं हो सकती। अतएव हमने यही निश्चय किया कि कमीशनके पास जितने लिखित वक्तव्य या अन्य प्रकारकी सूचनाएँ आयंगी, उनकी नकलें कांग्रेस और एसोसियेशन दोनोंके पास भेजी जायंगी और दोनोंको समान-रूपसे गवाहोंसे जिरह करनेका अधिकार होगा।"

एक तरफ कमीशनकी जाँच हो रही थी और दूसरी तरफ श्वेताङ्गोंकी शैतानी बढ़ती जाती थी। नेटालकी राजधानी पीटर मेरित्सबर्गमें एक लड़ाकू वायुयान आने वाला था। नगरके हजारों गोरे, भूरे और काले आदमी तमाशा देखनेके लिए मैदानमें इकट्ठे हुए थे। भिन्न-भिन्न रंगके व्यक्तियोंको अलग-अलग बैठने अथवा खड़े रहनेके लिए म्युनिसिपैलिटीकी ओरसे न बाड़े बनाये गए थे और न घेरे डाले गए थे, इसलिए कुछ हिन्दुस्तानी औरत-मर्द अंग्रेजोंकी भीड़के पीछे जाकर खड़े हो गए। उनके शरीरकी दुर्गन्धसे श्वेताङ्गोंके सिरमें चक्कर आ गया। और उन्होंने कुली-कबाड़ियोंको वहाँसे मार भगानेके लिए हल्ला मचाया। बस फौजी सिपाहियोंको अपना युद्ध-कौशल दिखानेका अच्छा अवसर मिल गया। उन्होंने लाठियाँ उठाई और उस भीड़मेंसे चुन-चुनकर भारतीयोंको गुस्ताखीका मजा चखाना शुरू कर दिया। यहाँ तक कि भारतीय स्त्रियाँ और बच्चे भी बुरी तरह पीटे गए। कैसा दयनीय और दाहक दृश्य था वह! भारतीय स्त्रियाँ ठोकरें खाकर अपमानित हो रही थीं और अंग्रेज औरतें अट्टहास कर रही थीं और चिल्ला-चिल्लाकर सैनिकोंको ललकार

रही थीं—"इन कमबख्त औरतोंको ठोकरें लगाकर यहाँसे मार भगाओ। इनकी हिम्मत, गुस्ताखी और बदमाशी तो देखो कि हमारी बराबरी करना चाहती हैं—हमारे पास आकर खड़ी होना चाहती हैं।" मेरित्स-बर्गके एक-मात्र दैनिक 'नेटाल विटनेस'ने तो यहाँ तक लिखा था कि नाजियोंकी तूफानी फौजकी प्रवृतिकी यह साउथ-अफ्रिकन आवृत्ति है।"

इस मामलेमें आगे जो कुछ हुआ वह हमारे आत्म-सम्मानपर निर्मम प्रहार ही था। भारतके हाई कमिश्नरने प्रधान मंत्री जनरल स्मट्ससे श्वेताङ्ग सैनिकोंकी इस शैतानीकी शिकायत की। जवाब मिला कि जाँच की जायगी। जाँचके परिणामकी सरकारकी तरफसे यह सूचना मिली कि "फौजी अदालतके खयालमें यद्यपि सिपाहियोंका आचरण और व्यवहार वैसा नहीं था, जैसा होना चाहिए, पर अदालत उनमेंसे किसीको भी मार-पीट अथवा अनुचित वर्त्तावके अपराधमें दण्ड नहीं दे सकती।" यह एक ऐसी घटना है जो प्रवासी भारतीयोंको उनके देशकी दासता और पराधीनताकी याद दिलाती है। एक बार एक जापानीका साधारण-सा अपमान होनेपर टोकियो क्रोधसे उबल पड़ा था और यूनियन-सरकार-को माफी माँगकर पिण्ड छुड़ाना पड़ा था। तबसे गौराङ्गोंकी अक्ल ठिकाने आ गई और जापानियोंके साथ बराबरीका वर्त्ताव होने लगा। पर हमारा तो देश ही श्वेताङ्गोंका गुलाम है, फिर विदेशोंमें हमारी बेइज्जती हो तो इसमें अचरजकी बात ही क्या?

ट्रांसवालमें भारतीयोंको ट्राममें बैठनेका अधिकार नहीं है। प्रथम महायुद्धके जमानेमें सुप्रीम कोर्टमें मामला चलानेपर जोहान्सबर्गकी म्युनिसिपैलिटी हार गई और उस शहरमें भारतीयोंको ट्रामपर बैठनेका हक हासिल हो गया। इस अधिकारका उपयोग करनेके लिए 'भूला-भवन' नामक एक भारतीय युवक जोहान्सबर्गकी एक ट्राममें जा बैठा। गोरे यात्री उसकी गुस्ताखीपर क्रोधसे पागल हो उठे, उनकी आँखोंमें खून उतर आया। उनमेंसे एक हट्ट-कट्टा श्वेताङ्ग युवक क्रोधसे काँपता हुआ उठा और भूलाभवनको उठाकर चलती ट्रामकी ऊपरी मंजिलसे नीचे

फेंक दिया। वह पक्की सड़कपर गिरा, सिर फट गया, मुँहसे रक्त निकल आया और जीवनसे हाथ धो बैठा। हत्यारा श्वेताङ्ग गिरफ्तार हुआ, उसपर खूनके जुर्ममें मामला चला और श्वेताङ्ग जजने उसको केवल पचास पौण्ड जुर्मानेका दण्ड देकर न्यायका गला घोंट डाला। फैसला सुनाते समय गोरे जजने कहा था कि "जोश और रोषमें आकर इसने नर-हत्याका अपराध कर डाला, पर इसकी तरुणाईपर ऐसी दया आती है कि इसको क्या दण्ड देना चाहिए, कुछ समझमें नहीं आता।" इस-पर टीका करते हुए 'नेटाल एडवर्टायजर'ने ठीक ही लिखा था कि, "जज महोदयने इस मामलेमें जो-कुछ कर डाला है, यह बात भी शायद उनकी समझमें न आई होगी ?"

वास्तवमें यह दक्षिण अफ्रिकाके ढाई लाख प्रवासी भारतीयोंका अपमान नहीं है, बल्कि उस हिन्दुस्थानका अपमान है, जिसकी सन्तान होनेका उनको अभिमान है। यदि वे किसी स्वतंत्र देशके निवासी होते तो क्या उनको इस प्रकार तिरस्कारका कड़वा प्याला पीना पड़ता, उनके आत्म-सम्मानपर ऐसा कठोर प्रहार हो सकता और उनकी मानवी भाव-नाओंकी अवहेलना की जा सकती ? इस तरहकी दुःखभरी आवाजें समुद्र की लहरोंको चीरकर प्रवासी-भवन तक पहुँचा करतीं और मेरे दिलपर गहरी-से-गहरी चोट पहुँचातीं।

कमीशनकी खरी और सच्ची रिपोर्ट

सन् १९४१में ही ब्रूम-कमीशनका जाँच-काम आरंभ हो गया था। ट्रांसवालके १२ केन्द्रोंमें इसकी २१ आम बैठकें हुईं, जिनमें १२० आद-मियोंकी गवाहियाँ हुईं। नेटालके ८ केन्द्रोंमें उसकी २२ सार्वजनिक बैठकें हुईं, जिनमें १४१ व्यक्तियोंने गवाहियाँ दीं। इन गवाहियोंका विवरण बहुत विस्तृत है; ट्रांसवालमें ६२६ और नेटालमें १४२०, कुल २०७६ पन्ने रँगे गए। आम बैठकोंके सिवा अनेक खानगी बैठकें भी हुईं। कमीशनके सदस्य अनेक स्थलोंपर स्वयं उपस्थित होकर वस्तु-स्थितिका निरीक्षण करते रहे।

यह आश्चर्यकी बात थी कि सर रामराव, जो उस समय हाई-कमिश्नर बन चुके थे, कमीशनके सामने गवाही देनेसे मुकर गए। कमीशनने सारे नेटाल और ट्रांसवालके चक्कर लगाए और पार्लमेन्ट, प्रांतिक कौन्सिलों, म्युनिसिपैलिटियों तथा श्वेताङ्गोंकी सभा-समितियोंके सदस्यों तथा विशिष्ट व्यक्तियोंकी गवाहियाँ सुनीं। पर कमीशनको यह देखकर आश्चर्य होता था कि उनके बयानोंसे वस्तु-स्थितिपर कोई प्रकाश न पड़ता था। मसलन, जब उनसे पूछा जाता कि गोरोंके मुहल्लोंमें भारतीयोंके प्रवेशका कारण क्या है तो कारण बतलानेके बदले वे प्रायः जवाब देते कि "स्वयं भारतीयोंको इसका कारण बतलाना चाहिए।"

कमीशनने अपनी रिपोर्टमें कांग्रेसी नेता श्री अब्दुल्ला काजी और श्रीसुलेमान नाना तथा अन्य भारतीय नेताओंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है और यह स्पष्टतया स्वीकार किया है कि उन्होंने अत्यंत योग्यता और विचारशीलतासे भारतीय दृष्टिकोणको कमीशनके सामने रखा है। साल-भर जाँचका काम जारी रहा। सन् १९४२ में कमीशनकी रिपोर्ट निकली। उसकी एक प्रति मेरे पास हवाई-डाकसे पहुँच गई और उसपर मैंने फौरन एक वक्तव्य निकाला, जो देश-भरके अखबारोंमें प्रकाशित हुआ। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' को इस बातपर बड़ा विस्मय हुआ था कि इतनी जरूरी रिपोर्टकी खबर भी देशको मेरे जरियेसे मिली—सरकारकी तरफसे इसकी कोई चर्चा ही नहीं हुई। उसने एक अग्रलेखमें सरकारकी इस नीतिकी बड़ी कड़ी आलोचना की थी।

रिपोर्ट विशद और मार्केकी थी और बड़ी मेहनतसे तैयार की गई थी। कमीशनने श्वेताङ्गोंके भय, संदेह और आक्षेपको सर्वथा निराधार बतलाया। जस्टिस ब्रूम और उनके सहयोगी सदस्योंने सच्चे न्यायाधीशकी भाँति इस मामलेकी तहकीकात की और निष्पक्ष होकर अपना फैसला सुना दिया। भारतीयोंने श्वेताङ्गोंके मुहल्लेमें यत्र-तत्र जो जमीनें खरीदी हैं; कमीशनने अपनी रिपोर्टमें उनके कारणोंपर प्रकाश डालते हुए बतलाया कि (१) जहाँ-जहाँ भारतीयोंकी बस्ती है, उनके प्रति डरबन

म्युनिसिपैलिटीकी अत्यन्त उपेक्षा-वृत्ति है। यद्यपि भारतीयोंसे 'रेट और टैक्स' गोरोंकी भाँति वसूल किया जाता है तथापि उनकी बस्तीमें न रोशनीका ठीक इन्तजाम है और न पानी का। वहाँ ऊबड़-खाबड़, धूल-गर्दसे भरी कच्ची सड़कें, मच्छर-मक्खियोंकी भिनभिनाहट और गन्दगी-का नारकीय नजारा डरबन म्युनिसिपैलिटीके नामपर कलंककी कालिमा है। इस स्थितिमें कुछ उच्च श्रेणीके भारतीय वहाँ रहना पसंद न करें और सुख-सुभीतेके खयालसे गोरोंके मुहल्लेमें जमीन-मकान मोल लें तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही है। (२) भारतीय बस्तियोंमें मकानकी भी कमी है और उनकी जन-संख्यामें उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है; अतएव अपनी बस्तीके आसपास उनका बढ़ना आवश्यक हो गया है। (३) सन् १९२७ की केपटाउन-संधिके अनुसार प्रवासी भारतीयोंको अपनी स्थिति और रहन-सहनको उच्च बनाना अनिवार्य हो गया है। पहले जहाँ वे व्यापार करते थे, उसी मकानमें रहा भी करते थे, लेकिन अब 'यूरोपियन स्टेण्डर्ड' के अनुकूल दुकानसे अलग मकान लेकर रहना ठीक समझते हैं, इससे अच्छे मकानोंकी जरूरत और माँग बढ़ गई। (४) पहले जहाँ बहुत-से प्रवासी भारतीय दक्षिण अफ्रिकामें अकेले ही आया-जाया और व्यापार किया करते थे वहाँ केपटाउन-समझौतेके बाद उन्होंने अपने औरत-बच्चोंको भी बुला लिया, इसलिए भी मकानोंको मांग बढ़ी। (५) पृथक्करण नीतिको विरोधी मनोवृत्तिका प्रदर्शन करने और श्वेताङ्गोंको यह बतलानेके लिए भी कि भारतीय उनसे किसी बातमें हीन नहीं हैं, गौराङ्गोंके मुहल्लेमें उनका प्रवेश हुआ है।

रिपोर्टको समाप्त करनेसे पूर्व कमीशनने स्पष्ट रूपसे घोषित कर दिया,—"हम इस बातको दोहराना आवश्यक समझते हैं कि श्वेताङ्गोंके मुहल्लोंमें बसनेकी भारतीयोंकी आमतौरपर कोई ख्वाहिश नहीं है। जहाँ उन्होंने गोरोंके इलाकेमें जमीन मोल ली है वहाँ या तो धन कमाने अथवा आरामसे रहनेके खयालसे ही वैसा किया है। गोरोंका पड़ोस नहीं बल्कि सुखद स्थान ही आकर्षण है।"

प्रवासी भारतीयोंने सोचा कि कमीशनकी निष्पक्ष रिपोर्टसे सरकार और श्वेताङ्ग सन्तुष्ट हो जायंगे और उनकी विपद्की वह घड़ी टल गई, जिसकी वजहसे उनमें चिन्ता, उद्विग्नता और घबराहट फैली हुई थी। और उनके नेताओंको इसी खटपटमें अपना समय और शक्ति व्यय करनी पड़ रही थी। उनकी धारणा थी कि रङ्ग-द्वेषके रंगमंचपर नाटकका पर्दा गिर गया और कुछ कालके लिए, कम-से-कम युद्ध-कालमें शांतिसे जीवन-यापन करनेका अवसर मिलेगा, परयह आशा मृग-तृष्णा ही सिद्ध हुई।

पेगिङ्ग एक्ट

भारतकी विदेशी सरकारकारका एक-मात्र यही उद्देश्य रहा है कि किसी-न-किसी प्रकार दक्षिण अफ्रिकाकी विकट समस्या हल हो जाय। जनरल स्मट्स, उनकी सरकार और दक्षिण अफ्रिकाके श्वेताङ्गोंसे न्यायके लिए लड़ना भारतकी विदेशी सरकारके बूतेकी बात नहीं। इसलिए उसके खयालमें प्रवासी भारतीयोंसे ही पृथक्करणको योजना मंजूर कराकर इस झगड़ेको निबटा देना चाहिए। भारत-सरकारकी दुरंगी नीतिका स्पष्टीकरण हाई कमिश्नर रामरावने इस प्रकार किया था—

"भारत-सरकारका दृढ़ मत रहा है कि कानूनके जरियेसे दक्षिण अफ्रिकामें भारतीयोंको अलग बसाना भारतके राष्ट्रीय सम्मानपर आघात पहुँचाना है, अतएव वह पृथक्करण कानूनका अवश्य विरोध करेगी। पर साथ ही भारत-सरकारका अभिमत यह भी है कि प्रवासी भारतीयोंका अलग बसनेमें ही हित है। उनको अपनी अलग बस्ती बसानी चाहिए और वहाँ अपनी इच्छाके अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए। इससे उनको बे-रोक-टोक अपने सामाजिक रीति-रिवाजों का पालन करने और अपने ढंगसे रहनेका पूरा सुभीता होगा। भारत-सरकार डरबनकी लॉरेन्स-कमेटीकी नीति मंजूर कर चुकी है, जिसका तात्पर्य यह है कि भारतीयोंको बिना किसी दबावके स्वेच्छासे ही

अलग रहना चाहिए और उनमेंसे अगर कोई श्वेताङ्गोंके मुहल्ले-में प्रवेश करनेका दुस्साहस करे तो उसको समझा-बुझाकर रोकना चाहिए। यदि नेटाल इंडियन कांग्रेस इस नीतिको स्वीकार और और समर्थन करनेका वचन दे तो भारत-सरकार उससे सहयोग करनेको तैयार है।"

भारत-सरकारके सहयोगके लिए इतना बड़ा मूल्य चुकाना कांग्रेस-की शक्ति और मर्यादासे बाहरकी बात थी! मैं कांग्रेसका नेतृत्व कर रहा था और मेरे नेतृत्वमें कांग्रेस इस हीन स्थितिको कदापि स्वीकार नहीं कर सकती थी कि भारतीयोंको अछूतोंकी भाँति अपनी अलग बस्ती बसानी चाहिए और अंग्रेजोंकी बस्तीमें जमीन खरीदनेके अपने जन्म-सिद्ध अधिकारको त्याग देना चाहिए। यह बात और है कि अत्याचार-मूलक कानून बनाकर हमारे प्रचलित अधिकारका अपहरण कर लिया जाय। केपटाउन-संधिमें प्रवासी भारतीयोंको वहाँकी स्थायी प्रजाका एक अंग माना गया है। इसलिए उचित तो यह है कि उनको अपनी शक्ति और स्थितिके अनुसार शनैः-शनैः पूर्णरूपेण विकास और उत्कर्ष करनेके अवसर दिये जायं ताकि वे वहाँकी प्रजाके किसी भी वर्गसे पिछड़े न रहें। ब्रम-कमीशनने अपनी रिपोर्टमें इस मूल सिद्धान्तका समर्थन किया है और उस मतको स्वीकार किया है, जो नेटाल इंडियन कांग्रेसने उसके सामने उपस्थित किया था। वह मत यह है कि पृथक्करणके प्रति भार-तीयोंके विरोधमें कभी अन्तर नहीं आ सकता और वे किसी भी सूरतमें इस सिद्धान्तके सामने सिर नहीं झुका सकते।

पर भारत-सरकारके वफादार एजेन्टने नेटाल इंडियन एसोसियेशनसे पृथक्करण का सिद्धान्त स्वीकार करा लिया। अफसोस कि हमारे कुछ भाई नौकरशाही सरकारके माया-जालमें फँस गए। स्मट्सको आश्वासन देकर और लारेन्स-कमेटीमें शरीक होकर उन्होंने ऐसी जबर्दस्त भूल कर डाली, जिसका फल आगे चलकर प्रवासी भारतीयोंको भोगना पड़ा और आज-तक भोगना पड़ रहा है।

ब्रूम-कमीशनकी सच्ची रिपोर्टसे जहाँ अंग्रेजोंको अपनी झूठी शिकायतपर शर्म आनी चाहिए वहाँ उन्होंने निर्लज्ज होकर कानून बनानेकी आवाज और भी ऊँची कर दी। हिन्दुस्थानमें यह भ्रम फैला हुआ है कि दक्षिण अफ्रिकाके बोअरोंको ब्रिटिश साम्राज्यके हिताहितकी कोई पर्वाह नहीं है, इसलिए वे हिन्दुस्थानियोंके विरुद्ध आन्दोलन किया करते हैं और यह नहीं सोचते कि उनकी करतूतसे ब्रिटिश साम्राज्यको कितनी हानि होरही है। आम तौरपर हमारे देशवासियोंकी यही धारणा है, पर असलियत इसके बिलकुल विपरीत है। प्रसिद्ध पत्रकार और ग्रंथकार नेगली फार्सनने अपने व्यक्तिगत अनुभवोंके आधारपर एक बृहद् ग्रंथकी रचना की है जिसका नाम है—"परमात्माकी पीठ-पीछे" (Behind God's Back)। नेगली फार्सनका भी यह खयाल था कि बोअर ही भारतीयोंके विरुद्ध उत्पात मचानेके लिए जिम्मेदार हैं, परन्तु दक्षिण अफ्रिकामें उनको जो अनुभव हुए उनसे उन्होंने यह परिणाम निकाला—"फिर भी दक्षिण अफ्रिकामें आजकल डरबन शहर इङ्गलैण्डसे भी अधिक अंग्रेज होनेका दावा कर सकता है और ये अंग्रेज ही हैं—दक्षिण अफ्रिकाके बोअर नहीं—जो प्रवासी हिन्दुस्थानियोंकी समस्याको हल करनेके विचारसे प्रमादियोंकी भाँति उनको अलग बसानेके लिए दमनकारी कानून बना रहे हैं। यह समस्या ऐसी बुरी है कि इसको उत्पन्न ही नहीं होने देना चाहिए था; लेकिन इसको हल करनेके लिए इस समय जो उपाय काममें लाये जा रहे हैं, उनके क्रूर और नृशंस और अमानुषिक होनेमें संदेह नहीं है। उनसे बर्बरताके लिए वैसे ही अवसर मिल जाते हैं, जैसे हिटलरने यहूदियोंके साथ बर्बर वर्त्ताव करनेके लिए प्राप्त कर लिये थे।*

---

* Yet Durban is far and away the most 'English' [illegible] in South Africa—more English then England [illegible] dare to be, in these days. And it is these very [illegible] not the Boerish South Africans, who are

डरबन की सिटी-कौंन्सिलने, जिसमें लगभग सभी अंग्रेज हैं, एक प्रस्ताव पास किया कि प्रान्तीय कौन्सिलकी इसी बैठकमें एक ऐसा कानून बन जाना चाहिए, जिसके द्वारा सिटी-कौन्सिलको किसीकी व्यक्तिगत जायदादमें भी भारतीयोंके बसनेमें प्रतिबंध लगानेका अधिकार मिल-जाना चाहिए। सिटी-कौंसिलके कानूनी सलाहकारने यह राय दी कि इस प्रस्तावका कार्यान्वित होना असंभव है क्योंकि प्रान्तीय कौन्सिलका अधिवेशन समाप्त होनेमें अब केवल चार दिन शेष हैं। इस दरम्यानमें कानूनकी रूपरेखा और मसविदा बनाना, अफ्रिकान भाषामें उसका अनुवाद कराना, गजटमें छपाना और प्रांतीय कौंसिलमें पेश भी हो जाना कैसे संभव हो सकता है। इन कठिनाइयोंके बावजूद भी सिटी-कौन्सिल आगे बढ़ने और प्रांतीय कौंसिलके पास एक डेपुटेशन भेजकर उससे यह काम चार दिनके अंदर करा लेनेपर उद्यत हो गई, लेकिन खैरियत यही हुई कि प्रान्तीय कौंसिलने डेपुटेशनसे मिलने और इस अनुचित प्रस्तावपर विचार करनेसे इन्कार कर दिया।

यह प्रयत्न विफल होनेपर डरबनकी सिटी-कौंन्सिलने लारेन्स-कमेटी

---

frantically making these repressive 'Segregation' laws to 'settle the indian problem'............It is a wretched problem, a thing which never should have been allowed to happen; the present efforts to solve it are unquestionably cruel and inhumane. It presents the same opportunities for savagery that Hitler seized upon with the jews. It was his twenty-one years' South African experience that turned Gandhi from an ordinary aspiring Indian, a barrister of the Inner Temple, anxious to emulate English ways, into a loin-clouted ascetic, fighting his continual battle for Indian rights.——BEHIND GOD'S BACK by Negley Farson.

को एक बैठक बुलाई, जिसमें अंग्रेज आन्तरिक मंत्री और इस कमेटीके जनक श्री लारेन्स भी उपस्थित थे। इस बैठकमें भारतीयोंको दूधकी मक्खीकी भाँति अलग करनेके लिए नाना प्रकारके उपाय सोचे गए। न्यायका तकाजा तो यह था कि ब्रूम-कमीशनकी रिपोर्टके बाद लारेन्स-कमेटी तोड़ दी जानी चाहिए थी, लेकिन उस बैठकमें एक प्रस्ताव पास करके सरकारसे प्रार्थना की गई कि लारेन्स-कमेटी को कानूनी अधिकार भी मिल जाना चाहिए, ताकि यदि समझाने-बुझानेपर हिन्दुस्तानी न मानें तो कानूनी डण्डेसे उनकी मरम्मत की जासके और ठोक-पीटकर अंग्रेजों-की बस्तीसे अलग रखा जासके। ब्रूम-कमीशन तो साफ कहता है कि गौराङ्गोंके आक्षेप और आशङ्का सर्वथा निर्मूल हैं और जिन भारतीयोंने गोरोंके मुहल्लोंसे जमीनें मोल ली हैं उनकी संख्या नगण्य है; लेकिन अंग्रेज मंत्री लारेन्स इस बैठकमें अपने अंग्रेज भाइयोंके साथ गहरी हम-दर्दी दिखाते हुए फरमाते हैं—"सिटी-कौंसिलके प्रस्तावसे मैं बड़ा प्रभा-वित हुआ हूँ। श्वेताङ्गोंके इलाकेमें जिस तेज रफ्तारसे भारतीयोंका प्रवेश हो रहा है, उससे कौंसिलको चिन्तित और चौकन्ना होनेके लिए यथेष्ट कारण मिलते हैं। यदि भारतीयोंकी प्रवृत्ति और प्रगति रुकी नहीं तो श्वेताङ्ग लोकमत क्षुब्ध हुए बिना न रहेगा और फिर जल्दी हो या कुछ देरसे, सरकारको कड़ी कार्रवाई करनेके लिए मजबूर होना ही पड़ेगा।"

जहाँ सरकारको अपने कमीशनकी रिपोर्टकी इज्जत करनी चाहिए थी और गौराङ्गोंको साफ कह देना चाहिए था कि उनकी हरकत बेजा है और उससे उनको बाज आना चाहिए वहाँ मंत्री महाशय उनको इशारा कर रहे हैं कि श्वेताङ्गोंकी आवाज जरा और ऊँची हो जानी चाहिए, बस सरकार तो कानून बनानेके लिए कसम खाए बैठी है।

सन् १९२४में तो श्वेताङ्ग लोकमत पृथक्करण की कल्पना भी नहीं कर सकता था। जनरल स्मट्सके दिमागसे ही यह कुत्सित योजना निकली थी। भाग्यके फेरसे शासन-सूत्र उनके हाथसे जाता रहा, जिससे

उनके मनका अरमान पूरा होने न पाया। पन्द्रह सालके बाद राज्य-सत्ता प्राप्त होते ही उन्होंने अपनी पुरानी प्रवृत्तिकी पुनरावृत्ति शुरू कर दी। भारतीयोंके एक दलसे लिखित आश्वासन लेकर और डरबनमें लारेन्स-कमेटी बनाकर भी उनकी छाती न जुड़ाई और उन्होंने युद्धके जमानेमें, जब अन्य सभी कमीशनोंके कार्य स्थगित कर दिये गए, भारतीयोंके संहारके विचारसे ब्रूम-कमीशन बैठा दिया। पर कमीशनकी रिपोर्टसे उनके अरमानोंका खून हो गया, उनकी योजनाओंपर चौका फिर गया। अब वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ होरहे थे और अपनी कुटिल नीतिको कार्यान्वित करनेके लिए कोई बहाना ढूँढ रहे थे। डरबनके अंग्रेजोंने आंतरिक सचिव लॉरेन्ससे इशारा पाकर ऐसा कुहराम मचाया कि स्मट्सको इच्छित बहाना और हथियार मिल गया।

सन् १९४३के आरंभमें जनरल स्मट्सने सत्य और न्यायको तिलांजलि देकर झटपट दूसरा कमीशन बैठा दिया। जस्टिस ब्रूम ही इस कमीशनके भी अध्यक्ष बनाये गए, पर इसके बाद कमीशनको अपनी राय और सलाह देनेके अधिकारसे वंचित कर दिया गया। उसे केवल यह काम सौंपा गया कि सन् १९२७के बाद भारतीयोंने श्वेताङ्गोंसे कितनी जमीनें खरीदी हैं उनकी तालिका तैयार कर दे। इस बार उन क्षेत्रोंको भी श्वेताङ्गोंके इलाकेमें शामिल कर लिया गया जो प्रथम ब्रूम-कमीशनकी रिपोर्टके अनुसार वास्तवमें गोराङ्गोंकी बस्तियां नहीं हैं। डरबनकी बिरिया-पहाड़ीपर, जो श्वेताङ्ग प्रजाकी प्राचीन बस्ती कही जा सकती है, गत अस्सी वर्षोंमें केवल तीन भारतीय परिवार बस पाये हैं। पर सारे डरबन शहर और नेटाल प्रांतको गोरोंकी बस्ती मान लेनेपर यह मंजूर करना ही पड़ेगा कि भारतीयोंने गोरोंसे भूमि अवश्य खरीदी है।

स्मट्सकी इस करतूतसे भारतीयोंके संतापकी सीमा नहीं रही। जिस कमीशनको श्वेताङ्गोंका क्षेत्र निर्धारित करने, भारतीयोंके प्रवेशका कारण बताने और अपना अभिमत प्रकट करनेका कोई अधिकार नहीं, उस कमीशनमें भाग लेनेसे प्रवासी भारतीयोंने इन्कार कर दिया। वास्तवमें

इस कामके लिए कमीशन बैठनेकी जरूरत भी नहीं थी। रजिस्ट्रारसे ही जमीनकी खरीद-बिक्रीकी सूची मिल सकती थी; पर दुनियाको चकमा देनेके लिए कमीशनका ढोंग रचा गया। कमीशनने चार सप्ताहमें काम खतम कर रिपोर्ट भी दे दी। सन् १९२७के बाद भारतीयोंने श्वेताङ्गोंसे जितनी जमीनें खरीदी थीं, उनकी तालिका कमीशनने तैयार कर दी। पर वे जमीनें कहाँ? यूरोपियनोंके क्षेत्रमें अथवा भारतीयोंकी बस्तीमें यदि गौराङ्गोंके मुहल्लेमें हैं तो वहाँ भारतीयोंके जानेका कारण क्या है? इन बातोंका विश्लेषण करनेका कमीशनको न अधिकार था और न आवश्यकता ही थी।

कमीशनकी इसी रिपोर्टके आधारपर जनरल स्मट्सकी सरकारकी तरफसे यूनियन-पार्लमेण्टमें अप्रैल (१९४३) के प्रथम सप्ताहमें बिल पेश हुआ, उसपर बहस-मुबाहिसा हुआ, उसका पहला, दूसरा और तीसरा वाचन हुआ और वह कानून भी बन गया। तीन सप्ताहके अंदर यह सारी कार्रवाई हो गई। इसीसे सोचा जा सकता है कि स्मट्सको कानून बना डालनेके लिए कितनी उतावली थी। यह कानून 'पेगिङ्ग-एक्ट' (Pegging Act) के नामसे मशहूर हुआ।

हिन्दुस्थानमें हाहाकार

स्मट्सकी इस शैतानीसे हिन्दुस्थानमें हाहाकार मच गया। उन दिनों भारतीय सिपाही दक्षिण अफ्रिकाकी रक्षाके लिए उत्तरीय अफ्रिकामें जर्मनों और इटालियनोंसे युद्ध कर रहे थे और अपने लहूसे अफ्रिकाकी भूमिको सींच रहे थे। दूसरी तरफ उसी दक्षिण अफ्रिकामें भारतीयोंको अछूतोंकी भाँति श्वेताङ्गोंसे अलग बसानेके लिए कानून बन रहा था। एक ओर जनरल स्मट्स विश्व-बंधुत्व, मानवी समानता एवं लोकतंत्रका तराना गा रहे थे, दूसरी ओर अपने ही देशमें वर्ण-विद्वेष-मूलक कानून भी बना रहे थे। कैसी विडम्बना? कैसी प्रतारणा??

दक्षिण अफ्रिकासे विदा होते समय नेटाल इंडियन कांग्रेसने भारतमें मुझे अपना प्रतिनिधि चुना था, अतएव मैं प्रवासी-भवनमें कांग्रेसका

दफ्तर खोलकर प्रचार-कार्य कर रहा था। इस विपद्की घड़ीमें कांग्रेसने भारतमें आन्दोलन करनेका सारा भार मुझे सौंपा। नेटालके श्री मुहम्मद अहमद जादवन भी उन दिनों भारतमें थे, उनको भी कांग्रेसने मेरे साथ काम करनेके लिए प्रतिनिधि चुन दिया। डाक्टर लंकासुन्दरम्के सहयोग, सम्मति और सहायतासे हमने ऐसा घोर आन्दोलन मचाया कि सारा भारत क्रोधसे काँप उठा। हमने जितने सार्वजनिक वक्तव्य निकाले और देशके प्रमुख नेताओंसे निकलवाये, अखबारोंमें जितने लेख लिखे और प्रसिद्ध पत्रकारोंसे लिखवाये, जितनी सभाएँ कीं या करवाईं, उनके विवरणका संग्रह करनेपर एक बहुत बड़ा पोथा बन गया है जो प्रवासी-भवनमें सुरक्षित है। यहाँ तो मैं संक्षेपमें ही उन दिनोंकी कथा कहकर संतोष करूंगा।

सन् १९४२में भारतकी स्थिति बड़ी डाँवाडोल थी। कांग्रेसकी "अंग्रेजो! भारत छोड़ो" की पुकारसे देशका वायु-मंडल प्रतिध्वनित हो रहा था। महात्मा गांधी पूनाके आगाखाँ महलमें और नेहरु, पटेल, आजाद प्रभृति राष्ट्र-सूत्रधार अहमदनगरके किलेमें नजरबंद थे। कांग्रेस-कर्णधारोंके कारावासके कारण मेरे तो मानो पंख ही कट गये थे—मैं पंखहीन पखेरुकी भांति छटपटाकर रह जाता—उड़ान भरनेकी ताकत कहाँसे लाता? फिर भी अवस्थाके अनुसार व्यवस्था करना ही हितकर जँचा। कांग्रेस तो बगावत करके गैर-कानूनी बन चुकी थी। अतएव लिबरल पार्टी, मुस्लिम-लीग और हिन्दू महासभाके दामन पकड़ने पड़े। हमारे प्रयत्नसे हिन्दू-महासभा और मुस्लिम-लीग दोनों आपसका भेद-भाव भुलाकर इस प्रश्नपर एकमत हो गईं और वीर सावरकर और जनाब जिन्नाने एक स्वरसे स्मट्सकी अनीति और करतूतोंकी निंदा और भर्त्सना की।

सर्वनाशका विधान

यद्यपि हिन्दुस्थान अपनी दासता और परवशताके कारण स्मट्सकी शैतानी और पेगिङ्ग-एक्टके प्रभावसे अपनी प्रवासी संतानकी रक्षा न कर

पाया और अपने तत्कालीन विदेशी मालिकोंकी उपेक्षावृत्तिपर खूनका घूँट पीकर रह गया; ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश पार्लमेंटने भी इस मामलेमें खामोश रहना ही श्रेयस्कर समझा, तथापि संसारके लोकमत-को कौन दबा सकता था ? अमेरिका, एशिया, यूरोप और अफ्रिकाके अखबारोंमें जनरल स्मट्सकी जुल्म-ज्यादतीकी बड़ी चर्चा हुई। विश्वके लोकमतके इजलासमें उनकी ऐसी दुर्गति और बदनामी हुई जिसकी उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की होगी। टोकियो, रोम और बर्लिनके रेडियोको तो मानो बहुत बड़ी पूँजी मिल गई थी, वहाँसे नित्य ही स्मट्सकी शैतानीका ब्राडकास्ट हुआ करता था।

जब स्मट्स मानवी स्वतंत्रता, लोकतंत्र और विश्व-बंधुत्वका राग अलापते तो संसार भ्रममें पड़कर उनको एक अद्वितीय महापुरुष और शांतिका संदेश-वाहक समझने लगता, पर अब उनको पता लगा कि स्मट्सकी वाणी और कर्ममें कितना अंतर है। स्मट्सका सच्चा स्वरूप पेगिङ्ग एक्टने संसारके सामने रख दिया। इसपर स्मट्स बहुत बौखलाये और घबराये। यद्यपि वह ब्रिटिश सरकार और भारत-सरकारकी तरफसे निश्चिन्त थे तो भी संसारके लोकमतको दबाना उनके बूतेसे बाहरकी बात थी।

स्मट्स दुनियाकी आँखोंमें धूल झोंकनेके लिए अपनी सफाई देते हुए गिरगिटकी भाँति रंग बदलकर बोले कि नेटालमें ऐसी भीषण स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि यदि पेगिङ्ग एक्ट न बनाया जाता तो खून-खराबी हुए बिना न रहती। सरकारको बहुत लाचार होकर शांतिके विचारसे इस कानूनका आश्रय लेना पड़ा है। पर यह तो एक मियादी कानून है—अस्थायी व्यवस्था है। सामयिक स्थितिका ज्यों-का-त्यों बनाये रखना ही पेगिङ्ग एक्टका उद्देश्य है। अब हम जस्टिस ब्रूमकी अध्यक्षतामें एक कमीशन बैठा रहे हैं और उसे यह काम सौंप रहे हैं कि वह हिन्दुस्तानियोंकी सारी समस्याओंकी जाँच करे और उनके हलके उपाय बत-लाये। कमीशनकी रिपोर्ट निकलनेपर स्थायी रूपसे सारी उलझनें

सुलझा दी जायंगी। इस कमीशनके सात सदस्योंमें दो भारतीय सदस्य भी रहेंगे और कमीशनकी राय और सलाहके अनुसार ही भारतीय प्रश्नका निपटारा हो जायगा।

नेटालके प्रवासी भारतीयोंकी हालत भी बदल चुकी थी। सर रामरावने फूटकी जो आग लगाई थी, वह बुझ चुकी थी। रावसाहब अपना कार्य-काल समाप्त कर भारत लौट आये थे, सर सफात अहमदखाँ भारतके हाईकमिश्नर होकर वहाँ पहुँच गए थे। इनके प्रयत्नसे नेटाल इंडियन एशोसियेशन तोड़ दिया गया और नेटालके सारे भारतीय पूर्ववत् नेटाल इंडियन कांग्रेसके झंडेके नीचे आ गए। स्मट्सने जो तीसरा ब्रूम-कमीशन बैठाया उसमें श्री ए. आय. काजी और श्री एस. आर. नायडू भारतीय सदस्य चुने गए। कमीशनका जाँच-कार्य शुरू हो गया।

सन् १९४४में लण्डनमें ब्रिटिश डोमीनियनके प्रधान मंत्रियोंकी एक परिषद् होने वाली थी, उसमें शरीक होनेके लिए लंडन जानेसे पहले स्मट्सने नेटाल इंडियन कांग्रेसके अधिकारियोंको आमंत्रण देकर प्रिटोरिया बुलाया और झटपट उनसे एक समझौता भी कर डाला जो 'प्रिटोरिया एग्रिमेंण्ट'के नामसे मशहूर हुआ। समझौतेकी शर्त यह थी कि नेटालकी प्रान्तिक कौन्सिल एक ऑर्डिनेन्स पास करेगी, जिसके अनुसार एक बोर्ड बनेगा। इस बोर्डके दो गोरे और दो भारतीय सदस्य होंगे और सभापति होगा कानूनका ज्ञाता कोई सरकारी कर्मचारी। यदि कोई भारतीय गोराङ्गोंके क्षेत्रमें जमीन मोल लेना चाहेगा तो अर्जी देनेपर यह बोर्ड वहाँकी स्थितिकी जाँच करेगा। यदि उस क्षेत्रके गोरे विरोध करेंगे तो भारतीयकी अर्जी नामंजूर हो जायगी अन्यथा उसको वहाँ बसनेकी इजाजत मिल जायगी। यदि कोई भारतीय गोरोंके इलाकेमें खुद रहनेके लिए नहीं बल्कि गोरोंको ही कियायेपर देनेके लिए जमीन-मकान मोल लेना चाहेगा तो उसके लिए कोई रोक-टोक न होगी।

यद्यपि प्रिटोरिया-समझौता स्वेच्छापूर्वक पृथक्करण-सिद्धान्तकी

स्वीकृति ही था तथापि कांग्रेसने श्वेताङ्गोंको संतुष्ट करके इस झगड़ेका अन्त लाना ही श्रेयस्कर समझा।-प्रवासी भाई अपने नेताओंके इस कृत्यसे संतुष्ट नहीं थे और उनमें विरोधकी भावना फैल रही थी। उधर स्मट्स तो कलंकको कालिमा धोकर और साफ सूरत लेकर लण्डन चले गए, इधर नेटालकी प्रांतिक कौन्सिल बैठी। उसने एकको जगह तीन आर्डिनेन्स पास कर डाले और सभी स्मट्सके समझौतेके प्रतिकूल। उनके नाम ये हैं—(1) The Residential Property Regulation Ordinance of 1944; (2)The Natal Housing Board Ordinance No.23ot 1944;(3)The Provincial and Local Authorities Expropriation Ordinance No. 26 of 1944. पहले आर्डिनेन्सका उद्देश्य यह था कि भारतीयोंको अपनी बस्तीसे बाहर अन्यत्र कहीं हाथ-पाँव पसारनेका अख्तियार न होगा। यह आर्डिनेन्स जनरल स्मट्सके कथनानुसार प्रिटोरिया-समझौतेको कार्यान्वित करनेके लिए बनाया गया था, पर प्रिटोरिया-एग्रीमेंटमें जहाँ बार्डको तहकीकात करनेके बाद फैसला करनेका अधिकार दिया गया था, वहाँ इस आर्डिनेन्समें उसकी जड़पर ही कुठाराघात किया गया था। इसके अनुसार तो भारतीयोंको अपनी निर्धारित बस्तीसे बाहर एक इंचभी जमीन खरीदनेका हक नहीं रहा। इस आर्डिनेन्ससे भी प्रांतिक कौन्सिलके श्वेताङ्ग सदस्योंको संतोष न हुआ और इसमें जो कुछ कोर-कसर रह गई थी उसको उन्होंने दो और आर्डिनेन्स लाकर पूरा कर डाला। इन आर्डिनेन्सोंका साफ मतलब यह था कि प्रान्तिक सरकार और म्युनिसिपैलिटियाँ जहाँ चाहेंगी, मनमाना मुआवजा देकर भारतीयोंसे जमीन हड़प सकेंगी। इस प्रकार एक तरफ जहाँ प्रवासी भारतीय न अपने क्षेत्रसे बाहर जमीन लेनेके हकसे मौकूफ किये गए, वहाँ दूसरी तरफ उनकी खरीदी हुई पुरानी जमीनपर भी मुआवजा देकर दखल कर लेनेका अख्तियार प्रान्तिक और स्थानिक सत्ताधिकारियोंको सौंप दिया गया।

इन अत्याचार-मूलक ऑर्डिनेन्सोंसे प्रवासी भारतीयोंमें जो आतंक फैला उसकी कल्पना कर लेना कोई कठिन काम नहीं है। वे अकारण इस बम-प्रहारसे मर्माहत हो उठे। पर उनकी आशाका चिराग बुझा नहीं, उसतिमिराछन्न तमिस्रामें भी उसकी एक मन्द ज्योति दिखाई पड़ रही थी। उनको पक्का विश्वास था कि जनरल स्मट्स अपने कौल-करारसे टलेंगे नहीं, प्रिटोरिया समझौतेको भङ्ग न होने देंगे। वे स्मट्स-की तरफ निगाह लगाये बैठे रहे। जब स्मट्स लन्दनसे विश्वको बन्धुत्व, मानवी-मर्यादा और सुख-शान्तिका पैगाम देकर वापस आये तो नेटाल इंडियन कांग्रेसके नेता उनकी सेवामें हाजिर हुए; सारा मामला उनके सामने रखा गया और उनसे ही इन्साफ के लिए प्रार्थना की गई। स्मट्स-को विवश होकर स्वीकार करना पड़ा कि नेटालकी प्रांतिक कौन्सिलने जिस रूपमें ऑर्डिनेन्स पास किया है, उससे प्रिटोरिया-समझौता निश्चय ही भंग होता है। अतएव वह गवर्नर-जनरलको सलाह देंगे कि इस ऑर्डि-नेन्सको मंजूर नहीं, मंसूख कर दिया जाय। इसके सिवा और कुछ करने-धरनेको वह तैयार नहीं हुए। कांग्रेस की यह प्रार्थना कि इसके सिवा अन्य दोनों ऑर्डिनेन्स भी रद हो जाने चाहिएँ, स्मट्सने ठुकरा दी और साफ कह दिया कि वे देश-हितके लिए वांछनीय हैं। पेगिङ्ग एक्टको रद करानेके अभिप्रायसे ही कांग्रेसके कर्णधारोंने स्मट्ससे प्रिटोरिया-एग्रीमेन्ट किया था और समझौतेपर सही हो जानेपर स्मट्सने तत्क्षण भारतके तत्कालीन वायसराय लॉर्ड वेवलको तार देकर खुशीका इजहार करते हुए विश्वास दिलाया था कि अब भारतीयोंकी समस्याएँ सफलतासे सुलझ जायंगी, जिससे उभय पक्षको संतोष होगा। पर नेटालके गोरोंका रुख देखकर उनके हौसले हवा हो गए और वह फिर अपनी कुटिल नीतिकी पुनरावृत्तिमें प्रवृत्त हुए।

स्मट्स जहाँ अव्वल दर्जेके धूर्त हैं वहाँ वचन देकर मुकर जाना—थूककर चाट जाना—भी उनके बायें हाथका खेल है। महात्मा गांधीके साथ उन्होंने बार-बार विश्वासघात किया, स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखलेके

भी धोखा देकर छकाया और जनरल हर्टजोगके साथ ऐसी दगाबाजी-की कि दक्षिण अफ्रिकाका शासन-सूत्र उनके हाथसे चला गया और उनके दिलपर ऐसी गहरी चोट लगी कि साल-भरके अन्दर उनको अपने जीवन-से भी हाथ होना पड़ा। इस बार फिर उन्होंने नेटाल इंडियन कांग्रेसके नेता अब्दुल्ला काज़ी प्रभृतिको अपने छलका शिकार बनाकर यह सिद्ध कर दिया कि जमानेका रंग-ढंग भले ही बदल गया हो, उनकी आयु भी चाहे बुढ़ापेकी सीमा पारकर मौतके निकट भले ही पहुँच गई हो, पर उनके स्वभावमें कोई अन्तर नहीं आया है।

मजेकी बात यह थी कि एक ओर ब्रूम-कमीशनकी ओरसे भारतीय समस्याओंकी जाँच हो रही थी और दूसरी ओर नेटालकी प्रांतिक कौन्सिलमें भारतीयोंके विरुद्ध आर्डिनेन्स-पर-आर्डिनेन्स पास हो रहे थे। अतएव कमीशनका महत्त्व एक हास्यजनक दिखावेके सिवा और क्या रहा? इस स्थिति में मैंने अपने सहकर्मी डाक्टर लंकासुन्दरम् और श्री मुहम्मद जादवतकी राय और सलाहसे कमीशनके भारतीय सदस्य श्री अब्दुल्ला काज़ी और श्री एस० आर० नायडूको तार देकर कमीशनसे इस्तीफा दे देनेके लिए बलपूर्वक अनुरोध किया, और संतोषकी बात है कि उन्होंने हमारी प्रार्थनाकी उपेक्षा नहीं की और यह कहकर वे फौरन कमीशनसे अलग हो गए कि जब कि कमीशनको यह काम सौंपा गया था कि भारतीय समस्याओंके सभी पहलुओंकी जाँच-पड़ताल करके उनके स्थायी निपटारेके लिए सम्मति और सुझाव दे, तब उसकी रिपोर्ट निकालनेसे पहले ही धड़ाधड़ भारतीय-विरोधी कानूनोंकी सृष्टि और वृद्धि होते जाना मानो कमीशनका मजाक उड़ाना और उसके कार्य-को निरर्थक बनाना है।

भारतीय सदस्योंके इस्तीफा दे देनेपर भी स्मट्सने एलान कर दिया कि इण्डियन जुडीशियल कमीशनका काम जारी रहेगा। उन्होंने यह भी साफ कह दिया कि प्रिटोरिया-समझौतेकी अन्त्येष्टि-क्रिया हो चुकी और अब कमीशनकी रिपोर्टकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। वे तो प्रिटोरिया-

समझौतेको दफनाकर छुट्टी पा गए, पर ए. आय. काजी, पी० आर० पत्तर आदि जिन कांग्रेस-नेताओंने स्मट्ससे समझौता किया था उनको अपने सार्वजनिक जीवन और पद-प्रतिष्ठासे हाथ धोना पड़ा। कुछ भारतीय नवयुवकोंने, जिनपर कम्युनिस्टोंका विशेष प्रभाव है, प्रिटोरिया-समझौता करनेवालोंके विरुद्ध ऐसा प्रचंड प्रचार किया कि नेटालके प्रवासी भारतीय भड़क उठे और उन्होंने अपने पुराने नेताओंको दूधकी मक्खीकी भाँति सार्वजनिक क्षेत्रसे निकाल फेंका। सन् १९४५को अक्टू-बरमें नेटाल इण्डियन कांग्रेसका जो वार्षिकाधिवेशन और नवीन निर्वा-चन हुआ वह नेटालके इतिहासमें एक अद्भुत घटना थी। काजी, क्रिस्टफर, पत्तर, गोडफ्रे, मूसा, पारख, सिंह आदि सभी पुराने कांग्रेस-नेताओंको सार्वजनिक जीवनसे वैराग्य लेना पड़ा और कांग्रेसकी बागडोर अनुभवहीन तरुण भारतीयोंके हाथमें आगई।

घेटो-एक्टकी घोषणा

ब्रूम-कमीशनमे भारतीय सदस्य काजी और नायडू इस्तीफा देकर अलग हो गए—केवल श्वेताङ्ग सदस्योंने जाँचका काम जारी रखा। कमी-शनने एक तात्कालिक अस्थायी रिपोर्ट निकालकर जनरल स्मट्स और उनकी सरकारको यह सलाह दी कि दक्षिण अफ्रिका और भारतके प्रति-निधियोंकी एक गोल मेज परिषद् करनी चाहिए और उसमें दोनों देशोंके प्रतिनिधियोंको परस्पर विचार-विमर्श करके भारतीय समस्याओंके हलका उपाय ढूँढ निकालना चाहिए। कमीशनको इससे बढ़िया और कोई तरीका नहीं दिखाई देता है। दो बार इस प्रकारको गोल मेज परिषद् हो भी चुकी हैं और भारतीय समस्याएँ मैत्री-भावसे सुलझाई जा चुकी हैं अतएव इस बार भी कमीशनकी रायमें यूनियन-सरकारको परिषद्‌की व्यवस्था करके इस अप्रिय प्रसंगका अंत ला देना चाहिए।

जनरल स्मट्सने भी कमीशनकी रायको पसंद कर लिया और भार-तीयोंको आश्वासन भी दिया कि यथासंभव शीघ्र ही वह गोल मेज परि-षद् बुलानेका इरादा रखते हैं। नेटाल इंडियन कांग्रेसके जो नये अधि-

कारी चुने गए थे, स्मट्सने प्रिटोरियामें बुलाकर उनसे मुलाकात की और उनको विश्वास दिलाया कि गोल मेज परिषद्की आयोजना करके वह भारतीय प्रश्नको शांति और सद्भावसे निपटा देंगे। प्रवासी भारतीयों और भारत-सरकारने भी ब्रूम-कमीशनकी रायको उभय पक्षके लिए हितकर और श्रेयस्कर समझा और सभी गोल मेज परिषद्की उत्सुकतासे प्रतीक्षा करने लगे।

अचानक २१ जनवरी १९४६को जनरल स्मट्सने यूनियन पार्लमेण्टमें जो अपनी सरकारकी भावी नीति और प्रवृत्तिकी उद्घोषणा की उससे वहाँके प्रवासी भारतीयोंमें मातम छा गया। उन्होंने जिस ढंगसे अपनी पृथक्करण नीतिको कार्यान्वित करनेका विचार प्रकट किया उससे वहाँके पीड़ित, दलित और मताधिकार-हीन भारतीयोंके लिए नादिरशाही स्थापित हो जानेकी-सी स्थिति उत्पन्न हो गई। सान फ्रान्सिस्कोमें संयुक्त राष्ट्रोंके आदेशानुसार मानवी अधिकारोंके चार्टर गढ़ने वाले जनरल स्मट्सके राजनीतिक दीवालियापन और मानवीय पतनका इससे बढ़कर और क्या सबूत हो सकता है कि वह इस वृद्धावस्थामें अपनी सत्ता बनाये रखनेके लिए—प्रधान मंत्रीके पदसे च्युत किये जानेके भयसे—नेटालके प्रवासी भारतीयोंका आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिसे सर्वनाश करनेको प्रस्तुत हो गए और उनके सर्वनाशको ही श्वेताङ्ग सभ्यताकी रक्षाका एक-मात्र उपाय बतलानेमें जरा भी लज्जित न हुए। उन्होंने यह भी ऐलान कर दिया कि हम पृथक्करण कानून तो अवश्य बनावेंगे, लेकिन कानून पास करनेमें दो-चार महीनेकी देर लगेगी, पर आजकी तारीखसे यदि कोई भारतीय किसी श्वेताङ्गसे जमीन खरीदेगा तो वह सौदा नाजायज समझा जायगा। इस प्रकार कानून बननेसे पहले उसका प्रयोग करके जनरल स्मट्सने वह काम कर दिखाया, जिससे हिटलर और मुसोलिनीकी आत्माएँ भी स्वर्ग या नरकमें चुलबुला उठी होंगी।

भारतमें शिष्ट-मंडल

जनरल स्मट्सकी हिटलरशाही घोषणासे प्रवासी भाई चिन्तित,

विचलित और आतंकित हो उठे। केपटाउनमें साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसकी बैठक झटपट फरवरीके आरंभमें हुई ? कांग्रेसका कार्य स्थगित करके एक डेपुटेशन जनरल स्मट्ससे मिला और उनको बहुत समझाया कि वे अपने कमीशनकी सिफारिश मानकर गोल मेज परिषद्‌की आयोजना करें और इस समस्याको हल कर डालें। उनको यह भी कहा गया कि भारतीय किसी भी रूपमें पृथक्करणका सिद्धान्त स्वीकार न करेंगे और इसका परिणाम बड़ा भयंकर होगा——एशियाके एक विशाल देशसे बैर ठन जायगा। पर सब व्यर्थ। स्मट्स टस-से-मस न हुए। उन्होंने शिष्ट-मंडलसे साफ कह दिया कि प्रवासी भारतीयोंका प्रश्न उनका घरेलू प्रश्न है। वह जैसा उचित समझेंगे, इसका निपटारा करेंगे और अपने घरेलू मामलेमें भारतको दखल देनेका अधिकार न देंगे।

जनरल स्मट्स भारत-सरकारकी कमजोरीसे पूर्णतया परिचित थे। उनको मालूम था कि कागजी प्रतिवादके सिवा भारत-सरकार उनका एक बाल भी बाँका नहीं कर सकती। भारतकी केन्द्रीय धारा सभामें जब यह प्रस्ताव पास हुआ था कि पेगिङ्ग एक्टके प्रतिवादमें दक्षिण अफ्रिकासे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना चाहिए तो उस प्रस्तावपर बोलते हुए भारत-सरकारके प्रवास-विभागके तत्कालीन सदस्य डाक्टर नारायण भास्कर खरेने जब यहाँ तक कह डाला था कि यदि आज भारत स्वतंत्र होता तो दक्षिण अफ्रिकासे लड़ाई छिड़ जाती और युद्धके अलग मोर्चे-पर वह खुद होते, तो देश और विदेशोंमें सनसनी फैल गई थी, पर स्मट्सके लिए यह एक मजाकके सिवा और कुछ न था। उन्होंने खरे साहबकी धमकीको हँसीमें उड़ा देना ही बड़प्पन समझा। वास्तवमें भारतके अपमानसे डाक्टर खरे मर्माहत हो उठे थे और वे स्मट्सको कुछ कर दिखाना और इसका बदला चुकाना चाहते थे; पर बीचमें आ कूदे भारतके तत्कालीन भाग्य-विधाता चर्चिल और एमरी। वे भला हिन्दु-स्थानके अपमानके लिए ब्रिटिश साम्राज्यके अन्यतम स्तम्भ स्मट्सको कहाँ नाराज करने वाले थे ? अतएव डाक्टर खरेको यह आदेश मिला

कि बदलेकी नीतिसे युद्ध-प्रयत्नमें बाधा पड़ेगी। जिस ब्रिटिश साम्राज्यके सम्बन्धमें चर्चिल बड़े अभिमानसे कहा करते थे कि उनके शासन-कालमें उसका दिवाला नहीं निकलने पायगा, उसी साम्राज्यको केवल दिवाला ही निकालनेके लिए नहीं बल्कि दफनानेके लिए भी स्मट्सकी करतूतोंसे गहरी कब्र तैयार हो रही थी। पर चर्चिल और एमरीकी आँखोंपर तो ऐसा पर्दा पड़ा हुआ था कि वे इस सत्यको देख नहीं पाये।

इससे स्मट्सका हौसला और बढ़ गया। भारत-सरकार उनसे सदा दबती आई है। खैर, साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसने स्मट्स के जवाब से हताश होकर श्री सोराबजी रुस्तमजीके नेतृत्वमें एक डेपुटेशन भारत भेजा। सोराबजीके दो तार मुझे मोम्बासासे मिले, जिसमें यह आग्रह किया गया था कि मैं बम्बई पहुँचकर डेपुटेशनसे मिलूँ, पर रुग्णावस्थाके कारण मैं उनकी इच्छाकी पूर्ति न कर सका। अतएव बम्बई पहुँचकर सोराबजीने दो-तीन तार और दिये कि मुझे १२ मार्च (१९४७)को दिल्ली तो अवश्य पहुँच जाना चाहिए क्योंकि उस दिन वायसराय लार्ड वेवलसे डेपुटेशनका मिलना निश्चित हो चुका है। मैं रुग्ण-शय्यासे उठकर निर्धारित समयपर दिल्ली पहुँच गया और अपने सहकर्मी डाक्टर लंका सुन्दरम् के यहां ठहरा।

यह देखकर मेरे आश्चर्यकी सीमा नहीं रही कि यद्यपि साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसके निर्वाचित केवल चार ही—श्री सोराबजी रुस्तमजी, श्री एस. आर. नायडू, श्री ए. एस. एम. काजी और श्री ए. ए. मिर्जा सदस्य थे तथापि सोराबजी गुजरातके कोने-कोनेसे ढूँढकर दक्षिण अफ्रिका के लगभग पचास व्यक्तियोंकी बटोर लाये थे। जब सोराबजीके साथ मैं वायसरायके प्रायवेट-सेक्रेटरी श्री जॉर्ज एबेलसे मिला तो उन्होंने साफ-कह दिया कि वायसराय पचास व्यक्तियोंके डेपुटेशनसे मिलना कदापि स्वीकार नहीं कर सकते। इसपर सोराबजीकी एबेलसे कुछ कहा-सुनी भी हो गई, दोनों जोश और रोषमें आ गए, पर मैंने बीचमें पकड़कर झगड़ा शांत करा दिया। सर आगाखांके प्रयत्न करनेपर भी वायसरायने एक

दर्जनसे अधिक आदमियोंसे मिलना मंजूर न किया। इस बातसे बेचारे उन व्यक्तियोंको, जो इतनी दूरसे काफी खर्च करके डेपुटेशनके साथ वायसरायसे मिलनेके अभिप्रायसे आये थे, जो मानसिक व्यथा हुई, उसका अनुमान कर लेना कठिन नहीं है। सोराबजीको तो उनके सामने मुँह दिखाने और अपनी सफाई देनेकी भी हिम्मत न पड़ी। उन्होंने यह काम अपने मित्र काजीको सौंपा। बेचारे काजी भी उनको समझानेका साहस न कर सके। आखिर यह अप्रिय कार्य मुझपर ही आ पड़ा। मैंने उनको इकट्ठा करके सारी परिस्थिति सामने रख दी और निवेदन किया कि वे डेपुटेशनके साथ जानेके लिए पचासमेंसे चार प्रतिनिधि चुन लें। उन्होंने सर्व-सम्मतिसे मेरे सिवा एक हिन्दू, एक मुसलमान और एक पारसी को चुना। पर इस अपमानसे उनकी आत्म-ग्लानिकी सीमा नहीं रही। इसमें और किसीका नहीं, सारा दोष सोराबजीका था। इतने आदमियोंको गुजरातसे घसीट लानेकी जरूरत ही क्या थी? दिल्लीमें कोई प्रवासियोंकी प्रदर्शिनी तो थी नहीं, केवल वायसरायके सामने प्रवासियोंका मामला पेश करना था और उसके लिए साउथ अफ्रिकन इंडियन कांग्रेसके चुने हुए चार व्यक्ति ही काफी थे।

खैर, १२ मार्चको दो बजे सर आगा खाँ, श्रीमती सरोजिनी देवी, श्रीशरत्‌चन्द्र बोस, सर होमी मोदी और श्री हुसाम प्रेमजीके सिवा दक्षिण अफ्रिकाके डेपुटेशनके सदस्योंके साथ मैं वायसराय लार्ड वेवलसे मिला। सन् १९२५में जब दक्षिण अफ्रिकाके शिष्ट-मंडलके साथ मैं तत्कालीन वायसराय लार्ड रीडिङ्गसे मिला था तो उनका दरबारी ढंग देखकर दंग रह गया था। इस बार ऐसा अनुभव हुआ कि जमाना बदल गया है और उसके साथ भारतके शासकोंके रंग-ढंगमें भी अन्तर आ गया है। लार्ड वेवल बड़े साधारण तौरपर डेपुटेशनके सदस्योंसे मिले और सबके साथ ही एक लम्बी मेजके पास बैठ गए।

इसके बाद वायसरायको डेपुटेशनका मुद्रित वक्तव्य अर्पित किया गया, जो दलित और पीड़ित प्रवासियोंके हृदयका उद्‌गार था और था

भारतके अपमान और अपकीर्तिका शब्द-चित्र। उसमें कहा गया था कि दक्षिण अफ्रिकामें भारतवासी न रेलगाड़ीमें श्वेताङ्गोंके साथ बैठ सकते हैं और न ट्रामगाड़ीमें। वे न गोरोंके होटलमें ठहर सकते हैं और न उनके चाय-घरमें नाश्ता-पानी कर सकते हैं। उनको न नाट्यशालामें प्रवेश करनेका अधिकार है और न सिनेमाघरमें। डाकघर, तारघर, सरकारी दफ्तर और रेलके स्टेशनपर उनके लिए गोरोंसे अलग स्थान रखे गए हैं। यहाँ तक कि इन्साफकी अदालतोंमें भी रङ्ग-भेदसे काम लिया जाता है। उनको न सरकारी नौकरी मिल सकती है और न म्युनिसिपैलिटीकी नौकरी। उनके बच्चोंके लिए अलग पाठशालाएँ हैं। वे श्वेताङ्गोंके स्कूलों और कालिजोंमें नहीं दाखिल हो सकते। वर्ण-विद्वेषके कारण वे लकड़हारे और पनहारेकी स्थितिमें पहुँच गए हैं। नेटालमें अबतक भारतीयोंके लिए यदि कोई सहूलियत थी तो वह यही कि वे जहाँ चाहें जमीन खरीद सकते थे। उनको अपने निर्वाहके लिए या तो मजदूरी करनी पड़ती है या खेती अथवा कोई छोटी-मोटी दुकानदारी। जमीन खरीदनेकी सहूलियत होनेके कारण भारतीयोंकी बहुत बड़ी संख्या पाँच-दस एकड़ जमीन मोल लेकर खेती करती है और उससे अपने परिवारका निर्वाह। पर उनके इस एक-मात्र अधिकारको भी हड़प जानेके लिए कानून बनानेकी तैयारी हो रही है।

सर अगाखाँने वायसरायसे यहाँतक कहा कि दक्षिण अफ्रिकामें प्रवासी भारतीयोंके साथ जो दुर्व्यवहार हो रहा है, वह ऐसा है जो कोई भी स्वतंत्र राष्ट्र बर्दाश्त नहीं कर सकता। संसारके इतिहासमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि इस प्रकारके व्यवहारके कारण स्वतंत्र राष्ट्रोंमें युद्ध ठन गए हैं, लाशोंके ढेर लग गए हैं, खूनकी नदियाँ बह गई हैं। श्रीमती सरोजिनीदेवी, श्री शरत्चन्द्र बोस, सर होमी मोदी आदि महाभागोंने भी अपने-अपने ढंगसे प्रवासी भारतीयोंकी वकालत की।

सरकी बातें सुनकर लार्ड वेवलने जो उत्तर दिया वह स्थितिकी गंभीरताके सामने सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। केवल एक बात

उन्होंने मार्केकी कही, पर खासकर मेरे लिए वह नई बात नहीं थी, एक दिन पहले ही मैं उससे वाकिफ हो चुका था। जब मैं डाक्टर लंकासुन्दरम्‌के साथ भारत-सरकारके प्रवास-विभागके सदस्य डाक्टर नारायण भास्कर खरेसे मिला था तो उन्होंने मुझे यह गुप्त बात बतला दी थी कि दक्षिण अफ्रिकाको व्यापार-विच्छेदका नोटिस दे दिया गया है और इस बार विशेष बात यह हुई है कि नोटिस देनेसे पहले सदाकी भाँति लण्डनसे आज्ञा या अनुमति नहीं ली गई है। पर साथ ही खरे साहबने मुझसे यह वचन ले लिया था कि मैं १२ मार्चसे पूर्व इसकी चर्चा किसीसे न करूँ।

इस विषयपर मैं एंगिल्ल एक्टके समयसे ही जोर देता आया हूँ कि दक्षिण अफ्रिकाके विरुद्ध बदलेकी नीति अमलमें लाई जाय और उस देशसे व्यावसायिक सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया जाय। सन् १९४४में मैंने अपने सहकर्मी डाक्टर लंकासुंदरम् और श्री मुहम्मद अहमद जादवतके सहयोग और सहायसे एक प्रामाणिक पुस्तिका (Economic Sanctions Against South Africa) भी निकाली थी, जिसमें अंकोंसे यह सिद्ध किया था कि हमारे व्यापार-विच्छेदके प्रहारसे दक्षिण अफ्रिकाके श्वेताङ्गोंका होश ठिकाने आजायगा और बोरियोंके बिना गोरे किसानोंमें हाहाकार मचे बिना न रहेगा। इस पुस्तिकाकी हजारों प्रतियाँ देश-विदेशोंमें बाँटी गई थीं। उसीके प्रभावसे हिन्दुस्थानकी केन्द्रीय धारा-सभामें दक्षिण अफ्रिकाके विरुद्ध बदलेकी नीति ग्रहण करने और व्यापार-सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिए सर्वानुमतसे प्रस्ताव भी पास हुआ था। पर भारत-सरकार ठहरी लण्डनकी ब्रिटिश सरकारकी चेरी, जो अपने मालिकके हुक्मके बिना कुछ करने-धरनेकी शक्ति नहीं रखती है। उस समय ब्रिटिश सरकारके सर्वेसर्वा थे चर्चिल और एमेरी। उन्होंने भारत-सरकारको सख्त चेतावनी दे दी—"खबरदार, इस अवसरपर दक्षिण अफ्रिकाके खिलाफ कोई कार्रवाई करनेकी जरूरत नहीं, इससे युद्ध-प्रयत्नोंमें बाधा पड़ेगी और साम्राज्यका अमंगल होगा। भारतीयोंके

हल्ला मचानेसे क्या बनता बिगड़ता है, पर ब्रिटिश साम्राज्यके स्तम्भ जनरल स्मट्सको असंतुष्ट करना खतरेका काम होगा।"

बस, यह बात जहाँ-की-तहाँ दबी रही। उस दिन लार्ड वेवलने प्रवासी भारतीयोंके शिष्ट-मंडलके साथ सहानुभूति दिखाते हुए मार्केकी यही बात कही कि उनकी सरकार दक्षिण अफ्रिकासे व्यापारकी संधि (Trade Agreement) तोड़नेका नोटिस दे चुकी है, पर संधिकी शर्तके अनुसार तीन मासके बाद ही इसपर अमल किया जा सकेगा। हाई कमिश्नरको दक्षिण अफ्रिकासे वापस बुलानेपर वे तैयार न हुए उनके खयालमें इससे वहांकी परिस्थिति और प्रतिक्रियाका पता लगानेमें कठिनाई होगी। भारत-सरकारकी उपेक्षावृत्ति ही तो प्रवासी भारतीयोंकी दुर्गतिका मूल कारण है। यदि भारतकी विदेशी सरकार औपनिवेशिक श्वेताङ्गोंके स्वभावको जानकर भी अनजान न बनती तो आज हमारे प्रवासी भाइयोंको ऐसे बुरे दिन देखने न पड़ते।

काला कानून

सन् १९४६की ३१ मार्चको पेगिङ्ग एक्टकी अवधि समाप्त हो गई। यह एक मियादी कानून था। उसकी जगहपर जनरल स्मट्सने यूनियन पार्लमेण्टमें "एशियाटिक लैण्ड टेन्युर एण्ड इंडियन रिप्रेजन्टेशन बिल" (The Asiatic Land Tenure Indian Representation Bill) नामक स्थायी कानूनका मसविदा पेश कर दिया और वह कुछ बहस-मुबाहसेके बाद पास भी हो गया। यह नया कानून प्रवासी भारतीयोंके सर्वनाशके लिए बनाया गया। पेगिङ्ग एक्टका दायरा और असर केवल डरबन शहर तक ही सीमित था और वह श्वेताङ्गों तथा भारतीयोंके बीच होने वाले अचल सम्पत्तिके क्रय-विक्रयके व्यवहारको ही रोकता था, पर यह नया कानून तो नेटालके नगरों तथा देहाती हलकों सहित समूचे प्रांतपर लागू होगा और भारतीयोंके लिए गोरोंके सिवा और सभी गैर-भारतीयोंसे अचल सम्पत्तिका लेन-देन नाजायज ठहरायेगा यह नया कानून ट्रांसवालपर भी लागू होगा। ट्रांसवालमें हिन्दुस्थानियों-

को शहरों, कस्बों और गांवोंमें रहने और व्यापार करनेके लिए कुछ हलके अलग कर दिये जायंगे। इसका फल यह होगा कि भारतीयोंको अपना रोजगार-धन्धा अपने लिए निश्चित किये गए उन क्षेत्रोंके अन्दर ही पूरी तरह सीमित करना पड़ेगा। इस प्रकार व्यापारके केन्द्रोंसे हटा देनेसे देशकी आबादीके उन अंगोंसे उनका सम्पर्क टूट जायगा, जिनमें उनका कार-बार चलता है। फलतः उनके व्यापारको ऐसा धक्का लगेगा कि उनको तबाहीका सामना करना पड़ेगा।

इस कानूनके दूसरे भागमें यह व्यवस्था भी की गई है कि प्रवासी भारतीयोंको जातिगत पृथक् निर्वाचनके द्वारा यूनियन पार्लमेण्टमें तीन सदस्य भेजनेका अधिकार होगा, पर पार्लमेण्टके विधानके अनुसार वे सदस्य श्वेताङ्ग होंगे, कोई श्यामाङ्ग भारतीय नहीं। जनरल स्मट्सकी इस चालपर कुछ लोगोंको आश्चर्य हुए बिना न रहा, पर असल बात यह है कि स्मट्स पार्लमेण्टमें भारतीय प्रतिनिधित्वका यह ढोंग रचकर भारत-सरकार और भारतीय जनताकी जबान सदाके लिए बन्द कर देना चाहते हैं। भारतका यही तो दावा है कि जबतक दक्षिण अफ्रिकामें प्रवासी भारतीयोंको नागरिकके अधिकार नहीं मिल जाते तबतक हिन्दुस्थान उनको लावारिसकी भाँति दूसरोंकी दयापर नहीं छोड़ सकता। इस दावेकी जड़ काट डालनेके लिए ही स्मट्सने उनके प्रतिनिधित्वका यह प्रपंच रचा है। एक तो डेढ़ सौ सदस्योंकी पार्लमेण्टमें तीन सदस्योंकी आवाज नक्कारखानेमें तूतीकी आवाज सिद्ध होगी और तिसपर उनका प्रतिनिधित्व करेंगे वही श्वेताङ्ग जो उनको जड़-मूलसे मिटानेके लिए बद्ध-परिकर हैं।

यह कानून प्रवासी भारतीयोंके विनाशके लिए यमका काम देगा और साथ ही हिन्दुस्थान अपनी प्रवासी संतानकी हस्ती मिटते हु देखकर भी कुछ कहने-सुननेके अधिकारसे वंचित हो जायगा। एशिया-वासियोंको पतितावस्थामें रखनेके लिए अबतक जितने प्रयास किये गए हैं उनमें यह सबसे बड़ा प्रयास है। इससे भारतीय जीवनके सभी क्षेत्रों

में असभ्य और हीनताके भावको फैलानेका कार्य आरंभ हो जायगा।

यह कानून दक्षिण अफ्रिका और भारतमें "घेटो एक्ट" (Ghetto-Act) के नामसे प्रसिद्ध हुआ। रूसमें यहूदियोंको बसानेके लिए जो क्षेत्र निर्धारित कर दिए जाते थे उनको 'घेटो' कहते थे। भारतके अछूत टोलेका यूरोपियन संस्करण ही 'घेटो' है, जो गन्दगीमें अपना शानी नहीं रखते। इस बीसवीं सदीमें जहाँ भारत तथा अन्य देश अछूतपनका कलंक धो बहानेको उद्यत हैं वहाँ जनरल स्मट्स कानूनके जरिये दक्षिण अफ्रिका-में नये अछूत बनाने और उनके टोले 'घेटो' बसानेका उद्योग कर रहे हैं। उनका इरादा है कि भारतीय दक्षिण अफ्रिकामें न रहें और यदि रहें और तो गोरोंके क्रीत-दास बनकर। अबसे पचास वर्ष पूर्व प्रवासी भारतीय श्वेताङ्गोंके द्वारा होने वाले सभी अपमानको सह लेते थे। उन्होंने अपनी इज्जत गँवाई, बूटोंकी ठोकरें खाईं, अपनी बहू-बेटियोंको अप-मानित होते देखा। श्वेताङ्गोंने उनपर कौन-सा सितम नहीं ढाया, जिसे भारतीयोंने अपनी परवशताके कारण चुपचाप बर्दाश्त न किया हो। आज भी वे किसी-न-किसी रूपमें अत्याचारोंको सहन कर ही रहे हैं। पर अखिल विश्वकी उमड़ती हुई मानवी भावनाकी घोषणा है कि किसी का अत्याचार सहते रहना जीवनका सबसे बड़ा कलंक है। इस मानवी-भावनासे प्रवासी भारतीयोंको कौन अलग रख सकता है?

अन्तिम अस्त्र

प्रवासी भारतीयोंका व्यवस्थित आन्दोलन जब व्यर्थ गया तो उनको विवश होकर सत्याग्रहका सहारा लेना पड़ा। वे अपने देशकी शान और अपने आत्म-सम्मानकी रक्षाके लिए मर-मिटनेको तैयार हो गए। बत्तीस वर्षके बाद इतिहासकी पुनरावृत्ति हुई, सत्याग्रहकी लड़ाई छिड़ गई। नेटालका प्रसिद्ध नगर डरबन ही इस संग्रामका कुरुक्षेत्र बना। डाक्टर दादू और डाक्टर नायकरके नेतृत्वमें सत्याग्रह शुरू हुआ। सरकारने प्रारंभमें सत्याग्रहकी उपेक्षा करना ही ठीक समझा, पर गौराङ्ग नागरिक जामेसे बाहर होगये। कुली-कबाड़ियोंका यह खुला विद्रोह उनके लिए

असह्य हो उठा। सत्याग्रहियोंने वर्जित क्षेत्रमें अपनी छावनी डाल रखी थी। गौराङ्गोंका जत्था निकल पड़ा सत्याग्रहियोंको सबक सिखाने और उनको विद्रोहका मजा चखानेके लिए। वे श्वेताङ्ग-शैतान रातमें दल बाँधकर सत्याग्रह छावनोंपर हमला करते। तम्बूकी डोरियाँ काटकर उनको गिरा देते अथवा उनमें आग लगा देते ताकि बागी जीते जल मरें। उनके खटोले तोड़ डालते, कम्बल लूट ले जाते। इसीपर उनको संतोष न होता, विद्रोही कुलियोंको पकड़कर उनको खूब मरम्मत करते, लातों-घूँसोंसे उनकी सूरत बिगाड़ देते और यहाँ तक कि सत्याग्रही महिलाओंपर भी बूटकी ठोकरें लगाकर अपनी श्वेताङ्ग सभ्यताका परिचय देनेसे वे बाज न आते। सबसे बड़ी बात तो यही थी कि अमन और कानूनकी ठेकेदार पुलिस खड़ी-खड़ी तमाशा देखती; श्वेताङ्ग शैतानोंको कानून भङ्ग करनेसे रोकना तो दूर रहा उलटा वह उनको प्रोत्साहन भी देती। उनकी बदमाशी यहाँतक बढ़ी कि राह चलते हुए कृष्णस्वामी नामक भारतीय सिपाहीपर गोरोंने हमला कर दिया। कहनेकी जरूरत नहीं कि कृष्णसामी सरकारी नौकर था, सत्याग्रहसे उसका कोई सम्बन्ध न था। वह सत्याग्रह छावनीसे कुछ दूर रास्तेपर जा रहा था। पर चूँकि वह भारतीय था और उसकी कौमके व्यक्ति विद्रोह कर रहे थे, इसी अपराधपर उसपर ऐसी मार पड़ी कि अस्पताल पहुँचकर उसका दम उखड़ गया, श्वेताङ्गोंकी शैतानीसे वह शहीद होगया। इस दुर्घटनासे सारे संसारने दक्षिण अफ्रिकाके गौराङ्गोंपर धिक्कारोंकी बौछारें कीं। इसके बाद ही गोरोंकी गुण्डाशाहीका अन्त आ सका और सरकारका दमन-चक्र आरम्भ होगया।

डाक्टर दादू, डाक्टर नायकर, डाक्टर गुणम्, डाक्टर पटेल, श्रीसोराबजी रुस्तमजी प्रभृति अनेक शिक्षित और प्रतिष्ठित नेता जेलमें ठूँस दिये गए और उनसे कठोर-से-कठोर काम लिया जाने लगा। उनसे नेटालकी जेलोंमें पत्थरकी गिट्टियाँ तुड़वाई गई, पर अभिमानी श्वेताङ्गोंमें यह समझनेकी बुद्धि कहाँ कि उनके हथौड़ेकी एक-एक चोटसे सारे दलित और पीड़ित वर्गकी गुलामीकी एक-एक कड़ी टूटती जारही है। जब

भारतीय नेताओंके साथ अमानुषिक व्यवहार करनेमें यूनियन-सरकारको कोई संकोच न हुआ तो साधरण सत्याग्रहियोंकी तो बात और बिसात ही क्या ? उनको तो मानो अत्याचारकी भट्ठीमें भून डाला गया। जब वे कैद-की मिआद पूरी करके जेलसे छूटे तो उनकी माँ, बहन, पत्नी और परिवार-को कुछ फासिलेमें उनको पहचान लेना दुस्तर हो गया—जेलकी यातनाओं-से उनकी सूरत ही बदल गई थी।

पर संकटोंने सत्याग्रहियोंका साहस ही बढ़ाया, आपत्तियोंने उनमें आत्म-ज्योति जगाई और यातनाएँ उनके यशो-गानका यंत्र बन गईं। उन्होंने दृढ़ संकल्प कर लिया कि वे कष्टोंसे तंग आकर पीछे न हटेंगे, मर मिटेंगे पर कौमको इज्जतपर दाग न लगने देंगे। जो सैकड़ों सत्या-ग्रही जेलमें गये, उनमें स्त्रियोंकी संख्या भी संतोषजनक थी। मार्केकी बात यह हुई कि वर्षोंके परदेको तिलांजलि देकर मुस्लिम महिलाएँ भी सत्याग्रहमें शरीक हुईं और अपनी हिन्दू बहनोंके साथ हँसते-हँसते जेल गईं। दक्षिण अफ्रिकाके हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई—सभी भारतीय सत्याग्रहमें सम्मिलित होकर अपने आत्मोत्सर्गसे संसारको चकित कर रहे हैं। उनके मानवी संग्रामकी तरफ सबकी दृष्टि लगी हुई है।

संयुक्त राष्ट्र संघमें दक्षिण अफ्रिकाका मामला

वास्तवमें यह दक्षिण अफ्रिकाके ढाई लाख प्रवासी भारतीयोंका अपमान नहीं, भारतके चालीस करोड़ मनुष्योंका अपमान है। उनके साथ जो बुरा व्यवहार होता है वह इसलिए नहीं कि उन्होंने कोई नैतिक या भौतिक अपराध किया हो बल्कि इसलिए कि वे श्यामाङ्ग हिन्दुस्थानी हैं। यद्यपि फिलस्तीनके यहूदी भी एशियावासी हैं, पर चूँकि उनकी चमड़ी कुछ सफेद है इसलिए उनके साथ श्वेताङ्गोंकी भाँति सद्व्यवहार होता है। अतएव भारत अपनी प्रवासी सन्तानका अपमान कबतक सहा करता ? भगवानके विधानसे हिन्दुस्थानका भाग्य भी जाग उठा, पराधीनताकी अंधेरी रजनी समाप्तिके समीप आगई, स्वाधीनता-

उषाकी उजियाली दिखाई पड़ने लगी। भारतमें अस्थायी राष्ट्रीय सरकार कायम होगई। वैदेशिक और प्रवास विभागके मंत्रित्वका भार भारतीयोंके हृदय-सम्राट् पं० जवाहरलाल नेहरूने बहुत-कुछ ग्रहण किया। भारतकी राजनीतिक स्थितमें परिवर्तन होगया। भारतके भाग्योदयसे प्रवासी भाइयोंको बड़ा सहारा मिला।

दक्षिण अफ्रिकाको जो व्यापारिक संधि (Trade Agreement) रद्द करनेका नोटिस दिया गया था, तीन मासके बाद उसकी अवधि समाप्त होगई। भारतने दक्षिण अफ्रिकासे कार-बार और व्यापार बंद कर दिया। वहाँसे विशेषतः 'वाटल' वृक्षकी छाल आती थी जो भारतमें चमड़े रंगनेके काममें इस्तेमाल की जाती थी। भारतने उसकी कमी बबूलकी छालसे पूरी कर ली। यहाँसे खासकर जूटकी बोरियाँ दक्षिण अफ्रिका जाती थीं, जिनके बिना वहाँके श्वेताङ्ग किसानोंका काम चल ही नहीं सकता। वे अपने खेतकी उपज बोरियोंमें भरते और रखते हैं। भारतके प्रतिबंधसे उनको और बोरियाँ मिलना असंभव होगया। जो बोरी छः पेनी या एक शिलिंगमें बिकती थी वह आज पाँच शिलिंगमें भी नहीं मिलती है। इसमें गोरे किसानोंको जो हानि हो रही है उसका अंदाज इसीसे लगाया जा सकता है कि ट्रांसवालके गोरे किसान "खिसियानी बिल्ली खंभा नोचे"-की भाँति वहाँके भारतीय दुकानदारोंके दरवाजेपर पिकेटिङ्ग कर रहे हैं और बहिष्कारकी तलवारसे उनका संहार करनेपर सन्नद्ध हो गये हैं। उनका खयाल है कि इन्हीं प्रवासी भारतीयोंकी बदमाशीसे भारतने बोरियोंपर प्रतिबंध लगा दिया है जिससे उनके खेतकी उपज चौपट हो है। "खेत खाय गदहा, पीटा जाय जुलहा" के अनुसार भारत-सरकारके व्यापार-विच्छेदका बदला ट्रांसवालके भारतीय दुकानदारोंसे चुकाया जा रहा है। पर इससे तो उनको बोरियोंकी समस्या हल नहीं हो सकती। यूनियन-सरकारने श्वेताङ्ग किसानोंको इस विपदसे बचानेके लिए एक विचित्र ढंगसे काम लेना चाहा था, वह यह था कि भारतसे बोरियोंका एक जहाज अमेरिकाके किसी व्यापारिक नामसे भेजा गया और वहाँसे

होकर वह जहाज दक्षिण अफ्रिका पहुँच गया। इस चालबाजीका पता लगते ही पंडित जवाहरलाल नेहरूने अमेरिकाकी सरकारको तार देकर तीव्र प्रतिवाद किया और अमेरिकन सरकारको यह आश्वासन देना पड़ा कि भविष्यमें इस घटनाकी पुनरावृत्ति न होने पायगी।

भारत दक्षिण अफ्रिकासे व्यापार बंद करके ही शांत और संतुष्ट न हुआ। उसकी तरफसे संयुक्त राष्ट्र-संघ (United National Organisation) में दक्षिण अफ्रिकाके विरुद्ध मामला दायर कर दिया गया। भारत-सरकारके अनुरोधसे डाक्टर लंकासुंदरम् और मैंने संयुक्त राष्ट्र-संघके लिए भारतका अर्जीदावा तैयार कर दिया। इस अर्जीदावेमें हमने जनरल स्मट्सके इस दावेका कि प्रवासी भारतीयोंका प्रश्न दक्षिण अफ्रिकाका घरेलू प्रश्न है और इसलिए वह संयुक्त राष्ट्र-संघके दायरेमें नहीं आ सकता, युक्तियों, और प्रमाणों और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनोंके आधारपर खंडन किया और यह सिद्ध कर दिया कि यह प्रश्न वास्तवमें अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न है और इसकी उपेक्षासे दुनियाकी शांति खतरेमें पड़ सकती है। इस अर्जीदावेको तैयार करनेमें हमें काफी मेहनत करनी पड़ी थी, पर संतोषकी बात है कि प्रिवी-कौन्सिलके जज राइट आनरेबल श्रीमुकन्दराव जयकर और प्रिवी कौन्सिलके वकील श्री हेनरी पोलक जैसे कानूनके पंडितोंने इसकी बड़ी प्रशंसा की। ऐसे तो "एसोसियेटेड प्रेस'के द्वारा इसका सारांश भारतके सभी प्रमुख अखबारोंमें छपा था, पर नवम्बर १९४७के 'माडर्न रिव्यू'में और 'कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री' के इस अंकोंमें यह वक्तव्य अक्षरशः छपा था।

निदान श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडितके नेतृत्वमें भारतका प्रतिनिधि-मंडल संयुक्त राष्ट्र-संघमें सम्मिलित होनेके लिए न्यूयार्क पहुँचा। इसमें राजा सर महाराजसिंह और डाक्टर लंकासुंदरम् प्रवासी समस्याओंके विशेषज्ञ थे। हाई कमिश्नर श्री रामराव माधवराव देशमुखको भी भारत-सरकारने दक्षिण अफ्रिकासे वापस बुला लिया था। और वे भी प्रतिनिधि-मंडलमें शरीक [illegible] गए थे। दक्षिण अफ्रिकासे श्री अब्दुला

इस्माइल काजी, श्रीसोराबजी रुस्तमजी, श्री अलबर्ट क्रिस्टफर, श्री पी. आर. पत्तर प्रभृति प्रवासी नेता भी इसी अवसरपर न्यूयार्क पहुँच गए थे। इनसे पहले श्री आश्विन चौधरी अमेरिकामें कुछ प्रचार-कार्य करके दक्षिण अफ्रिका लौटे थे।

उधरसे जनरल स्मट्स भी अपने सलाहकारोंके साथ संयुक्त राष्ट्र-संघमें उपस्थित हुए। जब दक्षिण अफ्रिकाके विरुद्ध भारतका मामला संघके सामने पेश हुआ तो जनरल स्मट्सने इस मामलेको एजण्डासे ही उड़ा देनेकी चेष्टा की। वे इसी बातपर उछल-कूद मचा रहे थे कि प्रवासी भारतीयोंका प्रश्न दक्षिण अफ्रिकाका आंतरिक प्रश्न है और उसपर संघको कुछ करने-धरनेका अधिकार नहीं है। सन् १९१४की गांधी-स्मट्स-संधि और १९२७की केपटाउन-संधि भंग करने वाले जनरल स्मट्सकी दलीलें सुनकर सारा संसार दंग रह गया। "जबर्दस्त मारे और रोने न दे" की कहावत उन्होंने पूरी कर दिखाई। पर विश्वके प्रतिनिधियोंकी आंखोंमें धूल झोंकना उनकी धृष्टता ही थी। रूसके प्रतिनिधि श्री एण्ड्री विशोस्की और चीनके प्रतिनिधि डाक्टर वालिङ्गटन कू-ने स्मट्सके दावेका जबर्दस्त विरोध किया। ब्रिटिश प्रतिनिधि सर हार्टली शाक्रोस इस अप्रिय प्रसंगको किसी तरह टाल देना चाहते थे, पर उनकी इच्छा पूरी नहीं हुई। आखिर अमेरिकाके प्रतिनिधि श्रीवारन आस्टिनका प्रस्ताव बहुमतसे पास हुआ कि यह मामला राष्ट्र-संघके दायरेके अंदर है या नहीं, इसका फैसला राजनीतिक और कानूनी कमेटीपर छोड़ दिया जाय।

खैर, कमेटी बैठी, दोनों पक्षोंके बयान हुए, सबूत पेश किये गए, बहस-मुबाहसा हुआ। सारी बातें सुनकर और परिस्थितिपर ध्यान देकर कमेटी आखिर इस परिणामपर पहुँची कि यह मामला संयुक्त राष्ट्र-संघ-के दायरेके अन्तर्गत है और इसपर विचार और निर्णय करनेका संघको पूरा अधिकार है। स्मट्सकी सारी कोशिशें कि यह मामला दब जाय और आगे न बढ़ने पाये; बेकार गईं। कमेटीने बहुमतसे इस मामलेको

जनरल असेम्बलीमें भेज दिया। वहाँ सदस्योंके दो-तिहाई वोटसे ही इस मामलेका कोई फैसला हो सकता था, इसलिए स्मट्सकी आशा भंग नहीं हुई। उनका पूरा भरोसा था कि 'न नौ मन तेल होगा न राधाजी नाचेंगी'—न भारतके पक्षमें दो-तिहाई वोट मिलेंगे और न यह प्रश्न आगे बढ़ेगा। कमेटीके फैसलेके बाद उन्होंने फख्रके साथ फरमाया भी था कि अभी तो कुछ नहीं हुआ, अन्तिम निर्णय तो जनरल असेम्बलीमें होगा।

निदान जनरल असेम्बलीमें यह मामला पेश हुआ। बड़े राष्ट्रोंमें अमेरिका और इङ्गलैण्ड तो दक्षिण अफ्रिकाके पक्षमें होगये, पर रूस और चीन भारतके हिमायती बने रहे। किसीको आशा नहीं थी कि भारतको दो-तिहाई वोट मिल सकेंगे—उसके साथ इन्साफ हो सकेगा, पर भगवान्के अनुग्रहसे असंभव संभव हो गया। वोट लिये जानेपर दो-तिहाई भारतके पक्षमें आगये—भारतकी शानदार विजय हो गई। स्मट्स और दक्षिण अफ्रिकाके श्वेताङ्ग विश्वकी अदालतमें अपराधी सिद्ध हुए—उनके पापका भरा हुआ घड़ा फूट गया। उनको हिदायत हुई कि दक्षिण अफ्रिकाने भारतसे जो संधियाँ की हैं उनका पालन होना चाहिए और उनकी शर्तोंके अनुसार ही प्रवासी भारतीयोंके साथ व्यवहार होना चाहिए। उन कानूनोंमें उचित और आवश्यक फेर-बदल होना चाहिए, जो प्रवासी भारतीयोंको संघके चार्टरके अनुसार मानवीय अधिकारोंसे वंचित करते हों। इस निर्णयको कार्यान्वित करनेके लिए जो कुछ कार्रवाइयां की जायं उनकी रिपोर्ट संघकी आगामी बैठकमें पेश करनी चाहिए।

न्यूयार्कके संयुक्त राष्ट्र-संघमें जनरल स्मट्सकी सारी शेखी धूलमें मिल गई। किसी अन्तर्राष्ट्रीय परिषद्में उनकी ऐसी दुर्गति पहले कभी नहीं हुई थी। पर ऐसा प्रतीत होता है कि वे राष्ट्र-संघके निर्णयकी उपेक्षा करनेसे बाज न आयँगे। अभीतक वह यही रट लगाये जाते हैं कि चूँकि भारतीय एशियाई हैं, उनके चमड़े सफेद नहीं हैं इसलिए वे नीच हैं और गोरोंके साथ एक क्षेत्रमें रहनेके योग्य नहीं हैं। उनको अलग बसाने-

से ही श्वेताङ्ग सभ्यता एवं श्रेष्ठता अक्षुण्ण रह सकती है। दक्षिण अफ्रिकामें विद्वत्ता और योग्यताका कोई मूल्य नहीं, चमड़ेके रङ्गका महत्त्व है। महात्मा गांधी, जनरल चांगकाई शेक, प्रेसिडेन्ट सुकर्णो, प्रेसिडेन्ट होची मिन्ह प्रभृति एशियाके वर्तमान भाग्य-विधाता भी दक्षिण अफ्रिकामें एक महा-नीच, आवारा, शराबी और लफंगे गोरेसे नीच, अधम और तुच्छ समझे जाते हैं। यदि वे वहाँ नीच-से-नीच गोराङ्गके पड़ोसमें मकान लेकर रहनेकी गुस्ताखी करें तो वहाँके 'घेटो कानून' से दण्डित हुए बिना न रहेंगे।

इसलिए आज प्रवासी भारतीयोंके सामने विकट समस्या आ पड़ी है। या तो वे दक्षिण अफ्रिकामें अछूत बनकर रहना मंजूर करें, अपने देश और राष्ट्रकी इज्जत-आबरू खाकमें मिला दें और पीढ़ी-दर-पीढ़ीके लिए नीच कहलाने का कलंक लगा लें अथवा आत्म-सम्मानकी युद्धाग्निमें पतंगेकी भाँति जल मरें। उन्होंने लांछित, अपमानित और कलंकित होनेकी अपेक्षा प्रतिष्ठाके साथ मर मिटना ही पसंद कर लिया है। इसलिए आज वे मानवताकी रक्षाके लड़ाई लड़ रहे हैं। यह लड़ाई कोई साधारण लड़ाई नहीं है—दानवी और मानवी शक्तियोंमें संघर्ष है। उधर पशु-बलपर भरोसा है, इधर आत्म-बलका सहारा है। एशियाके करोड़ों प्राणियोंकी तरफसे श्वेताङ्गोंकी वर्ण-विभेद-मूलक मनोवृत्तिकी यह अवहेलना है। गोरोंके दंभ और अहंकारके साथ भारतीयोंके आत्म-सम्मानकी यह मुठभेड़ है। इसलिए केवल भारत ही नहीं, सारा संसार दक्षिण अफ्रिकाके इस देवासुर-संग्रामको बड़ी दिलचस्पीसे देख रहा है।

सामयिक स्थिति

इस समय दक्षिण अफ्रिकाकी स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक हो गई है। एक ओर तो जनरल स्मट्स संयुक्त राष्ट्र-संघके निर्णयकी उपेक्षा और अवहेलना करनेपर तुले हैं और उनके श्वेताङ्ग बंधु ट्रांसवालमें भारतीय दूकानदारों और उनसे किसी प्रकारका व्यवहार करने वाले यूरोपियनों और देशियोंके साथ हिंसात्मक उपद्रव मचा रहे हैं; दूसरी ओर भारतीयोंमें

परस्पर द्वेष एवं वैमनस्यकी सृष्टि और वृद्धि होरही है। श्रीअब्दुल्ला काजी, श्रीसिद्दीक काजी, श्री पी० आर० पत्तर आदिने 'माडरेट पार्टी'-के नामसे एक नया दल खड़ा कर लिया है और कांग्रेसके विरुद्ध एक नई राजनैतिक सभा भी बना डाली है जिसका नाम है—'नेटाल इण्डियन ऑर्गिनिजेशन'। इससे आपसमें संघर्ष शुरू होगया है। जो शक्ति स्मट्स और श्वेताङ्गोंसे टक्कर लेती वह आपसमें ही टकराकर चूर-चूर हो रही है।

यह गृह-कलह ऐसा विषधर नाग है जो प्रवासी भारतीयोंको निगल जायगा। इस फूटकी खबरसे मैं चिन्तित और व्यथित हो उठा हूँ। अब मुझे दक्षिण अफ्रिकाके प्रवासी भारतीयोंका भविष्य संदिग्ध दिखाई दे रहा है। हमारे भाइयोंको समयकी गति परखनी चाहिए और अपने अवान्तर भेदोंको भुलाकर, एक हो जाना चाहिए। इसीमें उनका कल्याण है।

आज इस आत्म-कथाको समाप्त करते हुए अतीतकी सारी स्मृतियाँ सजीव रूपसे मेरे सामने आरही हैं और ताना-बाना बुनकर मनमें एक अजीब हलचल मचा रही हैं। उनमें कुछ सुखद हैं और कुछ दुःखद भी। इस जीवनमें जब विपदाएँ आई हैं तो मैंने रोकर नहीं, हँसकर ही उनसे हाथ मिलाया है। मैं विपदको बुलाने नहीं गया, पर जब वह आ पहुँची तो उससे घबराया भी नहीं। भगवान्‌से मैंने कभी यह याचना नहीं की कि विपत्तियोंसे मुझे बचावें—उनको मेरे निकट न आने देवें बल्कि यह प्रार्थना करता रहा हूँ कि यदि विपदा आती ही है तो आने देवें, पर उनका मुकाबला करनेके लिए मुझे धैर्य और शक्ति देवें।

मेरे जीवनमें बुरे-से-बुरे दिन आये हैं, कड़ी-से-कड़ी परीक्षा देनी पड़ी है; किन्तु हिम्मत कभी टूटी नहीं। जब तक शरीर में शक्ति रही तबतक विपत्तियोंका मुकाबला करने में मजा ही आता रहा, पर अब वह हौसला नहीं रहा। इधर कई वर्षोंसे व्याधियोंके प्रकोपके कारण मैं अपनी आयु-की उस परिधिपर पहुँच गया हूँ, जहाँ जीवन और मृत्युकी संधि है। यही सोचकर तो आत्म-कथा कहने बैठा हूँ कि इस रुग्ण, जरा-जीर्ण और बल-हीन शरीरका कोई ठिकाना नहीं है—किसी भी समय जीवन-नाटकका

अंतिम पटाक्षेप हो सकता है। मेरी यही अभिलाषा थी कि अपनी कथाके साथ प्रवासियोंकी गाथा भी गा डालूँ, पर उनकी कहानी तो इतनी लम्बी है कि उसको लिखनेके लिए 'मनों' स्याही और 'टनों' कागजकी जरूरत है और कहनेके लिए गांधी, शास्त्री और एण्ड्रूज-जैसे महाभागोंकी। मेरी वाणीमें वह बल कहाँ, जो उनकी पुरानी और नई गाथाओंको गा सके और मेरी लेखनीमें वह शक्ति कहाँ कि जो उनकी धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितिका चित्र खींच सके? अतएव जो कुछ बन पड़ा वही पाठकोंको भेंट कर अब विदा लेता हूँ। जय हिंद।